अहिंसा विश्वकोश

(जैनधर्म संस्कृति)



भाग–2

विद्यावाचस्पति सुभद्र मुनि

अहिंसा विश्वकोश

सुख व शांति, प्रत्येक प्राणी के लिए अभिलषित हैं। वैयक्तिक सुख-शांति ही नहीं, विश्व-शांति की प्रक्रिया में भी अहिंसा को व्यावहारिक जीवन में प्रतिष्ठापित करने की आवश्यकता निर्विवाद है। आधुनिक युग का आतंकवाद हिंसक वातावरण की उपज है, जिसने विश्व के प्रत्येक देश को अहिंसा का महत्त्व समझने के लिए बाध्य किया है। भारतवर्ष की संस्कृति का 'उत्स' अहिंसा है। भारतवर्ष अहिंसा का सन्देश समस्त विश्व को देता आ रहा है जिसका प्रतिफल यह है कि विश्व क प्रायः सभी धर्मों में अहिंसा को उपादेय माना गया है।

आधुनिक युग में, धर्म-दर्शन के क्षेत्र में, खण्डन-मण्डन के स्वर के स्थान पर, समन्वयात्मक दृष्टिकोण व सहिष्णुता को अपनाने को प्रमुखता दी जा रही है। विद्वानों का यह सर्वत्र प्रयास हो रहा है कि सभी धर्मों दर्शनों में व्याप्त समानता को अधिकाधिक रेखांकित किया जाय ताकि वे एकता के सूत्र में बंधकर, सामूहिक रूप से समस्त मानवता के लिए सुख-शांति का मार्ग प्रशस्त कर सकें।

इसी वैचारिक पृष्ठिभूमि में 'अहिंसा विश्वकोश' की संकल्पना हुई थी। जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर और अहिंसा के अवतार भगवान् महावीर के 2600वें जन्म कल्याणक के अवसर पर, भारत सरकार ने ई. 2001-2002 को 'अहिंसा वर्ष' के रूप में मनाने की घोषणा की थी। इसने भी प्रस्तुत विश्वकोश के निर्माण में गतिशीलता प्रदान की।

भारतीय धरा पर अनेक धर्म/दर्शनों का प्रादुर्भाव व विकास होता रहा है और उन्हें प्रमुखतः (1) वैदिक/ब्राह्मण परम्परा और (2) श्रमण परम्परा–इन दोनों में वर्गीकृत किया जाता है। प्रस्तुत विश्वकोश के निर्माण का उद्देश्य यह रहा है कि सभी धर्म-दर्शनों में अनुस्यूत 'अहिंसा' के समस्त पक्षों को उजागर करते हुए इसके सार्वजनीन महत्त्व को रेखांकित किया जाय। इसके तीन खण्ड प्रस्तावित हैं:–(1) वैदिक ब्राह्मण संस्कृति खण्ड, (2) जैन संस्कृति खण्ड।

अहिंसा-विश्वकोश

अहिंसा के दार्शनिक, धार्मिक व सांस्कृतिक स्वरूपों को व्याख्यायित करने वाले प्राचीन शास्त्रीय विशिष्ट सन्दर्भों का संकलन

(द्वितीय खण्ड : जैन संस्कृति)

[जैनशासन-सूर्य, संघशास्ता, आचार्य-कल्प गुरुदेव मुनिश्री रामकृष्ण जी महाराज के सुशिष्य आचार्यकल्प, विद्यावाचस्पति, संघ-शास्ता]

सुभद्र मुनि

सहयोग व सम्पादन :

डॉ. दामोदर शास्त्री

अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग

राष्ट्रीय संस्कृति संस्थान

जयपुर (राजस्थान)

प्रकाशक

यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन

नई दिल्ली-110 002

[भगवान महावीर के 2600 वें जन्म-कल्याणक-समारोह को गरिमामय बनाने हेतु भारत सरकार द्वारा घोषित 'अहिंसा वर्ष' (ई. 2001-2002) के सन्दर्भ में परिकल्पित]

संस्करण : 2004

ISBN : 81-7555-090-2

मूल्य : 1800.00 रुपये

प्रकाशक : **यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन**
7/31, अंसारी रोड़, दरियागंज
नई दिल्ली–110 002

मुद्रक : **नागरी प्रिंटर्स,**
नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

AHINSA-ENCYCLOPAEDIA

[Compilation of ancient textual important references explaining Religious, Philosophical & Cultural aspects of Ahinsa]

{Vol.II : Jain Culture}

SUBHADRA MUNI

[Disciple of Revered Sangha-Shasta, Shasan-Surya, Acharyakalp Gurudev Munishri Ramkrishna Ji Maharaja]

Co-Compilor & Editor :

Dr. Damodar Shastri

Head, Deptt. of Jain Darshan,
Rastriya Sanskrit, Sansthan,
Jaipur (Raj.)

Publisher

University Publication

New Delhi-110 002

[Conceived to commemorate Ahinsa year (2001-2002) declared by Govt. of India, to glorify 26th Birth Century of Lord Mahavira]

Edition : 2004

ISBN : 81-7555-090-2

Price : Rs. 1800.00

Publisher : **UNIVERSITY PUBLICATION**
7/31, Ansari Road, Darya Ganj,
New Delhi–110 002

Printer : **Nagri Printers**
Naveen Shahadra,
Delhi–110 032

श्रद्धा-समर्पण

समस्त मानवता को विश्वबन्धुत्व, करुणा, दया, अनुकम्पा,
प्रेम, परस्पर सहयोग, सौहार्द आदि का मंगलमय संदेश
देने वाले, अहिंसा के साक्षात् अवतार

भगवान् महावीर

तथा

उनकी सांस्कृतिक-धार्मिक परम्परा को एवं अहिंसा की
महाज्योति को जीवन्त रखने एवं जन-जन के अन्तर्मन को
ज्ञान-आलोक से उद्योतित करने वाले महान् धर्म-प्रभावक,
संघशास्ता, जैन शासन-सूर्य, आचार्यकल्प,

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय

गुरुदेव मुनिश्री रामकृष्ण जी महाराज

के

वन्दनीय चरण-कमलों में
परा श्रद्धा व परा भक्ति से समर्पित

\- सुभद्र मुनि

अहिंसा विश्वकोश

(जैन संस्कृति खण्ड)

॥ अनुक्रमणिका ॥

पृ.

1. प्राक्कथन .... I–III
2. विषय-अनुक्रम .... IV–XII
3. उद्धरण-स्थल-संकेत (स्पष्टीकरण) .... XIII–XVI
4. अहिंसा-कोश 1–470
5. परिशिष्ट–I 471–479
6. परिशिष्ट–II 480–515
7. आधारस्रोत ग्रन्थों/प्रकाशनों का विवरण 516–519
8. विषय-सूची (अकारादि-क्रम से) 520–548
9. उद्धरणों (के प्रारम्भिक अंशों) की अकारादिक्रम से संयोजित सूची . . . 549–570

॥ प्राक्कथन ॥

अहिंसा सभी धर्मों की, विशेषतः भारतीय धर्मों की प्राण है। वह प्रत्येक धर्म की आचार-संहिता में कहीं न कहीं अनुस्यूत/अन्तर्निहित है। पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक व आर्थिक —कोई भी समस्या हो, उसका समाधान अहिंसा से सम्भव होता है। नैतिकता हो या आध्यात्मिकता— दोनों को अनुप्राणित रखने वाली अहिंसा ही है। निर्मल चेतना से अनुशासित, विधायक और व्यवहार्य जीवन-विधान है— अहिंसा। वह मानव-समाज की सबसे बड़ी आध्यात्मिक पूंजी है। वह एक आन्तरिक दिव्य प्रकाश है, मानवता की एक सहज-स्वाभाविक शाश्वत ज्योति है। वह मानव का अविनाशी अविकारी स्वभाव है। वह सहृदयता का असीम विस्तार है। प्रकाश की अन्धकार पर, प्रेम की घृणा पर, तथा अच्छाई की बुराई पर विजय का सर्वोच्च उद्घोष है —अहिंसा।

मानव-मात्र को ही नहीं, अपितु प्राणीमात्र को परस्पर सह-अस्तित्व, स्नेह-सौहार्द, सहभागिता व सद्भावना के सूत्र से जोड़ने वाली वैश्विक सामाजिकता का ही दूसरा नाम है — अहिंसा। अहिंसा वह शक्ति है जो विश्व के समग्र चैतन्य को एक धरातल पर ला खड़ी करती है। अहिंसा के सिवा और कोई आधार नहीं, जो खण्ड-खण्ड होती हुई मानव-जाति को एकरूपता दे सके या उसे विश्वबन्धुत्व के सूत्र में बांध सके। मानव-जाति के प्रकल्पित भेदों व विषमताओं के स्थान पर समता व शान्ति स्थापित करने की क्षमता अहिंसा में ही है। अहिंसा को जीवन के हर एक क्षेत्र में व्यापक बना कर ही, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की पहल की जा सकती है। उपर्युक्त वैचारिक परिप्रेक्ष्य में, अहिंसा को ही मानव-धर्म या विश्व-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित होने का गौरव प्राप्त होता है।

भारतीय संस्कृति के उषाकाल से ही 'अहिंसा' यहां के धर्म-दर्शन में पूर्णतया मुखरित होती रही है। 'संगच्छध्वं, संवदध्वं' 'समाना हृदयानि वः' 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' तथा 'सहृदयं सांमनस्यम् अविद्वेषं कृणोमि' —इत्यादि वैदिक ऋषियों की वाणी में अहिंसा की जो सरिता प्रवाहित हुई, उसने परवर्ती सांस्कृतिक व दार्शनिक धरातल की वैचारिक फसल को अनवरत रूप से सींच कर संवर्द्धित किया है। यद्यपि कभी-कभी यज्ञ आदि के सन्दर्भ में अहिंसा धर्म की विकृत व्याख्या किये जाने से अहिंसा का स्वर कुछ

मन्द पड़ा, तथापि अन्ततोगत्वा अहिंसा की ही विजय हुई। भारतीय संस्कृति के महान् प्रतिनिधि-साहित्य पुराणों व महाभारत में 'अहिंसा परमो धर्मः' का उच्च उद्घोष मुखरित हुआ और यह सिद्ध हुआ कि अहिंसा की जड़ें भारतीय जन-मानस में बहुत गहरी व सशक्त हैं। अहिंसा की प्रतिष्ठित स्थिति आधुनिक युग तक विद्यमान है, यह तथ्य हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य संत कवि तुलसीदासजी द्वारा रामचरितमानस (उत्तरकाण्ड) में कहे गये वचन 'परम धर्म श्रुति-विदित अहिंसा' से रेखांकित होती है।

भारतीय श्रमण संस्कृति, विशेषकर जैन संस्कृति तो अंहिसा की प्रबल पक्षधर रही है। उसके विचारों ने भारतीय वैदिक संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया। दोनों संस्कृतियों के संगम ने 'अहिंसा' को एक व्यापक व सर्वमान्य आयाम दिया जिसे भारतीय वाङ्मय में स्पष्ट देखा जा सकता है। श्रमण जैन संस्कृति ने 'अनेकान्तवाद' को उपस्थापित कर वैचारिक धरातल पर अहिंसा को नये रूप में प्रतिष्ठापित किया और वैचारिक सहिष्णुता, आग्रहहीनता को अहिंसक दृष्टि से जोड़ा। जैन संस्कृति ने अहिंसा के सूक्ष्म से सूक्ष्म पक्षों पर प्रकाश डालते हुए समता, संयम व आत्मौपम्य दृष्टि से जोड़ कर अहिंसा को व्याख्यायित किया।

सभी आत्माएं समान हैं। प्रत्येक का स्वतंत्र अस्तित्व है। सभी को आत्मवत् समझना अहिंसा-दर्शन का प्रारम्भिक कदम है। जिस प्रकार हमें जीवन प्रिय है, मृत्यु अप्रिय है, सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है, स्नेह-सौहार्दपूर्ण व्यवहार प्रिय है, द्वेष-वैमनस्य का व्यवहार अप्रिय है, अनुकूलता प्रिय है, भय-आतंक की परिस्थिति अप्रिय है, उसी प्रकार दूसरों के साथ भी हम मन-वचन-शरीर से वही व्यवहार करें जो हमें प्रिय व सुखद हो। यह वैचारिक दृष्टि ही जैन-संस्कृति के अहिंसा-दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। इसी क्रम में जैन संस्कृति ने यह भी प्रतिपादित किया कि सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह -इन समस्त धर्मों की साधना 'अहिंसा' की ही साधनाएं हैं। दूसरे शब्दों में सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि की सार्थकता इसी में है कि वे अहिंसा के पोषक तत्त्व के रूप में अनुष्ठित हों। जैन संस्कृति की चिन्तन-धारा के अनुसार, धर्म के महामन्दिर में प्रविष्ट होने के लिए सर्वप्रथम अहिंसा के मुख्य द्वार को स्पर्श करना अनिवार्य है। दया, अनुकम्पा, करुणा, सेवा-भाव, मैत्रीभाव आदि सभी सद्भावों में 'अहिंसा' का ही प्रतिबिम्ब झलकता है।

आज से लगभग 2600 वर्ष पूर्व जैन धर्म के अंतिम व 24वें तीर्थंकर तथा अहिंसा के अग्रदूत भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। ई. 2001-2002 में इनका 2600वां जन्म-जयंती महोत्सव राष्ट्रीय स्तर पर मनाया गया। भारत सरकार ने इस वर्ष को अहिंसा वर्ष के रूप में घोषित किया। अहिंसा के अवतार समझे जाने वाले भगवान् महावीर के प्रति विविध समारोहों के माध्यम से देश की जनता ने भावपूर्ण श्रद्धासुमन अर्पित किये। इसी दौरान 'अहिंसा विश्वकोश' के निर्माण की परिकल्पना बनी। इस तथ्य का संकेत इसी विश्वकोश के प्रथम खंड के प्राक्कथन में कर दिया गया है। इस विश्वकोश के निर्माण से

सम्बन्धित योजना- नीति का स्पष्टीकरण भी वहीं किया जा चुका है। इसका प्रथम खण्ड वैदिक/ ब्राह्मण संस्कृति खंड के रूप में प्रकाशित हुआ है। उसी क्रम में अब यह द्वितीय खण्ड 'जैन संस्कृति खण्ड' के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

जैन संस्कृति के महत्त्वपूर्ण विशिष्ट ग्रन्थों को आधार बनाकर तथा उनमें निहित अहिंसा-सम्बन्धी विशिष्ट व चयनित सन्दर्भों को एकत्रित कर हिन्दी अनुवाद के साथ इस खण्ड में प्रस्तुत किया गया है। पूर्व खण्ड की तरह, इसमें भी यह सतर्कता रखी गई है कि अहिंसा के सार्वजनिक महत्त्व को रेखांकित करनेवाले सन्दर्भों को ही प्रस्तुत किया जाए।

परम-पूज्य, जैन शासन-सूर्य, संघशास्ता, आचार्यकल्प गुरुदेव मुनिश्री रामकृष्ण जी महाराज की सत्प्रेरणा व शुभाशीर्वाद से इस विश्वकोश की निर्माण-प्रक्रिया निर्बाध रूप से सम्पन्न हुई है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस साहित्यिक कार्य में सहयोग देने वाले अपने संघस्थ मुनियों, विशेषकर मुनिरत्न श्री अमित मुनि को मैं अपना विशेष हार्दिक आशीर्वाद व साधुवाद प्रस्तुत करता हूं। अंत में, इस विश्वकोश के प्रकाशक 'यूनिवर्सिटी-पब्लिकेशन' तथा इसके अधिकारियों को भी, जिन्होंने प्रकाशन-कार्य को शीघ्र व सुचारु रूप से सम्पन्न कराया, मेरी ओर से साधुवाद है।

मेरे इस कर्म में प्रमुख सहभागी व सम्पादक मूर्धन्य विद्वान् डॉ. दामोदर शास्त्री रहे हैं। उन्हें मेरी ओर से तथा सभी अहिंसा-प्रेमी समाज की ओर से साधुवाद व शुभाशीर्वाद है।

मुझे विश्वास है कि यह खण्ड भी भारतीय दर्शन व संस्कृति के अध्येताओं, विज्ञ मनीषी जनों एवं धर्म-श्रद्धालुओं के लिए उपादेय सिद्ध होगा।

-सुभद्र मुनि

अहिंसा-विश्वकोश

(जैन संस्कृति खण्ड)

●

॥ विषय-अनुक्रम ॥

पृ.

1. अहिंसा/हिंसा का स्वरूप : 1-80

(सामान्य पृष्ठभूमि)

- अहिंसा: सभी प्राणियों को (आत्मवत्) प्रिय 1
- अहिंसा का आधार: सर्वत्र समत्वपूर्ण आत्मवत् दृष्टि. 1-2
  [हिंसा-त्याग व समत्व दृष्टि से मोक्ष-प्राप्ति;]
- अहिंसा का व्यावहारिक रूप: प्राणी-हित में प्रवृत्ति 2
- अहिंसा आन्तरिक विशुद्धि की साधन 3-4
- अहिंसा: वीतरागता का दूसरा नाम 5
- अहिंसा का प्रतिकूल आचरण: हिंसा. 5
- हिंसा के रूप: काम-क्रोध आदि. 5
- हिंसा= अशुभ परिणाम. 6

- अहिंसा की परिणति: जीव-दया/प्राणी-रक्षा. 6-7
- अहिंसा: सनातन धर्म 8
- अहिंसा: परम/उत्कृष्ट धर्म 8-10
- हिंसा: प्रमाद व कषाय की अशुभ उपज 10-15
- हिंसा के ही विविध रूप: असत्य, चोरी, परिग्रह व अब्रह्मचर्य 15-16
- हिंसक भाव= आत्मघाती कदम 17-18
- हिंसा से जुड़ी क्रियाएं: आगम के आलोक में 18- 23
- जीव-हिंसा से जुड़े कर्म-बन्ध पर प्रकाश: आगम के आलोक में 23-30
- जीव-हिंसात्मक कार्य: आग जलाना व बुझाना 30-32
- हिंसा के विविध भेद 32-37
  [हिंसा के इक्कीस भेदों का परिचय-32, द्रव्य-हिंसा, भाव-हिंसा आदि चार भेद 35;]
- हिंसा की क्रमिक परिणतियां (करण) 38-39

(हिंसा-अहिंसा के कुछ ज्ञातव्य रहस्य)

- हिंसा/अहिंसा-रहस्य का व्याख्याता: योग्य गुरु 39-40
- अहिंसा अणुव्रत का उपदेश: महाव्रती द्वारा
  [शास्त्रीय आलोक में शंका-समाधान;]. 40-42
- अहिंसा अणुव्रत की सार्थकता *[शंका-समाधान]*. 43-45
- हिंसा-प्रत्याख्यान की सार्थकता: सम्यक् ज्ञान से 45-47

(हिंसा के समर्थन में भ्रान्तियां और उनका निराकरण)

- हिंसा-दोष: हिंसक जीवों के वध में 48
- हिंसा-दोष: दु:खी जीवों के वध में भी. 48-49
- हिंसा: सुखी जीव की भी अमान्य 49
- हिंसा: समाधिस्थ की धर्म-संगत नहीं 49
- हिंसा स्वयं की (आत्मवध): एक मूढतापूर्ण अधार्मिक क्रिया 50-51
  [किसी की भूख मिटाने के लिए भी आत्मवध अनुचित 51;]

- हिंसा-दोष: कुछ शंकाएं और समाधान 52-53
- हिंसा के सम्बन्ध में खारपटिकों की अज्ञानपूर्ण मान्यता 54
- हिंसा के सम्बन्ध में बौद्धों की अविवेकपूर्ण मान्यता 54-57
- हिंसा के सम्बन्ध में तापसों की अविवेकपूर्ण मान्यता 57-58
- हिंसा के सम्बन्ध में अन्यतीर्थिकों का अज्ञान 58-60
- हिंसा-समर्थक संसारमोचकों के कुतर्क का निराकरण 60-63
- हिंसा: धर्म के नाम पर पूर्णत: अनुचित 63-66
- हिंसा: यज्ञ आदि में धर्म-सम्मत नहीं 66
- जहां हिंसा: वहां अधर्म (ज्ञानी की मान्यता) 67
- अहिंसक यज्ञ की श्रेष्ठता और उसका आध्यात्मिक स्वरूप
  [दयारूपी दक्षिणा द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान;] 68-69
- हिंसा: अतिथि हेतु भी अधर्म 69-70
- हिंसा: कोई कुलाचार नहीं 70
- जीव-हिंसा: देव-बलि के रूप में निन्दनीय 71
- जीव-हिंसा व मांस-भोजन: श्राद्ध में अमान्य 71-72
- हिंसा के सम्बन्ध में सापेक्ष सिद्धान्त (आगमिक दृष्टि) 72-75
- हिंसा-सम्बन्धी दोष: आन्तरिक दुर्भावों के अनुरूप 75-78
- हिंसा-दोष: वध्य जीव की आयु के अनुरूप नहीं 79-80

2. हिंसा-निन्दा एवं अहिंसा-महिमा : 81-176

- यज्ञ-हिंसा का समर्थन करने से दुर्गति (राजा वसु की पौराणिक-कथा) 81
- हिंसक यज्ञ की परम्परा का प्रवर्तक: महाकाल असुर (पौराणिक आख्यान) .. 81-82
- हिंसा-समर्थक शास्त्रों के उपदेशक निन्दनीय 82-83
- हिंसा के दोष-सूचक विविध नाम 83-88
- अहिंसा के प्रशस्त व शुभ नाम 88-91
- हिंसा-निन्दा, हिंसा-त्याग एवं अहिंसा-अनुष्ठान के प्रतिपादक उपदेश.... 91-99
- हिंसक आचार-विचार के दुष्परिणाम 100-111

- हिंसक की लोक-निन्दा व अपकीर्ति 111-115
- हिंसा से असातावेदनीय (दुःखदायी) कर्म का बन्ध 116
- हिंसा का दुष्परिणामः अल्पायुता 117
- हिंसा का कुफलः नरक आदि दुर्गति एवं अशुभ दीर्घायु की प्राप्ति 118-129
- जन-संहारकारी युद्ध की निन्दा 129
- संतान/भ्रूण-हत्या वर्जित 129
- हिंसात्मक विशिष्ट क्रियास्थानों का आगमिक वर्णन 130-141
- हिंसाः असंयम-द्वार 141-144
- अहिंसाः सर्वज्ञ तीर्थंकर-उपदिष्ट प्रमुख धर्म 144-147
- अहिंसाः निरन्तर सेवनीय धर्म 148-150
- अहिंसाः सुख-शान्ति एवं कल्याण-मंगल का द्वार 150-153
- अहिंसाः प्रशस्त गति व दीर्घ जीवन की हेतु 153-156
- अहिंसा से सातावेदनीय (सुखदायी) कर्म का बन्ध 156-161
- अहिंसाः संवर-द्वार 161-162
- अहिंसाः संयम-द्वार 162-164
- अहिंसाः परम ब्रह्म 164
- अहिंसाः सभी व्रतों की आधार-भूमि 165-166
- अहिंसा भगवती की महिमाः विविध दृष्टियों से 166-170
- अहिंसा का जयघोषः रामराज्य में 171
- अहिंसक वृत्तिः कुशल शिक्षक व योग्य शिष्य की पहचान 171-174
- अहिंसाः विद्वान्/ज्ञानी की पहचान 174-175

3. दैनिक जीवन में सम्भावित हिंसा : अपेक्षित सावधानी 176-263

(हिंसा का सशक्त साधनः सावद्य वचन)

- हिंसा की शाब्दिक अभिव्यक्तिः असत्य भाषण 176-177

  [अहिंसा की श्रेष्ठता का अवरोधक/विनाशकः असत्य-भाषण;]

- हिंसात्मक प्राणी-पीड़ाकारी वचनः असत्य 177-180

- अहिंसात्मक वचनः सत्य 180-181
- हिंसात्मक पीड़ाकारी वचन त्याज्य 181-185
- अहिंसात्मक हितकारी वचन का उपदेश 186
- हिंसात्मक वातावरण का ध्यानः उपदेशक के लिए अपेक्षित 186-187
- हितकारी भाषणः तपस्वी/सन्त का स्वभाव 187
- हिंसा-दोष से अस्पृष्टः गुरु का अप्रिय उपदेश-वचन 187-188
- हिंसा प्रेरक व मिथ्या आचारः असावधान/ अविवेकी जनों का वाणी-व्यवहार . 188-190

(हिंसा और परिग्रह)

- हिंसा और परिग्रहः परस्पर-सम्बद्ध 190-195
- हिंसा व परिग्रहः सुखासक्ति की उपज 195
- हिंसात्मकः क्रोध आदि कषाय= परिग्रह 196
- परिग्रह की परिणतिः कलह-विरोध 196-198
- हिंसात्मक परिग्रह त्याज्य 198-199
- अहिंसक भावना अपेक्षितः राजकीय कोष-संग्रह में 199

(हिंसा और अदत्तादान)

- हिंसा की ही एक विधिः स्तेय/चोरी/अदत्तादान 200-202
- हिंसाप्रियता व दूषित मनोवृत्तिः चोरी और लूट की प्रेरक 203-206
- हिंसा का संस्कारः चोर के अगले भव में भी 206

(हिंसा और अब्रह्मचर्य)

- अहिंसा का पोषकः अब्रह्मचर्य 207
- हिंसात्मक कार्यः अब्रह्मसेवन 207
- अहिंसक वातावरण का कारणः अब्रह्मसेवन 208
- अहिंसा आदि व्रतों का मूलः ब्रह्मचर्य 208-209
- अहिंसा व मुक्ति का मार्गः अनासक्ति 209

(हिंसक भावना के प्रेरक तत्त्व)

- हिंसक व क्रूर कर्मों का मूल: कामभोग-आसक्ति 209-215
- जीवघातक व आत्मघातक: विषय-भोग-आसक्त प्राणी 216-218
- हिंसक वृत्ति का कारण: भूख की पीड़ा 218-219
- हिंसक आजीविका वाली म्लेच्छ जातियां 219-221
- हिंसा की प्रवृत्ति: प्राय: स्वार्थी व अज्ञानियों में 221-227
- हिंसक वृत्ति का पोषक: संयमहीन/अप्रत्याख्यानी जीवन 228-235

(हिंसक मनोभाव और उनके निवारक अहिंसात्मक भाव)

- हिंसा के प्रेरक: अप्रशस्त कषाय भाव 236-237
- हिंसात्मक भावों में प्रमुख: क्रोध 238-240
- अहिंसात्मक प्रशम भाव या क्षमा: क्रोध की एकमात्र चिकित्सा 240-243
- अहिंसात्मक प्रशस्त चिन्तन: क्षमा भाव का परिणाम 243-247
- अहिंसा की सहचारिणी: क्षमा, दया, अनुकम्पा, करुणा आदि. 247-248
- अहिंसा-आराधक के लिए अपेक्षित: अनुकम्पा/करुणा. 249-250
- अनुकम्पा व दया का स्वरूप और उसके प्रेरक उपदेश. 250-254
- अहिंसा-धर्माराधक: प्राणियों के लिए अभयदाता. 255-257

(अहिंसा की कसौटी पर: देव,गुरु, शास्त्र व धर्म का चयन)

- हिंसा-दोष से मुक्त ही शास्त्र व धर्म सेवनीय. 258-261
- अहिंसक वेश-भूषा व स्वभाव वाले ही देव व गुरु मान्य. 261-263

4. श्रावक-चर्या और अहिंसा : 264-332

(अहिंसा की यथाशक्य साधना: श्रावक-चर्या)

- हिंसा व हिंसक वृत्तियों का संवर्धक: मद्यपान. 264-266
- जीव-हिंसा का दोषी: मांससेवी. 267-270

- हिंसा-दोष से सम्पृक्त: अनेक अभक्ष्य पदार्थ. 271-276
- अहिंसा आदि अणुव्रतों का पालन: श्रावकोचित आचार 276-289

  [अहिंसा अणुव्रत; सत्य अणुव्रत; विशिष्ट अहिंसा-आराधक श्रावक; अहिंसा अणुव्रत के अतिचार; ब्रह्मचारी के लिए अणुव्रत पालनीय;]

- स्थावर-हिंसा से अहिंसा अणुव्रत भंग नहीं: (शास्त्रीय शंका-समाधान). . . 289-292
- हिंसक पशुओं के साथ श्रावक का अहिंसक व्यवहार

  [औचित्य सम्बन्धी शंका-समाधान] 292-294

- जीव के शरीर-घात से उसकी आत्मा का वध कैसे? समाधान 294
- अहिंसक चर्या: श्रावक जीवन का अंग 295-297
- अनिवार्य हिंसा-दोष के निवारक: मैत्री, करुणा आदि भाव 298
- अहिंसक पशुओं का पालक: श्रावक-वर्ग 299
- हिंसात्मक आजीविका का त्याग: श्रावक के लिए अपेक्षित 299-305

(अहिंसा आदि अणुव्रतों के सहयोगी कुछ विशिष्ट नियम)

- अहिंसा-पोषक: गुणव्रत व शिक्षाव्रत. 305-307
- अहिंसा-पोषक: अनर्थदण्ड-विरति. 307-317

  [हिंसात्मक अपध्यान रूप अनर्थदण्ड; हिंसात्मक पापोपदेश त्याज्य; हिंसक प्रमादचर्या त्याज्य; हिंसक उपकरणों का वितरण त्याज्य; हिंसा-समर्थक दूषित शास्त्रों/कथाओं/ दृश्यों के सुनने-देखने का त्याग; हिंसक कार्य: जुआ खेलना; हिंसा-निवृत्ति रूप अनर्थ-दण्ड-व्रत का लाभ; हिंसानिवृत्ति रूप अनर्थ दण्ड व्रत के अतिचार;]

- अहिंसा-पोषक दिग्व्रत. 317-318
- अहिंसा व्रत का पूरक: उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत 318-319
- हिंसा आदि पापों का नियतकालिक त्याग (सामायिक अनुष्ठान). 319-321
- अहिंसा व्रत की पूर्णता: प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत से. 321-322
- हिंसात्मक लोभ-त्याग: अतिथि संविभाग व्रत/वैयावृत्त्य. 322-324
- अहिंसा व्रत का रक्षक: रात्रिभोजन-त्याग. 324-328

● अहिंसा का विशिष्ट साधक: प्रतिमाधारी श्रावक. 328–330
● अहिंसा-साधक का प्रशस्तमरण: सल्लेखना का आश्रयण. 330–332
[सल्लेखनाधारी वैर आदि कलुषित भावों का त्यागी एवं क्षमा भाव का धारक; सल्लेखना: आत्महत्या नहीं;]

5. साधु-चर्या और अहिंसा : 333–445

● अहिंसक आचार-विचार: साधु-चर्या का अभिन्न अंग. 333–340
● अहिंसा/समता/क्षमा से समन्वित: साधु-चर्या. 341
● अहिंसक साधु: आत्मवत् दृष्टि से सम्पन्न. 341–345
● हिंसावर्धक क्रोध का विजेता: क्षमाशील साधु. 345–347
● अहिंसा का साकार रूप: अर्हंत अवस्था. 348
● अहिंसा की दुष्कर चर्या के आदर्श साधक: भगवान् महावीर 348–350
● अहिंसक भावना की अखण्डता के साथ: साधु का समाधि-मरण 351–352
● अहिंसा-प्रधान महाव्रतों का अनुष्ठाता: साधु-वर्ग 353–360
[हिंसादि की निवृत्ति हेतु महाव्रतों का धारण; अहिंसा आदि महाव्रत; अहिंसा महाव्रत; सत्य आदि महाव्रत;]

(अहिंसा व्रत की पूरक और पोषक: समिति व गुप्ति)

● हिंसादि दोषों से सुरक्षा: समिति व गुप्ति द्वारा 361–365
● अहिंसाव्रत की भावनाएं 365–370
● जीव-रक्षा में सावधानी: ईर्या समिति 370–379

(अहिंसा की अभिव्यक्ति: वाणी से)

● सत्य महाव्रत/ भाषा समिति 380–391
[सत्य व भाषा समिति में अन्तर;]
● हिंसा-दोषमुक्त आहार का ग्रहण (एषणा समिति) 392–399

● जीव-रक्षा का ध्यान: आदान निक्षेपण व उत्सर्ग समिति 399-402
● हिंसादि-निवर्तिका: मन-वचन-काय गुप्तियां 403-404
● वाग्गुप्ति व भाषा समिति में अन्तर........ 404-405
● वाणीकृत हिंसा से बचने का प्रमुख उपाय: मौन........ 405-407
● जीव-हिंसापूर्ण रात्रिभोजन से विरति........ 407-408
● जीव-मात्र के रक्षक: जैन श्रमण........ 408-439
● अहिंसा-साधना के सम्बल: विशिष्ट शास्त्रीय उपदेश........ 440-445

6. अहिंसा-साधना और ध्यान-योग: 446-470

● हिंसात्मक अप्रशस्त ध्यान: योगी/ साधु के लिए हेय........ 446-453
● अहिंसात्मक वीतरागता: योग-साधक का परम लक्ष्य........ 454-455
● अहिंसा-यम आदि का अनुष्ठान: ध्यान-योग का अंग........ 455-457
● अहिंसक वातावरण का निर्माता : ध्यानयोगी श्रमण........ 457-462
● अहिंसात्मक मैत्री आदि भावनाएं: ध्यान-योग की अंग 462-470

[मैत्री भावना; करुणा भावना; मुदिता भावना; उपेक्षा/ माध्यस्थ्य भावना;]

उद्धरण-स्थल-संकेत (स्पष्टीकरण)

संगृहीत उद्धरणों के अन्त में दाईं ओर, उस ग्रन्थ का और उसके उस स्थल का कोष्ठक के अन्दर संकेत किया गया है जहां से वह श्लोक/पद्य उद्धृत है। मुद्रण-सुविधा की दृष्टि से ग्रन्थ के नाम व स्थल को प्रायः संक्षिप्त रूप में अंकित किया गया है जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिए:-

संक्षिप्त ग्रन्थ नाम	ग्रन्थ का पूर्ण नाम	उद्धृत स्थल-संकेत (स्पष्टीकरण)
अनुयो.	अनुयोगद्वार सूत्र	श्रुतस्कंध/अध्ययन/उद्देशक/सूत्र संख्या
अयो. द्वा.	अयोगव्यवच्छेदिका (आ.हेमचन्द्र कृत द्वात्रिंशिका)	श्लोक संख्या
आचा.	आचारांग सूत्र	श्रुतस्कंध/अध्ययन/उद्देशक/सूत्र संख्या
आचा. चू.	आचारांग-चूर्णि (आ. जिनदास गणि महत्तर)	गाथा संख्या
आचा. नि.	आचारांग-निर्युक्ति (आ. भद्रबाहु द्वितीय)	गाथा संख्या
आ. पु.	आदिपुराण (आ. जिनसेन)	पर्व/श्लोक संख्या
उत्त.	उत्तराध्ययन सूत्र	अध्ययन/गाथा संख्या
उत्त. नि.	उत्तराध्ययन-निर्युक्ति (आ. भद्रबाहु द्वितीय)	गाथा संख्या
उपासका.	उपासकाध्ययन (आ. सोमदेव)	कल्प/श्लोक संख्या
उ.पु.	उत्तरपुराण (आ. गुणभद्र)	पर्व/श्लोक संख्या

उवा.	उपासकदशांग	अध्ययन/सूत्र (गाथा) संख्या
ज्ञा.	ज्ञानार्णव	प्रकरण/श्लोक संख्या/समग्र श्लोक संख्या
ओघनि.	ओघनिर्युक्ति (आ. भद्रबाहु द्वितीय)	गाथा संख्या
औप.	औपपातिक सूत्र	सूत्र संख्या
कल्प.	कल्पसूत्र	सूत्र संख्या
चा.पा.	चारित्रप्राभृत (आ. कुन्दकुन्द)	गाथा संख्या
ज्ञाता.	ज्ञाताधर्मकथांग	अध्ययन/सूत्र (गाथा) संख्या
ठा.	ठाणांग (स्थानांग)	स्थान/उद्देशक/सूत्र संख्या
त. सू.	तत्त्वार्थ सूत्र	अध्याय/सूत्र संख्या
दशवै.	दशवैकालिक सूत्र	अध्ययन/गाथा संख्या
दशवै. चू.	दशवैकालिक-चूर्णि (अगस्त्य सिंह)	गाथा संख्या
दशवै. नि.	दशवैकालिक-निर्युक्ति (आ. भद्रबाहु द्वितीय)	गाथा संख्या
नंदी. चू.	नन्दी सूत्र-चूर्णि (आ. जिनदास गणि)	गाथा संख्या
नि. चू.	निशीथ-चूर्णि, भाष्य-गाथा (आ. जिनदासगणि, विशाख गणि)	गाथा संख्या
नि.भा.	निशीथ-भाष्य (संघदास गणि)	गाथा संख्या
नि.सा.	नियमसार (आ. कुन्दकुन्द)	गाथा संख्या
पंचा.	पंचास्तिकाय (आ. कुन्दकुन्द)	श्रुतस्कन्ध/गाथा संख्या
पद्म पं.	पद्मनन्दिपंचविंशति	प्रकरण/श्लोक/गाथा संख्या
प. पु.	पद्मपुराण (आ. रविषेण)	पर्व/श्लोक संख्या
पुरु.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	अधिकार/श्लोक/समग्र श्लोक संख्या
प्रव.	प्रवचनसार (आ. कुन्दकुन्द)	श्रुतस्कन्ध (अधिकार)/ गाथा सं.

प्रशम.	प्रशमरतिप्रकरण	श्लोक संख्या
प्रश्न.	प्रश्नव्याकरण सूत्र	श्रुतस्कंध/अध्ययन/उद्देशक/सूत्रसंख्या
बा. अणु.	द्वादशानुप्रेक्षा (आ. कुन्दकुन्द)	गाथा संख्या
बृ.स्व.स्तो.	बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र	श्लोक संख्या
बृह. भा.	बृहत्कल्प भाष्य (संघदास गणि)	गाथा संख्या
बो. पा.	बोध प्राभृत (आ. कुन्दकुन्द)	गाथा संख्या
भक्त.	भक्तपरिज्ञा (प्रकीर्णक)(वीरभद्र-कृत)	गाथा संख्या
भग. आ	भगवती आराधना (आ. शिवार्य)	गाथा संख्या
भग. आ. विजयो.	भगवती आराधना (विजयोदया टीका)	गाथा संख्या
भा. पा.	भाव प्राभृत (आ. कुन्दकुन्द)	गाथा संख्या
मूला.	मूलाचार (आ. वट्टकेर)	अधिकार/गाथा संख्या
मो.पा.	मोक्ष प्राभृत (आ. कुन्दकुन्द)	गाथा संख्या
यो. दृ.स.	योगदृष्टि समुच्चय (आ. हरिभद्र)	श्लोक संख्या
यो. बि.	योगबिन्दु (आ. हरिभद्र)	श्लोक संख्या
यो. भ.	योगिभक्ति (आ. कुन्दकुन्द)	गाथा संख्या
यो. श.	योगशतक (आ. हरिभद्र)	गाथा संख्या
रत्नक. श्रा.	रत्नकरण्डश्रावकाचार (आ. समन्तभद्र)	श्लोक संख्या
रा.वा.	(तत्त्वार्थ) राजवार्तिक	अध्याय/सूत्र/ वार्तिक संख्या
ला. सं.	लाटी संहिता	सर्ग/श्लोक संख्या
लि.पा.	लिङ्ग प्राभृत (आ. कुन्दकुन्द)	गाथा संख्या
वसु. श्रा.	वसुनन्दिश्रावकाचार (आ. वसुनन्दि)	गाथा संख्या

विशे. भा.	विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्रगणि)	गाथा संख्या
व्या. प्र.	व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र)	शतक/उद्देशक/सूत्र संख्या
शी. प्रा.	शीलप्राभृत (आ. कुन्दकुन्द)	गाथा संख्या
श्रा. प्र.	श्रावक प्रज्ञप्ति (आ. हरिभद्र)	गाथा संख्या
श्रा. सं.	श्रावकाचारसंग्रह	भाग/पृष्ठ संख्या
समय.	समयसार (आ. कुन्दकुन्द)	अधिकार/गाथा सं./समग्र गाथा सं.
सर्वा.	सर्वार्थसिद्धि (आ. पूज्यपाद)	अध्याय/सूत्र/अनुच्छेद
सा.ध.	सागार धर्मामृत (पं. आशाधर)	अध्याय/श्लोक संख्या
सू. कृ.	सूत्रकृतांग सूत्र	श्रुतस्कन्ध/उद्देशक/अध्ययन/गाथा
सूत्र. चू.	सूत्रकृतांग-चूर्णि (आ. जिनदासगणि)	गाथा संख्या
सू. पा.	सूत्रप्राभृत (आ. कुन्दकुन्द)	गाथा संख्या
स्वा. कार्ति.	स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा	अधिकार/समग्र/गाथा संख्या
ह. पु.	हरिवंशपुराण (आ.जिनसेन)	सर्ग/श्लोक संख्या
है. योग.	(हेमचन्द्र-कृत)योगशास्त्र	प्रकाश/श्लोक संख्या

अहिंसा विश्वकोश

जैन संस्कृति खण्ड

1

अहिंसा / हिंसा का स्वरूप

(सामान्य पृष्ठभूमि)

○ अहिंसाः सभी प्राणियों को (आत्मवत्) प्रिय

{1}

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाता दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीवितुकाया। सव्वेसिं जीवितं पियं।

(आचा. 1/2/3/78)

सभी प्राणियों को प्राण प्रिय हैं, सभी सुख चाहते हैं, सभी दुःख से घबराते हैं, सभी को अपना वध अप्रिय है, सभी को जीवन प्रिय है, सभी जीवित रहना चाहते हैं। सभी के लिए जीवित रहना प्रिय है। (तात्पर्य यह है कि सभी प्राणियों को हिंसा अप्रिय है, और अहिंसा प्रिय है।)

{2}

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।

(दशवै. 6/273)

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता।

○ अहिंसा का आधारः सर्वत्र समत्वपूर्ण आत्मवत् दृष्टि

{3}

तुमं सि णाम तं चेव जं परिघेतव्वं ति मण्णसि एवं तं चेव जं उद्दवेतव्वं ति मण्णसि। अंजू चेयं पडिबुद्धजीवी। तम्हा ण हंता, ण वि घातए। अणुसंवेयणमप्पाणेणं, जं हंतव्वं णाभिपत्थए।

(आचा. 1/5/5 सू. 170)

वह तू ही है, जिसे तू दास बनाने हेतु ग्रहण करने योग्य मानता है, वह तू ही है, जिसे तू मारने योग्य मानता है।

ज्ञानी पुरुष ऋजु (सरलात्मा) होता है, वह (परमार्थतः हन्तव्य और हन्ता की एकता का) प्रतिबोध पा कर जीने वाला होता है। इस (आत्मैक्य के प्रतिबोध) के कारण वह स्वयं जीव-वध नहीं करता और न दूसरों से वध करवाता है (और न ही वह वध करने वाले का अनुमोदन करता है)। कृत-कर्म के अनुरूप स्वयं को ही उसका फल भोगना पड़ता है, इसलिए किसी का हनन करने की इच्छा मत करो।

{4}

आत्मवत् सर्वभूतेषु सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां हिंसामन्यस्य नाचरेत्॥

(है. योग.2/20)

जैसे स्वयं को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है, वैसे ही अन्य जीवों को भी सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, ऐसा विचार कर स्वयं के लिए अनिष्टरूप हिंसा का आचरण दूसरे के लिए भी न करे।

[हिंसा-त्याग व समत्व दृष्टि से मोक्ष-प्राप्ति]

{5}

सव्वारंभ-परिग्गहणिक्खेवो सव्वभूतसमया य।
एक्कग्गमणसमाहाणया य, अह एत्तिओ मोक्खो॥

(बृह. भा. 4585)

सब प्रकार के आरम्भ (हिंसा) और परिग्रह का त्याग, सब प्राणियों के प्रति समता, और चित्त की एकाग्रतारूप समाधि-बस इतना मात्र मोक्ष है।

○ अहिंसा का व्यावहारिक रूप : प्राणि-हित में प्रवृत्ति

{6}

भूतहितं ति अहिंसा।

(नंदी. चू. 5/38)

प्राणियों का हित (करना, या प्राणी हित से सम्बन्धित कार्य) 'अहिंसा' है।

O अहिंसा : आन्तरिक विशुद्धि की साधन

[ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में थावच्चापुत्र नामक जैन अनगार व सुदर्शन सेठ के मध्य हुई एक चर्चा वर्णित है। इसमें थावच्चापुत्र अनगार यह प्रतिपादित करता है कि हिंसा आदि से विरति (रूप अहिंसा धर्म) से ही आन्तरिक शुद्धि होती है।]

{7}

तए णं थावच्चापुत्ते सुदंसणं एवं वयासी– 'तुब्भे णं सुदंसणा! किंमूलए धम्मे पण्णत्ते?' 'अम्हाणं देवाणुप्पिया! सोयमूले धम्मे पण्णत्ते, जाव सग्गं गच्छंति।'

तए णं थावच्चापुत्ते सुदंसणं एवं वयासी–'सुदंसणा! से जहानामए केई पुरिसे एगं महं रुहिरकयं वत्थं रुहिरेण चेव धोवेज्जा, तए णं सुदंसणा! तस्स रुहिरकयस्स रुहिरेण चेव पक्खालिज्जमाणस्स अत्थि काइ सोही?' णो तिणट्ठे समट्ठे।

(ज्ञाता. 5/36-37)

थावच्चापुत्र अनगार ने सुदर्शन सेठ से कहा–सुदर्शन! तुम्हारे धर्म का मूल क्या कहा गया है? (सुदर्शन ने उत्तर दिया–) देवानुप्रिय! हमारा धर्म शौचमूलक कहा गया है। इस धर्म से जीव स्वर्ग में जाते हैं।

तब थावच्चापुत्र अनगार ने सुदर्शन से इस प्रकार कहा– हे सुदर्शन! जैसे कुछ भी नाम वाला कोई पुरुष एक बड़े रुधिर से लिप्त वस्त्र को रुधिर से ही धोए, तो हे सुदर्शन! इस रुधिर से ही धोये जाने वाले वस्त्र की कोई शुद्धि होगी? (सुदर्शन ने कहा)– यह अर्थ समर्थ नहीं, अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता–रुधिर से लिप्त वस्त्र रुधिर से शुद्ध नहीं हो सकता।

{8}

एवामेव सुदंसणा! तुब्भं पि पाणाइवाएण जाव मिच्छादंसणसल्लेणं नत्थि सोही, जहा तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेणं चेव पक्खालिज्जमाणस्स नत्थि सोही।

सुदंसणा! से जहानामए केइ पुरिसे एगं महं रुहिरकयं वत्थं सज्जियाखारेणं अणुलिंपइ, अणुलिंपित्ता पयणं आरुहेइ, आरुहित्ता उण्हं गाहेइ, गाहित्ता तओ पच्छा सुद्धेणं वारिणा धोवेज्जा, से णूणं सुदंसणा! तस्स रुहिरकयस्स वत्थस्स सज्जियाखारेण अणुलित्तस्स पयणं आरुहियस्स उण्हं गाहियस्स सुद्धेणं वारिणा पक्खालिज्जमाणस्स सोही भवई? 'हंता भवइ।' एवामेव सुदंसणा! अम्हं पि पाणाइवायवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेण अत्थि सोही, जहा वि तस्स रुधिरकयस्स वत्थस्स सुद्धेणं वारिणा पक्खालिज्जमाणस्स अत्थि सोही।

(ज्ञाता. 5/38)

इसी प्रकार हे सुदर्शन! तुम्हारे मतानुसार भी प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक की शुद्धि नहीं हो सकती, जैसे उस रुधिरलिप्त और रुधिर से ही धोये जाने वाले वस्त्र की शुद्धि नहीं होती। हे सुदर्शन! जैसे यथानामक (कुछ भी नाम वाला) कोई पुरुष एक बड़े रुधिरलिप्त वस्त्र को सज्जी के खार के पानी में भिगोवे, फिर पाकस्थान (चूल्हे) पर चढ़ावे, चढ़ा कर उष्णता ग्रहण करावे (उबाले) और स्वच्छ जल से धोवे, तो निश्चय से हे सुदर्शन! वह रुधिर-लिप्त वस्त्र, सज्जीखार के पानी में भीग कर, चूल्हे पर चढ़ कर, उबल कर और शुद्ध जल से प्रक्षालित होकर शुद्ध हो जाता है।

'(सुदशन कहता है-) हां , हो जाता है।' इसी प्रकार हे सुदर्शन! हमारे धर्म के अनुसार भी प्राणातिपात के विरमण से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य के विरमण तक सम्पन्न होने वाली आन्तरिक शुद्धि होती है, जैसे उस रुधिरलिप्त वस्त्र की शुद्ध जल से धोये जाने पर शुद्धि होती है।

{9}

यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु निःस्पृहमहिंसकं चेतः।
दुश्छेद्यान्तर्मलहृत्तदेव शौचं परं नान्यत्॥

(पद्म. पं. 1/94)

पर-स्त्री एवं सामान्य प्राणियों के प्रति जो अहिंसा-पूर्ण हृदय से व्यवहार करता है, दुर्भेद्य आन्तरिक मल को दूर करने वाला वह व्यवहार ही उसके लिए 'शौच' है, अन्य कुछ 'शौच' नहीं है।

{10}

सूक्ष्माऽपि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या॥

(पुरु. 4/13/49)

वास्तव में परवस्तु के कारण जो उत्पन्न हो, ऐसी सूक्ष्म हिंसा भी आत्मा के नहीं होती, तो भी परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के स्थान (रूप परिग्रह आदि) का त्याग करना चाहिए। (तात्पर्य यह है कि बाह्य वस्तुएं चूंकि आन्तरिक परिणामों की निर्मलता को दूषित करती हैं, इस दृष्टि से बाह्य वस्तुएं (परम्परया) हिंसा-स्थान हैं, अतः परिणाम-शुद्धि के लिए भी उनका त्याग कर्तव्य है।)

○ अहिंसा : वीतरागता का दूसरा नाम :

{11}

रागादीणमणुप्पाओ, अहिंसकत्तं।

(जयधवला 1/42/94)

राग आदि की अनुत्पत्ति अहिंसा है और उत्पत्ति हिंसा है।

{12}

रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्तना कृता भवति।

(रत्नक. श्रा. 48)

राग व द्वेष –इन दोनों की निवृत्ति से हिंसा (असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य व परिग्रह) आदि (पापों) की स्वतः निवृत्ति हो जाती है।

○ अहिंसा का प्रतिकूल आचरणः हिंसा

{13}

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

(पुरु. 4/8/44)

वास्तव में रागादि भावों का प्रकट न होना-यही 'अहिंसा' होती है। उन रागादि भावों की उत्पत्ति होना- यही हिंसा है। ऐसा जैनागम का सार है।

{14}

हिंसाए पडिवक्खो होइ अहिंसा।

(दशवै. नि. 45)

हिंसा का प्रतिपक्ष–अहिंसा है।

○ हिंसा के ही रूपः काम-क्रोध आदि

{15}

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः . . .

(पुरु. 4/28/64)

अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध आदि – ये सभी हिंसा की ही पर्यायें हैं।

○ हिंसा=अशुभ परिणाम

{16}

असुभो जो परिणामो सा हिंसा।

(विशे. भा. 1766)

आत्मा का अशुभ परिणाम ही हिंसा है।

○ अहिंसा की परिणति : जीव-दया/प्राणी-रक्षा

{17}

धर्मः प्राणि-दया, दयाऽपि सततं हिंसाव्युदासो मनो-
वाक्कायैर्विरतिर्वधात् प्रणिहितैः प्राणात्ययेऽप्यात्मनः॥

(ह.पु. 17/164)

अपने प्राणों पर संकट आने पर भी मन-वचन-काय द्वारा प्राणि-वध से विरति (या प्राणिवध से दूर रहना) ही हिंसा-विरति है, हिंसा-विरति ही प्राणि-दया है और प्राणि-दया ही (अहिंसा-)धर्म है।

{18}

अहिंसाऽपि भावरूपैव, तेन प्राणिरक्षणमप्यहिंसाशब्दार्थः सिद्ध्यति।

[दशवै. आचारमणिमञ्जूषा टीका, भा. 1, पृ.3]

'अहिंसा' भावरूप (विधेयात्मक स्वरूप वाली) भी है, अतः 'अहिंसा' शब्द का अर्थ 'प्राणि-रक्षा' भी सिद्ध होता है।

{19}

दयामूलो भवेद् धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम्।
दयायाःपरिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्त्तिताः॥
धर्मस्य तस्य लिङ्गानि दमः क्षान्तिरहिंस्रता।
तपो दानं च शीलं च योगो वैराग्यमेव च॥

(आ. पु. 5/21-22)

धर्म वही है जिसका मूल दया हो, और सम्पूर्ण प्राणियों पर अनुकम्पा करना दया है। इस दया की रक्षा के लिए ही उत्तम क्षमा आदि शेष गुण कहे गये हैं। इन्द्रियों का दमन करना, क्षमा धारण करना, हिंसा नहीं करना, तप, दान, शील, ध्यान और वैराग्य- ये उस दयारूप धर्म के चिह्न हैं।

{20}

अहिंसा= जीवदया, प्राणातिपात-विरतिः।

[दशवै.(समयसुन्दर कृत) दीपिका टीका, पृ.1]

'अहिंसा' का अर्थ है- 'जीव-दया' तथा 'जीवों के प्राणातिपात (वध) से विरति'।

{21}

धर्मः प्राणि-दया स्मृता।

(प.पु. 26/64; ह.पु. 17/164)

प्राणियों के प्रति दया भाव रखना 'धर्म' है।

O अहिंसाः सनातन धर्म

{22}

अहिंसा सत्यवादित्वमचौर्यं त्यक्तकामता।
निष्परिग्रहता चेति प्रोक्तो धर्मः सनातनः॥

(आ. पु. 5/23)

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और 'परिग्रह का त्याग' करना– ये सब सनातन (अनादिकाल से चले आये) धर्म कहलाते हैं।

O अहिंसाः परम/उत्कृष्ट धर्म

{23}

अहिंसा परमो धर्मः, स्यादधर्मस्तदत्ययात्।

(लाटी संहिता, 1/1, श्रा.सं. III/1)

अहिंसा परम (श्रेष्ठ) धर्म है, और 'हिंसा' अधर्म है।

{24}

सव्वाओ वि नईओ, कमेण जह सायरम्मि निवडंति।
तह भगवई अहिंसा, सव्वे धम्मा समिल्लंति॥

(संबोधसत्तरी 6)

जिस तरह सभी नदियां अनुक्रम से समुद्र में आकर मिलती हैं, उसी प्रकार महाभगवती अहिंसा में सभी धर्मों का समावेश होता है।

{25}

सव्वो हि जहायासे लोगो भूमीए सव्वदीउदधी।
तह जाण अहिंसाए वदगुणशीलाणि तिट्ठंति॥

(भग. आ. 785)

जैसे ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, और मध्यलोक के भेद से सब लोक आकाश पर आधारित हैं और सब द्वीप और समुद्र भूमि पर आधारित हैं, वैसे ही व्रत, गुण और शील अहिंसा पर आधारित रहते हैं।

{26}

णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि।
जह जह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि॥

(भग. आ. 783)

जैसे अणु से छोटा कोई अन्य द्रव्य नहीं है और आकाश से बड़ा कोई द्रव्य नहीं है, वैसे ही अहिंसा जैसा कोई (अधिक सूक्ष्म और महान्/श्रेष्ठ) अन्य व्रत नहीं है।

{27}

कुव्वंतस्स वि जत्तं तुंबेण विणा ण ठंति जह अरया।
अरएहिं विणा य जहा णट्ठं णेमी दु चक्कस्स॥
तह जाण अहिंसाए विणा ण सीलाणि ठंति सव्वाणि।
तिस्सेव रक्खणट्ठं सीलाणि वदीव सस्सस्स॥

(भग. आ. 786-787)

लाख प्रयत्न करने पर भी जैसे चाक के आरे तुम्बी के बिना नहीं ठहरते और आरों के बिना नेमि नहीं ठहरती, वैसे ही अहिंसा के बिना सब शील नहीं ठहरते। उसी (अहिंसा) की रक्षा के लिए शील हैं, जैसे धान्य की रक्षा के लिए बाड़ होती है।

{28}

जह पव्वदेसु मेरू उच्चावो होइ सव्वलोयम्मि।
तह जाणसु उच्चायं सीलेसु वदेसु य अहिंसा॥

(भग. आ. 784)

जैसे सब लोक में मेरु सब पर्वतों से ऊंचा है, वैसे ही शीलों में और व्रतों मे अहिंसा सब से ऊंची (बड़ी) है।

{29}

सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं।
सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु॥

(भग. आ. 789)

सब आश्रमों का हृदय, सब शास्त्रों का गर्भ और सब व्रतों और गुणों का पिण्डीभूत सार अहिंसा ही है।

{30}

तुंगं न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि।
जह तह जयंमि जाणसु, धम्ममहिंसासमं नत्थि॥

(भक्त. 91)

जैसे जगत् में मेरुपर्वत से ऊंचा और आकाश से विशाल और कुछ नहीं है, वैसी ही अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है।

○ हिंसाः प्रमाद व कषाय की अशुभ उपज

{31}

इन्द्रियाद्या दश प्राणाः प्राणिभ्योऽत्र प्रमादिना।
यथासंभवमेषां हि हिंसा तु व्यपरोपणम्॥

(ह. पु. 58/127)

इस संसार में प्राणियों के लिए यथासम्भव इन्द्रियादि दश प्राण प्राप्त हैं। प्रमादी बन कर उनका विच्छेद करना 'हिंसा' है।

{32}

यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम्।
सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता॥
विकथाक्षकषायाणां निद्रायाः प्रणयस्य च।
अभ्यासाभिरतो जन्तुः प्रमत्तः परिकीर्तितः॥

(उपासका. 26/318-319)

प्रमाद के योग से प्राणियों को प्राणों का घात करना 'हिंसा' है और उनकी रक्षा करना 'अहिंसा' है। जो जीव विकथा, कषाय, इन्द्रियां, निद्रा और मोह के वशीभूत है उसे 'प्रमादी' कहते हैं।

{33}

हिंसादो अविरमणं वहपरिणामो य होइ हिंसा हु।
तम्हा पमत्तजोगो पाणव्ववरोवओ णिच्चं॥

(भग. आ. 800)

हिंसा से विरत न होना 'हिंसा' है। अर्थात् 'मैं प्राणी के प्राणों का घात नहीं करूंगा' ऐसा

संकल्प न करना 'हिंसा' है। अथवा 'मैं मारूं' ऐसा परिणाम 'हिंसा' है। इसलिए प्रमादीपना नित्य प्राणों का घातक है। अर्थात् विकथा, कषाय आदि 15 प्रमाद रूप परिणाम अपने 'भाव प्राणों' के और दूसरे के द्रव्यप्राण व भावप्राणों के घातक होने से 'हिंसा' कहे जाते हैं।

{34}

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥

(पुरु. 4/7/43)

कषाय-रूप परिणत मन, वचन, काय के योगों से द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के प्राणों का जो घात करना है, वही निश्चित रूप से 'हिंसा' है।

{35}

हिंसाया अविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम्॥

(पुरु. 4/12/48)

हिंसा से विरत न होने से (हिंसा होती है) और हिंसा-रूप परिणमन करने से भी हिंसा होती है, इसलिए प्रमाद-कषाय के योग में निरन्तर प्राणघात रूप (हिंसा-दोष) का सद्भाव रहता ही है।

{36}

आया चेव अहिंसा, आया हिंस त्ति निच्छओ एसो।
जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो॥

(ओघ. नि. 754)

निश्चय दृष्टि से आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा। जो प्रमत्त है वह हिंसक है, और जो अप्रमत्त है वह अहिंसक।

{37}

जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण घायणं कुणइ।
सो जीववहं परिहरइ सया जो णिज्जियकसाओ॥

(भग. आ. 811)

जो जीव कषाय की अधिकता रखता है, वह जीवों का घात करता है। और जो कषायों को जीत लेता है वह सदा जीवों की हिंसा से दूर रहता है। अत: प्रमाद हिंसा का कारण है। अहिंसा व्रत के अभिलाषी को प्रमाद का त्याग करना चाहिए।

{38}

प्राणिनो दुःखहेतुत्वादधर्माय वियोजनम्।
प्राणानां तु प्रमत्तस्य समितस्य न बन्धकृत्॥

(ह. पु. 58/128)

प्राणियों के दुःख का कारण होने से प्रमादी मनुष्य किसी के प्राणों का जो वियोग (विच्छेद) करता है वह अधर्म का कारण है- पापबन्ध का निमित्त है, परन्तु समितिपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले प्रमादरहित जीवों द्वारा कदाचित् यदि किसी जीव के प्राणों का वियोग हो भी जाता है- किसी जीव का वध भी हो जाता है, तो वह उसके लिए बन्ध का कारण नहीं होता है।

{39}

मृते वा जीविते वा स्याज्जन्तुजाते प्रमादिनाम्।
बन्ध एव, न बन्धः स्याद्धिंसायाः संवृतात्मनाम्॥

(ज्ञा. 8/8/480)

प्रमादी पुरुषों को भले ही उनके हाथ से किसी जीव की मृत्यु हो या न हो, निरन्तर ही हिंसा का पापबन्ध होता ही रहता है; और जो संवरसहित अप्रमादी हैं उनको, जीवों की हिंसा उनके द्वारा होते हुए भी, हिंसारूप पाप का बंध नहीं होता।

{40}

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।

(त.सू. 7/8)

प्रमाद-युक्त होकर अपने मन-वचन व काय की क्रिया द्वारा किसी जीव के प्राणों का घात करना अर्थात् उसके शरीर से प्राणों का वियोजन करना 'हिंसा' है।

{41}

जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स य जोगं पडुच्च जे सत्ता।
वावज्जंते नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ॥
जे वि न वावज्जंती, नियमा तेसिं पि हिंसओ सो उ।
सावज्जो उ पओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा॥

(ओघ. नि. 752-53)

जो प्रमत्त व्यक्ति है, उसकी किसी भी चेष्टा से जो भी प्राणी मर जाते हैं, वह निश्चित रूप

से उन सब का हिंसक होता है। परन्तु जो प्राणी नहीं मारे गये हैं, वह प्रमत्त उनका भी हिंसक ही है; क्योंकि वह अन्तर में सर्वतोभावेन हिंसावृत्ति के कारण सावद्य है, पापात्मा है।

{42}

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा (तत्त्वार्थसूत्र- 7/13)।

(टीका-) प्रमादः सकषायत्वं तद्वान् आत्मपरिणामः प्रमत्तः। प्रमत्तस्य योगः प्रमत्तयोगः। तस्मात् प्रमत्तयोगाद् इन्द्रियादयो दश प्राणाः, तेषां यथासम्भवं व्यपरोपणं वियोगकरणं 'हिंसा' इत्यभिधीयते। सा प्राणिनो दुःखहेतुत्वाद् अधर्महेतुः। प्रमत्तयोगात् इति विशेषणं केवलं प्राणव्यपरोपणं नाधर्माय इति ज्ञापनार्थम्।

(सर्वा. 7/13/687)

(सूत्र) प्रमत्तयोग से प्राणों का वध करना 'हिंसा' होती है।

(टीका-) प्रमाद यानी कषाय-सहित अवस्था। इस अवस्था में आत्मा की जो परिणति होती है वह 'प्रमत्त स्थिति' कहलाती है। उसका योग है- प्रमत्तयोग। इस प्रमत्तयोग से इन्द्रिय आदि दश प्राणों का यथासम्भव वियोग करना 'हिंसा' है। चूंकि इससे प्राणियों को दुःख होता है, अतः हिंसा अधर्म का कारण है। केवल प्राणों का वियोग करना मात्र 'हिंसा' नहीं है-ऐसा सूचित करने के लिए 'प्रमत्तयोग से' ऐसा विशेषण 'उपर्युक्त हिंसा- लक्षण' में दिया गया है।

{43}

सति पाणातिवाए अप्पमत्तो भवति, एवं असति पाणातिवाए पमत्तताए वहगो भवति।

(नि. चू. 92)

प्राणातिपात होने पर भी, अप्रमत्त साधक अहिंसक है, और प्राणातिपात न होने पर भी प्रमत्त व्यक्ति हिंसक है।

{44}

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव॥

(पुरु. 4/9/45)

योग्य-प्रयत्न/सावधानी पूर्वक आचरण करने वाले सन्त पुरुष के यदि रागादि भावों का अभाव है तो प्राणघात-मात्र से हिंसा कभी भी नहीं होती है। (अर्थात् वह हिंसक नहीं माना जाता है।)

{45}

जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स।
सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स॥

(ओघ. नि. 759)

जो यतनावान् साधक आन्तरिक विशुद्धि से युक्त है, और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा होने वाली विराधना (हिंसा) भी कर्मनिर्जरा का कारण है।

{46}

जीवन्तु वा म्रियन्तां वा प्राणिनोऽमी स्वकर्मतः।
स्वं विशुद्धं मनो हिंसन् हिंसकः पापभाग्भवेत्॥
शुद्धमार्गमतोद्योगः शुद्धचेतोवचोवपुः।
शुद्धान्तरात्मसंपन्नो हिंसकोऽपि न हिंसकः॥

(उपासका. 21/250-251)

ये प्राणी अपने कर्म के उदय से जीवें या मरें, किन्तु अपने विशुद्ध मन की हिंसा करने वाला (अर्थात् मन में कलुषता/मलिनता रखने वाला) हिंसक है और इसलिए वह पाप का भागी है। जो शुद्ध मार्ग में प्रयत्नशील है, जिसका मन, वचन, और शरीर शुद्ध है, तथा जिसकी अन्तरात्मा भी शुद्ध है, वह हिंसा करके भी हिंसक नहीं है।

{47}

विरतो पुण जो जाणं, कुणति अजाणं व अप्पमत्तो वा।
तत्थ वि अज्झत्थसमा, संजायति णिज्जरा ण चयो।।

(बृह. भा. 3939)

अप्रमत्त संयमी (जागृत साधक) चाहे जानते हुए (अपवाद स्थिति में) हिंसा करे या अनजाने में, उसे अन्तरंग शुद्धि के अनुसार निर्जरा ही होगी, बन्ध नहीं।

{48}

प्रमत्तो हिंसको हिंस्या द्रव्यभावस्वभावकाः।
प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा तत्फलं पापसञ्चयः॥

(सा. ध. 4/21)

प्रमाद से युक्त आत्मा हिंसक है। द्रव्यात्मक अर्थात् पुद्गल की पर्यायरूप और भावात्मक अर्थात् चेतन का परिणामरूप प्राण हिंस्य है। उन द्रव्यभावरूप प्राणों का वियोग करना हिंसा है और उस हिंसा का फल है पापसंचय अर्थात् दुष्कर्म का बन्ध।

{49}

जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हु दंडे पवुच्चति।

(आचा.1/1/4/33)

जो प्रमत्त है, विषयासक्त है, वह निश्चय ही जीवों को दण्ड (पीड़ा) देने वाला होता है।

{50}

अयदाचारो समणो छसु वि कायेसु बंधगोत्ति मदो।
चरदि यदं यदि णिच्चं कमलं व जलं णिरुवलेओ॥

(मूला. फलटन संस्क., पंचम अधिकार)

प्रमाद-युक्त मुनि षट्काय जीवों का वध करने वाला होने से नित्य बंधक है और जो मुनि यतनाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह, जल में रह कर भी जल में निर्लेप कमल की तरह, कर्मलेप से रहित होता है।

{51}

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकालं हिंसा सातत्तिया त्ति मता॥

(मूला. फलटन संस्क., पंचम अधिकार)

जिस साधु की सोने, बैठने, चलने, भोजन करने इत्यादि कार्यों में होने वाली प्रवृत्ति यदि प्रमाद-सहित है, तो उस साधु को हिंसा का पाप सतत लगेगा।

O हिंसा के ही विविध रूपः असत्य, चोरी, परिग्रह व अब्रह्मचर्य

{52}

जम्हा असच्चवयणादिएहिं दुक्खं परस्स होदित्ति।
तप्परिहारो तम्हा सव्वे वि गुणा अहिंसाए॥

(भग. आ. 790)

चूंकि असत्य बोलने से, बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण से, मैथुन से, और परिग्रह से दूसरों को दुःख होता है। इसलिए उन सब का त्याग किया जाता है। अतः सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये सभी अहिंसा के ही गुण (अंगभूत धर्म) हैं।

{53}

हिंसनाब्रह्मचौर्यादि काये कर्माशुभं विदुः।
असत्यासभ्यपारुष्यप्रायं वचनगोचरम्॥

(उपासका. 26/354)

हिंसा करना, कुशील सेवन करना, चोरी करना आदि- इन्हें कायसम्बन्धी अशुभ कर्म जानना चाहिए। झूठ बोलना, असत्य वचन बोलना और कठोर वचन बोलना आदि वचन-सम्बन्धी अशुभ कर्म हैं- ऐसा जानना चाहिए।

{54}

मदेर्ष्यासूयनादि स्यान्मनोव्यापारसंश्रयम्।
एतद्विपर्ययाज्ज्ञेयं शुभमेतेषु तत्पुनः॥

(उपासका. 26/355)

घमण्ड करना, ईर्ष्या करना, दूसरों की निन्दा करना आदि मनोव्यापार सम्बन्धी अशुभ कर्म हैं। इससे विपरीत कार्य को काय, वचन और मन-सम्बन्धी शुभ कर्म जानना चाहिए। अर्थात् हिंसा न करना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना आदि कायिक शुभ कर्म हैं। सत्य, हित व मित वचन बोलना आदि वचन-सम्बन्धी शुभ कर्म हैं। अर्हन्त आदि की भक्ति करना, तप में रुचि होना, ज्ञान और ज्ञानियों की विनय करना आदि मानसिक शुभ कर्म हैं।

{55}

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्य-बोधाय॥

(पुरु. 4/6/42)

आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणाम के घात होने के कारण, यह सब (असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य व परिग्रह) हिंसा ही हैं। असत्यवचन आदि के भेद तो केवल शिष्यों को समझाने के लिए उदाहरण रूप से कहे गये हैं।

(अर्थात् वास्तव में सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह- ये अहिंसा के ही भेद हैं और असत्य, चोरी आदि 'हिंसा' रूप अधर्म के ही भेद हैं। क्योंकि असत्य आदि के आचरण में आत्मीय शुद्ध स्वरूप का घात (भाव-हिंसा) होता ही है। आत्मा की स्वाभाविक शुद्ध/ अविकृत परिणति 'अहिंसा' है, और उसकी अशुद्ध/वैभाविक-विकृत परिणति 'हिंसा' है। 'असत्य' आदि का उद्भव आत्मा की वैभाविक परिणति- राग, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि की पृष्ठभूमि में संभव होता है, अत: हिंसा के वर्णन से ही 'असत्य' आदि का निरूपण हो जाता है, फिर 'हिंसा' से पृथक् असत्य आदि का निरूपण क्यों किया जाता है? इसका समाधान यह दिया गया है कि शिष्यों को स्पष्ट रूप से तथा विस्तार से 'सत्य' या 'असत्य' आदि के विषय में जानकारी मिल सके, इस दृष्टि से 'सत्य' व असत्य आदि का पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से निरूपण किया गया है।)

{56}

कषायवशगः प्राणी हन्ता स्वस्य भवे भवे।
संसारवर्धनोऽन्येषां भवेद्वा वधको न वा॥
परं हन्मीति संध्यातं लोहपिण्डमुपाददत्।
दहत्यात्मानमेवादौ कषायवशगस्तथा॥

(ह. पु. 61/102-103)

दूसरे का अपकार करने वाला पापी मनुष्य, दूसरे का वध तो एक जन्म में कर पाता है पर उसके फलस्वरूप अपना वध जन्म-जन्म में करता है। यह प्राणी दूसरों का वध कर सके अथवा न कर सके, परन्तु कषाय के वशीभूत हो अपना वध तो भव-भव में करता है तथा अपने संसार को बढ़ाता है। जिस प्रकार तपाये हुए लोहे के पिण्ड को उठाने वाला मनुष्य पहले अपने-आपको जलाता है पश्चात् दूसरे को जला पाता है अथवा नहीं भी जला पाता। उसी प्रकार कषाय के वशीभूत हुआ प्राणी दूसरे का घात करूं- इस विचार के उत्पन्न होते ही, पहले अपने आप का (स्वयं की आत्मा का) घात करता है, बाद में वह दूसरे का घात कर भी सकता है, या नहीं भी कर सकता है।

{57}

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः॥

(ह. पु. 58/129)

प्रमादी आत्मा अपनी आत्मा का अपने-आपके द्वारा पहले ही घात कर लेता है, पीछे दूसरे प्राणियों का वध कर भी पाता है और नहीं भी कर पाता।

{58}

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा॥
यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनाऽऽत्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु॥

(पुरु. 4/11/46-47)

रागादि भावों के वशीभूत होकर अयतनाचार रूप प्रमाद अवस्था में, भले ही कोई जीव जीव मरे या न मरे, हिंसा तो निश्चित रूप से आगे ही दौड़ती है (अर्थात् हिंसा-दोष तो होता ही है), क्योंकि जीव कषायभाव से युक्त होने के कारण, प्रथम तो अपने आप अपना घात (आत्मा को कलुषित) तो करता ही है, बाद में भले ही दूसरे जीवों की हिंसा कर सके या न भी कर सके।

{59}

तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मण्णसि।
तुमंसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मण्णसि।
तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वं ति मण्णसि।

(आचा.1/5/5/170)

जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है। (अर्थात् दूसरे को मारना या पीड़ित करना स्वयं को मारना या पीड़ित करना है।)

○ हिंसा से जुड़ी 'क्रियाएं' : आगम के आलोक में

[कर्म-बन्ध की कारणभूत हिंसात्मक चेष्टा को अथवा दुर्व्यापार-विशेष को 'क्रिया' कहा जाता है। आगमिक वचनों के परिप्रेक्ष्य में इन क्रियाओं का निरूपण यहां प्रस्तुत है:-]

{60}

कति णं भंते! किरियाओ पण्णत्ताओ?

मंडियपुत्ता! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा- काइया अहिगरणिया पाओसिया पारियावणिया पाणातिवातकिरिया।

(व्या. प्र. 3/3/2)

[प्र.] भगवन्! क्रियाएं कितनी कही गई हैं?

[उ.] हे मण्डितपुत्र! क्रियाएं पांच कही गई हैं। वे इस प्रकार हैं- कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी क्रिया।

{61}

पाणातिवातकिरिया णं भंते! पुच्छा।

मंडियपुत्ता! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा- सहत्थपाणातिवातकिरिया य परहत्थपाणाति- वातकिरिया य।

(व्या. प्र. 3/3/7)

[प्र.] भगवन् ! प्राणातिपात-क्रिया कितने प्रकार की कही गई है?

[उ.] मण्डितपुत्र! प्राणातिपात-क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है:- स्वहस्त-प्राणातिपात-क्रिया और परहस्त-प्राणातिपात-क्रिया।

{62}

पादोसिय अधिकरणिय कायिक परिदावणादिवादाए।
एदे पंचपओगा किरियाओ होंति हिंसाओ॥

(भग. आ. 801)

(टीका) पादोसियशब्देनेष्टदारवित्तहरणादिनिमित्तः कोषः प्रद्वेष इत्युच्यते। प्रद्वेष एव प्राद्वेषिको यथा विनय एव वैनयिकमिति। हिंसाया उपकरणमधिकरणमित्युच्यते। हिंसोपकरणादानक्रिया। आधिकरणिकी। दुष्टस्य सतः कायेन वा चलनक्रिया कायिकी। परितापो दुःखं दुःखोत्पत्तिनिमित्ता क्रिया पारितापिकी। आयुरिन्द्रियबलप्राणानां वियोगकारिणी प्राणातिपातिकी। एदे पंच पओगा एते पञ्च प्रयोगाः। 'हिंसाकिरिआओ' हिंसासम्बन्धिन्यः क्रियाः॥

(भग. आ. विजयो. 801)

प्रयोग अर्थात् हिंसा से सम्बन्ध रखने वाली पांच क्रियाएं हैं- (1) प्राद्वेषिकी, (2) आधिकरणिकी, (3) कायिकी, (4) पारितापनिकी, (5) प्राणातिपातिकी।

(टीका) 'पादोसिय' शब्द से इष्ट स्त्री, धन हरने आदि के निमित्त से होने वाले कोप प्रद्वेष का कथन किया गया है। प्रद्वेष ही प्राद्वेषिक (क्रिया)है, जैसे विनय ही वैनयिक है। हिंसा के उपकरण को अधिकरण कहते हैं। हिंसा के उपकरणों का लेन-देन आधिकरणिकी क्रिया है। दुष्टतापूर्वक हलन-चलन करना कायिकी क्रिया है। परिताप का अर्थ दुःख है। दुःख की उत्पत्ति में निमित्त क्रिया पारितापिकी है। आयु, इन्द्रिय और बल प्राणों का वियोग करने वाली क्रिया प्राणातिपातिकी है। प्रयोग यानी हिंसा से सम्बन्ध रखने वाली- ये पांच क्रियाएं है।

तिहिं चदुहिं पंचहिं वा कमणे हिंसा समप्पदि हु ताहिं।
बंधो वि सिया सरिसो जइ सरिसो काइयपदोसो॥

(भग. आ. 802)

(टीका) 'तिहिं चदुहिं पंचहिं वा' त्रिभिर्मनोवाक्कायैः, चतुर्भिः क्रोधमानमायालोभैः, पञ्चभिः स्पर्शनादिभिरिन्द्रियैर्वा। 'कमेण हिंसा समप्पदि खु' क्रमेण हिंसा समासिमुपैति। ताभिर्मनसा प्रद्वेषो वचसा द्विष्टोऽस्मीति वचनं वाग्द्वेषः। कायेन मुखवैवर्ण्यादिकरणं कायद्वेषः। मनसा हिंसोपकरणादानं, वाचा शस्त्रम् उप-गृह्णामीति हस्तादिताडनम् इति अधिकरणमपि त्रिविधम्। मनसा उत्तिष्ठामीति चिन्ता कायक्रिया। वचसा उत्तिष्ठामि इति, हन्तुं ताडयितुमिति उक्तिः। कायेन चलनं कायिकी। मनसा दुःखमुत्पादयामीति चिन्ता, दुःखं भवतः करोमि इति उक्तिर्वाचा पारितापिकी क्रिया। हस्तादिताडनेन दुःखोत्पादनं कायेन पारितापिकी क्रिया। प्राणान्वियोजयामीति चिन्ता मनसा प्राणातिपातः, हन्मीति वचः वाक्प्राणातिपातः। कायव्यापारः कायिक-प्राणातिपातः क्रोधनिमित्ता कस्मिंश्चिदपीति, माननिमित्ता, मायानिमित्ता, लोभनिमित्ता, क्रोधादिना शस्त्रग्रहणं क्रोधादिनिमित्तः कायपरिस्पन्दः। क्रोधादिनिमित्तपरपरितापकरणं, प्राणातिपातो वा क्रोधादिना भवति। स्पर्शनादीन्द्रियनिमित्तो वा प्रद्वेषः, इन्द्रियसुखार्थं वा फलपल्लवप्रसूनादिछेदननिमित्तसाधनोपादानं, तत्सुखार्थमेव विषयप्रत्यासत्तिमभिप्रेत्य यतः कायपरिस्पन्दः। परस्य वा गाढालिङ्गन-नखक्षतादिना सन्तापकरणं, मांसाद्यर्थं वा प्राणिप्राणवियोजनमिति। किमेताभिर्हिंसाभिः संपाद्य कर्मबन्धः समान उत न्यूनाधिकभावो बन्धस्येत्याशङ्कायामाचष्टे 'बंधोऽपि' कर्मबन्धोऽपि 'सिया सरिसो' स्यात्सदृशः। कथं? 'जदि सरिसो' यदि सदृशः। 'कायिकपदोसो' कायिकी क्रिया प्रद्वेषश्च यदि समः स्यात्कारणसामान्यात्कार्यस्यापि बन्धस्य सादृश्यं, अन्यथा न सदृशता। तीव्रमध्यमन्दरूपाः परिणामाः तीव्रं, मध्यं, मन्दं च बन्धमापादयन्ति इति भावः॥

(भग. आ. विजयो. 802)

(मूल गाथा अर्थ-) तीन, चार या पांच कारणों से 'हिंसा' सम्पन्न होती है। इनमें कर्म बन्ध समान भी हो सकता है, असमान भी। यह समान तभी होता है जब कायिकी क्रिया और प्रद्वेष समान होता है।

(टीका) मन, वचन, काय- इन तीन से, क्रोध, मान, माया, लोभ- इन चार से और स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियों से, क्रम से हिंसा होती है। मन से द्वेष करना प्रद्वेष है, वचन से मैं द्वेषयुक्त हूं- ऐसा कहना वचनद्वेष है। शरीर से मुख की विकृति आदि करना कायद्वेष है। मन से हिंसा के उपकरण स्वीकार करना, वचन से मैं शस्त्र ग्रहण करता हूं ऐसा कहना, काय से हाथ आदि भांजना- ये अधिकरण के तीन भेद हैं। मन से विचारना 'मैं मारने के

लिए उठूं', वचन से कहना कि मैं मारने के लिए उठता हूं। और मारने आदि के लिए कार्य से हलन-चलन- ये तीन कायिकी क्रिया हैं। मन में चिन्तन करना 'मैं दुःख दूं' यह मानसिक पारितापिकी क्रिया है। आपको दुःख दूं- ऐसा कहना वाचनिक पारितापिकी क्रिया है। हाथ आदि के द्वारा ताड़न करने से दुःख देना कायिक पारितापिकी क्रिया है। मैं प्राणों का वियोग करूं- ऐसा चिन्तन करना मानसिक प्राणातिपात है। मैं घात करता हूं- ऐसा कहना वाचनिक प्राणातिपात है। शरीर से हिंसक व्यापार करना कायिक प्राणातिपात है। यह किसी में क्रोध के निमित्त से, किसी में मान के निमित्त से, किसी में माया के निमित्त से और किसी में लोभ के निमित्त से होता है। क्रोध आदि के वश में होकर शस्त्र ग्रहण करना क्रोधादि निमित्त से होने वाला काय-परिस्पन्द है। क्रोध आदि के निमित्त से दूसरों को दुःख देना अथवा प्राणों का घात करना क्रोध आदि से होता है। अथवा स्पर्शन आदि इन्द्रियों के निमित्त से प्रद्वेष होता है। इन्द्रिय-सुख के लिए फल, पत्र, फूल आदि तोड़ने के लिए उसके साधन ग्रहण किये जाते हैं। इन्द्रिय-सुख के लिए ही विषयों को स्वीकार किया जाता है, शरीर से हलन-चलन किया जाता है, गाढ़ आलिंगन तथा नख-द्वारा नोचना आदि से दूसरों को संताप दिया जाता है। अथवा मांस आदि के लिये प्राणी के प्राणों का घात किया जाता है।

इस प्रकार प्राद्वेषिकी क्रिया, आधिकरणिकी क्रिया, कायिकी क्रिया, पारितापिकी क्रिया और प्राणातिपातिकी क्रिया- ये मन, वचन, काय, क्रोध, मान, माया, लोभ और स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र से होती हैं।

शङ्का- इन क्रियाओं से होने वाला कर्मबन्ध समान होता है या हीनाधिक होता है?

समाधान- यदि कायिकी क्रिया और प्रद्वेष समान होता है तो समान कर्मबन्ध होता है। क्योंकि कारण में समानता होने से कार्य रूप बन्ध में भी समानता होती है, अन्यथा समानता नहीं होती। तीव्र, मध्य या मन्दरूप परिणामों से तीव्र, मध्य या मन्द बन्ध होता है।

{64}

पादोसिया णं भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता?

मंडियपुत्ता! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा- जीवपादोसिया य अजीवपादोसिया य।

(व्या. प्र. 3/3/5)

[प्र.] भगवन् ! प्राद्वेषिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है?

[उ.] मण्डितपुत्र! प्राद्वेषिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है:- जीव-प्राद्वेषिकी क्रिया और अजीव-प्राद्वेषिकी क्रिया।

{65}

अधिगरणिया णं भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता?

मंडियपुत्ता! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-संजोयणाहिगरणकिरिया य निव्वत्तणाहिगरण-किरिया य।

(व्या. प्र. 3/3/4)

[प्र.] भगवन्! आधिकरणिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है?

[उ.] मण्डितपुत्र! आधिकरणिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है:- संयोजनाधिकरण-क्रिया और निर्वर्तनाधिकरण-क्रिया।

{66}

कइया णं भंते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता?

मंडियपुत्ता! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा- अणवरयकायकिरिया य दुप्पउत्तकायकिरिया य।

(व्या. प्र. 3/3/3)

[प्र.] भगवन्! कायिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है?

[उ.] मण्डितपुत्र! कायिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है:- अनुपरतकाय-क्रिया और दुष्प्रयुक्तकाय-क्रिया।

{67}

पारितावणिया णं भंते! किरिया कइविहा पण्णत्ता?

मंडियपुत्ता! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा- सहत्थपारितावणिगा य परहत्थपारितावणिगा य।

(व्या. प्र. 3/3/6)

[प्र.] भगवन् ! पारितापनिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है।

[उ.] मण्डितपुत्र! पारितापनिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है:- स्वहस्तपारितापनिकी और परहस्तपारितापनिकी।

[पांच क्रियाओं का अर्थ- कायिकी= काया में या काया से होने वाली। आधिकरणिकी= जिससे आत्मा नरकादिदुर्गतियों में जाने का अधिकारी बनता है, ऐसा कोई अनुष्ठान-कार्य। अथवा तलवार, चक्रादि शस्त्र वगैरह अधिकरण कहलाता है, ऐसे अधिकरण में या अधिकरण से होने वाली क्रिया। प्राद्वेषिकी- प्रद्वेष (या मत्सर) में या प्रद्वेष के निमित्त से हुई अथवा प्रद्वेषरूप क्रिया। पारितापनिकी- परिताप- पीड़ा पहुंचाने से होने वाली क्रिया। प्राणातिपातिकी= प्राणियों के प्राणों के अतिपात (वियोग या नाश) से हुई क्रिया।

*क्रियाओं के प्रकार की व्याख्या-**अनुपरतकायक्रिया**-प्राणातिपात आदि से सर्वथा अविरत-त्यागवृत्तिरहित प्राणी की शारीरिकक्रिया। यह क्रिया अविरत जीवों को लगती है। **दुष्प्रयुक्तकायक्रिया**-दुष्टरूप (बुरी तरह) से प्रयुक्त शरीर द्वारा अथवा दुष्प्रयोग वाले मनुष्यशरीर द्वारा हुई क्रिया। यह क्रिया प्रमत्त संयत को भी प्रमादवश शरीर दुष्प्रयुक्त होने से लगती है। **संयोजनाधिकरणक्रिया**= संयोजन का अर्थ है-जोड़ना। जैसे-पक्षियों और मृगादि पशुओं को पकड़ने के लिए पृथक्-पथक् अवयवों को जोड़कर एक यंत्र तैयार करना, अथवा किसी भी पदार्थ में विष मिलाकर एक मिश्रित पदार्थ तैयार करना संयोजन है। ऐसी संयोजनरूप अधिकरणक्रिया। **निर्वर्तनाधिकरणक्रिया**= तलवार, बर्छी, भाला आदि शस्त्रों का निर्माण निर्वर्तन है। ऐसी निर्वर्तनरूप अधिकरण क्रिया। **जीवप्राद्वेषिकी**-अपने या दूसरे के जीव पर द्वेष करना या द्वेष करने से लगने वाली क्रिया। **अजीव प्राद्वेषिकी**-अजीव (चेतनारहित) पदार्थ पर द्वेष करना अथवा द्वेष करने से होने वाली क्रिया। **स्वहस्तपारितापनिकी**= अपने हाथ से अपने को, दूसरे को अथवा दोनों को परिताप देना-पीड़ा पहुंचाना। परहस्तपारितापनिकी-दूसरे को प्रेरणा देकर या दूसरे के निमित्त से परिताप-पीड़ा पहुंचाना। **स्वहस्तप्राणातिपातिकी**- अपने हाथ से-स्वयं अपने प्राणों का, दूसरे के प्राणों का अथवा दोनों के प्राणों का अतिपात-विनाश करना। **परहस्तप्राणातिपातिकी**= दूसरे के द्वारा या दूसरे के प्राणों का अथवा दोनों के प्राणों का अतिपात करना।]*

○ जीव-हिंसा से जुड़े कर्म-बन्ध पर प्रकाश : आगम के आलोक में

{68}

पुरिसेणं भंते! पुरिसं सत्तीए समभिधंसेज्जा, सयपाणिणा वा से असिणा सीसं छिंदेज्जा, ततो णं भंते! से पुरिसे कतिकिरिए?

गोयमा! जावं च णं से पुरिसे तं पुरिसं सत्तीए समभिधंसेई सयपाणिणा वा से असिणा सीसं छिंदइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणि० जाव पाणातिवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, आसन्नवहएण य अणवकंखणवत्तिएणं पुरिसवेरेणं पुट्ठे।

(व्या. प्र. 1/8/8)

[8 प्र.] भगवन्! कोई पुरुष किसी पुरुष को बरछी (या भाले) से मारे अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काट डाले, तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होता है?

[8 उ.] गौतम! जब वह पुरुष उसे बरछी द्वारा मारता है, अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काटता है, तब वह पुरुषकायिकी, आधिकरणिकी यावत् प्राणातिपातकी- इन पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है और वह आसन्नवधक एवं दूसरे के प्राणों की परवाह न करने वाला पुरुष, पुरुष-वैर से स्पृष्ट होता है।

[विवेचन:- मृग-घातक आदि के संबंध में लगने वाली क्रियाओं के संबंध में यहां विचार किया गया है। विचार-बिन्दु इस प्रकार हैं:-

(1) मृगवध के लिए जाल फैलाने, मृगों को बांधने तथा मारने वाले को लगने वाली क्रियाएं।

(2) मृगों को मारने हेतु बाण फेंकने, बींधने और मारने वाले को लगने वाली क्रियाएं।

(3) बाण को खींचकर खड़े हुए पुरुषों का मस्तक कोई अन्य पुरुष पीछे से आकर खड्ग से काट डाले, उसी समय वह बाण उछल कर यदि मृग को बींध डाले तो मृग मारने वाला मृगवैर से स्पृष्ट और पुरुष को मारने वाला पुरुषवैर से स्पृष्ट होता है, उनको लगने वाली कियाएं।

(4) बरछी या तलवार द्वारा किसी पुरुष का मस्तक काटने वाले को लगने वाली क्रियाएं।

छ:मास की अवधि क्यों?- *जिस पुरुष के प्रहार से मृगादि प्राणी छह मास के भीतर मर जाए तो उसके मरण में वह प्रहार निमित्त माना जाता है। इसलिए मारने वाले को पांचों क्रियाएं लगती हैं, किन्तु वह मृगादि प्राणी छह महीने के बाद मरता है तो उसके मरण में वह प्रहार निमित्त नहीं माना जाता है, इसलिए उसे प्राणातिपातिकी के अतिरिक्त शेष चार कियाएं ही लगती हैं। यह कथन व्यवहारनय की दृष्टि से है, अन्यथा उस प्रहार के निमित्त से जब कभी भी मरण हो, उसे पांचों कियाएं लगती हैं।*

आसन्नवधक- बरछी या खड्ग से मस्तक काटने वाला पुरुष आसन्नवधक होने के कारण तीव्र वैर से स्पृष्ट होता है। उस वैर के कारण वह उसी पुरुष द्वारा अथवा दूसरे के द्वारा उसी जन्म में या जन्मान्तर में मारा जाता है।]

{69}

पुरिसे णं भंते! कच्छंसि वा जाव अन्नयरस्स मियस्स वहाए आयतकण्णायतं उसुं आयोमेत्ता चिट्ठिज्जा, अन्ने य से पुरिसे मग्गतो आगम्म सयपाणिणा असिणा सीसं छिंदेज्जा, से य उसू ताए चेव पुव्वायामणयाए तं मियं विंधेज्जा, से णं भंते! पुरिसे किं मियवेरेणं पुट्ठे? पुरिसवेरेणं पुट्ठे!

गोतमा! जे मियं मारेति से मियवेरेणं पुट्ठे, जे पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेणं पुट्ठे।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ जाव से पुरिसवेरेण पुट्ठे?

से नूणं गोयमा! कज्जमाणे कडे, संधिज्जमाणे संधिते, निव्वतिज्जमाणे निव्वत्तिए, निसिरिज्जमाणे निसट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया?

हता, भगवं! कज्जमाणे कडे जाव निसट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया।

से तेणट्ठेणं गोयमा! जे मियं मारेति से मियवेरेणं पुट्ठे जे पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेणं पुट्ठे। अंतो छण्हं मासाणं मरइ काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, बाहिं छण्हं मासाणं मरति काइयाए जाव पारितावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे।

(व्या. प्र. 1/8/7)

[7 प्र.] भगवन्! कोई पुरुष, कच्छ में यावत् किसी मृग का वध करने के लिए कान तक ताने (लम्बे किये) हुए बाण को प्रयत्नपूर्वक खींच कर खड़ा हो और दूसरा कोई पुरुष पीछे से आकर उसे खड़े हुए पुरुष का मस्तक अपने हाथ से तलवार द्वारा काट डाले।

वह बाण पहले के खिंचाव से उछल कर उस मृग को बींध डाले, तो हे भगवान्! वह पुरुष मृग के वैर से स्पृष्ट है या (उक्त) पुरुष के वैर से स्पृष्ट है?

[7 उ.] गौतम! जो पुरुष मृग को मारता है, वह मृग के वैर से स्पृष्ट है और जो पुरुष, पुरुष को मारता है, वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट है।

[प्र.] भगवन्! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं कि यावत् वह पुरुष, पुरुष के वैर से स्पृष्ट है?

[उ.] हे गौतम! यह तो निश्चित है न कि 'जो किया जा रहा है, वह किया हुआ' कहलाता है, 'जो मारा जा रहा है, वह मारा हुआ', 'जो जलाया जा रहा है, वह जलाया हुआ' कहलाता है और 'जो फेंका जा रहा है, वह फेंका हुआ, कहलाता है'?

(गौतम-) हां, भगवन्! जो किया जा रहा है वह किया हुआ कहलाता है, और यावत् ... जो फेंका जा रहा है, वह फेंका हुआ कहलाता है।

(भगवन्-) इसलिए इसी कारण हे गौतम! जो मृग को मारता है, वह मृग के वैर से स्पृष्ट और जो पुरुष को मारता है, वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट कहलाता है। यदि मरने वाला छह मास के अन्दर मरे, तो मारने वाला कायिकी आदि यावत् पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट कहलाता है और यदि मरने वाला छह मास के पश्चात् मरे तो मरने वाला पुरुष, कायिकी यावत् पारितापनिकी- इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट कहलाता है।

{70}

पुरिसे णं भंते! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवित्तीए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता 'एए मिये' त्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं निसिरइ, ततो णं भंते! से पुरिसे कतिकिरिए?

गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए। से केणट्ठेणं?

गोयमा! जे भविए निसिरणयाए तिहिं, जे भविए निसिरणयाए वि विद्धंसणयाए वि, नो मारणयाए चउहिं, जे भविए निसिरणयाए वि विद्धंसणयाए वि मारणयाए वि तावं च णं से पुरिसे जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। से तेणट्ठेणं गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

(व्या. प्र. 1/8/6)

[6 प्र.] भगवन्! मृगों से आजीविका चलाने वाला, मृगों का शिकार करने के लिए कृत- संकल्प, मृगों के शिकार में तन्मय, मृगवध के लिए कच्छ में यावत् वनविदुर्ग में जाकर 'ये मृग हैं' ऐसा सोच कर किसी एक मृग को मारने के लिए बाण फेंकता है, तो पुरुष

कितनी क्रिया वाला होता है (अर्थात् उसे कितनी क्रिया लगती हैं?)

[6 उ.] हे गौतम! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला होता है।

[प्र.] भगवन्! किस कारण से ऐसा कहा जाता है?

[उ.] गौतम! जब तक वह पुरुष बाण फेंकता है, परन्तु मृग को बेधता नहीं है, तथा मृग को मारता नहीं है, तब वह पुरुष तीन क्रिया वाला है। जब वह बाण फेंकता है और मृग को बेधता है, वह मृग को मारता नहीं है, तब तक वह चार क्रिया वाला है, और जब वह बाण फेंकता है, मृग को बेधता है और मारता है, तब वह पुरुष पांच क्रिया वाला कहलाता है। हे गौतम! इस कारण ऐसा कहा जाता है कि कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला होता है।

{71}

पुरिसे णं भंते! कच्छंसि वा 1 दहंसि वा 2 उदगंसि वा 3 दवियंसि वा 4 वलयंसि वा 5 नूमंसि वा 6 गहणंसि वा 7 गहणविदुग्गंसि वा 8 पव्वतंसि वा 9 पव्वतविदुग्गंसि 10 वणंसि वा 11 वणविदुग्गंसि वा 12 मियवित्तीए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता 'एते मिए' त्ति काउं अन्नयरस्स मियस्य वहाए कूड-पासं उद्दाइ, तणो णं भंते! से पुरिसे कतिकिरिए?

गोयमा! जावं च णं से पुरिसे कच्छंसि वा 12 जाब कूड-पासं उद्दाइ तावं च णं से पुरिसे सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति 'सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए'?

गोयमा! जे भविए उद्दवणयाए, णो बंधणयाए, णो मारणयाए, तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पादोसियाए तीहिं किरियाहिं पुट्ठे। जे भविए उद्दवणयाए वि बंधणयाए वि, णो मारणयाए तावं च णं स पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पारियावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे। जे भविए उद्दवणयाए वि बंधणयाए वि मारणयाए वि तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणातिवातकिरियए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। से तेणट्ठेणं जाव पंचकिरियाए।

(व्या. प्र. 1/8/4)

[4 प्र.] भगवन्! मृगों से आजीविका चलाने वाला, मृगों का शिकारी, मृगों के शिकार में तल्लीन कोई पुरुष मृगवध के लिए निकला हुआ कच्छ (नदी के पानी से घिरे हुए

झाड़ियों वाले स्थान) में, द्रह में, जलाशय में, घास आदि के समूह में, वलय (गोलाकार नदी आदि के पानी से टेढे-मेढ़े स्थान) में, अन्धकारयुक्त प्रदेश में, गहन (वृक्ष, लता आदि झुंड से सघन वन) में, पर्वत के एक भागवर्त्ती वन में, पर्वत पर पर्वतीय दुर्गम प्रवेश में, वन में, बहुत-से वृक्षों से दुर्गम वन में, 'ये मृग हैं,' ऐसा सोच कर किसी मृग को मारने के लिए कूटपाश रचे (गड्ढा बना कर जाल फैलाए) तो हे भगवन्! वह पुरुष कितनी क्रियाओं वाला कहा गया है? अर्थात्- उसे कितनी क्रियाएं लगती है?

[4 उ.] हे गौतम! वह पुरुष कच्छ में, यावत्- जाल फैलाए तो कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला होता है।

[प्र.] भगवान्! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि वह पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओं वाला, कदाचित् चार क्रियाओं वाला और कदाचित् पांच क्रियाओं वाला होता है?

[उ.] गौतम! जब तक वह पुरुष जाल को धारण करता है, और मृगों को बांधता नहीं है तथा मृगों को मारता नहीं है, तब वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, इन तीन क्रियाओं से स्पृष्ट (तीन क्रियाओं वाला) होता है। जब वह जाल को धारण किये हुए है और मृगों को बांधता है किन्तु मारता नहीं, तब तक वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, और पारितापनिकी, इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। जब वह पुरुष जाल को धारण किए हुए है, मृगों को बांधता है और मारता है, तब वह-कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी, इन पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। इस कारण हे गौतम! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओं वाला, कदाचित् चार क्रियाओं वाला और कदाचित् पांचों क्रियाओं वाला कहा जाता है।

{72}

पुरिसे णं भंते! धणुं परामुसति, धणुं परामुसित्ता, उसुं परामुसति, उसुं परामुसित्ता ठाणं ठाति, ठाणं ठिच्चा आयतकण्णाययं उसुं करेति, आययकण्णाययं उसुं करेत्ता उड्ढं वेहासं उसुं उव्विहति, 2 ततो णं से उसुं उड्ढं वेहासं उव्विहिए समाणे जाइं तत्थ पाणाई भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणति वत्तेति लेस्सेति संघाएति संघट्टेति परितावेति किलामेति, ठाणाओ ठाणं संकामेति, जीवितातो ववरोवेति, तए णं भंते! से पुरसे कतिकिरिए?

गोयमा! जावं च णं से पुरिसे धणुं परामुसति जाव उव्विहति तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणातिवातकिरियाए, पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे।

(व्या. प्र. 5/6/10 (1))

[प्र.] भगवन्! कोई पुरुष धनुष को स्पर्श करता है, धनुष का स्पर्श करके वह बाण का स्पर्श (ग्रहण) करता है, बाण का स्पर्श करके (धनुष से बाण फेंकने के) स्थान पर आसनपूर्वक बैठता है, उस स्थिति में बैठकर फेंके जाने वाले बाण को कान तक आयत करे-खींचे, खींच कर ऊंचे आकाश में बाण फेंकता है। ऊंचे आकाश में फेंका हुआ वह बाण, वहां आकाश में जिन प्राण भूत, जीव और सत्त्व को सामने आते हुए मारे (हनन करे) उन्हें सिकोड़ दे, अथवा उन्हें परस्पर श्लिष्ट कर (चिपका) दे, उन्हें परस्पर (पीड़ा) दे, उन्हें क्लान्त करे- थकाए, हैरान करे, एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकाए एवं उन्हें जीवन से रहित कर दे, तो हे भगवन्! उस पुरुष को कितनी क्रियाएं लगती हैं?

[उ.] गौतम्! यावत् वह पुरुष धनुष को ग्रहण करता यावत् बाण को फेंकता हैं, तावत् वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी, इन पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है।

{73}

[2] जेसिं पि य णं सरीरेहिंतो धणू निव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए जाब पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे।

(व्या. प्र. 5/6/10(2))

जिन जीवों के शरीरों से वह धनुष बना (निष्पन्न हुआ) है, वे जीव भी पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

{74}

एवं धणुपुट्ठे पंचहिं किरियाहिं। जीवा पंचहि। ण्हारू पंचहिं। उसू पंचहिं। सरे पत्तणे फले ण्हारू पंचहिं।

(व्या. प्र. 8/6/11)

इसी प्रकार धनुष की पीठ भी पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होती है। जीवा (डोरी) पांच क्रियाओं से, ण्हारू (स्नायु) पांच क्रियाओं से एवं बाण पांच क्रियाओं से तथा शर, पत्र, फल और ण्हारू भी पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

अहे णं से उसू अप्पणो गरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुसंभारियत्ताए अहे वीससाए पच्चोव-यणामेजाइं तत्थ पाणाइं जाव जीवितातो ववरोवेति, एवं च णं से पुरिसे कतिकिरिए?

गोयमा! जावं च णं से उसू अप्पणो गरुययाए जाव ववरोवेति तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिं धणू निव्वत्तिए ते वि जीवा चउहिं किरियाहिं। धणुपुट्ठे चउहिं। जीवा चउहिं। ण्हारू चउहिं। उसू पंचहिं। सरे, पत्तणे, फले, ण्हारू पंचहिं। जे वि य से जीवा अहे पच्चोवयमाणस्स उवग्गहे चिट्ठंति ते वि यं णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा।

(व्या. पु. 5/6/12)

[प्र.] हे भगवन्! जब वह बाण अपनी गुरुता से, अपने भारीपन से , अपने गुरुसंभारता से स्वाभाविकरूप (विस्रसा प्रयोग) से नीचे गिर रहा हो, तब (ऊपर से नीचे गिरता हुआ) वह (बाण) (बीच मार्ग में) प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को यावत् जीवन (जीवित) से रहित कर देता है, तब उस बाण फेंकने वाले पुरुष को कितनी क्रियाएं लगती हैं?

[उ.] गौतम! जब वह बाण अपनी गुरुता आदि से नीचे गिरता हुआ, यावत् जीवों को जीवन से रहित कर देता है, तब वह बाण फेंकने वाला पुरुष कायिकी आदि चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। जिन जीवों के शरीर से धनुष बना है, वे जीव भी चार क्रियाओं से, धनुष की पीठ चार क्रियाओं से, जीवा (ज्या=डोरी) चार क्रियाओं से, ण्हारू (स्नायु) चार क्रियाओं से, बाण पांच क्रियाओं से, तथा शर, पत्र, फल और ण्हारू पांच क्रियाओं स्पृष्ट होते हैं। नीचे गिरते हुए बाण के अवग्रह में जो जीव आते हैं, वे जीव भी कायिकी आदि पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

[विवेचन– धनुष चलाने वाले व्यक्ति को तथा धनुष से संबंधित जीवों को उनसे लगने वाली क्रियाएं– प्रस्तुत तीन सूत्रों (सू. 10 से 12 तक) में धनुष चलाने वाले व्यक्ति को, तथा धनुष के विविध उपकरण (अवयव) जिन-जिन जीवों के शरीरों से बने हैं उनको, बाण छूटते समय तथा बाण के नीचे गिरते समय होने वाली प्राणि-हिंसा से लगने वाली क्रियाओं का निरूपण किया गया है।

किसको, क्यों, कैसे और कितनी क्रियाएं लगती हैं? – एक व्यक्ति धनुष हाथों में लेता है, फिर बाण उठाता है, उसे धनुष पर चढ़ा कर विशेष प्रकार के आसन से बैठता है, फिर कान तक बाण को खींचता और छोड़ता है। छूटा हुआ वह बाण आकाशस्थ या उसकी चपेट में आए हुए प्राणी के प्राणों का विविध प्रकार से उत्पीड़न एवं हनन करता है, ऐसी स्थिति में उस पुरुष को धनुष हाथ में लेने से छोड़ने तक में कायिकी से लेकर प्राणातिपातिकी तक पांचों क्रियाएं लगती हैं। उसी प्रकार, जिन जीवों के शरीर से धनुष, धनुःपृष्ठ, डोरी, ण्हारू, बाण, शर, पत्र, फल आदि धनुष एवं धनुष के उपकरण बने हैं उन जीवों को भी पांच क्रियाएं लगती हैं। यद्यपि वे इस समय अचेतन हैं तथापि उन जीवों ने मरते समय अपने शरीर का व्युत्सर्ग नहीं किया था, वे अविरति के परिणाम (जो कि अशुभकर्म-

बन्ध के हेतु हैं) से युक्त थे, इसलिए उन्हें भी पांचों कियाएं लगती हैं। सिद्धों के अचेतन शरीर जीवहिंसा के निमित्त होने पर भी सिद्धों को कर्मबन्धन नहीं होता है, न उन्हें कोई क्रिया लगती है, क्योंकि उन्होंने शरीर का तथा कर्मबन्ध के हेतु अविरति परिणाम का सर्वथा त्याग कर दिया था।

इसके अतिरिक्त, अपने भारीपन आदि के कारण जब बाण नीचे गिरता है, तब जिन जीवों के शरीर से वह बाण बना है, उन्हें पांचों क्रियाएं लगती हैं, क्योंकि बाणादिरूप बने हुए जीवों के शरीर तो उस समय मुख्यतया जीवहिंसा में प्रवृत्त होते हैं, जब कि धनुष की डोरी, धनुःपृष्ठ आदि साक्षात् वधक्रिया में प्रवृत्त न होकर केवल निमित्तमात्र बनते हैं, इसलिए उन्हें चार क्रियाएं लगती हैं।]

○ जीव-हिंसात्मक कार्यः आग जलाना व बुझाना

{76}

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ- 'तत्थ णं जे से पुरिसे जाव अप्पवेयणतराए चेव'?

कालोदाई! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेति से णं पुरिसे बहुतरागं पुढविकायं समारभति, बहुतरागं आउक्कायं समारभति, अप्पतरांग तेउकायं समारभति, बहुतरागं वाउकायं समारभति, बहुतरागं वाउकायं समारभति, बहुतरागं वणस्सतिकायं समारभति, बहुतरागं तसकायं समारभति। तत्थ णं जे से बहुतरागं तेउक्कायं समारभति, अप्पतरागं वाउकायं सभारभइ, अप्पतरागं वणस्सतिकायं समारभइ, अप्पतरागं तसकायं समारभइ। से तेणट्ठेणं कालोदाई! जाव अप्पवेदणतराए चेव।

(व्या. प्र. 7/10/19 (2))

[प्र.] भगवन्! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि उन दोनों पुरुषों में से जो पुरुष अग्निकाय को जलाता है, वह महाकर्म वाला आदि होता है और जो अग्निकाय को बुझाता है, वह अल्पकर्म वाला आदि होता है?

[उ.] कालोदायिन्! उन दोनों पुरुषों में से जो पुरुष अग्निकाय को जलाता है, वह पृथ्वीकाय का बहुत समारम्भ (वध) करता है, अप्काय का बहुत समारम्भ करता है, तेजस्काय का अल्प समारंभ करता है, वायुकाय का बहुत समारंभ करता है, वनस्पतिकाय का बहुत समारम्भ करता है और त्रसकाय का बहुत समारम्भ करता है, और जो पुरुष अग्निकाय को बुझाता है, वह पृथ्वीकाय का अल्प समारम्भ करता है, अप्काय का अल्प समारम्भ करता है, वायुकाय का अल्प समारम्भ करता है, वनस्पतिकाय का अल्प समारम्भ करता है एवं त्रसकाय का भी अल्प समारम्भ करता है, किन्तु अग्निकाय का बहुत समारम्भ करता है। इसलिए हे कालोदायिन्! जो पुरुष अग्निकाय को जलाता है, वह पुरुष महाकर्म वाला आदि है और जो पुरुष अग्निकाय को बुझाता है, वह अल्पकर्म वाला आदि है।

[विवेचन– अग्निकाय को जलाने और बुझाने वालों में महाकर्म आदि और अल्पकर्म आदि से संयुक्त कौन और क्यों?– प्रस्तुत सूत्र (19) में कालोदायी द्वारा पूछे गए पूर्वोक्त प्रश्न का भगवान् द्वारा दिया गया सयुक्तिक समाधान अंकित है।

अग्नि जलाने वाला महाकर्म आदि से युक्त क्यों?– अग्नि जलाने से बहुत-से अग्निकायिक जीवों की उत्पत्ति होती है, उनमें से कुछ जीवों का विनाश भी होता है। अग्नि जलाने वाला पुरुष अग्निकाय के अतिरिक्त अन्य सभी कायों (जीवों) का विनाश (महारम्भ) करता है। इसलिए अग्नि जलाने वाला पुरुष ज्ञानावरणीय आदि महाकर्म उपार्जन करता है, दाहरूप महाक्रिया करता है, कर्मबन्ध का हेतुभूत महा-आस्रव करता है और जीवों को महावेदना उत्पन्न करता है, जब कि अग्नि बुझाने वाला पुरुष एक अग्निकाय के अतिरिक्त अन्य सब कायों (जीवों) का अल्प आरम्भ करता है। इसलिए वह जलाने वाले पुरुष की अपेक्षा अल्प-कर्म, अल्प-क्रिया, अल्प-आस्रव और अल्प-वेदना से युक्त होता है।]

अल्पकर्म और अल्पक्रिया आदि का निर्देश जो यहां है, उस प्रसंग में क्रिया का एक विशेष अर्थ समझना चाहिए। कर्मबन्ध की कारणभूत चेष्टा को अथवा दुर्व्यापारविशेष को जैन-दर्शन में 'क्रिया' कहा गया है।

[क्रियाएं पांच कही गई हैं। वे इस प्रकार हैं–

(1) कायिकी, (2) आधिकरणिकी, (3) प्राद्वेषिकी, (4) पारितापनिकी और (5) प्राणातिपातिकी। कायिकी आदि क्रियाओं का स्वरूप और प्रकार–कायिकी के दो प्रकार– 1. अनुपरतकायिकी (हिंसादि सावद्ययोग से देशतः या सर्वतः अनिवृत्त-अविरत जीवों को लगने वाली), और 2. दुष्प्रयुक्त-कायिकी– (कायादि के दुष्प्रयोग से प्रमत्तसंयत को लगने वाली क्रिया।) आधिकरणिकी के दो भेद– 1. संयोजनाधिकरणिकी (पहले से बने हुए अस्त्र-शस्त्रादि हिंसा-साधनों को एकत्रित कर तैयार रखना) तथा 2. निर्वर्तनाधिकरणिकी (नये अस्त्र-शस्त्रादि बनाना)। प्राद्वेषिकी –(स्वयं का, दूसरों का, उभय का अशुभ-द्वेषयुक्त चिन्तन करना), पारितापनिकी, (स्व, पर और उभय को परिताप उत्पन्न करना) और प्राणातिपातिकी (अपने आपके, दूसरों के या उभय के प्राणों का नाश करना)। कायिकी आदि पांच-पांच करके पच्चीस क्रियाओं का वर्णन भी मिलता है। इसके अतिरिक्त इन पाचों क्रियाओं का अल्प-बहुत्व भी विस्तृत रूप से प्रज्ञापना में प्रतिपादित किया गया है।]

{77}

दो भंते! पुरिसा सरिसया जाव सरिसभंडमत्तोवगरणा अन्नमन्नेणं सद्धिं अगणिकायं समारभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेति, एगे पुरिसे अगणिकायं निव्वावेति। एतेसिं णं भंते! दोण्हं पुरिसाणं कतरे पुरिसे महाकम्मतराए चेव, महाकिरियतराए चेव, महासवतराए चेव, महावेदणतराए चेव? कतरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेदणतराए चेव? जे वा से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेति, जे वा से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेति?

कालोदाई! तत्थ णं जे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेति से णं पुरिसे महाकम्मतराए चेव जाव महावेदणतराए चेव। तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेति से णं पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेयणतराए चेव।

(व्या. प्र. 7/10/19 (1))

[प्र.] भगवन्! (मान लीजिए) समान उम्र में यावत् समान ही भाण्ड, पात्र और उपकरण वाले दो पुरुष, एक दूसरे के साथ अग्निकाय का समारम्भ करें, (अर्थात्) उनमें से एक पुरुष अग्निकाय को जलाए और एक पुरुष अग्निकाय को बुझाए, तो हे भगवन्! उन दोनों पुरुषों में कौन-सा पुरुष महाकर्म वाला, महाक्रिया वाला, महा-आस्रव वाला और अल्पवेदना वाला होता है? (अर्थात्- दोनों में से जो अग्नि जलाता है, वह महाकर्म आदि वाला होता है, या जो आग बुझाता है, वह महाकर्मादि युक्त होता है?)

[उ.] हे कालोदायिन्! उन दोनों पुरुषों में से जो पुरुष अग्निकाय को जलाता है, वह पुरुष महाकर्म वाला यावत् महावेदना वाला होता है, और जो पुरुष अग्निकाय को बुझाता है, वह अल्पकर्म वाला यावत् अल्पवेदना वाला होता है।

○ हिंसा के विविध भेद

{78}

के ते हिंसादय इत्याशंकायामाह-

पाणिवह मुसावादं अदत्त मेहुण परिग्गहं चेव।
कोहमदमायलोहा भय अरदि रदी दुगंछा य॥
मणवयणकायमंगुल मिच्छादंसण पमादो य।
पिसुणत्तणमण्णाणं अणिग्गहो इंदियाणं च॥

(मूला. 11/1026-1027)

गाथार्थ-हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, अरति, रति, जुगुप्सा, मनोमंगुल, कायमंगुल, मिथ्यादर्शन, प्रमाद, पिशुनता, अज्ञान और इन्द्रियों का अनिग्रह -ये हिंसा के इक्कीस भेद हैं।

{79}

(टीका-) पाणिवह-प्राणिवधः प्रमादवतो जीवहिंसनम्। मुसावादं-मृषावादोऽनालोच्य विरुद्धवचनम्। अदत्त-अदत्तं परकीयस्याननुमतस्य ग्रहणाभिलाषः। मेहुण-मैथुनं वनितासेवाभिगृद्धिः। परिग्गहं-परिग्रहः पापादानोपकरणकांक्षा। चेव-चैव तावन्त्येव महाव्रतानीति। कोह-क्रोधश्चंडता। मद-मदो जात्याद्यवलेपः। माय-माया कौटिल्यम्। लोह-लोभो वस्तुप्राप्तौ गृद्धिः। भय-भयं त्रस्तता। अरदि- अरतिरुद्वेगः अशुभपरिणामः। रदी-रती रागः कुत्सिताभिलाषः। दुगुंछा-जुगुप्सा परगुणासहनम्। मणवयणकायमंगुल-मंगुलं पापादानक्रिया तत्प्रत्येकमभिसम्बध्यते मनोमंगुलं वाङ्मंगुलं कायमंगुलं मनोवाक्कायानां पापक्रियाः। मिच्छादंसण-मिथ्यादर्शनं जिनेन्द्रमतस्याश्रद्धानम्। पमादो-प्रमादश्चायतनाचरणं वितथादिस्वरूपम्। पिसुणत्तणं-पैशुन्यं परस्यादोषस्य वा सदोषस्य वा दोषोद्भावत्वं पृष्ठमांसभक्षित्वं। अण्णाणं-अज्ञानं यथास्थितस्य वस्तुनो विपरीतावबोधः। अणिग्गहो-अनिग्रहः स्वेच्छया प्रवृत्तिः, इंदियाण-इन्द्रियाणां चक्षुरादीनामनिग्रहश्चेत्येते एकविंशतिभेदा हिंसादयो द्रष्टव्या इति।

(मूला. विजयो. 11/1026-1027)

प्रमादपूर्वक जीव का घात हिंसा है। विना विचारे, विरुद्ध वचन बोलना असत्य है। बिना अनुमति से अन्य की वस्तु को ग्रहण करने की अभिलाषा चोरी है। स्त्रीसेवन की अभिलाषा मैथुन है। पाप के आगमन हेतुक उपकरणों की आकांक्षा परिग्रह है। ये पांच त्याज्य हैं। इनके त्याग से पांच महाव्रत होते हैं। वस्तुप्राप्ति की गृद्धता लोभ है। त्रस्त होना भय है। उद्वेग रूप अशुभ परिणाम का नाम अरति है। राग अर्थात कुत्सित वस्तु की अभिलाषा रति है। अन्य के गुणों को सहन नहीं करना जुगुप्सा है। पाप के आने की क्रिया का नाम मंगुल है। उसका तीनों योगों से सम्बन्ध है। अर्थात् मन की पापक्रिया मनोमंगुल है, वचन की पापक्रिया वचनमंगुल है, और काय की अशुभक्रिया कायमंगुल है। जिनेन्द्र के मत का अश्रद्धान मिथ्यादर्शन है। अयतनाचार प्रवृत्ति का नाम प्रमाद है जो कि विकथा आदिरूप है। निर्दोष या सदोष ऐसे अन्य के दोषों का उद्भावन करना अथवा पृष्ठमांस का भक्षण पैशुन्य है। यथावस्थित वस्तु का विपरीत ज्ञान होना अज्ञान है। चक्षु आदि इन्द्रियों की स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्ति होना अनिग्रह है। इस प्रकार से, हिंसा के ये इक्कीस भेद होते हैं।

{80}

संरम्भादित्रिकं योगै: कषायैर्व्याहतं क्रमात्।
शतमष्टाधिकं ज्ञेयं हिंसाभेदैस्तु पिण्डितम्॥

(ज्ञा. 8/9/481)

संरंभ, समारंभ और आरंभ-इस त्रिक को मन-वचन-काय की तीन-तीन प्रवृत्तियों से तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार कषायों और कृत, कारित, अनुमोदना (अनुमति वा सम्मति) से क्रमशः गुणन करने पर हिंसा के 108 भेद होते हैं, तथा अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषायों के उत्तरभेदों से गुणन करने से 432 भेद भी हिंसा के होते हैं।

[हिंसा में उद्यमरूप परिणामों का होना या जीवों के घात का मन में संकल्प करना तो 'संरंभ' है, हिंसा के साधनों में अभ्यास करना (सामग्री मिलाना) 'समारंभ' है और हिंसा में प्रवर्तन करना 'आरंभ' है। इन तीन को मन-वचन-काय के योग से गुना करने पर नव भेद होते हैं और इन नौ भेदों को कृत-कारित-अनुमोदन से गुणा करने पर 27; फिर इनको क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों के साथ गुणन से हिंसा के 108 भेद होते हैं। कृत-आप स्वाधीन होकर करे, कारित- अन्य से करवाये, और अन्य कोई हिंसा करता हो तो उसको भला जाने, उसे अनुमोदन या अनुमत कहते हैं। जैसे- 1 क्रोधकृतकायसंरंभ, 2 मानकृतकायसंरंभ, 3 मायाकृतकायसंरंभ, 4 लोभकृतकायसंरंभ, 5 क्रोधकारितकायसंरंभ, 6 मानकारित कायसंरंभ, 7 मायाकारित कायसंरंभ, 8 लोभकारित कायसंरंभ, 9 क्रोधानुमत कायसंरंभ, 10 मानानुमत कायसंरंभ, 11 मायानुमत कायसंरंभ, 12 लोभानुमत कायसंरंभ, इस प्रकार काय के संरंभ के 12 भेद, इसी प्रकार वचनसंरंभ के 12 भेद और मानसंरंभ के 12 भेद, कुल मिलकर 36 भेद संरंभ के हुए और इसी प्रकार 36 समारंभ के और 36 आरंभ के, इस प्रकार सब मिला कर 108 भेद हिंसा के होते हैं; और क्रोध, मान, माया तथा लोभ- इन चार कषायों के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन- इन चार भेदों के साथ गुणन करने से 432 भेद भी हिंसा के होते हैं। जप करने की माला में 3 दाने ऊपर और 108 दाने माला में होते हैं वह इसी संरंभ, समारंभ, आरंभ के तीन दाने मूल में रख कर उसके भेदरूप (शाखारूप) 108 दाने डाले जाते हैं, अर्थात् सामयिक (संध्यावंदन जाप्यादि) करते समय क्रम से 108 आरंभों (हिंसारूप पापकर्मों) का परमेष्ठी के मानस्मरणपूर्वक त्याग करना चाहिए, तत्पश्चात् धर्मध्यान में लगना चाहिए।]

{81}

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा॥

(पुरु. 4/39/75)

कृत, कारित और अनुमोदन रूप तीन भेद, तथा इन तीनों के भी मन, वचन और काया- इस तरह तीन-तीन भेद, कुल नौ प्रकार का सामान्य/औत्सर्गिक हिंसा-त्याग माना गया है, और अपवाद रूप हिंसा-त्याग तो अनेक प्रकार का होता है।

[द्रव्य हिंसा, भाव हिंसा आदि चार भेद-]

1. द्रव्य हिंसा (प्रमादरहित)

{82}

उच्चालियंमि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जिज्ज कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्ज॥
न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।
जम्हा सो अपमत्तो स उ पमाउ त्ति निद्दिट्ठा॥

(श्रा.प्र. 223-224, ओघ. नि. 748-49 में आंशिक परिवर्तन के साथ)

'ईर्या समिति' के परिपालन में उद्यत साधु के गमन में पांव के उठाने पर उसके सम्बन्ध को पाकर क्षुद्र द्वीन्द्रिय आदि किन्हीं प्राणियों को पीड़ा हो सकती है व कदाचित् वे मरण को भी प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु उसके निमित्त से ईर्यासमिति में उद्यत उस साधु के लिए आगम में सूक्ष्म भी कर्म का बंध नहीं कहा गया है। इसका कारण यह है कि वह प्रमाद से रहित है-प्राणि-रक्षण में सावधान होकर ही गमन कर रहा है, और प्रमाद को ही हिंसा के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।

[कर्मबंध का कारण संक्लेश और विशुद्धि है। संक्लेश से प्राणी के जहां पाप का बंध होता है, वहां विशुद्धि से उसके पुण्य का बंध होता है। इस प्रकार जो साधु ईर्यासमिति से-चार हाथ भूमि को देखकर सावधानी से-गमन कर रहा है, उसके पांवों के धरने-उठाने में कदाचित् जंतुओं का विघात हो सकता है, फिर भी आगम में उसके तन्निमित्तक किंचित् भी कर्मबंध नहीं कहा गया है। कारण इसका यही है कि उसके परिणाम प्राणी-पीड़न के नहीं होते, वह तो उनके संरक्षण में सावधान होकर ही गमन कर रहा है। उधर आगम में इस हिंसा का लक्षण प्रमाद (असावधानी) ही बतलाया है। इसलिए प्रमाद से रहित होने के कारण गमनादि क्रिया में कदाचित् जंतुपीड़ा के होने पर भी, साधु के उसके निमित्त से पाप का बंध नहीं कहा गया है। यह द्रव्य हिंसा का उदाहरण है।]

{83}

न य हिंसामेत्तेणं, सावज्जेणावि हिंसओ होइ।
सुद्धस्स उ संपत्ती, अफला भणिया जिणवरेहिं॥

(ओघ. नि. 758)

केवल बाहर में दृश्यमान पापरूप हिंसा से ही कोई हिंसक नहीं हो जाता। यदि साधक अन्दर में रागद्वेष से रहित शुद्ध है, तो जिनेश्वर देवों ने उसकी बाहर की हिंसा को कर्मबंध का हेतु न होने से निष्फल बताया है।

{84}

मंदपगासे देसे रज्जुं किण्हाहिसरिसयं दठ्ठुं ।
अच्छित्तु तिक्खखग्गं वहिज्ज तं तप्परीणामो ॥
सप्पवहाभावंमि वि वहपरिणामाउ चेव एयस्स ।
नियमेण संपराइयबंधो खलु होइ नायव्वो ॥

(श्रा.प्र. 225-226)

(द्रव्य से हिंसा न होकर भाव से होने वाली हिंसा का स्वरूप इस प्रकार है-)

मंद प्रकाश युक्त देश में काले सर्प-जैसी रस्सी को देख कर व तीक्ष्ण खड्ग को खींच कर उसके मारने का विचार करने वाला कोई व्यक्ति उसका घात करता है। यहां सर्पवध के बिना भी उसके केवल सर्पघात के परिणाम से ही नियम से साम्परायिक (संसार-परम्परा का कारणभूत) बंध होता है, यह जानना चाहिए।

[अब यहां दूसरे प्रकार की हिंसा का स्वरूप दिखलाते हुए दृष्टान्त द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि कोई मनुष्य अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी को भ्रमवश काला सर्प समझ कर उसे मार डालने के विचार से उसके ऊपर शस्त्र का प्रहार करता है, परंतु यथार्थ में वह सर्प नहीं था, इसलिए सर्प के घात के न होने पर भी उस व्यक्ति के सर्पघात रूप हिंसा से जनित पाप-बंध अवश्य होता है। इस प्रकार यहां द्रव्य से हिंसा के न होने पर भी भावहिंसा रूप के दूसरे भेद का उदाहरण है।]

{85}

आहिच्च हिंसा समितस्स जा तु, सा दव्वतो होति ण भावतो उ।
भावेण हिंसा तु असंजतस्स, जे वा वि सत्ते ण सदा वधेति॥

(बृह.भा. 3933)

संयमी पुरुष के द्वारा कदाचित् हिंसा हो भी जाए, तो वह द्रव्यहिंसा होती है, भावहिंसा नहीं। परन्तु जो असंयमी है, वह जीवन में कदाचित् किसी का वध न करने पर भी, भाव-रूप से निरन्तर हिंसा में लीन हुआ माना जाता है।

{86}

शुभपरिणामसमन्वितस्याप्यात्मनः स्वशरीरनिमित्तान्यप्राणिप्राणवियोगमात्रेण बन्धः स्यान्न कस्यचिन्मुक्तिः स्यात्। योगिनामपि वायुकायिकवधनिमित्तबन्धसद्भावात्।

(भग. आ. विजयो. 800)

शुभपरिणाम से युक्त आत्मा के भी यदि अपने शरीर के निमित्त से अन्य प्राणियों के प्राणों का घात हो जाने मात्र से बन्ध हो तो किसी की मुक्ति ही न हो। जैसे, योगियों के भी

वायुकायिक जीवों के घात के निमित्त से बन्ध का प्रसंग आता है, क्योंकि वे भी श्वास लेते हैं और उससे वायुकायिक जीवों का घात होता है। (किन्तु वे कषाय व प्रमाद से रहित होने के कारण हिंसा-दोष से मुक्त होते हैं।)

3. द्रव्य व भाव (मिश्रित) हिंसा-

{87}

मिगवहपरिणामगओ आयण्णं कड्ढिऊण कोदंडं।
मुत्तूणमिसुं उभओ वहिज्ज तं पागडो एस ॥

(श्रा.प्र. 227)

कोई मनुष्य मृगघात के विचार में मग्न होकर कान पर्यन्त धनुष को खींचता हुआ उसके ऊपर बाण को छोड़ता है। इस प्रकार वह प्रकट में दोनों रूप में-द्रव्य से व भाव से भी- उस मृग का वध करता है।

[एक व्याध मृग के घात के विचार से धनुष की डोरी को खींचकर उसके ऊपर बाण को छोड़ देता है, जिससे विद्ध होकर वह मृग मरण को प्राप्त हो जाता है। यहां व्याध ने मृग के वध का जो प्रथम विचार किया, यह तो 'भावहिंसा' हुई, साथ ही उसने बाण को छोड़ कर उसका जो वध कर डाला, यह 'द्रव्य हिंसा' हुई। इस प्रकार से वह व्याध द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से हिंसक होता है।]

4. शब्दात्मक निर्विकार हिंसा

{88}

उभयाभावे हिंसा धणिमित्तं भंगयाणुपुव्वीए।
तहवि य दंसिज्जंती सीसमइविगोवणमदुट्ठा॥

(श्रा.प्र. 228)

द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से वध के न होने पर भंगकानुपूर्वी से- उस प्रकार के वाक्य के उच्चारण मात्र से-ध्वनि (शब्द) मात्र हिंसा होती है। यह वस्तुत: हिंसा नहीं है, फिर भी शिष्य की बुद्धि के विकास के लिए वह केवल दिखलाई जाती है, अतएव वह दोष से रहित है।

[अभिप्राय यह है कि कभी-कभी गुरु अपने शिष्य की बुद्धि को विकसित करने के लिए- उसे सुयोग्य विद्वान् बनाने के विचार से-केवल शब्दों द्वारा मारने-ताड़ने आदि के विचार को प्रकट करता है, पर अंतरंग में वह दयालु रह कर उसके हित को ही चाहता है। इस प्रकार द्रव्य व भाव दोनों प्रकार से हिंसा के न होने पर भी वैसे शब्दों के उच्चारण मात्र से हिंसा होती है, जो यथार्थ में हिंसा नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के आचरण में न तो मारण-ताड़न किया जाता है और गुरु का मारण-ताडन संबंधी अभिप्राय भी नहीं होता है।]

○ हिंसा की क्रमिक परिणतियां (करण)

{89}

तिविहे करणे पण्णत्ते, तं जहा- आरंभकरणे, संरंभकरणे, समारंभकरणे।

(ठा. 3/1/16)

'करण' तीन प्रकार का कहा गया है- आरम्भकरण, संरम्भकरण और समारम्भकरण।

[वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली जीव की शक्ति या वीर्य को 'योग' कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार ने मन, वचन और काय की क्रिया को 'योग' कहा है। योगों के संरम्भ-समारम्भादि रूप परिणमन को 'करण' कहते हैं।]

{90}

प्राणव्यपरोपणादौ प्रमादवतः संरम्भः। साध्याया हिंसादिक्रियायाः साधनानां समाहारः समारम्भः। सञ्चितहिंसाद्युपकरणस्य आद्यः प्रक्रम आरम्भः।

(भग. आ. विजयो. 805)

प्राणों के घात आदि में प्रमादयुक्त व्यक्ति जो प्रयत्न करता है, वह 'संरंभ' है। साध्य हिंसा आदि क्रिया के साधनों को एकत्र करना 'समारंभ' है। हिंसा आदि के उपकरणों का संचय हो जाने पर हिंसा का आरम्भ करना 'आरम्भ' है।

{91}

संरम्भो संकप्पो परिदावकदो हवे समारंभो।
आरंभो उद्दवओ सव्ववयाणं विसुद्धाणं॥

(भग. आ. 806)

(हिंसा करने के) संकल्प को 'संरम्भ' कहते हैं। संताप देने को 'समारम्भ' कहते हैं और आरम्भ सब विशुद्ध व्रतों का घातक है।

{92}

सत्तविहे आरंभे पण्णत्ते, तं जहा- पुढविकाइयआरंभे, आउकाइयआरंभे, तेउकाइयआरंभे, वाउकाइयआरंभे, वणस्सइकाइयआरंभे, तसकाइयआरंभे, अजीवकाइयआरंभे।

(ठा. 7/84)

आरम्भ (हिंसा-कार्य) सात प्रकार का कहा गया है। जैसे-

1. पृथ्वीकायिक-आरम्भ, 2. अप्कायिक-आरम्भ, तेजस्कायिक-आरम्भ, 4. वायुकायिक-आरम्भ, 5. वनस्पतिकायिक-आरम्भ, 6. त्रसकायिक-आरम्भ, और 7. अजीवकायिक- आरम्भ।

{93}

पंच दंडा पण्णत्ता, तं जहा- अट्ठादंडे, अणट्ठादंडे, हिंसादंडे, अकस्मादंडे, दिट्ठीविप्परियासियादंडे।

(ठा. 5/2/111)

दण्ड (हिंसा) पांच प्रकार के कहे गये हैं। जैसे-

1. अर्थदण्ड- प्रयोजन-वश अपने या दूसरों के लिए जीव-घात करना।

2. अनर्थदण्ड: विना प्रयोजन जीव-घात करना।

3. हिंसादण्ड: 'इसने मुझे मारा था,या मार रहा है, या मारेगा' इसलिए हिंसा करना।

4. अकस्माद् दण्ड: अकस्मात जीव-घात हो जाना।

5. दृष्टिविपर्यास दण्ड: मित्र को शत्रु समझ कर दण्डित करना।

(हिंसा-अहिंसा के कुछ ज्ञातव्य रहस्य)

○ हिंसा/अहिंसा-रहस्य का व्याख्याता : योग्य गुरु

{94}

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः॥

(पुरु. 4/54/90)

नय के भंगों को जानने में प्रवीण गुरुओं की उपासना करके जिनमत के रहस्य को जानने वाला, ऐसा कौन निर्मल बुद्धिधारी है, जो अहिंसा का सहारा लेकर मूढ़ता को प्राप्त होगा? अर्थात् कोई नहीं होगा।

{95}

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः॥

(पुरु. 4/22/58)

इस प्रकार, अत्यन्त कठिनाई से पार हो सकने वाले अनेक भंगरूपी घने वन में मार्ग भूले हुए पुरुष को (जिस प्रकार कोई पथ-प्रदर्शक ही शरण होता है, उसी तरह हिंसा-अहिंसा के सूक्ष्म रहस्य को न समझ पाने के कारण मूढ़-दृष्टि लोगों को) अनेक प्रकार के नयसमूह के ज्ञाता श्री गुरु ही शरण होते हैं (अर्थात् उसे हिंसा-अहिंसा के रहस्य को समझाते हैं)।

{96}

जत्थेव चरइ बालो परिहारण्हू वि चरइ तत्थेव।
बज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू वि मुच्चइ सो॥

(भग. आ. 1197)

जीवों की हिंसा से बचने के उपायों को न जानने वाला जिस क्षेत्र में विचरण करता है, जीवों की हिंसा से बचने के उपायों को जानने वाला भी उसी क्षेत्र में विचरण करता है। तथापि वह ज्ञान और चारित्र में बालक के समान अज्ञ तो पाप से बद्ध होता है, किन्तु उपायों को जानने वाला पाप से लिप्त नहीं होता, बल्कि उससे मुक्त होता है।

○ अहिंसा अणुव्रत का उपदेश महाव्रती द्वारा

[शास्त्रीय आलोक में शंका-समाधान]

{97}

थूलगपाणाइवायं पच्चक्खंतस्स कह न इयरंमि।
होइणुमइ जइस्स वि तिविहेण तिदंडविरयस्स॥

(श्रा.प्र. 114)

(यहां कोई शंका करता है-)

जो यति तीन प्रकार के त्रिदंड से विरत है- अर्थात् मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदन से पाप का परित्याग कर चुका है- वह जब किसी श्रावक को स्थूल प्राणियों के प्राण-विघात का प्रत्याख्यान कराता है, तब उसकी अनुमति इतर में-स्थूल प्राणियों से भिन्न सूक्ष्म प्राणियों के विघात में-कैसे अनुमति न होगी? (और अनुमति होने पर यति का महाव्रत भंग हो जाता है।)

[जो महाव्रती मुनि मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदना से स्वयं समस्त सावद्य कर्म का परित्याग कर चुका है, वह यदि किसी को स्थूल प्राणियों के विघात का व्रत ग्रहण कराता है तो उससे यह सिद्ध होता है कि उसकी सूक्ष्म प्राणियों के विघात विषयक अनुमति है। अन्यथा यह श्रावक को स्थूलों के साथ सूक्ष्म प्राणियों की भी हिंसा का परित्याग क्यों नहीं कराता? इस प्रकार सूक्ष्म प्राणियों की हिंसाविषयक अनुमति के होने पर उसका महाव्रत भंग होता है। यह शंकाकार का अभिप्राय है।]

{98}

अविहीए होइ च्चिय विहीइ नो सुयविसुद्धभावस्स।
गाहावइसुअचोरग्गहण-मोअणा इत्थ नायं तु॥

(श्रा.प्र. 115)

(उक्त शंका का समाधान इस प्रकार है-)

यदि स्थूल प्राणियों के घात का प्रत्याख्यान कराने वाला वह यति आगमोक्त विधि के बिना, किसी श्रावक को उक्त प्रत्याख्यान कराता है तो निश्चित ही उसकी सूक्ष्म प्राणियों के घात में अनुमति होती है। पर श्रुत से विशुद्ध अन्तःकरण वाला वह यदि विधिपूर्वक ही उक्त प्रत्याख्यान कराता है तो सूक्ष्म प्राणियों के घात में उसकी अनुमति नहीं हो सकती। यहां चोर के रूप में पकड़े गए गृहपति के पुत्रों के ग्रहण और मोचन का जो उदाहरण/दृष्टांत है, उसके आधार पर उक्त शंका का समाधान कर लेना चाहिए।

[इसके स्पष्टीकरण में यहां एक सेठ के छह पुत्रों का उदाहरण दिया जाता है, जो चोरी के अपराध में पकड़े गए थे एवं जिनमें से एक बड़े पुत्र को ही सेठ छुड़ा सका था। वह कथा इस प्रकार से है-]

{99}

देवीतुट्ठो राया ओरोहस्स निसि ऊसवपसाओ।
घोसण नरनिग्गमणं छव्वणियसुयाणनिखेवो॥
चारियकहिए वज्झा मोएइ पिया न मिल्लइ राया।
जिट्ठमुयणे समस्स उ नाणुमई तस्स सेसेसु॥
राया सड्ढो वाणिया काया साहू य तेसि पियतुल्लो।
मोयइ अविसेसेणं न मुयइ सो तस्स किं इत्थ॥

(श्रा.प्र. 116-118)

राजा अपनी पटरानी पर संतुष्ट हुआ, इससे उसने उसकी इच्छानुसार रात में उत्सव मनाने के विषय में अन्तःपुर के प्रस्ताव पर प्रसन्नता प्रकट की। इसके लिए उसने राजधानी के पुरुषों के लिए उत्सव मनाने हेतु नगर से बाहर निकल जाने के विषय में घोषणा करा दी। उस समय छह वणिक्पुत्र नगर के बाहर नहीं निकल सके। गुप्तचरों के कहने पर राजा ने

उनका वध करने की आज्ञा दे दी। तब पिता उनको छुड़ाना चाहता था, पर राजा उन्हें नहीं छोड़ रहा था। तब सब पुत्रों के विषय में समान भाव रखने वाला सेठ ज्येष्ठ पुत्र को ही छुड़ा पाता है। इससे उसकी शेष पांच पुत्रों के वध में अनुमति हो-ऐसा नहीं माना जा सकता। राजा श्रावक जैसा है, वणिक्पुत्र जीवनिकाय जैसे हैं, साधु उनके पिता जैसा है। समान रूप से पिता सबको छुड़ाना चाहता है, पर राजा नहीं छोड़ता है। इस परिस्थिति में सेठ का क्या दोष है?

[अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सेठ अपने सभी पुत्रों को छुड़ाना चाहता है, उसके बहुत प्रार्थना करने पर भी जब राजा उन्हें नहीं छोड़ता है, तब सब पुत्रों में समबुद्धि होता हुआ भी वह एक बड़े पुत्र को ही छुड़ा पाता है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी ओर से अन्य पुत्रों के वध कराने में अनुमति रही है। ठीक इसी प्रकार, साधु श्रावक से स्थूल व सूक्ष्म सभी जीवों के वध को छुड़ाना चाहता है, पर श्रावक जब समस्त प्राणियों के वध को छोड़ने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है, तब वह उससे स्थूल प्राणियों के ही वध का प्रत्याख्यान कराता है। इससे समस्त प्राणियों में समबुद्धि उस साधु के अन्य सूक्ष्म प्राणियों के वध-विषयक अनुमति का प्रसंग कभी भी नहीं प्राप्त हो सकता।]

{100}

भगवं च णं उदाहु-संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति-नो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं अणुपुव्वेणं गुत्तस्स लिसिस्सामो, ते एवं संखं सावेंति, ते एवं संखं ठवयंति, ते एवं संखं सोवाट्ठवयंति-नन्नत्थ अभिजोएणं गाहावतीचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं निहाय दंडं, तंपि तेसिं कुसलमेव भवति।

(सू.कृ. 2/7/849)

भगवान् गौतम स्वामी ने उदक पेढालपुत्र से कहा- आयुष्मन् उदक! जगत् में कई मनुष्य ऐसे होते हैं, जो साधु के निकट आ कर उनसे पहले ही इस प्रकार कहते हैं-'भगवन्! हम मुण्डित हो कर अर्थात्- समस्त प्राणियों को न मारने की प्रतिज्ञा लेकर गृहत्याग करके आगार-धर्म से अनगार-धर्म में प्रव्रजित होने (दीक्षा लेने) में अभी समर्थ नहीं हैं, किंतु हम क्रमशः साधुत्व (गोत्र) का अंगीकार करेंगे, अर्थात्-पहले हम स्थूल (त्रस) प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान करेंगे, उसके पश्चात् सूक्ष्म प्राणातिपात (सर्व सावद्य) का त्याग करेंगे। तदनुसार वे मन में ऐसा ही निश्चय करते हैं और ऐसा ही विचार प्रस्तुत करते हैं। तदनन्तर वे राजा आदि के अभियोग का आगार (छूट) रख कर 'गृहपति-चार-विमोक्ष न्याय' से त्रस प्राणियों को दण्ड देने का त्याग करते हैं। (प्रत्याख्यान कराने वाले निर्ग्रन्थ श्रमण यह जान कर कि यह व्यक्ति समस्त सावद्यों को नहीं छोड़ता है, तो जितना छोड़े उतना ही अच्छा है, उसे त्रसप्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान कराते हैं।) वह (त्रस प्राणिवध का) त्याग भी उन (श्रमणोपासकों) के लिए अच्छा (कुशलरूप) ही होता है।

{101}

सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी-आउसंतो गोतमा! नत्थि णं से केइ परियाए जण्णं समणोवासगस्स एगपाणातिवायविरए वि दंडे निक्खित्ते, कस्स णं तं हेतुं? संसारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायातो विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं घत्तं।

(सू.कृ. 2/7/851)

उदक पेढ़ालपुत्र ने वाद (युक्ति) पूर्वक भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा- आयुष्मन् गौतम! (मेरी समझ से) जीव की कोई भी पर्याय ऐसी नहीं है, जिसे दण्ड न दे कर श्रावक अपने एक भी प्राणी के प्राणतिपात से विरतिरूप प्रत्याख्यान को सफल कर सके! उसका कारण क्या है? (सुनिये) समस्त प्राणी परिवर्तनशील है, (इस कारण) सभी स्थावर प्राणी भी त्रसरूप में उत्पन्न हो जाते हैं और कभी त्रसप्राणी स्थावररूप में उत्पन्न हो जाते हैं। (ऐसी स्थिति में) वे सबके सब स्थावरकाय को छोड़ कर त्रसकाय में उत्पन्न हो जाते हैं, और कभी त्रसकाय को छोड़ कर स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं। अतः स्थावरकाय में उत्पन्न हुए सभी जीव उन (त्रसकाय-जीववध-त्यागी) श्रावकों के लिए घात के योग्य हो जाते हैं।

{102}

सवायं भगवं गोयमे उदगं पेढालपुत्तं एवं वदासी-णो खलु आउसो! अस्माकं वत्तव्वएणं, तुब्भं चेव अणेप्पवादेणं अत्थि णं से परियाए जंमि समणोवासगस्स सब्वपाणेहिं सव्वभूतेहिं सव्वजीवेंहि सव्वसत्तेहिं दंडे निक्खित्ते, कस्स णं तं हेतुं? संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायातो विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पतरागा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, इति से महया तसकायाओ उवसंतस्य उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जण्णं

तुब्भे वा अन्नो वा एवं वदह-णत्थि णं से केइ परियाए जम्मि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते, अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

(सू.कृ. 2/7/852)

(इस पर) भगवान् गौतम ने उदक पेढालपुत्र से युक्तिपूर्वक (सवाद) इस प्रकार कहा- आयुष्मन् उदक! हमारे वक्तव्य (मन्तव्य) के अनुसार तो यह प्रश्न ही नहीं उठता (क्योंकि हमारा मन्तव्य यह है कि सबके सब त्रस एक ही काल में स्थावर हो जाते हैं, ऐसा न कभी हुआ है, न होगा और न है।) आपके वक्तव्य (अनुप्रवाद) के अनुसार (यह प्रश्न उठ सकता है), परंतु आपके सिद्धान्तानुसार थोड़ी देर के लिए मान लें कि सभी स्थावर एक ही काल में त्रस हो जाएंगे, तब भी वह (एक) पर्याय (त्रसरूप) अवश्य है, जिसके रहते (त्रसघातत्यागी) श्रमणोपासक के लिए सभी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के घात (दण्ड देने) का त्याग सफल होता है। इसका कारण क्या है? (सुनिये,) प्राणिगण परिवर्तनशील हैं, इसलिए त्रसप्राणी जैसे स्थावर के रूप उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही स्थावर प्राणी भी त्रस के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् वे सब त्रसकाय को छोड़ कर स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाते हैं, तथैव कभी स्थावरकाय को छोड़ कर सबके सब त्रसकाय में भी उत्पन्न हो जाते हैं। अतः जब वे सब (स्थावरकाय को छोड़ कर एकमात्र) त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं, तब वह स्थान (समस्त त्रसकायीय प्राणिवर्ग) श्रावकों के घात-योग्य नहीं होता। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। वे विशालकाय भी होते हैं और चिरकाल तक स्थिति वाले भी। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमें श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सफल सुप्रत्याख्यान होता है। तथा (आपके मन्तव्यानुसार उस समय) वे प्राणी (स्थावर) होते ही नहीं, जिनके लिए श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। इस प्रकार वह श्रावक महान् त्रसकाय के घात से उपशांत, (स्व-प्रत्याख्यान में) उपस्थित तथा (स्थूल हिंसा से) प्रतिविरत होता है। ऐसी स्थिति में आप या दूसरे लोग, जो यह कहते हैं कि (जीवों का) एक भी पर्याय नहीं है, जिसको लेकर श्रमणोपासक का एक भी प्राणी के प्राणातिपात (दण्ड देने) से विरतिरूप प्रत्याख्यान यथार्थ एवं सफल (सविषय) हो सके। अतः आपका यह कथन न्यायसंगत नहीं है।

[उदक की आक्षेपात्मक शंका; गौतम का स्पष्ट समाधान- प्रस्तुत सूत्रद्वय में से प्रथम सूत्र में उदक के द्वारा प्रस्तुत आक्षेपात्मक शंका प्रस्तुत की गई है, द्वितीय सूत्र में भी श्री गौतम स्वामी का स्पष्ट एवं युक्तियुक्त समाधान अंकित है।

प्रत्याख्यान की निर्विषयता एवं निष्फलता का आक्षेप- उदक निर्ग्रन्थ द्वारा किए गए आक्षेप का आशय यह है कि श्रावक के प्रत्याख्यान है त्रस जीवों के हनन का, परन्तु जब सभी त्रसजीव त्रस पर्याय को छोड़कर स्थावर पर्याय में आ जाएंगे, तब उसका पूर्वोक्त प्रत्याख्यान निर्विषय एवं निरर्थक हो जाएगा। जैसे सभी नगरनिवासियों के वनवासी हो जाने पर नगरनिवासी को न मारने की प्रतिज्ञा निर्विषय एवं निष्फल हो जाती है, वैसे ही सभी त्रसों के स्थावर हो जाने पर श्रावक की त्रसघात- त्याग की प्रतिज्ञा भी निरर्थक एवं निर्विषय हो जाएगी। ऐसी स्थिति में एक भी त्रस पर्याय का प्राणी नहीं रहेगा, जिसे न मार कर श्रावक प्रत्याख्यान को सफल कर सके।

श्री गौतम स्वामी द्वारा स्पष्ट समाधान- दो पहलुओं से दिया गया है-

1. ऐसा त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है कि जगत् के सभी त्रस, स्थावर हो जाएं, क्योंकि यह सिद्धान्तविरुद्ध है।

2. आपके मन्तव्यानुसार ऐसा मान भी लें तो जैसे सभी त्रस स्थावर हो जाते हैं, वैसे सभी थावर भी त्रस हो जाते हैं, इसलिए जब सभी स्थावर त्रस हो जाएंगे, तब श्रावक का त्रसवध-त्याग सर्वप्राणी- वधत्याग विषयक होने से सफल एवं सविषय हो जाएगा। क्योंकि तब संसार में एकमात्र त्रसजीव ही होंगे जिनके वध का त्याग श्रावक करता है। इसलिए आपका यह (निर्विषयता रूप) आक्षेप न्याय-संगत नहीं है।]

○ हिंसा-प्रत्याख्यान की सार्थकताः सम्यक् ज्ञान से

{103}

से नूणं भंते! सव्वपाणेहिं सव्वभूतेहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणस्स सुपच्चक्खायं भवति? दुपच्चक्खायं भवति?

गोतमा! सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणस्स सिय सुपच्चक्खातं भवति, सिय दुपच्चक्खातं भवति।

(व्या. प्र. 7/2/1)

[1-1 प्र.] हे भगवन्! 'मैंने सर्व प्राण, सर्व जीव, और सभी सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है', इस प्रकार कहने वाले के सुप्रत्याख्यान होता है या दुष्प्रत्याख्यान होता है?

[1-1 उ.] गौतम! 'मैंने सभी प्राण यावत् सभी सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है,' इस प्रकार कहने वाले के कदाचित् सुप्रत्याख्यान होता है और कदाचित् दुष्प्रत्याख्यान होता है।

[2] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चई 'सव्वपाणेहिं जाव सिय दुपच्चक्खातं भवति?'

गोतमा! जस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणस्स णो एवं अभिसमन्नागतं भवति 'इमे जीवा इमे अजीवा, इमे तसा, इमे थावरा' तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणस्स नो सुपच्चक्खायं भवति, दुपच्चक्खायं भवति। एवं खलु से दुपच्चक्खाई सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणो नो सच्चं भासं भासति, मोसं भासं भासइ, एवं खलु से मुसावाती सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं तिविहं तिविहेणं अस्संजयविरयपडिहयपच्चखायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले यावि भवति। जस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणस्स एवं अभिसमन्नागतं भवति 'इमे जीवा, इमे अजीवा, इमे तसा, इमे थावरा' तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति वदमाणस्स सुपच्चक्खायं भवति, नो दुपच्चक्खायं भवति। एवं खलु से सुपच्चक्खाई सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं 'पच्चक्खायं' इति *वयमाणे सच्चं भासं भासति*, नो मोसं भासं भासति, एवं खलु से सच्चावादी सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं तिविहं तिविहेणं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिए संवुडे [एगंतअदंडे] एगंतपंडिते यावि भवति। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ जाव सिय दुपच्चक्खायं भवति।

(व्या. प्र. 7/2/2)

[1-2 प्र.] भगवन्! ऐसा क्यों कहा जाता है कि सभी प्राण यावत् सभी सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान–उच्चारण करने वाले के कदाचित् सुप्रत्याख्यान और कदाचित् दुष्प्रत्याख्यान होता है?

[1-उ.] गौतम! समस्त प्राण यावत् सर्व सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है, इस प्रकार कहने वाले जिस पुरुष को इस प्रकार (यह) अभिसमन्वागत (ज्ञात=अवगत) नहीं होता कि 'ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं , ये स्थावर हैं', उस पुरुष का प्रत्याख्यान नहीं होता, किन्तु दुष्प्रत्याख्यान होता है। साथ ही, ''मैंने सभी प्राण यावत् सभी सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है''– इस प्रकार कहने वाला वह दुष्प्रत्याख्यानी पुरुष सत्य भाषा नहीं बोलता, किन्तु मृषाभाषा बोलता है। इस प्रकार वह मृषावादी सर्व प्राण यावत् समस्त

सत्त्वों के प्रति तीन करण, तीन योग से असंयत (संयमरहित), अविरत (हिंसादि से अनिवृत्त या विरतिरहित), पाप कर्म से अप्रतिहत (नहीं रुका हुआ) और पापकर्म का अप्रत्याख्यानी (जिसने पापकर्म का प्रत्याख्यान-त्याग नहीं किया है।), (कायिकी आदि) क्रियाओं से युक्त (सक्रिय), असंवृत (संवररहित), एकान्तदण्ड (हिंसा) का कारक एवं एकान्तबाल (अज्ञानी) है।

'मैंने सर्व प्राण यावत् सर्व सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है,' यों कहने वाले जिस पुरुष को यह ज्ञात होता है कि 'ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस और ये स्थावर हैं,' उस (सर्वप्राण, यावत् सर्व सत्त्वों की हिंसा का मैंने त्याग किया है, यों कहने वाले) पुरुष का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है, किन्तु दुष्प्रत्याख्यान नहीं है। 'मैंने सर्व प्राण यावत् सर्व सत्त्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है', इस प्रकार कहता हुआ वह सुप्रत्याख्यानी सत्यभाषा बोलता है, मृषाभाषा नहीं बोलता। इस प्रकार वह सुप्रत्याख्यानी सत्यभाषी, सर्व प्राण यावत् सत्त्वों के प्रति तीन करण, तीन योग से संयत, विरत है। (अतीतकालीन) पापकर्मों को (पश्चात्ताप-आत्मनिन्दा से) उसने प्रतिहत (घात) कर (या रोक) दिया है, (अनागत पापों को) प्रत्याख्यान से त्याग दिया है, वह अक्रिय (एकान्त अदण्डरूप है) और एकान्त पण्डित है। इसीलिए, हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि यावत् कदाचित् सुप्रत्याख्यान होता है और कदाचित् दुष्प्रत्याख्यान होता है।

*[विवेचन- सुप्रत्याख्यानी और दुष्प्रत्याख्यानी का स्वरूप:- प्रस्तुत सूत्र में सुप्रत्याख्यानी और दुष्प्रत्याख्यानी का रहस्य बताया गया है। **सुप्रत्याख्यान और दुष्प्रत्याख्यान का रहस्य-** किसी व्यक्ति के केवल मुंह से ऐसा बोलने मात्र से ही प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान नहीं हो जाता कि 'मैंने समस्त प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान (त्याग) कर दिया है', किन्तु इस प्रकार बोलने के साथ-साथ अगर वह भलीभांति जानता है कि 'ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं' तो उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है और वह सत्यभाषी, संयत, विरत आदि भी होता है, किन्तु अगर उसे जीवाजीवादि के विषय में समीचीन ज्ञान नहीं होता तो केवल प्रत्याख्यान के उच्चारण से वह न तो सुप्रत्याख्यानी होता है, न ही सत्यभाषी, संयत, विरत आदि। इसीलिए दशवैकालिक में कहा गया है- 'पढमं नाणं, तओ दया।' ज्ञान के अभाव में कृत प्रत्याख्यान का यथावत् परिपालन न होने से वह दुष्प्रत्याख्यानी रहता है, सुप्रत्याख्यानी नहीं होता है। सारांश यह है कि अहिंसा अणुव्रत की सार्थकता तभी है जब अणुव्रत का धारक अभिसमन्वागत- अर्थात् जीव-अजीव के स्वरूप का ज्ञाता हो।]*

○ **हिंसा-दोषः हिंसक जीवों के वध में भी**

{105}

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु॥

(पुरु. 4/47/82)

'बहुत जीवों के घातक ये जीव जीवित रहेंगे तो बहुत पाप उपार्जित करेंगे'– इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवों को मारना चाहिए– ऐसी मान्यता उचित नहीं है।

{106}

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्॥

(पुरु. 4/47/83)

'इस एक ही (जीवघातक) जीव का घात करने से बहुत जीवों की रक्षा होती है'– ऐसा मान कर हिंसक जीवों की हिंसा करना उचित है– ऐसी मान्यता युक्तिसंगत नहीं है।

[कुछ लोगों को यह भ्रान्ति है कि हिंसक जीवों को मारना 'हिंसा' नहीं, अपितु धर्म है क्योंकि उन्हें मारने से अनेक व्यक्तियों के प्राण बचाए जा सकते हैं। जैन आचार्यों की उद्घोषणा है कि राग-द्वेष-वशीभूत होने के कारण, हिंसक जन्तु को मारने वाला भी हिंसा-दोष का भागी होगा ही।]

○ **हिंसा-दोष : दुःखी जीवों के वध में भी**

{107}

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः॥

(पुरु. 4/49/85)

अनेक दुःखों से पीड़ित जीव (मर कर) थोड़े समय में ही दुःखों से छुटकारा पा जावेंगे'– ऐसी वासना-रूपी छुरी लेकर दुःखी जीवों को भी मार दिया जाए–ऐसी मान्यता उचित नहीं है।

(तात्पर्य यह है कि लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि दु:खी जीव को मारना अनुचित कार्य नहीं, अपितु उचित ही है, क्योंकि दु:खी जीव को मार देने से उसे दु:ख से मुक्ति मिलती है। वास्तव में दु:खी हो या सुखी, उसे कोई रागादि-वश मारे तो हिंसा-दोष लगेगा ही– यह स्पष्ट जैन मान्यता है।)

O हिंसा: सुखी जीव की भी अमान्य

{108}

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हता: सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्र: सुखिनां घाताय नादेय:॥

(पुरु. 4/50/86)

'सुख की प्राप्ति कष्ट से होती है, इसलिये मारे हुये सुखी जीव परलोक में सुखी होंगे'– ऐसी कुतर्करूपी तलवार को सुखी जीवों के घात हेतु अंगीकार नहीं करनी चाहिये। (तात्पर्य यह है कि सुख की प्राप्ति कष्ट के बाद होती है, अत: किसी सुखी जीव को मार दिया जाय तो भले ही उसे शारीरिक/मानसिक कष्ट हो, अन्त में परलोक में उसे सुख प्राप्त होगा– यह एक भ्रान्त धारणा या कुतर्क है। जैन मान्यता यह है कि जीव को सुख-दु:ख की प्राप्ति तो उस के अपने शुभाशुभ कर्मों पर आधारित है। उक्त कुतर्क के आधार पर जीव-घात करना पाप ही होगा।)

O हिंसा: समाधिस्थ की धर्म-संगत नहीं

{109}

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरो: शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषता॥

(पुरु. 4/51/87)

अधिक अभ्यास द्वारा ज्ञान और सुगति की प्राप्ति में कारणभूत समाधि के सार को प्राप्त करने वाले (अर्थात् समाधिस्थ) अपने गुरु का, श्रेष्ठ धर्म के अभिलाषी शिष्य द्वारा, मस्तक काटना उचित नहीं है।

(तात्पर्य यह है कि कोई समाधिस्थ व्यक्ति मुक्ति की ओर अग्रसर है। देह में प्राण जब तक रहेंगे, वह पूर्णत: मुक्त नहीं हो पाएगा। अत: उसे मार दिया जाय तो उसे मुक्ति मिल जाएगी और सुख प्राप्त होगा। उक्त मान्यता भी मात्र अज्ञानमयी धारणा है। इस धारणा के आधार पर समाधिस्थ गुरु का मस्तक काट कर शिष्य 'धर्म' माने, तो यह अनुचित है।)

{110}

से किं तं बालमरणे?

बालमरणे दुवालसविहे प., तं जहा- वलयमरणे 1 वसट्टमरणे 2 अंतोसल्लमरणे 3 तब्भवमरणे 4 गिरिपडणे 5 तरुपडणे 6 जलप्पवेसे 7 जलणप्पवेसे 8 विसभक्खणे 9 सत्थोबाडणे 10 वेहाणसे 11 गद्धपट्ठे।

इच्चेते णं खंदया! दुवालसविहेणं बालमारणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ, तिरिय0 मणुय0 मणुय0 देव0 अणाइयं च णं अणवदग्गं चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टइ, से त्तं मरमाणे वड्ढइ। से त्तं बालमरणे।

(व्या. प्र. 2/1/26)

[26] (प्रश्न-) वह बालमरण क्या है? (उत्तर-) बालमरण बारह प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है- (1) बलयमरण (बलन्मरण-तड़फते हुए मरना), (2) वशार्तमरण (पराधीनतापूर्वक या विषयवश होकर रिब रिब कर मरना), (3) अन्तःशल्यमरण (हृदय में शल्य रख कर मरना, या शरीर में कोई तीखा शस्त्रादि घुसा कर मरना अथवा सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर मरना), (4) तद्भव- मरण (मर कर उसी भव में पुनः उत्पन्न होना, और मरना), (5) गिरिपतन (6) तरुपतन, (7) जल प्रवेश (पानी में डूब कर मरना), (8) ज्वलनप्रवेश (अग्नि में जल कर मरना), (9) विषभक्षण (विष खाकर मरना), (10) शस्त्रावपाटन (शस्त्राघात से मरना), (11) वैहानस मरण (गले में फांसी लगाने या वृक्ष आदि पर लटकने से होने वाला मरण) और (12) गृध्रपृष्ठमरण (गिद्ध आदि पक्षियों द्वारा पीठ आदि शरीरावयवों का मांस खाये जाने से होने वाला मरण)।

हे स्कन्दक! इन बारह प्रकार के बालमरणों से मरता हुआ जीव अनन्त बार नारक भवों को प्राप्त करता है, तथा नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव- इस चातुर्गतिक अनादि-अनन्त संसार-रूप कान्तार (वन) में बार-बार परिभ्रमण करता रहता है। अर्थात्- इस प्रकार बारह प्रकार के बालमरण से मरता हुआ जीव अपने संसार को बढाता है।

{111}

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं जलप्पवेसो य।
अणयारभंडसेवी जम्मणमरणाणुबंधीणि॥

(मूला. 2/74)

शास्त्रों के घात से मरना, विष-भक्षण करना, अग्नि में जल जाना, जल में प्रवेश कर (डूब कर) मरना और पापक्रियामय द्रव्य का सेवन करके मरना -ये मरण जन्म व मृत्यु की परम्परा को बढाने वाले कार्य हैं।

{112}

आपगा-सागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च, लोकमूढं निगद्यते॥

(रत्नक. श्रा. 22)

धर्मलाभ और कल्याण आदि की प्राप्ति की आशा से नदी या समुद्र आदि में स्नान करना, बालू या पत्थर आदि का ढेर लगाना, पर्वत से गिरना और अग्नि में जलना (सती होना) आदि लोक-मूढता कही जाती है।

(किसी की भूख मिटाने के लिए भी आत्मवध अनुचित)

{113}

दृष्ट्वाऽपरं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्माऽपि॥

(पुरु. 4/53/89)

भोजन के लिये सामने आये हुए अन्य भूखे (मांसभक्षी व्यक्ति या पशु आदि) को सामने आया हुआ देख कर उसे अनुगृहीत करने की दृष्टि से अपने शरीर का मांस देने की आतुरता के साथ अपना ही घात करना- यह भी कथमपि उचित नहीं है। (मांसभक्षी प्राणी के प्रति राग के कारण) उक्त कार्य (स्वयं का घात करना- प्राणवियोजित होना) 'हिंसा' की कोटि में ही आता है।)

{114}

अन्ने भणंति कम्मं जं जेण कयं स भुंजइ तयं तु।
चित्तपरिणामरूवं अणेगसहकारिसाविक्खं ॥
तक्कयसहकारित्तं पवज्जमाणस्स को वहो तस्स।
तस्सेव तओ दोसो जं तह कम्मं कयमणेणं॥

(श्रा.प्र. 209-210)

दूसरे कितने ही वादी यह कहते हैं कि जिस जीव ने जिस कर्म को किया है, वह नियम से अनेक प्रकार के परिणामस्वरूप उस कर्म को अनेक सहकारी कारणों की अपेक्षा से भोगता है। वध्यमान उस जीव के द्वारा की गई सहकारिता को प्राप्त होने वाले उस वध कर्त्ता को उस वध्यमान जीव के वध का कौन-सा दोष प्राप्त है? उसका उसमें कुछ भी दोष नहीं है। वह दोष तो उस वध्यमान प्राणी का ही है, क्योंकि उसने उस प्रकार के-उसके निमित्त से मारे जाने रूप-कर्म को किया है।

[इन वादियों द्वारा प्रस्तुत की गई शंका का अभिप्राय यह है कि जिस जीव ने जिस प्रकार के कर्म को किया है उसे उस कर्म के विपाक के अनुसार उसके फल को भोगना ही पड़ता है। वध करने वाला प्राणी तो उसके इस वध में निमित्त मात्र होता है। वह भी इसलिए कि उसने 'मैं इसके निमित्त से मरूंगा' ऐसे ही कर्म को उपार्जित किया है। अत: वध करने वाले को वध्य व्यक्ति के ही कर्म के अनुसार उसके वध में सहकारी होना पड़ता है, तब भला इसमें उस बेचारे वधकर्त्ता का कौन-सा अपराध है? उसका कुछ भी अपराध नहीं है। कारण यह कि वध्यमान प्राणी ने न वैसा कर्म किया होता न उसके हाथों मरना पड़ता।]

{115}

नियकयकम्मुवभोगे वि संकिलेसो धुवं वहंतस्स।
तत्तो बंधो तं खलु तव्विरईए विवज्जिज्जा॥

(श्रा.प्र. 213)

(उपर्युक्त शंका का समाधान-)

स्वकृत कर्म के उपभोग में भी वध करने वाले के परिणाम में निश्चय से जो संक्लेश होता है, उससे उसके कर्म का बंध होता है। उसे उस वध का व्रत कराने से छुड़ाया जाता है।

[जो प्राणी किसी वधक के हाथों मारा जाता है, वह यद्यपिं अपने द्वारा किए गए कर्म के ही उदय से मारा जाता है व तज्जन्य दु:ख को भोगता है, फिर भी इस क्रूर कार्य से मारने वाले के अन्त:करण में जो संक्लेश परिणाम होता है, उससे निश्चित ही उसके पाप कर्म का बंध होने वाला है। उपर्युक्त उस वधविरति के द्वारा उसे इस पापकर्म के बंध से बचाया जाता है, जो उसके लिए सर्वथा हितकर है।]

{116}

तत्तु च्चिय मरियव्वं इय बद्धे आउयंमि तव्विरई।
नणु किं साहेइ फलं तदारओ कम्मखवणं तु॥
तत्तु च्चिय सो भावो जायइ सुद्धेण जीववीरिएण।
कस्सइ जेण तयं खलु अविहित्ता गच्छई मुक्खं॥

(श्रा.प्र. 214-215)

वादी पूछता है कि मरने वाले प्राणी ने जब उसके निमित्त से ही मारे जाने रूप आयु कर्म को बांधा है, तब उसके होते हुए वध की विरति कराने से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है? उसका कुछ भी फल नहीं है। कारण यह कि उक्त प्रकार से बांधे गए कर्म के अनुसार उसे उसी के हाथों मरना पड़ेगा। वादी की इस शंका के उत्तर में यहां यह कहा गया है कि मरणकाल के पूर्व में ग्रहण कराई उस 'वध की विरति' से उसके कर्म का क्षय होने वाला है, यही उस वधविरति का फल है। उस वध-विरति से किसी जीव के आत्म-निर्मलता रूपी सामर्थ्य से वह परिणाम प्रादुर्भूत होता है कि जिसके आश्रय से वह उस प्राणी का घात न करके मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

[यह ऐकान्तिक नियम नहीं है कि जिसने अमुक (देवदत्त आदि) के हाथ से मारे जाने रूप आयु कर्म को बांधा है, वह उसी के द्वारा मारा जाए। कारण यह कि वधक को ग्रहण कराई गई वध की विरति के बाद कदाचित् निर्मल आत्मपरिणाम के बल से उस वधकर्त्ता के मन में यह भाव उत्पन्न हो जाय जिसके प्रभाव से वह उस वध्य प्राणी का घात न करके मुक्ति को प्राप्त कर ले।]

{117}

इय तस्स तयं कम्मं न जहकयफलं ति पावई अह तु।
तं नो अज्झवसाणा ओवट्टणमाइभावाओ ॥

(श्रा.प्र. 216)

वादी कहता है कि इस प्रकार से तो उस वध्य प्राणी के द्वारा जिस प्रकार के फल से युक्त कर्म को किया गया है, उसके उस प्रकार के फल से रहित हो जाने का प्रसंग प्राप्त होगा। इसके समाधान में यहां यह कहा जा रहा है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि अध्यवसाय के वश-उस प्रकार की चित्त की विशेषता से-प्राणी के उक्त कर्म के विषय में अपवर्तन आदि संभव है।

[वादी के कहने का अभिप्राय यह था कि वध्य प्राणी ने 'मैं अमुक के हाथों मारा जाऊंगा' इस प्रकार के कर्म को बांधा था, पर वध की विरति के प्रभाव से जब वह उसके द्वारा नहीं मारा गया, तब वह उसका कर्म निरर्थकता को क्यों न प्राप्त होगा? इसका समाधान करते हुए यहां यह कहा गया है कि प्राणी जिस प्रकार के विपाक से युक्त कर्म को बांधता है, उसमें आत्मा के परिणाम-विशेष से अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमण आदि भी संभव हैं। अतएव जो कर्म जिस रूप से बांधा गया है, उसकी स्थिति में हीनाधिकता हो जाने से अथवा उसके अन्य प्रकृति रूप परिणत हो जाने के कारण यदि उसने वैसा फल नहीं दिया, तो इसमें कोई विरोध सम्भव नहीं है।]

○ हिंसा के सम्बन्ध में खारपटिकों की अज्ञानपूर्ण मान्यता

{118}

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्।
झटिति घटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम्॥

(पुरु. 4/52/88)

थोड़े से धन के भी प्यासे (अर्थात् छोटे-मोटे धन को भी हड़प जाने के लिए व्याकुल) और शिष्यों को (भ्रमपूर्ण)दृष्टि देने वाले खारपटिकों द्वारा (किसी का मस्तक काट कर) यह कहना कि शरीर रूपी घड़े में बन्द आत्मा-रूपी चिड़िया को मुक्ति प्राप्त हो गई है- कदापि श्रद्धा-योग्य (मान्य करने योग्य)नहीं है।

['खारपटिक' नामक दार्शनिक-सम्प्रदाय वालों की मान्यता है कि किसी को मार देना धर्म ही है, क्योंकि उसे मार देने से उसके शरीर में स्थित आत्मा बन्धन-मुक्त होती है और किसी को मार कर, उसकी आत्मा को बन्धन-मुक्त करना कोई अशुभ कार्य नहीं है। उक्त मान्यता भ्रम/अज्ञान के सिवा कुछ नहीं है।]

○ हिंसा के सम्बन्ध में बौद्धों की अविवेकपूर्ण मान्यता

{119}

पिण्णागपिंडीमवि विद्धु सूले, केई पएज्जा पुरिसे इमे त्ति।
अलाउयं वावि कुमारए त्ति, स लिप्पती पाणवहेण अम्हं॥
अहवा वि विद्धूण मिलक्खु सूले, पिन्नागबुद्धीए णरं पएज्जा।
कुमारगं वा वि अलाउए त्ति, न लिप्पती पाणवहेण अम्हं॥
पुरिसं व विद्धूण कुमारकं वा, सूलंमि केई पए जाततेए।
पिण्णा यपिंडी सतिमारुहेत्ता, बुद्धाण तं कप्पति पारणाए॥

(सू.कृ. 2/6/812-814)

(शाक्यभिक्षु आर्द्रक जैन मुनि से कहने लगे-) कोई व्यक्ति खली के पिण्ड को 'यह पुरुष है' यों मान कर शूल से बींध कर (आग में) पकाए अथवा तुम्बे को कुमार (बालक) मान कर पकाए तो हमारे मत में वह प्राणिवध (हिंसा) के पाप से लिप्त होता है। अथवा वह म्लेच्छ पुरुष मनुष्य को खली समझ कर उसे शूल से बींध कर पकाए, अथवा कुमार को तुम्बा समझ कर पकाए तो वह हमारे मत में प्राणिवध के पाप से लिप्त नहीं होता। कोई पुरुष मनुष्य को या बालक को खली का पिण्ड मान कर उसे शूल में बींध कर आग में डाल कर पकाए तो (हमारे मत में) वह (मांस-पिण्ड) पवित्र है, वह बुद्धों के पारणे के योग्य है।

{120}

अजोगरूवं इह संजयाणं पावं तु पाणाण पसज्झ काउं।
अबोहिए दोण्ह वि तं असाहु, वयंति ज़े यावि पडिस्सुणंति॥
उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, विण्णाय लिंगं तस-थावराणं।
भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणे, वदे करेज्जा व कुओ विहऽत्थी॥
पुरिसे त्ति विण्णत्ति ण एवमत्थि, अणारिए से पुरिसे तहा हु।
को संभवो? पिन्नगपिंडियाए, वाया वि एसा वुइया असच्चा॥

(सू.कृ. 2/6/816-818)

(आर्द्रक मुनि ने बौद्ध भिक्षुओं को प्रत्युत्तर दिया-) आपके इस शाक्यमत में पूर्वोक्त सिद्धान्त संयमियों के लिए अनुचित रूप है। प्राणियों का (जानबूझ कर) घात करने पर भी पाप नहीं होता, जो ऐसा कहते हैं और जो सुनते या मान लेते हैं; दोनों के लिए अबोधिलाभ का कारण है। 'ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में त्रस और स्थावर जीवों के अस्तित्व का लिंग (हेतु या चिह्न) जान कर जीव-हिंसा की आशंका से विवेकी पुरुष हिंसा से घृणा करता हुआ विचार कर बोले या कार्य करे तो उसे पाप-दोष कैसे हो सकता है?' खली के पिण्ड में पुरुष-बुद्धि तो मूर्ख को भी नहीं होती। अत: जो पुरुष खली के पिण्ड में पुरुष-बुद्धि अथवा पुरुष में खली के पिण्ड की बुद्धि रखता है, वह अनार्य है। खली के पिण्ड में पुरुष की बुद्धि कैसे सम्भव है? अत: आपके द्वारा कही हुई यह (वाणी) भी असत्य है।

{121}

थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पकप्पइत्ता।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीयं पकरेंति मंसं॥
तं भुंजमाणा पिसितं पभूतं, न उवलिप्पामो वयं रएणं।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिद्धा॥

(सू.कृ. 2/6/823-824)

आपके मत में बुद्धानुयायी जन एक बड़े स्थूल भेड़े को मार कर उसे बौद्ध भिक्षुओं के भोजन के उद्देश्य से कल्पित कर (बना कर) उस (भेड़ के मांस) को नमक और तेल के साथ पकाते हैं, फिर पिप्पली अदि द्रव्यों (मसालों) से बघार कर तैयार करते हैं। (यह मांस बौद्ध-भिक्षुओं के भोजन के योग्य समझा जाता है, यही आपके आहार-ग्रहण की रीति है।)

{122}

जे यावि भुंजंति तहप्पगारं, सेवंति ते पावमजाणमाणा।
मणं न एयं कुसला करेंति, वाया वि एसा बुइता तु मिच्छा॥

(सू.कृ. 2/6/825)

जो लोग (बौद्धमतानुयायी) इस प्रकार के मांस का सेवन करते हैं, वे (पुण्य-पाप के) तत्त्व को नहीं जानते हुए पाप का सेवन करते हैं। जो पुरुष कुशल (तत्त्वज्ञान में निपुण) हैं, वे ऐसे मांस खाने की इच्छा भी नहीं करते (मन में भी नहीं लाते)। मांस-भक्षण में दोष न होने का कथन भी मिथ्या है।

{123}

सव्वेसि जीवाण दयट्ठयाए, सावज्जदोसं परिवज्जयंता।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति॥

(सू.कृ. 2/6/826)

समस्त जीवों पर दया करने के लिए, सावद्यदोष से दूर रहने वाले तथा (आहारादि में) सावद्य (पापकर्म) की आशंका (छानबीन) करने वाले, ज्ञातपुत्रीय (भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य) ऋषिगण उद्दिष्ट भक्त (साधु के निमित्त आरम्भ/हिंसा आदि करके तैयार किए हुए भोजन) का त्याग करते हैं।

{124}

भूताभिसंकाए दुगुंछमाणा, सव्वेसि पाणाणमिहायदंडं।
तम्हा ण भुंजंति तहप्पकारं, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं॥

(सू.कृ. 2/6/827)

प्राणियों के उपमर्दन की आशंका से, सावद्य अनुष्ठान से विरक्त रहने वाले निर्ग्रन्थ श्रमण समस्त प्राणियों को दंड देने (हनन करने) का त्याग करते हैं, इसलिए वे (दोषयुक्त) आहारादि का उपभोग नहीं करते। इस जैन शासन में संयमी साधकों का यही परम्परागत धर्म (अनुधर्म) है।

{125}

दयावरं धम्म दुगुंछमाणे, वहावहं धम्म पसंसमाणे।
एगं पि जे भोययती असीलं, णिवो णिसं जाति कतो सुरेहिं?

(सू.कृ. 2/6/831)

दया-प्रधान धर्म की निन्दा और हिंसाप्रधान धर्म की प्रशंसा करने वाला जो नृप (शासक) एक भी कुशील (मांस-सेवन-आसक्त) ब्राह्मण को भोजन कराता है, वह अंधकारयुक्त नरक में जाता है, फिर देवों (देवलोकों) में जाने की तो बात ही क्या है?

○ हिंसा के सम्बन्ध में तापसों की अविवेकपूर्ण मान्यता

{126}

संवच्छरेणावि य एगमेगं, बाणेण मारेउ महागयं तु।
सेसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वयं वित्ति पकप्पयामो॥
संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता अणियत्तदोसा।
सेसाण जीवाण वहेण लग्गा, सिया य थोवं गिहिणो वितम्हा॥
संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंते समणव्वतेसु।
आयाहिते से पुरिसे अणज्जे, न तारिसा केवलिणो भवंति॥

(सू.कृ. 2/6/838-840)

(हस्तितापस का आर्द्रक मुनि को कथन-) हम लोग (अपनी तापसपरम्परानुसार) शेष जीवों की दया के लिए वर्ष में एक बड़े हाथी को बाण से मार कर वर्षभर उसके मांस से अपना जीवन-यापन करते हैं। (आर्द्रकमुनि सयुक्तिक प्रतिवाद करते हुए कहते हैं-) जो पुरुष वर्षभर में भी एक (पंचेन्द्रिय) प्राणी को मारते हैं, वे भी दोषों से निवृत्त (रहित) नहीं हैं। क्योंकि ऐसा मानने पर शेष जीवों (क्षेत्र और काल से दूर प्राणियों) के वध में प्रवृत्त (संलग्न) न होने के कारण थोड़े-से (स्वल्प) जीवों को हनन करने वाले गृहस्थ भी दोष-रहित क्यों नहीं माने जाएंगे?

जो पुरुष श्रमणों के व्रत में स्थित होकर वर्षभर में एक-एक प्राणी (और वह भी पंचेन्द्रिय त्रस) को मारता है, उस पुरुष को अनार्य कहा गया है। ऐसे पुरुष केवलज्ञानी (केवलज्ञानसंपन्न) नहीं होते।

[हस्तितापसों का अहिंसामत: आर्द्रकमुनि द्वारा प्रतिवाद- प्रस्तुत तीन सूत्र गाथाओं में से प्रथम गाथा में हस्तितापसों की जीवों की न्यूनाधिक संख्या के आधार पर हिंसा के अल्पत्व-बहुत्व की मान्यता अंकित की है, शेष दो गाथाओं में आर्द्रक मुनि द्वारा इस विचित्र मान्यता का निराकरण करके वास्तविक अहिंसा की आराधना का प्रतिपादन किया गया है।

हस्तितापसों की मान्यता- *अधिक जीवों के वध से अधिक और अल्पसंख्यक जीवों के वध से अल्पहिंसा होती है। वे कहते हैं- कन्द, मूल, फल आदि खाने वाले, या अनाज खाने वाले साधक बहुत-से स्थावर जीवों तथा उनके आश्रित अनेक जंगम जीवों की हिंसा करते हैं। भिक्षाजीवी साधक भी भिक्षा के लिए घूमते समय चींटी आदि अनेक प्राणियों का उपमर्दन करते हैं, तथा भिक्षा की प्राप्ति-अप्राप्ति में उनका चित्त रागद्वेष से मलिन भी होता है, अत: हम इन सब प्रपंचों से दूर रह कर वर्ष में एक बार सिर्फ बड़े हाथी को मार लेते हैं, उसके मांस से वर्ष भर निर्वाह करते हैं। अत: हमारा धर्म श्रेष्ठ है।*

अहिंसा के सम्बन्ध में होने वाली भ्रान्ति का निराकरण- *आर्द्रकमुनि अहिंसा संबंधी उस भ्रान्ति का निराकरण दो तरह से करते हैं-*

1. हिंसा-अहिंसा की न्यूनाधिकता के मापदंड का आधार मृत जीवों की संख्या नहीं है। अपितु उसका आधार प्राणी की चेतना, इन्द्रियां, मन, शरीर आदि का विकास एवं मारने वाले की तीव्र-मन्द मध्यम भावना तथा अहिंसाव्रती की किसी भी जीव को न मारने की भावना एवं तदनुसार क्रिया है। अत: जो हाथी जैसे विशालकाय, विकसित चेतनाशील पंचेन्द्रिय प्राणी को मारता है, वह कथमपि घोर हिंसा-दोष से रहित नहीं माना जा सकता।

2. वर्षभर में एक महाकाय प्राणी का घात करके निर्वाह करने से सिर्फ एक प्राणी का घात नहीं, अपितु उस प्राणी के आश्रित रहने वाले तथा उसके मांस, रक्त, चर्बी आदि में रहने या उत्पन्न होने वाले अनेक स्थावर-त्रस जीवों का घात होता है। इसीलिए पंचेन्द्रिय जीव का वध करने वाले हिंसक, अनार्य एवं नरकगामी हैं। वे स्वपरहितकारी सम्यग् ज्ञान से कोसों दूर हैं। अगर अल्प संख्या में जीवों का वध करने वाले को अहिंसा का आराधक कहा जाएगा, तब तो मर्यादित हिंसा करने वाला गृहस्थ भी पूर्णत: हिंसादोष-रहित माना जाने लगेगा।

3. अहिंसा की पूर्ण आराधना ईर्यासमिति से युक्त भिक्षाचरी के 42 दोषों से रहित भिक्षा द्वारा यथालाभसंतोषपूर्वक निर्वाह करने वाले सम्पूर्ण अहिंसा-महाव्रती भिक्षुओं द्वारा ही हो सकती है।]

○ हिंसा के सम्बन्ध में अन्य तीर्थिकों का अज्ञान

{127}

तए णं ते अन्नउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी- केणं कारणेणं अज्जो! अम्हे तिविहं तिविहेणं जाव एगंतबाला यावि भवामो?

तए णं ते थेरा भगवंतो ते अन्नउत्थिए एवं वयासी- तुब्भे णं अज्जो! रीयं रीयमाणा पुढविं पेच्चेह जाव उवद्दवेह, तए णं तुब्भे पुढविं पेच्चेमाणा जाव उवद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं जाव एगंतबाला यावि भवह।

(व्या. प्र. 8/1/20-21)

(प्रतिप्रश्न-) इस पर उन अन्यतीर्थिकों ने उन स्थविर भगवन्तों से इस

प्रकार पूछा- "आर्यो! हम किस कारण त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत यावत् एकान्तबाल हैं?"

(प्रत्युत्तर-) तब स्थविर भगवन्तों ने उन अन्यतीर्थिकों से यों कहा- "आर्यो! तुम गमन करते हुए पृथ्वीकायिक जीवों को दबाते हो, यावत् मार देते हो। इसलिए पृथ्वीकायिक जीवों को दबाते हुए, यावत् मारते हुए तुम त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत यावत् एकान्तबाल हो।"

[विवेचन-पूर्व चर्चा में निरुत्तर अन्यतीर्थिकों ने पुनः भ्रान्तिवश स्थविरों पर आक्षेप किया कि आप लोग ही असंयत यावत् एकान्तबाल हैं, क्योंकि आप गमनागमन करते समय पृथ्वीकायिक जीवों की विविधरूप से हिंसा करते हैं, किन्तु सुलझे हुए विचारों के निर्ग्रन्थ स्थविरों ने धैर्यपूर्वक उनकी इस भ्रान्ति का निराकरण किया कि हम लोग, काय, योग और ऋत के लिए बहुत ही यतनापूर्वक गमनागमन करते हैं, किसी भी जीव की किसी भी रूप में हिंसा नहीं करते।]

{128}

तए णं ते अन्नउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी- तुब्भे णं अज्जो! रीयं रीयमाणा पुढविं पेच्चेह अभिहणह वत्तेह लेसेह संघाएह संघट्टेह परितावेह किलामेह उवद्दवेह, तए णं तुब्भे पुढविं पेच्चेमाणा जाव उवद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं असंजयअविरय जाव एगंतबाला यावि भवह।

(व्या. प्र. 8/7/18)

[आक्षेप]- तब उन अन्यतीर्थिकों ने स्थविर भगवन्तों से यों कहा- "आर्यो! तुम गमन करते हुए पृथ्वीकायिक जीवों को दबाते (आक्रान्त करते) हो, उन्हें हनन करते हो, पादाभिघात करते हो, उन्हें भूमि के साथ श्लिष्ट (संघर्षित) करते (टकराते) हो, उन्हें एक दूसरे के ऊपर इकट्ठा करते हो, जोर से स्पर्श करते हो, उन्हें परितापित करते हो, उन्हें मारणान्तिक कष्ट देते हो, और उपद्रवित करते-मारते हो। इस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों को दबाते हुए यावत् मारते हुए तुम त्रिविध-त्रिविध रूप से असंयत, अविरत यावत् एकान्तबाल हो।"

{129}

तए णं ते थेरा भगवंतो ते अन्नउत्थिए एवं वयासी–नो खलु अज्जो! अम्हे रीयं रीयमाणा पुढविं पेच्चेमो अभिहणामो जाव उवद्दवेमो, अम्हे णं अज्जो! रीयं रीयमाणा कायं वा जोगं वा रियं वा पडुच्च देसं देसेणं वयामो, पएसं पएसेणं वयामो, तेणं अम्हे देसं देसेणं वयमाणा पएसं पएसेणं वयमाणा नो पुढविं पेच्चेमो अभिहणामो जाव उवद्दवेमो, तए णं अम्हे पुढविं अपेच्चेमाणा अणभिहणेमाणा जाव अणुवद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं संजय जाव एगंतपंडिया यावि भवामो, तुब्भे णं अज्जो! अप्पणा चेव तिविहं तिविहेणं अस्संजय जाव बाला यावि भवह।

(व्या. प्र. 8/7/19)

[प्रतिवाद]– तब उन (श्रमण) स्थविरों ने उन अन्यतीर्थिकों से यों कहा– "आर्यो! हम गमन करते हुए पृथ्वीकायिक जीवों को दबाते (कुचलते) नहीं, हनते नहीं, यावत् मारते नहीं! हे आर्यों! हम गमन करते हुए काय (अर्थात्–शरीर के कार्य–मल–मूत्र त्याग आदि) के लिए, योग (अर्थात्– ग्लान आदि की सेवा) के लिए, ऋत (अर्थात्– सत्य अप्कायादि-जीवसंरक्षणरूप संयम) के लिए एक देश (स्थल) से दूसरे देश (स्थल) में और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाते हैं। इस प्रकार एक स्थल से दूसरे स्थल में और एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाते हुए हम पृथ्वीकायिक जीवों को नहीं दबाते हुए, हनन न करते हुए यावत् नहीं मारते हुए हम त्रिविध संयत, विरत, यावत् एकान्त-पण्डित हैं। किन्तु हे आर्यों! तुम स्वयं त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत, यावत् एकान्तबाल हो।"

○ हिंसा-समर्थक संसारमोचकों के कुतर्क का निराकरण

{130}

अन्ने उ दुहियसत्ता संसारं परिअडंति पावेण।
वावाएयव्वा खलु ते तक्खवणट्ठया विंति ॥

(श्रा.प्र. 133)

अन्य कितने ही वादी (संसार-मोचक) यह कहते हैं कि दुःखी प्राणी चूंकि पाप से संसार में परिभ्रमण करते हैं, अतएव उनका उस पाप के क्षय के निमित्त घात करना चाहिए।

[संसारमोचकों का मत है कि कीट-पतंग आदि दुःखी जीव हैं, वे संसार में परिभ्रमण करते हुए दुःख भोग रहे हैं। उनका वध करने से वे उस दुःख से छुटकारा पा सकते हैं। इस प्रकार मारे जाने पर उनके यद्यपि आर्त एवं

रौद्ररूप दुर्ध्यान हो सकता है, फिर भी चूंकि मार देने पर उनके पाप का क्षय होता है, इसीलिए मारने वाला दोषी नहीं होता, अपितु उनके पाप के क्षय का कारण ही वह होता है। अतः प्रथम अणुव्रत में सामान्य से स्थूल प्राणियों के घात का प्रत्याख्यान न करा कर विशेष रूप में सुखी प्राणियों के ही प्राण-घात का प्रत्याख्यान करना चाहिए। अन्यथा, दुःखी प्राणियों के भी प्राण-घात का परित्याग कराने से वे जीवित रह कर उस पापजनित दुःख को दीर्घकाल तक भोगते रहेंगे, जबकि इसके विपरीत, मारे जाने पर वे उस पाप से छुटकारा पा जाएंगे। इस प्रकार यहां संसारमोचकों ने अपने पक्ष को स्थापित किया है।]

{131}

अन्नाणकारणं जइ तदवगमा चेव अवगमो तस्स।
किं वहकिरियाए तओ विवज्जओ तीइ अह हेऊ॥

(श्रा.प्र. 141)

इस पर वादी (संकट-मोचक) कहता है कि उस कर्म का कारण अज्ञान है। इसके उत्तर में वादी से कहा जाता है कि तब तो उस अज्ञान के विनाश से ही उस कर्म का क्षय हो सकता है, अर्थात् कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है, ऐसा जब न्याय है तब तदनुसार कारणभूत उस अज्ञान के दूर करने से ही कार्यभूत कर्म का विनाश सम्भव है। ऐसी स्थिति में उन दुःखी जीवों का वध करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होने वाला है? उसके वध से कुछ भी लाभ होने वाला नहीं है। इस पर वादी कहता है कि उस वधक्रिया का विपर्यय- उन दुःखी जीवों का वध न करना-ही उस कर्मबंध का कारण है।

{132}

चिट्ठउ ता इह अन्नं तक्खवणे तस्स को गुणो होइ।
कम्मक्खउ त्ति तं तुह किंकारणगं विणिद्दिट्ठं॥

(श्रा.प्र. 140)

(जैनों की ओर से संसार-मोचकों के उक्त मत का निराकरण करने हेतु उन पर आक्षेप) बहुत-सी बातों को छोड़ कर हम वादी से पूछते हैं कि उन दुःखी जीवों के कर्मक्षय में उनका वध करके कर्मक्षय कराने वाले को क्या लाभ है? इसके उत्तर में यदि कहा जाए कि उसको उसके कर्म के क्षय का होना ही लाभ है तो इस पर पुनः प्रश्न है कि तुम्हारे मतानुसार उस कर्म का कारण आगम में क्या निर्दिष्ट किया गया है, जिसका क्षय अभीष्ट है?

{133}

अह सगयं वहणं चिय हेऊ तस्स त्ति किं परवहेणं।
अप्पा खलु हंतव्वो कम्मक्खयमिच्छमाणेणं ॥

(श्रा.प्र. 144)

(आत्मबंध को कर्मक्षय का कारण मानना भी युक्तिसंगत नहीं, इसका स्पष्टीकरण-)

यदि वादी को यह अभीष्ट है कि अपना वध ही उस कर्मक्षय का हेतु है तो वैसी स्थिति में अन्य प्राणियों के वध से क्या प्रयोजन सिद्ध होने वाला है? कुछ भी नहीं, उक्त मान्यता के अनुसार तो कर्मक्षय की इच्छा करने वाले को निश्चय से अपना ही घात करना उचित है, क्योंकि वही तो कर्मक्षय का कारण है।

{134}

मुत्ताण कम्मबंधो पावइ एवं निरत्थगा मुत्ती।
अह तस्स पुन्नबंधो तओ वि न अंतरायाओ ॥

(श्रा.प्र. 142)

यह वादी अवध क्रिया को कर्मबंध का कारण मानता है तो वैसी अवस्था में मुक्त जीवों के कर्मबंध का प्रसंग अनिवार्य रूप से प्राप्त हो जाएगा, क्योंकि उनके द्वारा किसी भी प्राणी का वध नहीं किया जाता है। तब ऐसी स्थिति में मुक्ति निरर्थक हो जाएगी। इसका परिहार करते हुए वादी कहता है कि उस वध-कर्ता द्वारा उन दुःखी जीवों के वध से वधकर्ता को पुण्य का बंध होता है। इसका भी निरसन करते हुए कहा जाता है कि उसके वह पुण्यबंध भी संभव नहीं हैं, क्योंकि इस प्रकार से वह दुःखी जीवों का वध करके उनके पुण्यबंध में अंतराय ही करता है।

{135}

वहमाणो ते नियमा करेइ वहपुन्नमंतरायं से।
ता कह णु तस्स पुन्नं तेसिं क्खवणं व हेऊओ ॥

(श्रा.प्र. 143)

(वह अंतराय कैसे करता है? इसका स्पष्टीकरण-)

कारण इसका यह है कि वह उनका वध करता हुआ उनके अन्य जीवों के वध से होने वाले पुण्य के बंध में अंतराय करता है और तब वैसी स्थिति में-दूसरों के पुण्यबंध में स्वयं अंतराय बन जाने पर-उस वधकर्ता के पुण्य का बंध कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता है। जैसे उनके कर्मक्षय में-जो दूसरों के कर्मक्षय में स्वयं अंतराय करता है, उसके कर्म का क्षय भी जिस प्रकार असंभव है। इस प्रकार वादी ने जिसे पुण्यबंध का हेतु माना है, वह वस्तुतः अहेतु है-उसका हेतु नहीं है।

{136}

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः॥

(पुरु. 4/44/80)

"निश्चय ही धर्म देवों से उत्पन्न होता है, अतः इस लोक में उनके लिये सब कुछ दे देना चाहिए"– ऐसे अविवेक से ग्रसित बुद्धि प्राप्त करके देहधारी जीवों को कोई यदि मारे तो यह उचित नहीं है। (देव/देवी के समक्ष पशुबलि देने को जो अज्ञानी लोग धर्म-कार्य बताते हैं, उनका खण्डन यहां किया गया है।)

{137}

सौख्यार्थे दुःखसन्तानं मङ्गलार्थेऽप्यमङ्गलम्।
जीवितार्थे ध्रुवं मृत्युं कृता हिंसा प्रयच्छति॥

(ज्ञा. 8/21/493)

सुख के लिए की गई हिंसा दुःख की परम्परा बनाती है, मंगलार्थ की गई हिंसा अमंगल ही करती है तथा जीवनार्थ की गई हिंसा मृत्यु को प्राप्त कराती है। इस बात को निश्चित जानना।

{138}

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः॥

(पुरु. 4/43/79)

'भगवान् का कहा हुआ धर्म सूक्ष्म है, अतः धर्म के निमित्त से हिंसा करने में दोष नहीं है-' ऐसी धर्म-सम्बन्धी मूढता को हृदय में रख कर शरीरधारी जीवों को मारना कभी भी उचित नहीं है। (कुछ लोग यज्ञ आदि धार्मिक कार्यों में पशु-वध करने का समर्थन करते हैं। ऐसे लोग पूर्णतः मुग्ध/मूढ हैं, अज्ञानी हैं, उन्हीं लोगों को दृष्टि में रख कर उक्त कथन किया गया है।)

{139}

कुलक्रमागता हिंसा कुलनाशाय कीर्तिता।
कृता च विघ्नशान्त्यर्थं विघ्नौघायैव जायते॥

(ज्ञा. 8/20/492)

कुलक्रम से जो हिंसा चली आई है वह उस कुल को नाश करने के लिये ही कही गई है; तथा विघ्न की शान्ति के लिए जो हिंसा की जाती है, वह भी विघ्नसमूह को बुलाने के लिये ही है।

[कोई कहे कि हमारे कुल में देवी आदि का पूजन चला आता है, अतएव हम बकरे व भैंसे का घात कर देवी को चढ़ाते हैं और इसी से कुल देवी को संतुष्ट हुई मानते हैं और ऐसा करने से कुलदेवी कुल की वृद्धि करती है। इस प्रकार श्रद्धान करके जो बकरे आदि की हिंसा की जाती है वह जैन मतानुसार कुलनाश के लिए ही होती है, कुलवृद्धि के लिए कदापि नहीं। इसी प्रकार, कोई-कोई अज्ञानी विघ्न-शान्त्यर्थ हिंसा करते हैं और यज्ञ कराते हैं, उनको भी उक्त हिंसा-पूर्ण यज्ञ से उलटा विघ्न ही होता है और उनका कभी कल्याण नहीं हो सकता है।]

{140}

विहाय धर्मं शमशीललांछितं दयावहं भूतहितं गुणाकरम्।
मदोद्धता अक्षकषायवञ्चिता दिशन्ति हिंसामपि दु:खशान्तये॥

(ज्ञा. 8/27/499)

जो जीव-हितकारी अनेकानेक गुणों का सागर है, मंदकषाय व उपशम रूप शील ही जिसका चिह्न है, ऐसे दया-धर्म को छोड़ कर, दु:ख की शांति हेतु 'हिंसा' को वे पुरुष ही 'धर्म' कहते हैं, जो गर्व से उद्धत होते हैं और इंद्रियों के विषयों से तथा (रागादि) कषायों से ठगे गये हैं (अर्थात् उनके वशीभूत हैं)।

{141}

देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधभयाय वा।
न हिंस्यात्प्राणिन: सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम्॥

(उपासका. 26/320)

देवता के लिए, अतिथि के लिए, पितरों के लिए, मंत्र की सिद्धि के लिए, औषधि के लिए, अथवा भय से सब प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए। इस अहिंसकता के नियम-धारण को अहिंसाव्रत कहते हैं।

{142}

शान्त्यर्थं देवपूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभिः।
कृतः प्राणभृतां घातः पातयत्यविलम्बितम्॥

(ज्ञा. 8/17/489)

अपनी शान्ति के लिए अथवा देवपूजा के लिए तथा यज्ञ के लिए जो मनुष्य जीवघात (जीव-हिंसा) करते हैं, वह घात उन्हें शीघ्र ही नरक में डालता है।

{143}

तितीर्षति ध्रुवं मूढः स शिलाभिर्नदीपतिम्।
धर्मबुद्धयाऽधमो यस्तु घातयत्यङ्गिसंचयम्॥

(ज्ञा. 8/22/494)

जो मूढ व अधम व्यक्ति धर्म की बुद्धि से जीवों को मारता है, वह पाषाण की शिलाओं पर बैठ कर समुद्र को तैरने की इच्छा करता है, क्योंकि वह निश्चित ही डूबेगा (दुर्गति प्राप्त करेगा)।

{144}

चरुमन्त्रौषधानां वा हेतोरन्यस्य वा क्वचित्।
कृता सती नरैर्हिंसा पातयत्यविलम्बितम्॥

(ज्ञा. 8/26/498)

देवता की पूजा हेतु रखे जाने वाले नैवेद्य तथा मंत्र व औषध के निमित्त अथवा अन्य किसी भी कार्य के लिए की गई हिंसा जीवों को नरक में ले जाती है।

{145}

जेवऽन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंति, तेसिं पि वयं लज्जामो।

(आचा.1/8/1/203)

यदि कोई अन्य व्यक्ति धर्म के नाम पर जीवों की हिंसा करते हैं, तो हमें उन (के दुष्कृत्य) पर लज्जा आती है।

{146}

धर्मबुद्ध्याऽधमै: पापं जन्तुघातादिलक्षणम्।
क्रियते जीवितस्यार्थे पीयते विषमं विषम्॥

(ज्ञा. 8/28/500)

जो पापी व्यक्ति धर्म की बुद्धि से जीवघात रूपी पाप को करते हैं, वे अपने जीवन की इच्छा से मानों हलाहल विष को पीते हैं।

○ **हिंसाः यज्ञ आदि में धर्म-सम्मत नहीं**

{147}

कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं सायं च पायं उदगं फुसन्ता।
पाणाइ भूयाइ विहेडयन्ता भुज्जो वि मन्दा! पगरेह पावं॥

(उत्त. 12/39)

(हरिकेश जैन मुनि द्वारा यज्ञकर्ता ब्राह्मणों को उद्‌बोधन-) ''कुश (डाभ), यूप (यज्ञस्तंभ), तृण, काष्ठ और अग्नि का प्रयोग तथा प्रात: और संध्या में जल का स्पर्श-इस प्रकार तुम मन्द-बुद्धि लोग, प्राणियों और भूत (वृक्षादि) जीवों का विनाश करते हुए पापकर्म कर रहे हो।''

{148}

हिंसारंभो ण सुहो देव-णिमित्तं गुरूण कज्जेसु।

(स्वा. कार्ति. 12/406)

देव के निमित्त से अथवा गुरु के कार्य के निमित्त से भी हिंसा करना पाप ही है, धर्म नहीं है।

{149}

हिंसा पावं ति मदो दया-पहाणो जदो धम्मो॥

(स्वा. कार्ति. 12/406)

हिंसा को पाप कहा है और धर्म को दयाप्रधान कहा है।

{150}

किं जीव-दया धम्मो जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो।
इच्चेवमादि-संका तदकरणं जाण णिस्संका॥
दय-भावो वि य धम्मो हिंसा-भावो ण भण्णदे धम्मो।
इदि संदेहाभावो णिस्संका णिम्मला होदि॥

(स्वा. कार्ति. 12/414-15)

क्या जीव-दया धर्म है अथवा यज्ञ में होने वाली हिंसा में धर्म है, इत्यादि संदेह को शंका कहते हैं। और उसका न करना निःशंका है। 'दयां भाव ही धर्म है, हिंसा भाव को धर्म नहीं कहते' इस प्रकार निश्चय करके सन्देह का न होना ही निर्मल निःशंकित गुण है।

{151}

अण्णो ण हवदि धम्मो हिंसा सुहुमा वि जत्थत्थि।

(स्वा. कार्ति. 12/405)

(क्षमा आदि ही धर्म हैं। इनको छोड़ कर)जिसमें सूक्ष्म भी हिंसा होती है, वह धर्म नहीं है।

{152}

देव-गुरूण णिमित्तं हिंसा-सहिदो वि होदि जदि धम्मो।
हिंसा-रहिदो धम्मो इदि जिण-वयणं हवे अलियं॥

(स्वा. कार्ति. 12/407)

यदि देव और गुरु के निमित्त से हिंसा का आरम्भ करना भी धर्म हो तो जिनेन्द्र भगवान का यह कहना कि 'धर्म हिंसा से रहित है' असत्य हो जायेगा।

{153}

भय-लज्जा-लाहादो हिंसारंभो ण मण्णदे धम्मो।
जो जिण-वयणे लीणो अमूढ-दिट्ठी हवे सो दु॥

(स्वा. कार्ति. 12/418)

भय, लज्जा अथवा लालच के वशीभूत होकर जो हिंसा-मूलक आरम्भ को धर्म नहीं मानता, जिनवचन में लीन उस पुरुष के 'अमूढ़ दृष्टि' अंग होता है।

○ अहिंसक यज्ञ की श्रेष्ठता और उसका आध्यात्मिक स्वरूप

[प्रश्नव्याकरण सूत्र में 'यज्ञ' को अहिंसा का वाचक माना गया है। देखें- इस कोष की सूक्ति संख्या 195; इस अहिंसात्मक यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट करने हेतु विशिष्ट आगमिक वचन यहां प्रस्तुत हैं:-]

{154}

के ते जोई के व ते जोइठाणे का ते सुया किं व ते कारिसंगं।
एहा य ते कयरा सन्ति भिक्खू! कयरेण होमेण हुणासि जोइं॥
तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्म एहा संजमजोग सन्ती होमं हुणामी इसिणं पसत्थं॥

(उत्त. 12/43-44)

('रुद्रदेव' याज्ञिक ब्राह्मण द्वारा हरिकेश मुनि से अध्यात्म-यज्ञ के सम्बन्ध में जिज्ञासा-) "हे भिक्षु! तुम्हारी ज्योति (अग्नि) कौन सी है? ज्योति का स्थान कौन सा है? घृतादि डालने वाली कड़छी कौन है? अग्नि को प्रदीप्त करने वाले करीषांग (कण्डे) कौन से हैं? तुम्हारा ईधन और शांतिपाठ कौन-सा है? और किस होम से-हवन की प्रक्रिया से आप ज्योति को प्रज्वलित करते हैं?"

(हरिकेश मुनि का उत्तर:-) "तप ज्योति है। जीव-आत्मा ज्योति का स्थान है। मन, वचन और काया का योग कड़छी है। शरीर कण्डे हैं। कर्म ईन्धन है। संयम की प्रवृत्ति शांति-पाठ है। ऐसा मैं प्रशस्त यज्ञ करता हूं।"

{155}

सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं इह जीवियं अणवकंखमाणो।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो महाजयं जयई जन्नसिट्ठं॥

(उत्त. 12/42)

"जो पांच संवरों से पूर्णतया संवृत होते हैं, जो जीवन की आकांक्षा नहीं करते हैं, जो शरीर का-अर्थात् शरीर की आसक्ति का परित्याग करते हैं, जो पवित्र हैं, जो विदेह हैं-देह-भाव में नहीं हैं, वे वासना-विजेता महाजयी ही श्रेष्ठ आध्यात्मिक यज्ञ करते हैं।"

{156}

तपोमयः प्रणीतोऽग्निः कर्माण्याहुतयोऽभवन्।
विधिगास्ते सुयज्वानो मन्त्रः स्वायंभुवं वचः॥
महाध्वरपतिर्देवो वृषभो दक्षिणा दया।
फलं कामितसंसिद्धिरपवर्गः क्रियावधिः॥
इतीमामार्षभीमिष्टिमभिसंधाय तेऽञ्जसा।
प्रावीवृतन्ननूचानास्तपोयज्ञमनुत्तरम्॥

(आ.पु. 34/215-217)

जिसमें तपश्चरण ही संस्कार की हुई अग्नि थी, कर्म ही आहुति अर्थात् होम करने योग्य द्रव्य थे, विधिविधान को जानने वाले वे मुनि ही होम करने वाले थे। श्री जिनेन्द्र देव के वचन ही मंत्र थे, भगवान् वृषभदेव ही यज्ञ के स्वामी थे, दया ही दक्षिणा थी, इच्छित वस्तु की प्राप्ति होना ही फल था और मोक्ष प्राप्त होना ही कार्य की अंतिम अवधि थी। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव के द्वारा कहे हुए यज्ञ का संकल्प कर तपस्वियों ने तपरूपी श्रेष्ठ यज्ञ की प्रवृत्ति चलाई थी।

○ हिंसाः अतिथि हेतु भी अधर्म

{157}

दाणट्ठयाय जे पाणा हम्मंति तसथावरा।
तेसिं सारक्खणट्ठाए अत्थि पुण्णं ति णो वए॥

(सू.कृ. 1/11/18)

दान के लिए जो त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं, उनके संरक्षण के लिए 'पुण्य है'- ऐसा (मुनि) न कहे।

{158}

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्॥

(पुरु. 4/45/81)

'पूज्य पुरुषों के लिये बकरे इत्यादि जीवों का घात करने में कोई दोष नहीं है'- ऐसी मान्यता रखते हुए अतिथि अथवा शिष्ट पुरुषों के लिये कोई जीवों का घात करे तो यह उचित नहीं है। (अतिथि तो देवता होता है। उसके लिए, उसकी भूख शान्त करने के लिए, पशु आदि मारना धर्म है- यह धारणा/मान्यता भी पूर्णतः अज्ञान-प्रसूत है।)

○ हिंसाः कोई कुलाचार नहीं

{159}

हिंसा विघ्नाय जायेत विघ्नशान्त्यै कृताऽपि हि।
कुलाचारधियाऽप्येषा कृता कुलविनाशिनी॥

(है. योग. 2/29)

विघ्न की शांति के लिए की हुई हिंसा भी विघ्न के लिए होती है। कुलाचार की बुद्धि से की हुई कुल का विनाश करने वाली ही होती है।

{160}

अपि वंशक्रमायातां यस्तु हिंसां परित्यजेत्।
स श्रेष्ठः सुलस इव कालसौकरिकात्मजः॥

(है. योग. 2/30)

वंश-परम्परा से प्रचलित हिंसा का भी जो त्याग कर देता है, वह कालसौकरिक (कसाई) के पुत्र सुलस के समान श्रेष्ठ पुरुष कहलाने लगता है।

○ जीव-हिंसाः देव-बलि के रूप में निन्दनीय

{161}

देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम्॥

(है. योग. 2/39)

देवों को बलिदान देने (भेंट चढ़ाने) के बहाने अथवा यज्ञ के बहाने जो निर्दय हो कर जीवों को मारते हैं, वे घोर दुर्गति में जाते हैं।

{162}

न हि महिषास्रपानविधिका न हि शूलकरा
न हि सुरदुर्गतावपि परस्परघातकता।

(ह. पु. 49/35)

उत्तम देवगति की बात छोड़िए, निकृष्ट देवगति में भी कोई देव भैंसों का रुधिर पान करने वाले एवं हाथों में त्रिशूल धारण करने वाले नहीं है, और न वे परस्पर एक दूसरे को मारते ही हैं। (अत: उन्हें प्रसन्न करने हेतु पशु-बलि देना अज्ञानपूर्ण ही है।)

○ जीव-हिंसा व मांस-भोजनः श्राद्ध में अमान्य

{163}

इति स्मृत्यनुसारेण पितृणां तर्पणाय या।
मूढैर्विधीयते हिंसा, साऽपि दुर्गतिहेतवे॥

(है. योग. 2/47)

स्मृतिवाक्यानुसार पितरों के तर्पण के लिए मूढ़ व्यक्ति (मांस दान करते हैं और) जो हिंसा करते हैं, वह उनके लिए दुर्गति का कारण ही बनती है।

[स्मृति ग्रंथ के नाम से प्रसिद्ध कुछ ग्रंथों में श्राद्ध आदि धार्मिक कार्यों में मांस दान का समर्थन प्राप्त होता है, जो वस्तुत: प्रक्षिप्त है और अहिंसक परम्परा के प्रतिकूल है। आचार्य हेमचंद्र ने इसी तथ्य को यहां रेखांकित किया है।]

{164}

केचिन्मांसं महामोहादश्नन्ति न परं स्वयम्।
देवपित्रतिथिभ्योऽपि कल्पयन्ति यदूचिरे॥
क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य, परोपहृतमेव वा।
देवान् पितृन् समभयर्च्य, खादन् मांसं न दुष्यति॥

(है. योग. 3/30-31)

कितने ही लोक महामूढ़ता से केवल स्वयं ही मांस खाते हों, इतना ही नहीं, बल्कि देव, पितर आदि पूर्वजों और अतिथि को भी कल्पना करके (पूजा आदि की दृष्टि से) मांस देते या चढ़ाते हैं। क्योंकि उनका कहना है कि 'स्वयं मांस खरीद कर, अथवा किसी जीव को मार कर स्वयं उत्पन्न करके, या दूसरों से (भेंट से) प्राप्त करके उस मांस से देव और पितरों की पूजा करके (देवों और पितरों को चढ़ा कर) बाद में उस मांस को यदि कोई खाता है तो वह व्यक्ति मांसाहार के दोष से दूषित नहीं होता। (उनका उक्त कथन महामोह अर्थात् अज्ञान के कारण है।)'

○ हिंसा के सम्बन्ध में सापेक्ष सिद्धान्त (आगमिक दृष्टि)

{165}

पुरिसे णं भंते! पुरिसं हणमाणे किं पुरिसं हणति, नोपुरिसं हणति?
गोयमा! पुरिसं पि हणति, नोपुरिसे वि हणति।

(व्या. प्र. 9/34/2 (1))

[प्र.] भगवन्! कोई पुरुष, पुरुष का घात करता हुआ क्या पुरुष का ही घात करता है अथवा नोपुरुष (पुरुष के सिवाय अन्य जीवों) का भी घात करता है?

[उ.] गौतम! वह (पुरुष) पुरुष का भी घात करता है और नोपुरुष का भी घात करता है।

{166}

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ 'पुरिसं पि हणइ, नोपुरिसे वि हणइ'?

गोतमा! तस्स णं एवं भवइ– 'एवं खलु अहं एगं पुरिसं हणामि' से एगं पुरिसं हणमाणे अणेगे जीवे हणइ। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ 'पुरिसं पि हणइ नोपुरिसे वि हणति'।

(व्या. प्र. 9/34/2 (2))

[प्र.] भवगन्! किस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि वह पुरुष का भी घात करता है, नोपुरुष का भी घात करता है?

[उ.] गौतम! (घात करने के लिए उद्यत) उस पुरुष के मन में ऐसा विचार होता है कि मैं एक ही पुरुष को मारता हूं, किन्तु वह एक पुरुष को मारता हुआ अन्य अनेक जीवों को भी मारता है। इसी दृष्टि से हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि वह घातक, पुरुष को भी मारता है और नोपुरुष को भी मारता है।

{167}

पुरिसे णं भंते! आसं हणमाणे किं आसं हणइ, नोआसे वि हणइ?

गोयमा! आसं पि हणइ, नोआसे वि हणइ।

(व्या. प्र. 9/34/3)

[प्र.] भगवन्! अश्व को मारता हुआ कोई पुरुष क्या अश्व को ही मारता है या नो-अश्व (अश्व के सिवाय अन्य जीवों को भी) मारता है?

[उ.] गौतम! वह (अश्वघात के लिए उद्यत पुरुष) अश्व को भी मारता है और नो-अश्व अश्व के अतिरिक्त दूसरे जीवों को भी मारता है।

{168}

से केणट्ठेणं? अट्ठो तहेव।

एवं हत्थिं सीहं वग्घं जाव चिल्ललगं।

(व्या. प्र. 9/34/3-4)

[प्र.] भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है?

[उ.] गौतम! इसका उत्तर पूर्ववत् समझना चाहिए।

इसी प्रकार, हाथी, व्याघ्र (बाघ) यावत् चित्रल तक समझना चाहिए।

{169}

पुरिसे णं भंते! अन्नयरं तसपाणं हणमाणे किं अन्नयरं तसपाणं हणइ, नोअन्नयरे तसे पाणे हणइ?

गोयमा! अन्नयरं पि तसपाणं हणइ, नोअन्नयरे वि तसे पाणे हणइ।

(व्या. प्र. 9/34/5(1))

[प्र.] भगवन्! कोई पुरुष किसी एक त्रस प्राणी को मारता हुआ क्या उसी त्रस प्राणी को मारता है, अथवा उसके सिवाय अन्न त्रस प्राणियों को भी मारता है?

[उ.] गौतम! वह उस त्रस प्राणी को भी मारता है और उसके सिवाय अन्य त्रस प्राणियों को भी मारता है।

{170}

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ 'अन्नयरं पि तसपाणं [हणति] नोअन्नयरे वि तसे पाणे हणइ'?

गोयमा! तस्स णं एवं भवइ- एवं खलु अहं एगं अन्नयरं तसं पाणं हणामि, से णं एगं अन्नयरं तसं पाणं हणमाणे अणेगे जीवे हणइ। ते तेणट्ठेणं गोयमा! तं चेव। एए सव्वे वि एक्कगमा।

(व्या. प्र. 9/34/5 (2))

[प्र.] भगवन्! किस हेतु से आप ऐसा कहते हैं कि वह पुरुष उस त्रस जीव को भी मारता है और उसके सिवाय अन्य त्रस जीवों को भी मार देता है।

[उ.] गौतम! उस त्रस जीव को मारने वाले पुरुष के मन में ऐसा विचार होता है कि एक त्रस जीव को मार रहा हूं, किन्तु वह उस त्रस जीव को मारता हुआ, उसके सिवाय अन्य अनेक त्रस जीवों को भी मारता है। इसलिए, हे गौतम! पूर्वोक्तरूप से जानना चाहिए। इन सभी का एक समान पाठ (आलापक) है।

{171}

पुरिसे णं भंते! इसिं हणमाणे किं इसिं हणइ, नोइसिं हणइ?

गोयमा! इसिं पि हणइ नोइसिं पि हणइ।

(व्या. प्र. 9/34/6(1))

[प्र.] भगवन्! कोई पुरुष, ऋषि को मारता हुआ क्या ऋषि को ही मारता है, अथवा नोऋषि को भी मारता है।

[उ.] गौतम! वह (ऋषिको मारने वाला पुरुष)ऋषि को भी मारता है, नो-ऋषि को भी मारता है।

{172}

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ जाव नोइसिं पि हणइ?

गोयमा! तस्स णं एवं भवइ– एवं खलु अहं एगं इसिं हणामि, से णं एगं इसिं हणमाणे अणंते जीवे हणइ से तेणट्ठेणं निक्खेवओ।

(व्या. प्र. 9/34/6 (2))

[प्र.] भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है कि ऋषि को मारने वाला पुरुष ऋषि को भी मारता है और नोऋषि को भी?

[उ.] गौतम! ऋषि को मारने वाले उस पुरुष के मन में ऐसा विचार होता है कि मैं एक ऋषि को मारता हूं, किन्तु वह एक ऋषि को मारता हुआ अनन्त जीवों को मारता है। इस कारण हे गौतम! पूर्वोक्त रूप से कहा गया है।

[विवेचन– प्राणिघात के सम्बन्ध में सापेक्ष सिद्धान्त– (1) कोई व्यक्ति किसी पुरुष को मारता है तो कभी केवल उसी पुरुष का वध करता है, कभी उसके साथ अन्य एक जीव का और कभी अन्य जीवों का वध भी करता है, यों तीन भंग होते हैं, क्योंकि कभी उस पुरुष के आश्रित जूं, लीख, कृमि-कीड़े आदि या रक्त, मवाद आदि के आश्रित अनेक जीवों का वध कर डालता है। शरीर को सिकोड़ने-पसारने आदि में भी अनेक जीवों का वध संभव है।

(2) ऋषि का घात करता हुआ व्यक्ति अनन्त जीवों का घात करता है, यह एक ही भंग है। इसका कारण यह है कि ऋषि-अवस्था में वह सर्वविरत होने से अनन्त जीवों का रक्षक होता है, किन्तु मर जाने पर वह अविरत होकर अनन्त जीवों का घातक बन जाता है। अथवा जीवित रहता हुआ ऋषि अनेक प्राणियों को प्रतिबोध देता है, वे प्रतिबोधप्राप्त प्राणी क्रमशः मोक्ष पाते हैं। मुक्त जीव अनन्त संसारी प्राणियों के अघातक होते हैं। अतः उन अनन्त जीवों की रक्षा में जीवित ऋषि कारण है। इसलिए कहा गया है कि ऋषिघातक व्यक्ति अन्य अनन्त जीवों का घात करता है।]

○ हिंसा-सम्बन्धी दोषः आन्तरिक दुर्भावों के अनुरूप

{173}

सा क्रिया कापि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते।
विशिष्येते परं भावावत्र मुख्यानुषङ्गिकौ॥
अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक्।
अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ॥

(उपासका. 26/340-41)

ऐसी कोई 'क्रिया' नहीं है जिसमें हिंसा नहीं होती। किन्तु हिंसा और अहिंसा के लिए गौण और मुख्य भावों की विशेषता है। संकल्प में भेद होने से धीवर नहीं मारते हुए भी पापी है और किसान मारते हुए भी पापी नहीं है।

(मछली मारने के उद्देश्य/भाव के साथ मछलीमार पानी में जाल डाल कर बैठा है, उस समय कोई मछली जाल में न भी फंसे, फिर भी वह मछलीमार 'हिंसक' है। किन्तु अन्न उपजाने की भावना वाले किसान द्वारा हल चलाते हुए किन्हीं जीवों की हत्या हो भी जाए तो भी वह अहिंसक है।)

{174}

जाणं करेति एक्को, हिंसमजाणमपरो अविरतो य।
तत्थ वि बंधविसेसो, महंतरं देसितो समए॥

(बृ.भा. 3938)

एक असंयमी, जानकर हिंसा करता है और दूसरा अनजाने में। शास्त्र में इन दोनों के हिंसाजन्य कर्मबन्ध में महान् अन्तर बताया है।

{175}

अविधायापि हिं हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येक:।
कृत्वाऽप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात्॥
एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके॥

(पुरु. 4/15/51-52)

वास्तव में एक जीव किसी की हिंसा (द्रव्य-हिंसा) को न करके भी (अन्तरंग में भाव-हिंसा रहने के कारण) हिंसा के फल को भोगने का पात्र बनता है, और दूसरा जीव किसी की हिंसा (द्रव्य-हिंसा) करके भी (अन्तरंग में भाव-हिंसा के- राग आदि के अभाव से) हिंसा के फल भोगने का पात्र नहीं होता है। इसी प्रकार, एक जीव को तो छोटी-सी हिंसा भी उदयकाल में बहुत अधिक फल देती है और दूसरे जीव को अधिक हिंसा भी उदयकाल में बहुत ही थोड़ा फल देने वाली होती है (क्योंकि भाव-हिंसा की तीव्रता या अल्पता ही फल की अधिकता या अल्पता का निर्धारण करती है)।

{176}

एक: करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहव:।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येक:॥

(पुरु. 4/19/55)

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि- द्रव्यहिंसा तो एक जीव करता है, परन्तु भावहिंसा के कारण उसका फल अनेक जीव पाते हैं।

[जैसे- कोई पुरुष अन्य पुरुष को मार रहा है, अन्य दर्शक उसके इस हिंसक कार्य को अच्छा कहते हैं तथा प्रसन्न हो रहे हैं, ऐसी स्थिति में वे सभी दर्शक रौद्र परिणाम करने के कारण पाप-कर्म का बन्ध करते हैं तथा कालान्तर से उसे भोगेंगे।]

इस प्रकार हिंसा एक ने की परन्तु फल अनेक लोगों ने भोगा। जैसे द्रव्यहिंसा अनेक जीव करते हैं, परन्तु भावहिंसा के अभाव में उस हिंसा का फल एक ही जीव भोगता है। *[जैसे- युद्ध में हिंसा तो अनेक सैनिक करते हैं, परन्तु उस हिंसा का फल राज्य के प्रति स्वामित्व-बुद्धि होने के कारण राजा को ही भोगना होगा।]*

इस प्रकार हिंसा अनेक करते हैं परन्तु भोगने वाला एक होता है।

{177}

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्॥

(पुरु. 4/20/56)

(अन्तरंग-परिणामों के अनुरूप हिंसा-फल को प्राप्त करने के कारण) किसी पुरुष को तो हिंसा उदयकाल में एक ही फल देती है और दूसरे किसी को वही हिंसा बहुत अहिंसा का फल देती है।

{178}

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत्॥

(पुरु. 4/21/57)

किसी को अहिंसा का कार्य भी उदयकाल में (अन्तरंग में अशुभ भावों के कारण) हिंसा का फल देता है तथा दूसरे किसी को हिंसा भी (जीव-रक्षा आदि शुभ परिणामों के कारण) अहिंसा का ही फल देती है, और कुछ नहीं।

{179}

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृताऽपि।
आरभ्य कर्तुमकृताऽपि फलति हिंसानुभावेन॥

(पुरु. 4/18/54)

(भाव-हिंसा की प्रधानता के कारण) कोई हिंसा पहले फल देती है, कोई करते-करते फल देती है, कोई कर लेने के बाद फल देती है और कोई हिंसा करने का (संकल्प-रूप) आरम्भ करके न किये जाने पर भी फल देती है।

{180}

जीवहिंसादिसंकल्पैरात्मन्यपि हि दूषिते।
पापं भवति जीवस्य न परं परपीडनात्॥

(पद्म. पं. 6/41)

जब भी मन में जीव-हिंसा का संकल्प आया और आत्मा में कालुष्य/दोष आया, तभी जीव को 'पाप' लग जाता है, न कि प्राणिघात होने के बाद।

{181}

संकल्पाच्छालिमत्स्योऽपि स्वयंभूरमणार्णवे।
महामत्स्याशुभेन स्वं नियोज्य नरकं गतः॥

(ज्ञा. 8/45/517)

देखो, स्वयंभूरमणसमुद्र में शालिमत्स्य महामत्स्य के परिणामों से अपने परिणाम मिला कर नरक को गया।

[अन्य कोई हिंसा करे और कोई उसका अनुमोदन करे तो दोनों को समान पाप होने का यह उदाहरण है।]

{182}

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले॥

(पुरु. 4/17/53)

इसी तरह एक साथ मिल कर की हुई हिंसा भी, फल देने के समय में उदयकाल में इस विचित्रता को प्राप्त होती है कि किसी एक को वही हिंसा तीव्र फल देती है और किसी दूसरे को वही हिंसा मन्दफल देती है।

○ हिंसा-दोषः वध्य जीव की आयु के अनुरूप नहीं

{183}

केइ बालाइवहे बहुतरकम्मस्सुवक्कमाउ त्ति।
मन्नंति पावमहियं बुड्ढाईसुं विवज्जासं॥

(श्रा.प्र. 221)

कितने ही वादी यह मानते हैं कि बाल आदि (बालक, कुमार, युवा और वृद्ध) इनका वध करने पर अधिकाधिक कर्म का उपक्रम होने के कारण क्रम से अधिक पाप होता है (अर्थात् बालक के वध की अपेक्षा कुमार आदि के वध में अधिक पाप लगता है)। इसके विपरीत, वृद्ध आदि (वृद्ध, युवा, कुमार और बालक) इनका वध करने पर अतिशय अल्प कर्म का उपक्रम होने के कारण क्रम से उत्तरोत्तर अल्प पाप होता है।

{184}

एयं पि न जुत्तिखमं जं परिणामाउ पावमिह वुत्तं।
दव्वाइभेयभिन्ना तह हिंसा वन्निया समए॥

(श्रा.प्र. 222)

यह भी-वादी का उपर्युक्त अभिमत भी-युक्तिसंगत नहीं है। कारण इसका यह है कि यहां पाप का उपार्जन व्यक्ति के स्वयं के परिणाम के अनुसार कहा गया है, तथा आगम में हिंसा का वर्णन द्रव्य-क्षेत्रादि के भेद से भिन्न-भिन्न रूप में माना गया है।

[यहां उक्त अभिमत का निराकरण करते हुए कहा गया है कि बालक आदि के वध में अधिक, और वृद्ध आदि के वध में अल्प पाप होता है-यह जो वादी का अभिमत है, युक्तियुक्त नहीं है। इसका कारण यह है कि पाप का जनक संक्लेश है, वह बाल व कुमार आदि के वध में अधिक हो, और वृद्ध व युवा आदि के वध में अल्प हो, ऐसा नियम नहीं है- कदाचित् बालक के वध में अधिक, और कुमार के वध में कम भी संक्लेश हो सकता है। कभी परिस्थिति के अनुसार इसके विपरीत भी वह हो सकता है। इसके अतिरिक्त, आगम में द्रव्य व क्षेत्र आदि के अनुसार हिंसा भी अनेक प्रकार की निर्दिष्ट की गई है। यथा-कोई हिंसा केवल द्रव्य से होती है, भाव के बिना केवल द्रव्य से होती है, वह संक्लेश परिणाम से रहित होने के कारण पाप की जनक नहीं होती। जैसे ईर्यासमिति गमन करते हुए साधु के पांवों के नीचे आ जाने से चींटी आदि क्षुद्र जन्तु का विघात। इसके विपरीत, जो किसी को शत्रु मानकर उसके वध का विचार तो करता है, पर उसका घात नहीं कर पाता। इसमें घात रूप द्रव्य हिंसा के न होने पर भी संक्लेश-परिणामरूप 'भाव हिंसा' के सद्भाव में उसके पाप का संचय अवश्य होता है।]

{185}

इय परिणामा बंधे बालो वुड्ढुत्ति थोवमियमित्थ।
बाले वि सो न तिव्वो कयाइ बुड्ढे वि तिव्वुत्ति॥

(श्रा.प्र. 229)

इस प्रकार- पूर्व प्रदर्शित युक्तिसंगत विचार के अनुसार- परिणाम से बन्ध के सिद्ध होने पर बाल अथवा वृद्ध-यह इस प्रसंग में स्तोक मात्र है- वे हिंसा की हीनाधिकता के कारण नहीं है। कारण यह है कि बालक के वध में भी कदाचित् यह तीव्र संक्लेश परिणाम न हो और कदाचित् वृद्ध के वध में वह तीव्र संक्लेश परिणाम हो यह सब मारने का विचार करने वाले व्यक्तियों के अभिप्राय-विशेष पर निर्भर है।

{186}

तम्हा सव्वेसिं चिय वहंमि पावं अपावभावेहिं।
भणियमहिगाइभावो परिणामविसेसओ पायं॥

(श्रा.प्र. 234)

इसलिए पाप-परिणाम से रहित (वीतराग) जिनदेव के द्वारा बाल व वृद्ध आदि सभी जीवों के वध में पाप कहा गया है। उस पाप की अधिकता आदि का निर्णय प्रायः वधकर्ता के परिणाम-विशेष के अनुसार जानना चाहिए।

[बाल आदि वध में कर्म का अधिक उपक्रम होने से अधिक, और इसके विपरीत वृद्ध आदि के वध में अल्प पाप होता है, इस मान्यता का निराकरण करते हुए यह कहा जा चुका है कि कर्म का बंध वधकर्ता के परिणाम-विशेष के अनुसार होता है, न कि बाल-वृद्धादि अवस्था-विशेष के आधार पर। इन सबका उपसंहार करते हुए यह कहा गया है कि वीतराग जिनेन्द्र ने यह सभी जीवों के वध में पाप बतलाया है। इसमें जो अधिकता और हीनता होती है, वह वधकर्ता के परिणाम-विशेष के अनुसार हुआ करती है-यदि वधकर्ता का परिणाम अतिशय संक्लिष्ट है तो उसमें अधिक पाप होगा और उसका परिणाम मंद संक्लेश रूप है तो पाप कम होगा।]

2

हिंसा-निन्दा एवं अहिंसा-महिमा

○ यज्ञ-हिंसा का समर्थन करने से दुर्गति

(राजा वसु की पौराणिक कथा)

{187}

अजैर्यष्टव्यमित्यत्र धान्यैस्त्रैवार्षिकैरिति।
व्याख्यां छागैरिति परावर्त्यागान्नरकं वसुः॥

(सा. ध. 8/85)

'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेद वाक्य में 'अज' की तीन वर्ष पुराना धान्य-इस व्याख्या को बकरे में बदल देने से राजा वसु नरक में गया।

[अजैर्यष्टव्यम् का अर्थ है- अज से यज्ञ करना चाहिए। यहां अज का अर्थ है- तीन वर्ष पुराना धान। किन्तु राजा वसु ने अज का अर्थ किया- बकरा। उसने बकरे की बलि देकर हिंसक यज्ञ किये जाने का समर्थन किया था। परिणाम स्वरूप उसे नरक गति प्राप्त हुई थी। सम्बद्ध पौराणिक कथा के विस्तार हेतु इस ग्रन्थ के अन्त में देखें- परिशिष्ट- 1]

○ हिंसक यज्ञ की परम्परा का प्रवर्तकः महाकाल असुर

(पौराणिक आख्यान)

{188}

कृत्वा पापमदः क्रुधा पशुवधस्योत्सूत्रमाभूतलं,
हिंसायज्ञमवर्तयत् कपटधीः क्रूरो महाकालकः।
तेनागात्स वसुः सपर्वतखलो घोरां धरां नारकीं,
दुर्मार्गान् दुरितावहान्विदधतां नैतन्महत्पापिनाम्॥

(उ. पु. 67/471)

कपट रूप बुद्धि को धारण करने वाले क्रूरपरिणामी महाकाल असुर ने क्रोधवश

समस्त संसार में शास्त्रों के विरुद्ध और अत्यन्त पाप रूप पशुओं की हिंसा से भरे हिंसामय यज्ञ की प्रवृत्ति चलाई, इसी कारण से वह राजा वसु व दुष्ट पर्वत के साथ घोर नरक में गया, सो ठीक ही है, क्योंकि जो पाप उत्पन्न करने वाले मिथ्यामार्ग चलाते हैं, उन पापियों के लिए नरक जाना कोई बड़ी बात नहीं है।

{189}

व्यामोहात्सुलसाप्रियस्स सुलसः सार्द्धं स्वयं मन्त्रिणाम्,
शत्रुच्छद्मविवेकशून्यहृदयः संपाद्य हिंसाक्रियाम्।
नष्टो गन्तुमधः क्षितिं दुरितिनामक्रूरनाशं मुधा,
दुष्कर्माभिरतस्य किं हि न भवेदन्यस्य चेदृग्विधम्॥

(उ. पु. 67/472)

मोहनीय कर्म के उदय से जिसका हृदय शत्रुओं का छल समझने वाले विवेक से शून्य था, ऐसा राजा सगर रानी सुलसा और विश्वभू मंत्री के साथ स्वयं हिंसामय क्रियाएं कर अधोगति में जाने के लिए नष्ट हुआ। जब राजा की यह दशा हुई तब जो अन्य साधारण मनुष्य अपने क्रूर परिणामों को नष्ट न कर व्यर्थ ही दुष्कर्म में तल्लीन रहते हैं, उनकी क्या ऐसी दशा नहीं होगी? अवश्य होगी।

[महाकाल असुर, राजा वसु, दुष्ट पर्वत, राजा सगर आदि से सम्बद्ध पौराणिक कथा के विस्तृत जानकारी हेतु देखें इस ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट-2]

O हिंसा-समर्थक शास्त्रों के उपदेशक निन्दनीय

{190}

पार्थिवैर्दण्डनीयाश्च लुण्टाकाः पापपण्डिताः।
तेऽमी धर्मजुषां बाह्या ये निघ्नन्त्यघृणाः पशून्॥
पशुहत्यासमारम्भात् क्रव्यादेभ्योऽपि निष्कृपाः।
यद्युच्छ्रितिमुशन्त्येते हन्तैवं धार्मिका हताः॥

(आ. पु. 39/136-37)

जो निर्दय होकर पशुओं का घात करते हैं वे पापरूप कार्यों में पण्डित हैं, लुटेरे हैं, और धर्मात्मा लोगों से बाह्य हैं, ऐसे पुरुष राजाओं के द्वारा दण्डनीय होते हैं। पशुओं की हिसा करने के उद्योग से जो राक्षसों से भी अधिक निर्दय हैं यदि ऐसे पुरुष ही उत्कृष्टता को प्राप्त होते हों तब तो दुःख के साथ कहना पड़ेगा कि बेचारे धर्मात्मा लोग व्यर्थ ही नष्ट हुए।

{191}

सर्वमेधमयं धर्ममभ्युपेत्य पशुघ्नताम्।
का नाम गतिरेषां स्यात् पापशास्त्रोपजीविनाम्॥

(आ. पु. 39/134)

जो समस्त हिंसामय धर्म स्वीकार कर पशुओं का घात करते हैं ऐसे पापशास्त्रों से आजीविका करने वालों की न जाने कौन-सी गति होगी?

O हिंसा के दोष-सूचक विविध नाम

{192}

पाणवहो णाम एसो जिणेहिं भणिओ- १ पावो २ चंडो ३ रुद्दो ४ खुद्दो ५ साहसिओ ६ अणारिओ ७ णिग्घिणो ८ णिस्संसो ९ महब्भओ १० पइभओ ११ अइभओ १२ बीहणओ १३ तासणओ १४ अणज्जओ १५ उव्वेयणओ य १६ णिरवयक्खो १७ णिद्धम्मो १८ णिप्पिवासो १९ णिक्कलुणो २० णिरयवासगमणनिधणो २१ मोहमहब्भयपयट्टओ २२ मरणवेमणस्सो॥

(प्रश्न. 1/1/सू.2)

जिनेश्वर भगवान ने प्राणवध को (इन नामों से) इस प्रकार निर्दिष्ट किया है- जैसे (1) पाप (2) चण्ड (3) रुद्र (4) क्षुद्र (5) साहसिक (6) अनार्य (7) निर्घृण (8) नृशंस (9) महाभय (10) प्रतिभय (11) अतिभय (12) भीषणक (13) त्रासनक (14) अन्याय (15) उद्वेगजनक (16) निरपेक्ष (17) निर्धर्म (18) निष्पिपास (19) निष्करुण (20) नरकवास गमन-निधन (21) मोहमहाभय-प्रवर्तक (22) मरणवैमनस्य।

हिंसा-स्वरूप के सूचक तथा ग्रंथकार द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त कई विशेषण प्रसिद्ध हिंसाप्रवृत्ति के प्रतिपादक हैं, किंतु कई नाम हिंसा की अप्रसिद्ध प्रवृत्ति को भी प्रकाशित करते हैं। इन नामों का अभिप्राय इस प्रकार है-

(1) पाव (पाप)- पापकर्म के बन्ध का कारण होने से यह पाप-रूप है।

(2) चंड- जब जीव कषाय के भड़कने से उग्र हो जाता है, तब प्राणवध करता है, अतएव यह चंड है।

(3) रुद्द (रुद्र)- हिंसा करते समय जीव रौद्र-परिणामी बन जाता है, अतएव हिंसा रुद्र है।

(4) खुद्द (क्षुद्र)– सरसरी तौर पर देखने से क्षुद्र व्यक्ति हिंसक नजर नहीं आता। वह सहिष्णु, प्रतीकार-प्रवृत्ति से शून्य नजर आता है। मनोविज्ञान के अनुसार क्षुद्रता के जनक हैं– दुर्बलता, कायरता एवं संकीर्णता। क्षुद्र व्यक्ति अन्य के उत्कर्ष से ईर्ष्या करता है। प्रतीकार की भावना, शत्रुता की भावना उसका स्थायी भाव है। प्रगति का सामर्थ्य न होने के कारण वह अन्तर्मानस में प्रतिक्रियावादी होता है। प्रतिक्रिया का मूल है– असहिष्णुता। असहिष्णुता व्यक्ति को संकीर्ण बनाती है। अहिंसा का उद्‌गम सर्वजगजीव के प्रति वात्सल्यभाव है और हिंसा का उद्‌गम अपने और परायेपन की भावना से है।

संकीर्णता की विचारधारा व्यक्ति को चिंतन की समदृष्टि से हटा कर व्यष्टि में केन्द्रित करती है। स्वकेन्द्रित विचारधारा व्यक्ति को क्षुद्र बनाती है। क्षुद्र प्राणी इसका सेवन करते हैं। अतएव इसे क्षुद्र कहा गया है।

(5) साहसिक– आवेश में विचारपूर्वक प्रवृत्ति का अभाव होता है। उसमें आकस्मिक अनसोचा काम व्यक्ति कर गुजरता है। उसका स्वनियंत्रण भग्न हो जाता है। उत्तेजक परिस्थिति से प्रवृत्ति गतिशील होती है। विवेक लुप्त होता है। अविवेक का साम्राज्य छा जाता है। विवेक अहिंसा है, अविवेक हिंसा है। साहसिक अविवेकी होता है। इसी कारण उसे हिंसा कहा गया है। **'साहसिकः सहसा अविचार्यकारित्वात्'** अर्थात् विचार किए बिना कार्य कर डालने वाला।

(6) अणारिअ (अनार्य)– अनार्य पुरुषों द्वारा आचरित होने से अथवा हेय प्रवृत्ति होने से इसे अनार्य कहा गया है।

(7) णिग्घिण (निर्घृण)– हिंसा करते समय पाप से घृणा नहीं रहती, अतएव यह निर्घृण है।

(8) णिस्संस (नृशंस)– हिंसा दयाहीनता का कार्य है, प्रशस्त नहीं है, अतएव नृशंस है।

(9,10,11) महब्भअ (महाभय), पइभअ (प्रतिभय), अतिभअ (अतिभय)– कोई यह सोच कर हिंसा करते हैं कि इसने मेरी या मेरे संबंधी की हिंसा की थी या यह मेरी हिंसा करता है अथवा मेरी हिंसा करेगा। तात्पर्य यह है कि हिंसा की पृष्ठभूमि में प्रतीकार के अतिरिक्त भय भी प्रबल कारण है। हिंसा की प्रक्रिया में हिंसक भयभीत रहता है। हिंस्य भयभीत होता है। हिंसा-कृत्य को देखने वाले दर्शक भी भयभीत होते हैं। हिंसा में भय व्याप्त है। हिंसा भय का हेतु है, इसलिए इसे महाभयरूप माना गया है।

हिंसा प्रत्येक प्राणी के लिए भय का कारण है। अतएव प्रतिभय है- 'प्रतिप्राणि भयनिमित्तत्वात्।' हिंसा प्राणवध (मृत्यु) स्वरूप है। प्राणिमात्र को मृत्युभय से बढ़कर अन्य कोई भय नहीं है। अतिभयं- मरण से अधिक या मरण के समान अन्य कोई भय नहीं अतः इसे 'अतिभय' भी कहा जाता है।

(12) **वीहणअ**- भय उत्पन्न करने वाली हिंसा होती है।

(13) **त्रासनक**- हिंसा दूसरों को त्रास या क्षोभ उत्पन्न करने वाली है।

(14) **अन्याय्य**- नीतियुक्त न होने के कारण वह हिंसा अन्याय्य है।

(15) **उद्वेगजनक**- हिंसा हृदय में उद्वेग- घबराहट उत्पन्न करने वाली है।

(16) **निरपेक्ष**- हिंसक प्राणी अन्य प्राणों की अपेक्षा-परवाह नहीं करता-उन्हें तुच्छ समझता है। प्राणहनन करना उसके लिए खिलवाड़ होता है। अतएव उसे निरपेक्ष कहा गया है।

(17) **निर्द्धर्म**- हिंसा धर्म से विपरीत है। भले ही वह किसी लौकिक कामना की पूर्ति के लिए, सद्गति की प्राप्ति के लिए अथवा धर्म के नाम पर की जाए, प्रत्येक स्थिति में वह अधर्म है, धर्म से विपरीत है। अर्थात् हिंसा त्रिकाल में भी धर्म नहीं हो सकती।

(18) **निष्पिपास**- हिंसक के चित्त में हिंस्य के जीवन की पिपासा-इच्छा नहीं होती, अतः हिंसा निष्पिपास कहलाती है।

(19) **निष्करुण**- हिंसक के मन में करुणाभाव नहीं रहता- वह निर्दय हो जाता है, अतएव हिंसा निष्करुण है।

(20) **नरकवासगमन-निधन**- हिंसा नरकगति की प्राप्ति रूप परिणाम वाली है।

(21) **मोहमहाभयप्रवर्त्तक**- हिंसा मूढ़ता एवं परिणाम में घोर भय को उत्पन्न करने वाली प्रसिद्ध है।

(22) **मरणवैमनस्य**- मरण के कारण जीवों में उससे विमनस्कता उत्पन्न होती है।

उल्लिखित विशेषणों के द्वारा सूत्रकार ने हिंसा के वास्तविक स्वरूप को प्रदर्शित करके उसकी हेयता प्रकट की है।

तस्स य णामाणि इमाणि गोण्णाणि होंति तीसं, तं जहा-१ पाणवहं २ उम्मूलणा सरीराओ ३ अवीसंभो ४ हिंसविहिंसा, तहा ५ अकिच्चं च ६ घायणा य ७ मारणा य ८ वहणा ९ उद्दवणा १० तिवायणा य ११ आरंभसमारंभो १२ आउयक्कम्मस्सुवद्दवो भेयणिट्ठवणगालणा य संवट्टगसंखेवो १३ मच्चू १४ असंजमो १५ कडगमद्दणं १६ वोरमणं १७ परभवसंकामकारओ १८ दुग्गइप्पवाओ १९ पावकोवो य २० पावलोभो २१ छविच्छेओ २२ जीवियंतकरणो २३ भयंकरो २४ अणकरो २५ वज्जो २६ परियावणअण्हओ २७ विणासो २८ णिज्जवणा २९ लुंपणा ३० गुणाणं विराहणत्ति विय तस्स एवमाईणि णामधिज्जाणि होंति तीसं, पाणवहस्स कलुसस्स कडुयफल-देसगाइं॥

(प्रश्न. 1/1/सू.3)

प्राणवधरूप हिंसा के विविध आयामों के प्रतिपादक गुणवाचक तीस नाम हैं। जैसे- (1) प्राणवध (2) शरीर से (प्राणों का) उन्मूलन (3) अविश्वास (4) हिंस्य विहिंसा (5) अकृत्य (6) घातना (7) मारण (8) वधना (9) उपद्रव (10) अतिपातना (11) आरम्भ-समारंभ (12) आयुकर्म का उपद्रव, भेद, निष्ठापन, गालना, संवर्तक और संक्षेप (13) मृत्यु (14) असंयम (15) कटक (सैन्य)-मर्दन (16) व्युपरमण (17) परभवसंक्रामणकारक (18) दुर्गतिप्रपात (19) पापकोप (20) पापलोभ (21) छविच्छेद (22) जीवित-अंतकरण (23) भयंकर (24) ऋणकर (25) वज्र (26) परितापन आस्त्रव (27) विनाश (28) निर्यापना (29) लुंपना (30) गुणों की विराधना। प्राणवध के कलुषित फल के निर्देशक ये तीस नाम हैं।

1. **पाणवह** (प्राणवध)- जिस जीव को जितने प्राण प्राप्त हैं, उनका हनन करना।

2. **उम्मूलणा सरीराओ** (उन्मूलना शरीरात्)- जीव को शरीर से पृथक् कर देना- प्राणी के प्राणों का उन्मूलन करना।

3. **अवीसंभ** (अविश्रम्भ)- अविश्वास, हिंसाकारक पर किसी को विश्वास नहीं होता। वह अविश्वासजनक है, अतः अविश्रम्भ है।

4. **हिंसविहिंसा** (हिंस्यविहिंसा)- जिसकी हिंसा की जाती है उसके प्राणों का हनन होता है।

5. **अकिच्चं** (अकृत्यम्)- सत्पुरुषों द्वारा करने योग्य कार्य न होने के कारण प्राणी-वध अकृत्य- कुकृत्य है।

6. **घायणा** (घातना)- प्राणों का घात करना।

7. **मारणा** (मारणा)- हिंसा मरण को उत्पन्न करने वाली होने से मारणा है।

8. **वहना** (वधना)- हनन करना, वध करना।

9. **उद्दवणा** (उपद्रवणा)- अन्य को पीड़ा पहुंचाने के कारण यह उपद्रवरूप है।

10. **तिवायणा** (त्रिपातना)- वाणी एवं काय अथवा देह, आयु और इन्द्रिय- इन तीन का पतन कराने के कारण यह त्रिपातना है। इसके स्थान पर 'निवायणा' पाठ भी है, किंतु अर्थ वही है।

11. **आरंभ-समारंभ** (आरम्भ-समारम्भ)- जीवों को कष्ट पहुंचाने से या कष्ट पहुंचाते हुए उन्हें मारने से हिंसा को आरम्भ-समारम्भ कहा है। जहां आरम्भ-समारम्भ है, वहां हिंसा अनिवार्य है।

12. **आउयक्कम्मस्स-उवद्दवो- भेयणिट्ठवणगालणा य संवट्टगसंखेवो** (आयु:कर्मण: उपद्रव:- भेदनिष्ठापनगालना-संवर्त्तकसंक्षेप:)- आयुष्य कर्म का उपद्रवण करना, भेदन करना अथवा आयु को संक्षिप्त करना- दीर्घकाल तक भोगने योग्य आयु को अल्प समय में भोगने योग्य बना देना।

13. **मच्चू** (मृत्यु)- मृत्यु का कारण होने से अथवा मृत्यु रूप होने से हिंसा मृत्यु है।

14. **असंजमो** (असंयम)- जब तक प्राणी संयमभाव में रहता है, तब तक हिंसा नहीं होती। संयम की सीमा से बाहर- असंयम की स्थिति में ही हिंसा होती है, अतएव वह असंयम है।

15. **कडगमद्दण** (कटकमर्दन)- सेना द्वारा आक्रमण करके प्राणवध करना अथवा सेना का वध करना।

16. **वारमण** (व्युपरमण)- प्राणों से जीव को जुदा करना।

17. **परभवसंकामकारओ** (परभवसंक्रमकारक)- वर्तमान भव से विलग करके परभव में पहुंचा देने के कारण यह परभवसंक्रमकारक है।

18. **दुग्गतिप्पवाओ** (दुर्गतिप्रपात)- हिंसा नरकादि दुर्गति में गिराने वाली है।

19. **पावकोव** (पापकोप)- हिंसा पाप को कुपित- उत्तेजित करने वाली-भड़काने वाली है।

20. **पावलोभ** (पापलोभ)- हिंसा पाप के प्रति लुब्ध करने वाली- प्रेरित करने वाली है।

21. **छविच्छेअ** (छविच्छेद)- हिंसा द्वारा विद्यमान शरीर का छेदन होने से यह छविच्छेद है।

22. **जीवियंतकरण** (जीवितान्तकरण)- हिंसा जीवन का अंत करने वाली है।

23. **भयंकर** (भयङ्कर)- हिंसा भय को उत्पन्न करने वाली है।

24. अणकर (ऋणकर)- हिंसा करना अपने माथे ऋण- कर्ज चढ़ाना है, जिसका भविष्य में भुगतान करते घोर कष्ट सहना पड़ता है।

25. **वज्ज** (वज्र-वर्ज्य)- हिंसा जीव को वज्र की तरह भारी बना कर अधोगति में ले जाती है, अतः वज्र है और आर्य पुरुषों द्वारा त्याज्य होने से वर्ज्य है।

26. **परियावण-अण्हअ** (परितापन-आस्रव)- प्राणियों को परितापना देने के कारण कर्म में आस्रव का कारण है।

27. **विणास** (विनाश)- प्राणों का विनाश करने वाली हिंसा है।

28. **णिज्जवणा** (निर्यापना)- प्राणों की समाप्ति का कारण हिंसा है।

29. **लुंपणा** (लुम्पना)-हिंसा प्राणों का लोप करने में कारण है।

30. **गुणाणं विराहणा** (गुणानां विराधना)- हिंसा मरने और मारने वाले- दोनों के सद्गुणों को विनष्ट करती है, अतः वह गुणविराधनारूप है।

O अहिंसा के प्रशस्त व शुभ नाम

{194}

तत्थ पढमं अहिंसा जा सा सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स भवइ दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा १ णिव्वाणं २ णिव्वुई ३ समाही ४ सत्ती ५ कित्ती ६ कंती ७ रई य ८ विरई य ९ सुयंग १० तित्ती ११ दया १२ विमुत्ती १३ खंती १४ सम्मत्ताराहणा १५ महंती १६ बोही १७ बुद्धी १८ धिई १९ समिद्धी २० रिद्धी २१ विद्धी २२ ठिई २३ पुट्ठी २४ णंदा २५ भद्दा २६ विसुद्धी २७ लद्धी२८ विसिट्ठदिट्ठी २९ कल्लाणं ३० मंगलं ३१ पमोओ ३२ विभूई ३३ रक्खा ३४ सिद्धावासो ३५ अणासवो ३६ केवलीण ठाणं ३७ सिवं ३८ समिई ३९ सीलं ४० संजमो त्ति य ४१ सीलपरिघरो ४२ संवरो य ४३ गुत्ती ४४ ववसाओ ४५ उस्सओ ४६ जण्णो ४७ आययणं ४८ जयणं ४९ अप्पमाओ ५० अस्साओ ५१ वीसाओ ५२ अभओ ५३ सव्वस्स वि अमाघाओ ५४ चोक्ख ५५ पवित्ता ५६ सूई ५७ पूया ५८ विमल ५९ पभासा य ६० णिम्मलयर त्ति एवमाईणि णिययगुणणिम्मियाहं पज्जवणामाणि होंति अहिंसाए भगवईए।

(प्रश्न. 2/1/सू.107)

(पांच संवरद्वारों में) प्रथम संवरद्वार अहिंसा है। अहिंसा के निम्नलिखित नाम हैं-

(1) द्वीप-त्राण-शरण-गति-प्रतिष्ठाः- यह अहिंसा देवों, मनुष्यों और असुरों सहित समग्र लोक के लिए-द्वीप अथवा दीप (दीपक) के समान है-शरणदात्री है और हेयोपादेय का ज्ञान कराने वाली है। त्राण है-विविध प्रकार के जागतिक दुःखों से पीड़ित जनों की रक्षा करने वाली है, उन्हें शरण देने वाली है, कल्याणकारी जनों के लिए गति-गम्य है-प्राप्त करने योग्य है तथा समस्त गुणों एवं सुखों का आधार है।

(2) **निर्वाण**-(मुक्ति का कारण, शान्तिस्वरूपा है।)

(3) **निर्वृति** -(दुर्ध्यानरहित होने से मानसिक स्वस्थतारूप है।)

(4) **समाधि** -(समता का कारण है।)

(5) **शक्ति** -(आध्यात्मिक शक्ति या शक्ति का कारण है। कहीं-कहीं '**सत्ती**' के स्थान पर 'संती' पद मिलता है, जिसका अर्थ है -शान्ति। अहिंसा में परद्रोह की भावना का अभाव होता है, अतएव वह शान्ति भी कहलाती है।)

(6) **कीर्त्ति** -(कीर्ति का कारण है।)

(7) **कान्ति** -(**अहिंसा के आराधक** में कान्ति-तेजस्विता उत्पन्न हो जाती है, अत: वह कान्ति है।)

(8) **रति** -(प्राणीमात्र के प्रति प्रीति, मैत्री, अनुरक्ति - आत्मीयता को उत्पन्न करने के कारण वह रति है।)

(9) **विरति** -(पापों से विरक्ति।)

(10) **श्रुताङ्ग** -(समीचीन श्रुतज्ञान इसका कारण है, अर्थात् सत्-शास्त्रों के अध्ययन-मनन से अहिंसा उत्पन्न होती है, इस कारण इसे श्रुतांग कहा गया है।)

(11) **तृप्ति** -(सन्तोषवृत्ति भी अहिंसा का एक अंग है।)

(12) **दया** -(कष्ट पाते हुए, मरते हुए या दुःखित प्राणियों की करुणाप्रेरित भाव से रक्षा करना, यथाशक्ति दूसरे के दुःख का निवारण करना-यह अहिंसा ही है।)

(13) **विमुक्ति** -(बन्धनों से पूरी तरह छुड़ाने वाली।)

(14) **क्षान्ति** -(क्षमा, यह भी अहिंसारूप है।)

(15) **सम्यक्त्वाराधना** -(सम्यक्त्व की आराधना- सेवना का कारण।)

(16) **महती** -(समस्त व्रतों में महान्-प्रधान-जिनमें समस्त व्रतों का समावेश हो जाए।)

(17) **बोधि** -(धर्म-प्राप्ति का कारण।)

(18) **बुद्धि** –(बुद्धि को सार्थकता प्रदान करने वाली)

(19) **धृति** –(चित्त की धीरता-दृढता।)

(20) **समृद्धि**–(सब प्रकार की सम्पन्नता से युक्त-जीवन को आनन्दित करने वाली।)

(21) **ऋद्धि**–(लक्ष्मी-प्राप्ति का कारण।)

(22) **वृद्धि**–(पुण्य-धर्म की वृद्धि करना।)

(23) **स्थिति** –(मुक्ति में प्रतिष्ठित करने वाली।)

(24) **पुष्टि** –(पुण्यवृद्धि से जीवन को पुष्ट बनाने वाली अथवा पाप का अपचय कर के पुण्य का उपचय करने वाली।)

(25) **नन्दा**–(स्व और पर को आनन्द-प्रमोद प्रदान करने वाली।)

(26) **भद्रा** –(स्व का और पर का भद्र-कल्याण करने वाली।)

(27) **विशुद्धि**–(आत्मा को विशिष्ट शुद्ध बनाने वाली।)

(28) **लब्धि** –(केवलज्ञान आदि लब्धियों का कारण।)

(29) **विशिष्ट दृष्टि** –(विचार और आचार में अनेकान्तप्रधान दर्शन वाली।)

(30) **कल्याण** –(कल्याण या शरीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का कारण।)

(31) **मंगल** –(पाप-विनाशिनी, सुख उत्पन्न करने वाली, भव-सागर से तारने वाली।)

(32) **प्रमोद** –(स्व-पर को हर्ष उत्पन्न करने वाली।)

(33) **विभूति** –(आध्यात्मिक ऐश्वर्य का कारण।)

(34) **रक्षा** –(प्राणियों को दु:ख से बचाने की प्रकृतिरूप, आत्मा को सुरक्षित बनाने वाली।)

(35) **सिद्धावास** –(सिद्धों में निवास कराने वाली, मुक्तिधाम में पहुंचाने वाली, मोक्षहेतु।)

(36) **अनास्रव** –(आते हुए कर्मों का निरोध करने वाली।)

(37) **केवलि-स्थान** –(केवलियों के लिए स्थानरूप।)

(38) **शिव** –(सुख-स्वरूप, उपद्रवों का शमन करने वाली।)

(39) **समिति** –(सम्यक् प्रवृत्ति।)

(40) **शील** –(सदाचार स्वरूपा, समीचीन आचार।)

(41) **संयम** –(मन और इन्द्रियों का निरोध तथा जीवरक्षा रूप।)

(42) **शीलपरिग्रह** –(सदाचार अथवा ब्रह्मचर्य के घर-चारित्र का स्थान।)

(43) **संवर** –(आस्रव का निरोध करने वाली।)

(44) **गुप्ति** –(मन, वचन, काय की असत् प्रवृत्ति को रोकना।)

(45) **व्यवसाय** –(विशिष्ट-उत्कृष्ट निश्चय रूप।)

(46) **उच्छ्रय** –(प्रशस्त भावों की उन्नति–वृद्धि, समुदाय।)

(47) **यज्ञ** –(भावदेवपूजा अथवा यत्न-जीव-रक्षा में सावधानतास्वरूप)

(48) **आयतन** –(समस्त गुणों का स्थान।)

(49) **अप्रमाद** –(प्रमाद–लापरवाही आदि का त्याग।)

(50) **आश्वास** –(प्राणियों के लिए आश्वासन–तसल्ली।)

(51) **विश्वास** –(समस्त जीवों के विश्वास का कारण।)

(52) **अभय** –(प्राणियों को निर्भयता प्रदान करने वाली, स्वयं आराधक को भी निर्भय बनाने वाली।)

(53) **सर्वस्य अमाघात** –(प्राणिमात्र की हिंसा का निषेध अथवा अमारी-घोषणास्वरूप।)

(54) **चोक्ष** –(चोखी, शुद्ध, भली प्रतीत होने वाली।)

(55) **पवित्रा** –(अत्यन्त पावन–वज्र सरीखे घोर आघात से भी त्राण करने वाली।)

(56) **शुचि** –(भाव की अपेक्षा शुद्ध–हिंसा आदि मलिन भावों से रहित, निष्कलंक।)

(57) **पूता** –(पूजा, विशुद्ध भाव से देवपूजारूप।)

(58) **विमला** –(स्वयं निर्मल एवं निर्मलता का कारण।)

(59) **प्रभासा** –(आत्मा को दीप्ति प्रदान करने वाली, प्रकाशमय।)

(60) **निर्मलतरा** –(अत्यन्त निर्मल अथवा आत्मा को अतीव निर्मल बनाने वाली।) इत्यादि (पूर्वोक्त तथा इसी प्रकार के अन्य) स्वगुणनिष्पन्न–अपने गुणों से निष्पन्न हुए नाम (60 नाम) अहिंसा भगवती के हैं।

○ हिंसा-निन्दा, हिंसा-त्याग एवं अहिंसा-अनुष्ठान के प्रतिपादक उपदेश

{195}

स्वकीयं जीवितं यद्वत्सर्वस्य प्राणिनः प्रियम्।
तद्वदेतत्परस्यापि ततो हिंसां परित्यजेत्॥

(उपासका. 24/292)

जिस प्रकार सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, उसी तरह दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है। इस लिए हिंसा को छोड़ देना चाहिए।

{196}

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

(उपासका. 23/282)

जो काम स्वयं के लिए प्रतिकूल हों, दुःखकारक हों, उन कामों को दूसरों के के लिए भी नहीं करना चाहिए।

{197}

हिंसादिदोसमगरादिसावदं दुविहजीवबहुमच्छं।
जाइजरामरणोदयमणेयजादीसदुम्मीयं ॥

(भग. आ. 1765)

उस संसार-रूपी समुद्र में हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहरूपी मगर आदि क्रूर जन्तु रहते हैं। स्थावर और जंगम जीवरूप बहुत से मच्छ हैं। जाति अर्थात् नया शरीर धारण करना, जरा अर्थात् वर्तमान शरीर के तेज-बल आदि में कमी होना, मरण अर्थात् शरीर का त्याग। ये जाति, जरा, और मरण उस (समुद्र) के उठाव हैं तथा अनेक जीव-जातियां/उपजातियां उसमें तरंगें हैं।

{198}

सव्वे वि य संबंधा पत्ता सव्वेण सव्वजीवेहिं।
तो मारंतो जीवो संबंधी चेव मारेइ॥

(भग. आ. 792)

सब जीवों के साथ सब जीवों के सब प्रकार के सम्बन्ध पूर्वभवों में रहे हैं। अत: उनको मारने वाला अपने सम्बन्धी को ही मारता है और सम्बन्धी को मारना लोक में अत्यन्त निन्दित माना जाता है।

{199}

रुट्ठो परं वधित्ता सयंपि कालेण मरइ जंतेण।
हदघादयाण णत्थि विसेसो मुत्तूण तं कालं॥

(भग. आ. 796)

क्रोधी मनुष्य दूसरे को मार कर समय आने पर स्वयं भी मर जाता है। अत: मरने-वाले और मारने वाले में काल के सिवाय अन्य भेद नहीं है। पहले वह जिसे मारता है वह मरता है और पीछे स्वयं भी मरता है।

{200}

तेलोक्कजीविदादो वरेहि एक्कदरमत्ति देवेहिं।
भणिदो को तेलोक्कं वरिज्ज संजीविदं मुच्चा॥
जं एवं तेलोक्कं णग्घदि सव्वस्स जीविदं तम्हा।
जीविदघादो जीवस्स होदि तेलोक्कघादसमो॥

(भग. आ. 781-782)

(टीका) त्रैलोक्यजीवितयोरेकं गृहाणेति देवैश्चोदित: कस्त्रैलौक्यं वृणीते स्वजीवितं त्यक्त्वा, जीवनमेव ग्रहीतुं वाञ्छति। यस्मादेवं त्रैलोक्यस्य मूल्यं जीवितं सर्वप्राणिनस्तस्माज्जीवितघात:। .... जीवस्य हंतुस्त्रैलोक्यघातसमो महान्दोषो भवतीति यावत्॥

(भग. आ. विजयो. 781-782)

(गाथा एवं टीका का भावार्थ-) तीनों लोकों और जीवन में से एक को स्वीकार करो? ऐसा देवों के द्वारा कहे जाने पर कौन प्राणी अपना जीवन त्याग कर तीनों लोकों को ग्रहण करेगा? इस प्रकार सब प्राणियों के जीवन का मूल्य तीनों लोक है। अत: जीव का घात करने वालों को तीनों लोकों का घात करने के समान दोष होता है।

{201}

सकलजलधिवेलावारिसीमां धरित्रीम्,
नगरनगसमग्रां स्वर्णरत्नादिपूर्णाम्।
यदि मरणनिमित्ते कोऽपि दद्यात्कथंचित्,
तदपि न मनुजानां जीविते त्यागबुद्धि:॥

(ज्ञा. 8/34/506)

यदि कोई किसी मनुष्य को उसके मर जाने के बदले में नगर, पर्वत तथा सुवर्ण, रत्न, धन,धान्य आदि से भरी हुई समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का भी दान करे, तो भी अपने जीवन को त्याग करने में उसकी इच्छा नहीं होगी।

{202}

सप्तद्वीपवतीं धात्रीं कुलाचलसमन्विताम्।
नैकप्राणिवधोत्पन्नं दत्त्वा दोषं व्यपोहति॥

(ज्ञा. 8/33/505)

यदि कुलाचल पर्वतों के सहित सात द्वीपों वाली पृथ्वी भी दान कर दी जाय तो भी एक प्राणी को मारने का पाप दूर नहीं हो सकता है।

{203}

प्राणी प्राणातिलोभेन यो राज्यमपि मुञ्चति।
तद्वधोत्थमघं सर्वोर्वीदानेऽपि न शाम्यति॥

(है. योग.2/22)

यह जीव जीने के लोभ से राज्य का भी त्याग कर देता है। उस जीव का वध करने से उत्पन्न हिंसा के पाप का शमन (पाप से छुटकारा) सारी पृथ्वी का दान करने पर भी नहीं हो सकता।

{204}

जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया।
विसकंटओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि॥

(भग. आ. 793)

जीवों का घात अपना ही घात है। और जीवों पर की गई दया अपने पर ही की गई दया है। जो एक बार एक जीव का घात करता है वह स्वयं अनेक जन्मों में मारा जाता है। और जो एक जीव पर दया करता है वह स्वयं अनेक जन्मों में दूसरे जीवों के द्वारा रक्षित होता है। इसलिए दु:ख से डरने वाले मनुष्य को विषैले कांटे की तरह हिंसा से बचना चाहिए।

{205}

मारेदि एयमवि जो जीवं सो बहुसु जम्मकोडीसु।
अवसो मारिज्जंतो मरदि विधाणेहिं बहुएहिं॥

(भग. आ. 798)

जो एक भी जीवों को मारता है, वह करोड़ों जन्मों में परवश होकर अनेक प्रकार से मारा जाकर मरता है।

{206}

वने निरपराधानां वायु-तोय-तृणाशिनाम्।
निघ्नन् मृगाणां मांसार्थी, विशिष्येत कथं शुनः॥

(है. योग.2/23)

वन में रहने वाले, वायु, जल व हरी घास का सेवन करने वाले निरपराध, वनचारी हिरणों को जो मारता है, उसमें मांसार्थी कुत्ते से अधिक क्या विशेषता है? अर्थात् दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

{207}

प्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि देही भवति दुःखितः।
मार्यमाणः प्रहरणैर्दारुणैः, स कथं भवेत्?॥

(है. योग.2/26)

अरे! मर जा तू! इतना कहने मात्र से भी जब जीव दुःखी जो जाता है तो भयंकर हथियारों से मारे जाते हुए जीवों को कितना दुःख होता होगा?

{208}

दीर्यमाणः कुशेनापि यः स्वांगे हन्त! दूयते।
निर्मन्तून् स कथं जन्तूनन्तयेन्निशितायुधैः॥
निर्मातुं क्रूरकर्म्माणः क्षणिकामात्मनो धृतिम्।
समापयन्ति सकलजन्मान्यस्य शरीरिणः॥

(है. योग. 2/24-25)

अपने शरीर के किसी भी अंग में यदि डाभ की जरा-सी नोक भी चुभ जाय तो उससे मनुष्य दुःखी हो उठता है। अफसोस है, वह तीखे हथियारों से निरपराध जीवों का प्राणान्त कैसे कर डालता है? उस समय वह उससे खुद को होने वाली पीड़ा का विचार क्यों नहीं करता? क्रूर कर्म करने वाले शिकारी अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए दूसरे जीव के समस्त जन्मों का नाश कर देते हैं।

{209}

दूयते यस्तृणेनापि स्वशरीरे कदर्थिते।
स निर्दयः परस्याङ्गे कथं शस्त्रं निपातयेत्॥

(ज्ञा. 8/47/519)

जो मनुष्य अपने शरीर में तिनका चुभने पर भी अपने को दुःखी हुआ मानता है, वह निर्दय होकर दूसरे शरीर पर शस्त्र कैसे चलाता है?

{210}

स्वपुत्रपौत्रसन्तानं वर्द्धयन्त्यादरैर्जनाः।
व्यापादयन्ति चान्येषामत्र हेतुर्न बुद्ध्यते॥

(ज्ञा. 8/39/511)

यहा बड़ा आश्चर्य है कि अपने पुत्रपौत्रादि सन्तान को तो लोग बड़े यत्न से पालते और बढ़ाते हैं परन्तु दूसरों की सन्तान का घात करते हैं। न जाने, इसमें क्या हेतु है?

{211}

भयवेपितसर्वाङ्गाननाथान्   जीवितप्रियान्।
निघ्नद्भिः प्राणिनः किं तैः स्वं ज्ञातमजरामरम्॥

(ज्ञा. 8/38/510)

जिनके सब अंग भय से कंपित हैं, जिनका कोई रक्षक नहीं, जो अनाथ हैं, जिनके लिए जीवन ही एकमात्र प्रिय वस्तु है, ऐसे प्राणियों को जो मारते हैं उन्होंने क्या अपने को अजरामर जान लिया है?

{212}

तनुरपि यदि लग्ना कीटिका स्याच्छरीरे,
भवति तरलचक्षुर्व्याकुलो यः स लोकः।
कथमिह   मृगयाप्तानन्दमुत्खातशस्त्रः,
मृगमकृतविकारं ज्ञातदुःखोऽपि हन्ति॥

(पद्म. पं. 1/26)

अपने शरीर में (छोटी-सी जन्तु) चींटी भी लग जाय (और काट ले) तो लोग व्याकुल हो जाते हैं आंखें तरल/सार्द्र हो जाती हैं, उक्त दुःख की अनुभूति कर लेने के बाद भी वे लोग, शिकार खेलने के आनन्द में मग्न होकर हाथ में शस्त्र उठाकर, उस (बेचारे) मृग को भी मारते हैं जो क्रोधादि-विकार से रहित-निरपराध होता है।

{213}

चिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं चिट्ठं परिविचिट्ठति। अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं णो चिट्ठं परिविचिट्ठति।

एगे वदंति अदुवा वि णाणी, णाणी वदंति अदुवा वि एगे।

आवंती केआवंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवादं वदंति "से दिट्ठं च णे, सुयं च णे, मयं च णे, विण्णायं च णे, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वतो सुपडिलेहियं च णे-सव्वे पाणा सव्वे जीवा सव्वे भूता सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेतव्वा, परिघेत्तव्वा, परितावेतव्वा, उद्दवेतव्वा। एत्थ वि जाणह णत्थेत्थ दोसो"- अणारियवयणमेयं।

तत्थ जे ते आरिया ते एवं वयासी-"से दुद्दिट्ठं च भे, दुस्सुयं च भे, दुम्मयं च भे, दुव्विण्णायं च भे, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वतो दुप्पडिलेहितं च भे, जं

णं तुब्भे एवं आचक्खह, एवं भासह, एवं पण्णवेह, एवं परूवेह-सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेतव्वा, परिघेत्तव्वा, परितावेयव्वा, उद्दवेतव्वा। एत्थ वि जाणह णत्थेत्थ दोसो''- अणारियवयणमेयं।

वयं पुण एवमाचिक्खामो, एवं भासामो, एवं पण्णवेमो, एवं परूवेमो-'सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेतव्वा, ण परिघेत्तव्वा, ण परियावेयव्वा, ण उद्दवेतव्वा। एत्थ वि जाणह णत्थेत्थ दोसो।'-आरियवयणमेयं।

पुव्वं णिकाय समयं पत्तेयं पुच्छिस्सामो-हं भो पावादुया! किं भे सायं दुक्खं उताहु असायं? समिता पडिवण्णे या वि एवं बूया-सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति त्ति बेमि।

(आचा. 1/4/2 सू. 135-139)

जो व्यक्ति अत्यन्त गाढ़ अध्यवसायवश क्रूर कर्मों में प्रवृत्त होता है, वह (उन क्रूर कर्मों के फलस्वरूप) अत्यन्त प्रगाढ़ वेदना वाले स्थान में पैदा होता है। जो गाढ़ अध्यवसाय वाला न होकर, क्रूर कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता, वह प्रगाढ़ वेदना वाले स्थान में उत्पन्न नहीं होता।

यह बात चौदह पूर्वों के धारक श्रुतकेवली आदि कहते हैं या केवलज्ञानी भी कहते हैं। जो यह बात केवलज्ञानी कहते हैं वही श्रुतकेवली भी कहते हैं।

इस मत-मतान्तरों वाले लोक में जितने भी, जो भी श्रमण या ब्राह्मण हैं, वे परस्पर-विरोधी भिन्न-भिन्न मतवादों (विवादों) का प्रतिपादन करते हैं। जैसे कि कुछ मतवादी कहते हैं-''हमने यह देख लिया है, सुन लिया है, मनन कर लिया है, और विशेष रूप से जान भी लिया है,(इतना ही नहीं), ऊंची, नीची और तिरछी सभी दिशाओं में सब तरह से भली-भांति इसका निरीक्षण भी कर लिया है कि सभी प्राणी, सभी जीव, सभी भूत और सभी सत्त्व हनन करने योग्य हैं, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हें प्राणहीन बनाया जा सकता है। इसके सम्बन्ध में यही समझ लो कि (इस प्रकार से) हिंसा में कोई दोष नहीं है।''- यह अनार्य (पाप-परायण)लोगों का कथन है।

इस जगत् में जो भी आर्य-पाप कर्मों से दूर रहने वाले हैं, उन्होंने ऐसा कहा है- ''ओ हिंसावादियों! आपने दोषपूर्ण देखा है, दोषयुक्त सुना है, दोष-युक्त मनन किया है, आपने दोषयुक्त ही समझा है, ऊंची-नीची-तिरछी सभी दिशाओं में सर्वथा दोषपूर्ण होकर निरीक्षण किया है, जो आप ऐसा कहते हैं, ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा प्रज्ञापन करते हैं, ऐसा प्ररूपण (मत-प्रस्थान) करते हैं कि सभी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व हनन करने योग्य हैं, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हें बलात् पकड़ कर दास बनाया जा सकता है, उन्हें

परिताप दिया जा सकता है, उनको प्राणहीन बनाया जा सकता है, इस विषय में यह निश्चित समझ लो कि हिंसा में कोई दोष नहीं है।''- यह सरासर अनार्य-वचन है।

हम इस प्रकार कहते हैं, ऐसा ही भाषण करते हैं, ऐसा ही प्रज्ञापन करते हैं, ऐसा ही प्ररूपण करते हैं, कि सभी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों की हिंसा नहीं करनी चाहिए, उनको जबरन शासित नहीं करना चाहिए, उन्हें पकड़ कर दास नहीं बनाना चाहिए, न ही परिताप देना चाहिए और न उन्हें डराना-धमकाना, तथा प्राण-रहित करना चाहिए। इस सम्बन्ध में निश्चित समझ लो कि अहिंसा का पालन सर्वथा दोष-रहित है। यह (अहिंसा का प्रतिपादन) आर्यवचन है।

पहले उनमें में प्रत्येक दार्शनिक को, जो-जो उसका सिद्धान्त है, उसमें व्यवस्थापित कर हम पूछेंगे-''हे दार्शनिकों! प्रखरवादियों! आपको दुःख प्रिय है या अप्रिय? यदि आप कहें कि हमें दुःख प्रिय है, तब तो वह उत्तर प्रत्यक्ष-विरुद्ध होगा, यदि आप कहें कि हमें दुःख प्रिय नहीं है, तो आपके द्वारा इस सम्यक् सिद्धान्त के स्वीकार किए जाने पर हम आपसे यह कहना चाहेंगे कि, जैसे आपको दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सभी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को दुःख असाताकारक है, अप्रिय है, अशान्तिजनक है और महाभयंकर है।''-ऐसा मैं कहता हूं।

{214}

एइंदियादिपाणा पंचविहावज्जभीरुणा सम्मं।
ते खलु ण हिंसिदव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ॥

(मूला. 4/289)

एकेन्द्रिय आदि जीव पांच प्रकार के होते हैं। पापभीरु को सम्यक् प्रकार से मन-वचन-काय पूर्वक सर्वत्र उन जीवों की निश्चितरूप से हिंसा नहीं करनी चाहिए।

{215}

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा॥

(पुरु. 4/24/60)

'संवर' (कर्म- आगमन/बंधन के रोकने)में उद्यमी पुरुषों को चाहिए कि वे हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा के फलों को यथार्थ रीति से जान कर हिंसा को सर्वदा के लिए यथाशक्ति छोड़ दें।

{216}

दु:खमुत्पद्यते जन्तोर्मन: संक्लिश्यतेऽस्यते।
तत्पर्यायश्च यस्यां सा हिंसा हेया प्रयत्नत:॥

(सा. ध. 4/13)

जिस हिंसा में जीव को दु:ख उत्पन्न होता है, उसके मन में संक्लेश होता है, और उसकी वर्तमान पर्याय छूट जाती है, उस हिंसा को पूरे प्रयत्न से छोड़ना चाहिए।

{217}

अविरमणं हिंसादी पंचवि दोसा हवंति णादव्वा।

(मूला. 4/238)

हिंसा (असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य व परिग्रह) आदि पांचों ही 'अविरति' रूप हैं और दोष (पाप) रूप हैं, ऐसा जानना चाहिए।

{218}

मिथ्यादर्शनमात्मस्थं हिंसाद्यविरतिस्तथा।
प्रमादश्च कषायश्च योगो बन्धस्य हेतव:॥

(ह. पु. 58/192)

आत्मपरिणामों में स्थित मिथ्यादर्शन, हिंसा आदि अविरति, प्रमाद, कषाय और योग- ये (अशुभ कर्म-) बन्ध के कारण हैं।

{219}

स्वान्ययोरप्यनालोक्य सुखं दु:खं हिताहितम्।
जन्तून् य: पातकी हन्यात्स नरत्वेऽपि राक्षस:॥

(ज्ञा. 8/50/522)

जो पापी नर अपने और अन्य के सुख-दु:ख वा हित-अहित को न विचार कर जीवों को मारता है, वह मनुष्य-जन्म में भी राक्षस है। (क्योंकि मनुष्य होता तो अपने वा पराये का हिताहित तो विचारता।)

{220}

हिंसादिएहिं पंचहि आसवदारेहिं आसवदि पावं।
तेहिं तु धुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे॥

(मूला. 8/738)

हिंसा आदि आस्रव-द्वार से पाप का आना होता है। उनसे निश्चित ही विनाश होता है। जैसे जल के आस्रव के कारण नौका समुद्र में डूब जाती है।

{221}

एतेसु बाले य पकुव्वमाणे आवट्टती कम्मसु पावएसु।
अतिवाततो कीरति पावकम्मं णिउंजमाणे उ करेइ कम्मं॥

(सू.कृ. 1/10/5)

अज्ञानी मनुष्य इन (दुःखी जीवों) में (वध आदि का प्रयोग) करता हुआ पाप-कर्मों के आवर्त्त में फंस जाता है। वह स्वयं प्राणों का अतिपात कर पाप-कर्म करता है और दूसरों को (प्राणों के अतिपात में) नियोजित करके भी पाप-कर्म करता है।

{222}

आवंती केआवंती लोयंसि विप्परामुसंति अट्ठाए अणट्ठाए वा एतेसु चेव विप्परामुसंति।

गुरू से कामा। ततो से मारस्स अंतो। जतो से मारस्स अंतो ततो से दूरे।

(आचा. 1/5/1 सू. 147)

इस लोक (जीव-लोक) में जितने भी (जो भी) कोई मनुष्य सप्रयोजन (किसी कारण से) या निष्प्रयोजन (बिना कारण) जीवों की हिंसा करते हैं, वे उन्हीं जीवों (षड्जीवनिकायों) में विविध रूप में उत्पन्न होते हैं।

उनके लिए शब्दादि काम (विपुल विषयेच्छा)का त्याग करना बहुत कठिन होता है। इसलिए (षड्जीवनिकाय-वध तथा विशाल काम-भोगेच्छाओं के कारण) वह मृत्यु की पकड़ में रहता है, इसलिए अमृत (परमपद) से दूर होता है।

{223}

कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति, मोहेण गब्भं मरणाइ एति। एत्थ मोहे पुणो पुणो।

(आचा. 1/5/1 सू. 148)

(अज्ञान के कारण) वह बाल-अज्ञानी (कामना के वश हुआ) हिंसादि क्रूर कर्म उत्कृष्ट रूप से करता हुआ (दुःख को उत्पन्न करता है।) तथा उसी दुःख से उद्विग्न होकर वह मूढ़ विपरीत दशा (सुख के स्थान पर दुःख) को प्राप्त होता है। उस मोह (मिथ्यात्व-कषाय-विषय-कामना) से (उद्भ्रान्त होकर कर्मबन्धन करता है, जिसके फलस्वरूप) बार-बार गर्भ में आता है, जन्म-मरणादि पाता है। इस (जन्म-मरण की परम्परा) में (मिथ्यात्वादि के कारण) उसे बारम्बार मोह (व्याकुलता) उत्पन्न होता है।

{224}

जइ मज्झ कारणा एए हम्मिहिंति बहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविस्सई॥

(उत्त. 22/19)

(विवाह में वध-हेतु संगृहीत पशुओं को देखकर अरिष्टनेमि का विचार-मन्थन-) "यदि मेरे निमित्त से इन बहुत से प्राणियों का वध होता है, तो यह परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा।"

{225}

वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोच्चाटनं तथा।
इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैर्दुष्टचेष्टितैः।
आत्मानमपि न ज्ञातुं नष्टं लोकद्वयं च तैः॥

(ज्ञा. 4/50-53/341,344)

वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन इत्यादि विकृत कार्यों में अनुरक्त होकर दुष्ट चेष्टा करने वाले जो पुरुष हैं, उन्होंने आत्मज्ञान से हाथ धो लिया है और अपने दोनों लोकों का कार्य भी नष्ट किया है- ऐसे पुरुषों को न तो कभी आत्म-ज्ञान हो सकता है और इस लोक व परलोक में भी हित-सिद्धि नहीं होती है।

{226}

तपोयमसमाधीनां ध्यानाध्ययनकर्मणाम्।
तनोत्यविरतं पीडां हृदि हिंसा क्षणस्थिता॥

(ज्ञा. 8/14/486)

हृदय में क्षणभर भी स्थान पाई हुई यह हिंसा तप, यम, समाधि और ध्यानाध्ययनादि कार्यों को निरंतर पीड़ा देती है अर्थात् उन्हें नष्ट कर देती है।

{227}

निःस्पृहत्वं महत्त्वं च नैराश्यं दुष्करं तपः।
कायक्लेशश्च दानं च हिंसकानामपार्थकम्॥

(ज्ञा. 8/19/491)

जो हिंसक पुरुष है उनकी निःस्पृहता, महत्ता, आशारहितता, दुष्कर तप करना, कायक्लेश और दान करना आदि समस्त धर्म-कार्य व्यर्थ हैं अर्थात् निष्फल हैं।

{228}

क्षमादिपरमोदारैर्यमैर्यो वर्द्धितश्चिरम्।
हन्यते स क्षणादेव हिंसया धर्मपादपः॥

(ज्ञा. 8/13/485)

उत्तम क्षमादिक परम उदार संयमों के आधार पर जिस धर्म-रूप वृक्ष को समृद्ध करने में दीर्घ काल व्यतीत हो जाता है, वह धर्म-वृक्ष इसी हिंसारूप कुठार से क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है।

{229}

निस्त्रिंश एव निस्त्रिंशं यस्य चेतोऽस्ति जन्तुषु।
तपःश्रुताद्यनुष्ठानं तस्य क्लेशाय केवलम्॥

(ज्ञा. 8/43/415)

जिस पुरुष का चित्त जीवों के लिये शस्त्र के समान निर्दय है, उसका तप करना और शास्त्र का पढ़ना आदि कार्य केवल कष्ट के लिये ही होता है। अर्थात् वह सब निरर्थक होता है।

{230}

एसो सो पाणवहो चंडो रुद्दो अणारिओ णिग्घिणो णिसंसो महब्भओ बीहणओ तासणओ अणज्जाओ उव्वेयणओ य णिरवयक्खो णिद्धम्मो णिप्पिवासो णिक्कलुणो णिरयवासगमणणिधणो मोहमहब्भयपवड्ढओ मरण-वेमणसो।

(प्रश्न. 1/1/सू.43)

यह प्राणवध चण्ड, रौद्र, क्षुद्र और अनार्य जनों द्वारा आचरणीय है। यह घृणारहित, नृशंस, महाभयों का कारण, भयानक, त्रासजनक और अन्यायरूप है। यह उद्वेगजनक, दूसरे के प्राणों की परवाह न करने वाला, धर्महीन, स्नेह-पिपासा से शून्य, करुणाहीन है। इसका अन्तिम परिणाम नरक में गमन करना है अर्थात् यह नरक-गति में जाने का कारण है। यह मोहरूपी महाभय को बढ़ाने वाला और मरण के कारण उत्पन्न होने वाली दीनता का जनक है।

{231}

सततारम्भयोगैश्च व्यापारैर्जन्तुघातकैः।
शरीरं पापकर्माणि संयोजयति देहिनाम्॥

(ज्ञा. 2/126/177)

निरन्तर आरम्भ (हिंसा) करने वाले और जीवघात से तथा हिंसा-संबंधी व्यापारों से जीवों का शरीर (काययोग) पापकर्मों का संग्रह करता है अर्थात् उक्त काययोग से अशुभास्रव होता है।

{232}

शीलं वदं गुणो वा णाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ।
जीवे हिंसंतस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति॥

(भग. आ. 788)

जीवों की हिंसा करने वाले के शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निःसंगता और 'विषय-सुख का त्याग'- ये सभी ही निरर्थक होते हैं।

{233}

परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि।

(पंचा. 139)

दूसरे को संताप देना और उसका अपवाद करना-यह सब पापास्रव के कारण हैं।

{234}

सत्थमेगे सुसिक्खंति अतिवाताय पाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति पाणभूयविहेडिणो॥
माइणो कट्टु मायाओ कामभोगे समारभे।
हंता छेत्ता पगतित्ता आय-सायाणुगामिणो॥
मणसा वयसा चेव कायसा चेव अंतसो।
आरतो परतो वा वि दुहा वि य असंजता॥
वेराइं कुव्वती वेरी ततो वेरेहि रज्जती।
पावोवगा य आरंभा दुक्खफासा य अंतसो॥

(सू.कृ. 1/8/4-8)

कुछ लोग प्राणियों को मारने के लिए शस्त्र (या शास्त्र) की शिक्षा प्राप्त करते हैं और कुछ लोग प्राणियों और भूतों को बाधा पहुंचाने वाले मंत्रों का अध्ययन करते हैं।

मायावी मनुष्य (राजनीति शास्त्रों से सीखी हुई) माया का प्रयोग कर कामभोगों (धन) को प्राप्त करते हैं। वे अपने सुख के अनुगामी होकर प्राणियों का हनन, छेदन और कर्त्तन करते हैं। असंयमी मनुष्य मन से, वचन से और अन्त में काया से, स्वयं या दूसरे से या दोनों के संयुक्त प्रयत्न से (जीवों की हिंसा करते हैं, करवाते हैं।) वैरी वैर करता है। फिर वह वैर में अनुरक्त हो जाता है। हिंसा की प्रवृत्तियां मनुष्य को पाप की ओर ले जाती हैं। अन्त में उनका परिणाम दुःखदायी होता है।

{235}

कुद्दाल-कुलिय-दालण-सलिल-मलण-खुंभण-रुंभण-अणलाणिल-विविहसत्थघट्टण-परोप्पराभिहणण-मारण-विराहणाणि य अकामकाइं परप्पओगोदीरणाहिं य कज्जप्पओयणेहिं य पेस्सपसु- णिमित्तं ओसहाहारमाइएहिं उक्खणण-उक्कत्थण-पयण-कुट्टण-पीसण-पिट्टण-भज्जण-गालण-आमोडण-सडण-फुडण-भंजण-छेयण-तच्छण-विलुंचण-पत्तज्झोडण-अग्गिदहणाइयाइं, एवं ते भवपरंपरादुक्ख- समणुबद्धा अडंति संसारबीहणकरे जीवा पाणाइवायणिरया अणंतकालं।

(प्रश्न. 1/1/सू.41)

कुदाल और हल से पृथ्वी का विदारण किया जाना, जल का मथा जाना और निरोध किया जाना, अग्नि तथा वायु का विविध प्रकार के शस्त्रों से घट्टन होना, पारस्परिक आघातों

से आहत होना-एक दूसरे को पीड़ा पहुंचाना, मारना, दूसरों के निष्प्रयोजन अथवा प्रयोजन वाले व्यापार से उत्पन्न होने वाली विराधना की व्यथा सहन करना, नौकर-चाकरों तथा गाय-भैंस-बैल आदि पशुओं की दवा और आहार आदि के लिए खोदना, छानना, मोड़ना, सड़ जाना, स्वयं टूट जाना, मसलना-कुचलना, छेदन करना, छीलना, रोमों का उखाड़ना, पत्ते आदि तोड़ना, अग्नि से जलाना, इस प्रकार (वनस्पतिकाय, पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय व वायुकाय के रूप में) जन्म-परम्परा के (अनेकानेक) दुःखों को भोगते हुए वे हिंसाकारी पापी जीव भयंकर संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करते रहते हैं।

{236}

ते वि य दीसंति पायसो विकयविगलरूवा खुज्जा वडभा य वामणा य बहिरा काणा कुंटा पंगुला विगला य मूका य मम्मणा य अंधयगा एगचक्खू विणिहयसंचिल्लया वाहिरोगपीलिय-अप्पाउय-सत्थबज्झबाला कुलक्खण-उक्किण्णदेहा दुब्बल-कुसंघयण-कुप्पमाण-कुसंठिया कुरूवा किविणा य हीणा हीणसत्ता णिच्चं सोक्खपरिवज्जिया असुहदुक्खभागी णरगाओ इहं सावसेसकम्मा उव्वट्टिया समाणा।

(प्रश्न. 1/1/सू.42)

[हिंसा का घोर पापकर्म करने वाले जीव नरक से निकल कर किसी भांति मनुष्य-पर्याय में उत्पन्न होते भी हैं, तो] जिनके हिंसादि पापकर्म भोगने से शेष रह जाते हैं, वे प्रायः विकृत एवं विकल-अपरिपूर्ण रूप-स्वरूप वाले, कुबड़े, टेढे-मेढे शरीर वाले, वामन-बौने, बधिर- बहरे, काने, टोंटे-टूटे हाथ वाले, पंगुल-लंगड़े, अंगहीन, गूंगे, मम्मण-अस्पष्ट उच्चारण करने वाले, अंधे, खराब एक नेत्र वाले, दोनों खराब आंखों वाले या पिशाचग्रस्त, कुष्ठ आदि व्याधियों और ज्वर आदि रोगों से अथवा मानसिक रोगों से पीड़ित, अल्पायुष्क, शस्त्र से वध किए जाने योग्य, अज्ञानी-मूढ, अशुभ लक्षणों से भरपूर शरीर वाले, दुर्बल, अप्रशस्त संहनन वाले, बेडौल अंगोपांगों वाले, खराब संस्थान-आकृति वाले, कुरूप, दीन, हीन, सत्त्वविहीन, सुख से सदा वंचित रहने वाले और अशुभ दुःखों से युक्त होते हैं।

कहं णं भंते! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति?

कालोदाई! से जहानामए केइ पुरिसे मणुण्णं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाकुलं विससंमिस्सं भोयणं भुंजेज्जा, तस्स णं भोयणस्स आवाते भद्दए भवति, ततो पच्छा परिणममाणे परिणममाणे दुरूवत्ताए दुग्गंधत्ताए जहा महस्सवए (स. 6 उ. 3 सु. 2 [1]) जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति, एवामेव कालोदाई! जीवाणं पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, तस्स णं आवाते भद्दए भवइ, ततो पच्छा परिणममाणे परिणममाणे दुरूवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति, एवं खलु कालोदाई! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवाग. जाव कज्जंति।

(व्या. प्र. 7/10/16)

[प्र.] भगवन्! जीवों को पापफलविपाकसंयुक्त पापकर्म कैसे लगते हैं?

[उ.] कालोदायिन्! जैसे कोई पुरुष सुन्दर स्थाली (हांडी, तपेली, या देगची) में पकाने से शुद्ध पका हुआ, अठारह प्रकार के दाल, शाक आदि व्यंजनों से युक्त विषमिश्रित भोजन का सेवन करता है। यह भोजन उसे आपात (ऊपर-ऊपर से या प्रारम्भ) में अच्छा लगता है, किन्तु उसके पश्चात् वह भोजन परिणमन होता-होता खराब रूप में, दुर्गन्धरूप में (यावत् छठे शतक के महास्रव नामक तृतीय उद्देशक (सू. 2-1) में कहे अनुसार यावत्) बार-बार अशुभ परिणाम प्राप्त करता है। हे कालोदायिन्! इसी प्रकार जीवों को प्राणातिपात से लेकर यावत् मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह पापस्थानों का सेवन ऊपर-ऊपर से प्रारम्भ में तो अच्छा लगता है, किन्तु बाद में जब उनके द्वारा बांधे हुए पापकर्म उदय में आते हैं, तब वे अशुभरूप में परिणत होते-होते, दुरूपपने में, दुर्गन्धरूप में यावत् बार-बार अशुभ रूप में परिणत होते हैं। हे कालोदायिन्! इसी प्रकार से जीवों के पापकर्म अशुभफलविपाक से युक्त होते हैं।

[निष्कर्ष- जिस प्रकार सर्वथा सुसंस्कृत एवं शुद्ध रीति से पकाया हुआ विषमिश्रित भोजन खाते समय बड़ा रुचिकर लगता है, किन्तु जब उसका परिणमन होता है, तब वह अत्यन्त अप्रीति-कर, दुःखद और प्राणविनाशक होता है। इसी प्रकार प्राणातिपात आदि पापकर्म करते समय तो जीव को अच्छे लगते हैं, किन्तु उनका फल भोगते समय वे बड़े दुःखदायी होते हैं।]

{238}

मिच्छादंसणरत्ता सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरन्ति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥

(उत्त. 36/257)

जो मरते समय मिथ्या-दर्शन में अनुरक्त होते हैं, निदान से युक्त होते हैं, और हिंसक (वृत्ति से युक्त होते) हैं, उन्हें बोधि (सच्चा ज्ञान) बहुत दुर्लभ है।

{239}

बलिभिर्दुर्बलस्यात्र क्रियते यः पराभवः।
परलोके स तैस्तस्मादनन्तः प्रविषह्यते॥

(ज्ञा. 8/37/509)

जो बलवान् पुरुष इस लोक में निर्बल का पराभव करता या उसे सताता है, वह परलोक में उससे अनन्तगुणा पराभव सहता है। (अर्थात्- जो कोई बलवान् निर्बल को दुःख देता है तो उसका अनन्त-गुणा दुःख वह स्वयं अगले जन्म में भोगता है।)

{240}

यज्जन्तुवधसंजातकर्मपाकं शरीरिभिः।
श्वभ्राद्रौ सह्यते दुःखं तद्वक्तुं केन पार्यते॥

(ज्ञा. 8/11/483)

जीवों के घात (हिंसा) करने से पापकर्म का उपार्जन होता है उसके जो कुफल अर्थात् दुःख नरकादिक गति में जीव द्वारा भोगे जाते हैं, वह वचन के अगोचर है, अर्थात् वचन से कहने में नहीं आ सकते।

{241}

तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जावेवं परूवेंति-'सव्वे पाणा जाव सत्ता हंतव्वा अज्जावेतव्वा परिघेत्तव्वा परितावेयव्वा किलामेतव्वा उद्दवेतव्वा', ते आगंतुं छेयाए, ते आगंतुं भेयाए, ते आगंतुं जाति-जरा-मरण-जोणिजम्मण-संसार-पुणब्भव-गब्भवास-भवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं तालणाणं अंदुबंधणाणं जाव घोलणाणं माइ-मरणाणं पितिमरणाणं

भाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जामरणाणं पुत्तमरणाणं धूयमरणाणं सुन्हामरणाणं दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोमणसाणं आभागिणो भविस्संति, अणादियं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउंरतसंसारकंतारं भुज्जो-भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति, ते नो सिज्झिस्संति नो बुज्झिस्संति जाव नो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति, एस तुला, एस पमाणे, एस समोसरणे, पत्तेयं तुला, पत्तेयं पमाणे, पत्तेयं समोसरणे।

(सू.कृ. 2/2/719)

(परमार्थतःआत्मौपम्यमयी अहिंसा ही धर्म है- ऐसा सिद्ध होने पर भी) धर्म के प्रसंग में जो श्रमण और माहन ऐसा कहते हैं, यावत् ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का हनन करना चाहिए, उन पर आज्ञा चलानी चाहिए, उन्हें दास-दासी आदि के रूप में रखना चाहिए, उन्हें परिताप (पीड़ा) देना चाहिए, उन्हें क्लेश देना चाहिए, उन्हें उपद्रवित (भयभीत) करना चाहिए। ऐसा करने वाले वे भविष्य में अपने शरीर को छेदन-भेदन आदि पीड़ाओं का भागी बनाते हैं। वे भविष्य में जन्म, जरा, मरण, विविध योनियों में उत्पत्ति, फिर संसार में पुनः जन्म, गर्भवास, और सांसारिक प्रपंच (अरहट्टघटिका न्यायेन संसारचक्र) में पड़ कर महाकष्ट के भागी होंगे। वे घोर दण्ड के भागी होंगे, वे बहुत ही मुण्डन, तर्जन, ताडन, खोड़ी बंधन के, यहां तक कि घोले (पानी में डुबोए) जाने के भागी होंगे। तथा माता, पिता, भाई, भगिनी, भार्या, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू आदि के मरण-दुःख के भागी होंगे। (इसी प्रकार) वे दरिद्रता, दुर्भाग्य, अप्रिय व्यक्ति के साथ निवास, प्रिय-वियोग, तथा बहुत-से दुःखों और वैमनस्यों के भागी होंगे। वे आदि-अन्तरहित तथा दीर्घकालिक (या दीर्घमध्य वाले) चतुर्गतिक संसार-रूप घोर जंगल में बार-बार परिभ्रमण करते रहेंगे। वे सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त नहीं होंगे, न ही बोध को प्राप्त होंगे, यावत् सर्वःदुखों का अंत नहीं कर सकेंगे (जैसे सावद्य अनुष्ठान करने वाले अन्यतीर्थिक सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते, वैसे ही सावद्य अनुष्ठान करने वाले स्वयूथिक भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते, वे भी पूर्वोक्त अनेक दुःखों के भागी होते हैं।) यह कथन सबके लिए तुल्य है, यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध है (कि दूसरों को पीड़ा देने वाले चोर, जार आदि प्रत्यक्ष ही दंड भोगते नजर आते हैं), (समस्त आगमों का) यही सारभूत विचार है। यह (सिद्धांत) प्रत्येक प्राणी के लिए तुल्य है, प्रत्येक के लिए यह प्रमाणसिद्ध है, तथा प्रत्येक के लिए (आगमों का) यही सार-भूत विचार है।

{242}

हिंसा प्राणिषु कल्मषं भवति सा प्रारम्भतः सो ऽर्थतः,
तस्मादेव भयादयोऽपि नितरां दीर्घा ततः संसृतिः।

(पद्म. पं. 1/52)

प्राणियों की हिंसा 'पाप' है। किन्तु इस के पीछे 'प्रारम्भ' (प्रकृष्ट आरम्भ, अर्थात् प्राणि-वध का संकल्प) होता है। वह 'प्रारम्भ' भी धन-सम्पत्ति (अनुचित परिग्रह) के कारण होता है। 'हिंसा' सम्बन्धी पाप से 'भय' आदि का प्रादुर्भाव होता है, और उसके परिणाम-स्वरूप एक सुदीर्घ जन्म-मरण की परम्परा प्रवर्तमान होती है।

{243}

शरीरेण सुगुप्तेन शरीरी चिनुते शुभम्।
सततारम्भिणा जन्तुघातकेनाऽशुभं पुनः॥

(है. योग. 4/77)

सावद्य-कुचेष्टाओं से सुगुप्त (बचाये हुए) शरीर से शरीरी (जीव) शुभकर्मों का संचय करता है, जबकि सतत आरम्भ में प्रवृत्त रहने वाले या प्राणियों की हिंसा करने वाले शरीर से वही जीव अशुभ कर्मों का संग्रह करता है।

{244}

पंगु-कुष्टि-कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः।
निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत् ॥

(है. योग.2/19)

हिंसा का फल लंगड़ापन, कोढ़ीपन, हाथ-पैर आदि अंगों की विकलता आदि के रूप में देखा जाता है। इसे देख कर बुद्धिमान्-पुरुष निरपराध त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करे।

{245}

कुणिर्वरं वरं पङ्गुरशरीरी वरं पुमान्।
अपि सम्पूर्णसर्वांगो, न तु हिंसापरायणः॥

(है. योग. 2/28)

लूले, लंगड़े, अपाहिज (विकलांग) और कोढ़िये भी, यदि वे हिंसा नहीं करते हों तो, श्रेष्ठ हैं, मगर संपूर्ण अंग वाले हिंसाकर्ता हों तो वे श्रेष्ठ नहीं।

{246}

पंचविहो पण्णत्तो, जिणेहिं इह अण्हओ अणाईओ।
हिंसामोसमदत्तं, अब्बंभपरिग्गहं चेव॥

(प्रश्न. 1/1/2)

जिनेश्वर देव ने इस जगत् में अनादि आस्रव (कर्म-बन्ध के द्वार) को पांच प्रकार का कहा है-(1) हिंसा, (2) असत्य, (3) अदत्तादान (चोरी), (4) अब्रह्मचर्य और (5) परिग्रह।

{247}

बधबंधरोधधणहरणजादणाओ य वेरमिह चेव।
णिव्विसयमभोजित्तं जीवे मारंतगो लभदि॥

(भग. आ. 795)

मारने वाला इसी जन्म में वध, मारण, धनहरण, अनेक यातनाएं, वैर, देश-निष्कासन तथा हत्या करने पर जातिबहिष्कार का दण्ड पाता है।

{248}

अप्पाउगरोगिदयाविरूवदाविगलदा अवलदा य।
दुम्मेहवण्णरसगंधदा य से होइ परलोए॥

(भग. आ. 797)

हिंसक परलोक अर्थात् जन्मान्तर में अल्पायु, रोगी, कुरूप, विकलेन्द्रिय, दुर्बल, मूर्ख, बुरे रूप, बुरे रस और दुर्गन्ध युक्त होता है।

{249}

जावइयाइं दुक्खाइं होंति लोयम्मि चदुगदिगदाइं।
सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणाहि॥

(भग. आ. 799)

इस लोक में चारों गतियों में जितने दुःख होते हैं, वे सब जीव-हिंसा के फल स्वरूप प्राप्त होते हैं- ऐसा जानो।

{250}

मारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुव्व उव्वेगं।
संबंधिणो वि ण य विस्संभं मारितए जंति॥

(भग. आ. 794)

जो दूसरों का घात करने में तत्पर होता है, उससे प्राणी वैसे ही डरते हैं जैसे राक्षस से। उस हिंसक का विश्वास सम्बन्धीजन भी नहीं करते।

{251}

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरयाणं।
परदव्ववरकलत्तं गहिऊण य भमदि संसारे॥

(बा. अणु. 33)

जीवराशि का घात कर, मधु, मांस व मदिरापान का सेवन कर तथा परद्रव्य व परस्त्री को ग्रहण कर यह जीव संसार में भ्रमण करता है।

O हिंसक की लोक-निन्दा व अपकीर्ति

{252}

से एगतिओ आयहेउं वा णायहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा नायगं वा सहवासियं वा णिस्साए अदुवा अणुगामिए 1, अदुवा उवचरए 2, अदुवा पाडिपहिए 3, अदुवा संधिच्छेदए 4, अदुवा गंठिच्छेदए 5, अदुवा उरब्भिए 6, अदुवा सोवरिए 7, अदुवा वागुरिए 8, अदुवा साउणिए 9, अदुवा मच्छिए 10, अदुवा गोपालए 11, अदुवा गोघायए 12, अदुवा सोणइए 13, अदुवा सोवणियंतिए 14।

1. से एकतिओ अणुगामियभावं पंडिसंधाय तमेव अणुगमियाणुगमिय हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

2. से एगतिओ उवचरगभावं पडिसंधाय तमेव उवचरित हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

3. से एगतिओ पाडिपहियभावं पडिसंधाय तमेव पडिपहे ठिच्चा हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

4. से एगतिओ संधिच्छेदगभावं पडिसंधाय तमेव संधिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महता पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

5. से एगतिओ गंठिच्छेदगभावं पडिसंधाय तमेव गंठिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अप्पाणं उवक्खाइत्ता भवति।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 709)

कोई पापी मनुष्य अपने लिए अथवा अपने ज्ञातिजनों के लिए अथवा कोई अपना घर बनाने के लिए या अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए अथवा अपने नायक या परिचित जन तथा सहवासी या पड़ौसी के लिए निम्नोक्त पापकर्म का आचरण करने वाले बनते हैं-

1. अनुगामिक (धनादि हरण के लिए किसी व्यक्ति के पीछे लग जाने वाला) बन कर अथवा 2. उपचरक (पाप-कृत्य करने के लिए किसी का सेवक) बन कर या 3. प्रातिपथिक (धनादि हरणार्थ मार्ग में चल रहे पथिक का सम्मुखगामी पथिक) बन कर, अथवा 4. सन्धिच्छेदक (सेंध लगाकर घर में प्रवेश करके चोरी करने वाला) बन कर, अथवा 5. ग्रन्थिच्छेदक (किसी की गांठ या जेब काटने वाला) बन कर, अथवा 6. औरभ्रिक (भेड़ चराने वाला) बन कर अथवा 7. शौकरिक (सूअर पालने वाला) बन कर या, 8. वागुरिक (पारधि-शिकारी) बन कर, अथवा 9. शाकुनिक (पक्षियों को जाल में फंसाने वाला बहेलिया) बन कर, अथवा, 10. मात्स्यिक (मछुआ-मच्छीमार) बन कर, या 11. गोपालक बन कर, या 12. गोघातक (कसाई) बन कर, अथवा, 13. श्वपालक (कुत्तों को पालने वाला) बन कर या, 14. शौवान्तिक (शिकारी कुत्तों द्वारा पशुओं का शिकार करके उनका अंत करने वाला) बन कर।

1. कोई पापी पुरुष (ग्रामान्तर जाते हुए किसी धनिक के पास धन जान कर) उसका पीछा करने की नीयत से साथ में चलने की अनुकूलता समझा कर उसके पीछे-पीछे चलता है, और अवसर पा कर उसे (डंडे आदि से) मारता है, (तलवार आदि से) उसके हाथ-पैर आदि अंग काट देता है, (मुक्के आदि प्रहारों से उसके अंग चूर-चूर कर देता है, (केश आदि खींच कर या घसीट कर) उसकी विडम्बना करता है, (चाबुक आदि से) उसे पीड़ित कर या डरा-धमका कर अथवा उसे जीवन से रहित करके (उसका धन लूट कर) अपना आहार उपार्जन करता है।

इस प्रकार वह महान् (क्रूर) पाप कर्मों के कारण (महापापी के नाम से) अपने आप को जगत् में प्रख्यात कर देता है।

2. कोई पापी पुरुष किसी धनवान् की अनुचरवृत्ति, सेवकवृत्ति स्वीकार करके (विश्वास में लेकर) उसी (अपने सेव्य स्वामी) को मार-पीट कर, उसका छेदन, भेदन एवं प्रहार करके, उसकी विडम्बना और हत्या करके उसका धन हरण कर अपना आहार उपार्जन करता है।

इस प्रकार वह महापापी व्यक्ति बड़े-बड़े पापकर्म करके महापापी के रूप में अपने आपको प्रख्यात कर लेता है।

3. कोई पापी जीव किसी धनिक पथिक को सामने से आते देख उसी पथ पर मिलता है, तथा प्रातिपथिक भाव (सम्मुख आकर पथिक को लूटने की वृत्ति) धारण करके पथिक का मार्ग रोक कर (धोखे से) उसे मारपीट, छेदन, भेदन करके तथा उसकी विडम्बना एवं हत्या करके उसका धन, लूट कर अपना आहार-उपार्जन करता है। इस प्रकार महापापकर्म करने से वह अपने आपको महापापी के नाम से प्रसिद्ध करता है।

4. कोई पापी जीव (धनिकों के घरों में सेंध लगा कर, धनहरण करने की वृत्ति स्वीकार कर तदनुसार) सेंध डाल कर उस धनिक के परिवार को मार-पीट कर, उसका छेदन, भेदन, ताड़न और उस पर प्रहार करके, उसे डरा-धमका कर, या उसकी विडम्बना और हत्या करके उसके धन को चुरा कर अपनी जीविका चलाता है। इस प्रकार का महापाप करने के कारण वह स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध करता है।

5. कोई पापी व्यक्ति धनाढ्यों के धन की गांठ काटने का धंधा अपना कर धनिकों की गांठ काटता रहता है। (उस सिलसिले में) वह (उस गांठ के स्वामी) को मारता-पीटता है, उसका छेदन-भेदन, एवं उस पर ताड़न-तर्जन करके तथा उसकी विडम्बना और हत्या करके उसका धन हरण कर लेता है, और इस तरह अपना जीवन-निर्वाह करता है। इस प्रकार के महापाप के कारण वह स्वयं को महापापी के रूप में विख्यात कर लेता है।

{253}

6. से एगतिओ उरब्भियभावं पडिसंधाय उरब्भं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति। ऐसो अभिलावो सव्वत्थ।

7. से एगतिओ सोयरिभावं पडिसंधाय महिसं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति।

8. से एगतिओ वागुरियभावं पडिसंधाय मिगं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति।

9. से एगतिओ साउणियभावं पडिसंधाय सउणिं वा अण्णतरं वा तसं पाणं

हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति।

10. से एगतिओ मच्छियभावं पडिसंधाय मच्छं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति।

11. से एगतिओ गोघातगभावं पडिसंधाय गोणं वा अण्ण- तरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 709)

6. कोई पापात्मा भेड़ों का चरवाहा बन कर उन भेड़ों में से किसी को या अन्य किसी भी त्रस प्राणी को मार-पीट कर, उसका छेदन-भेदन-ताड़न आदि करके तथा उसे पीड़ा देकर या उसकी हत्या करके अपनी आजीविका चलाता है। इस प्रकार का महापापी उक्त महापाप के कारण जगत् में स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

7. कोई पापकर्मा जीव सूअरों को पालने का या कसाई का धंधा अपना कर भैंसे, सूअर या दूसरे त्रस प्राणी को मार-पीट कर, उनके अंगों का छेदन-भेदन करके, उन्हें तरह-तरह से यातना देकर या उनका वध करके अपनी आजीविका का निर्वाह करता है। इस प्रकार का महान् पाप-कर्म करने के कारण संसार में वह अपने आपको महापापी के नाम से विख्यात कर लेता है।

8. कोई पापी जीव शिकारी का धंधा अपना कर मृग या अन्य किसी त्रस प्राणी को मार-पीट कर, छेदन-भेदन करके, जान से मार कर अपनी जीविका उपार्जन करता है। इस प्रकार के महापापकर्म के कारण जगत् में वह स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

9. कोई पापात्मा बहेलिया बन कर पक्षियों को जाल में फंसा कर पकड़ने का धंधा स्वीकार करके पक्षी या अन्य किसी त्रस प्राणी को मार कर, उसके अंगों का छेदन-भेदन करके, या उसे विविध यातनाएं देकर उसका वध करके उससे अपनी आजीविका कमाता है। वह इस महान् पापकर्म के कारण विश्व में स्वयं को महापापी के नाम से प्रख्यात कर लेता है।

10. कोई पापकर्मजीवी मछुआ बन कर मछलियों को जाल में फंसा कर पकड़ने का धंधा अपना कर मछली या अन्य त्रस जलजंतुओं का हनन, छेदन-भेदन, ताड़न आदि करके तथा उन्हें अनेक प्रकार से यातनाएं देकर, यहां तक कि प्राणों से रहित करके अपनी आजीविका चलाता है। अत: वह इस महापाप कृत्य के कारण जगत् में स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

11. कोई पापात्मा गोवंशघातक (कसााई) का धंधा अपना कर गाय, बैल या अन्य किसी भी त्रस प्राणी का हनन, छेदन, भेदन, ताड़न आदि करके उसे विविध यातनाएं देकर, यहां तक कि उसे जीवन-रहित करके उससे अपनी जीविका कमाता है। परंतु ऐसे निन्द्य महापापकर्म करने के कारण जगत् में वह अपने आपको महापापी के रूप में प्रसिद्ध कर लेता है।

{254}

12. से एगतिओ गोपालगभावं पडिसंधाय तमेव गोणं वा परिजविय परिजविय हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति।

13. से एगतिओ सोवणियभावं पडिसंधाय सुणगं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति।

14. से एगतिओ सोवणियंतियभावं पडिसंधाय मणुस्सं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव आहारं आहारेति, इति से महता पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 709)

12. कोई व्यक्ति गोपालन का धंधा स्वीकार करके (कुपित होकर) उन्हीं गायों या उनके बछड़ों को टोले से पृथक् निकाल-निकाल कर बार-बार उन्हें मारता-पीटता तथा भूखे रखता है, उनका छेदन-भेदन आदि करता है, उन्हें कसाई को बेच देता है, या स्वयं उनकी हत्या कर डालता है, उससे अपनी रोजी-रोटी कमाता है। इस प्रकार के महापापकर्म करने से वह स्वयं महापापियों की सूची में प्रसिद्धि पा लेता है।

13. कोई अत्यन्त नीचकर्मकर्ता व्यक्ति कुत्तों को पकड़ कर उन्हें पालने का धंधा अपना कर उनमें से किसी कुत्ते को या अन्य किसी त्रस प्राणी को मार कर, उसके अंगभंग करके या उसे यातना देकर, यहां तक कि उसके प्राण लेकर उससे अपनी आजीविका कमाता है। वह उक्त महापाप के कारण जगत् में स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

14. कोई पापात्मा शिकारी कुत्तों को रख कर श्वपाक (चांडाल) वृत्ति अपना कर ग्राम आदि के अंतिम सिरे पर रहता है और पास से गुजरने वाले मनुष्य या प्राणी पर शिकारी कुत्ते छोड़ कर उन्हें कटवाता है, फड़वाता है, यहां तक कि जान से मरवाता है। वह इस प्रकार का भयंकर पापकर्म करने के कारण महापापी के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है।

○ हिंसा से असातावेदनीय (दुःखदायी) कर्म का बन्ध

{255}

कहं णं भंते! जीवाणं अस्सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति?

गोयमा! परदुक्खणयाए परसोयणयाए परजूरणयाए परतिप्पणयाए परपिट्टणयाए परपरितावणयाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणताए सोयणयाए जाव परितावणयाए, एवं खलु गोयमा! जीवाणं असातावेदणिज्जा कम्मा कज्जंति।

(व्या. प्र. 7/6/28)

[प्र.] भगवन्! जीवों के असातावेदनीय कर्म कैसे बंधते हैं?

[उ.] गौतम! दूसरों को दुःख देने से, दूसरे जीवों को शोक उत्पन्न करने से, जीवों को विषाद या चिन्ता उत्पन्न करने से, दूसरों को रुलाने या विलाप कराने से, दूसरों को पीटने से और जीवों को परिताप देने से, तथा बहुत-से प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्वों को दुःख पहुंचाने से, शोक उत्पन्न करने से यावत् उनको परिताप देने से (जीवों के असातावेदनीय कर्मबन्ध होता है।) हे गौतम! इस प्रकार से जीवों के असातावेदनीय कर्म बंधते हैं।

{256}

अस्सायावेयणिज्ज0 पुच्छा।

गोयमा! परदुक्खणयाए परसोयणयाए जहा सत्तमसए दुस्समा-उ (छट्ठु) द्देसए जाव परियावणयाए (स. 7 उ. 6 सु. 28) अस्सायावेयणिज्जकम्मा जाव पयोगबंधे।

(व्या. प्र. 8/9/101)

[प्र.] भगवन्! असातावेदनीय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध किस कर्म के उदय से होता है?

[उ.] गौतम! दूसरे जीवों को दुःख पहुंचाने से, उन्हें शोक-युक्त करने से [इत्यादि, जिस प्रकार (भगवतीसूत्र के) सातवें शतक के 'दुःषम' नामक छठे उद्देशक (के सूत्र 28) में कहा है, उसी प्रकार यहां भी, यावत्-] उन्हें परिताप देने से तथा असातावेदनीय-कर्म-शरीरप्रयोग- नामकर्म के उदय से असातावेदनीय-कार्मणशरीर-प्रयोगबन्ध होता है।

{257}

तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा– पाणे अतिवातित्ता भवति, मुसं वइत्ता भवति, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवति– इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंति।

(ठा. 3/1/17)

तीन प्रकार से जीव अल्पआयुष्य कर्म का बन्ध करते हैं– प्राणों का अतिपात (घात) करने से, मृषावाद बोलने से और तथारूप श्रमण महान को अप्रासुक, अनेषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार का प्रतिलाभ (दान) करने से। इन तीन प्रकारों से जीव अल्प आयुष्य कर्म का बन्ध करते हैं।

{258}

कहं णं भंते! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं परकेंति?

गोतमा! तिहिं ठाणेहिं, तं जहा– पाणे अइवाएत्ता, मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता, एवं जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।

(व्या. प्र. 5/6/1)

[प्र.] भगवन्! जीव अल्पायु के कारणभूत कर्म किस प्रकार से बांधते हैं?

[उ.] गौतम! तीन कारणों से जीव अल्पायु के कारणभूत कर्म बांधते हैं– (1) प्राणियों की हिंसा करके, (2) असत्य भाषण करके, और (3) तथारूप श्रमण या माहन को अप्रासुक, अनेषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिम– (रूप चतुर्विध आहार) दे (प्रतिलाभित) कर। इस प्रकार (तीन कारणों से) जीव अल्पायुष्यकफल वाले (कम जीने का कारणभूत) कर्म बांधते हैं।

○ हिंसा का कुफलः नरक आदि दुर्गति एवं अशुभ दीर्घायु की प्राप्ति

{259}

हिंसायामनृते चौर्यामब्रह्मणि परिग्रहे।
दृष्टा विपत्तिरत्रैव परत्रैव च दुर्गतिः॥

(उपासका. 26/317)

हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने, कुशील सेवन करने और परिग्रह का संचय करने से इसी लोक में मुसीबत आती देखी जाती है और परलोक में भी दुर्गति होती है।

{260}

अणुबद्धवेररोई असुरेसूववज्जदे जीवो ।

(मूला. 2/68)

जो वैर को बांधने में रुचि रखता है, वह जीव असुर जाति के (निम्न कोटि के) देवों में उत्पन्न होता है।

{261}

हिंसे बाले मुसावाई अद्धाणंमि विलोवए।
अन्नदत्तहरे तेणे माई कण्हुहरे सढे॥
इत्थीविसयगिद्धे य महारंभ-परिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मंसं परिवूढे परंदमे॥
अयकक्कर-भोई य तुंदिल्ले चियलोहिए।
आउयं नरए कंखे जहाएसं व एलए॥

(उत्त. 7/5-7)

हिंसक, अज्ञानी, मिथ्याभाषी, मार्ग लूटने वाला बटमार, दूसरों को दी हुई वस्तु को बीच में ही हड़प जाने वाला, चोर, मायावी, ठग, कुतोहर-अर्थात् कहां से चुराऊं-इसी विकल्पना में निरन्तर लगा रहने वाला, धूर्त, स्त्री और अन्य विषयों में आसक्त, महाआरम्भ और महापरिग्रह वाला, सुरा और मांस का उपभोग करने वाला, बलवान् , दूसरों को सताने वाला, बकरे की तरह कर-कर शब्द करते हुए मांसादि अभक्ष्य खाने वाला, मोटी तोंद और अधिक रक्त वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकांक्षा करता है, जैसे कि मेमना मेहमान की प्रतीक्षा करता है।

{262}

तओ आउपरिक्खीणे चुया देहा विहिंसगा।
आसुरियं दिसं बाला गच्छन्ति अवसा तमं॥

(उत्त. 7/10)

नाना प्रकार से हिंसा करने वाले अज्ञानी जीव आयु के क्षीण होने पर जब शरीर छोड़ते हैं तो वे कृत कर्मों से विवश अंधकाराच्छन्न नरक की ओर जाते हैं।

{263}

हिंसैव नरकागारप्रतोली प्रांशुविग्रहा।
कुठारीव द्विधा कर्तुं भेत्तुं शूलाऽतिनिर्दया॥

(ज्ञा. 8/12/484)

यह हिंसा ही नरकरूपी घर में प्रवेश करने के लिए प्रतोली (मुख्य दरवाजा) है तथा जीवों को काटने के लिये कुठार (कुल्हाड़ा) और विदारने के लिये निर्दय शूली है।

{264}

हिंसैव नरकं घोरं हिंसैव गहनं तमः॥

(ज्ञा. 8/18/490)

हिंसा ही घोर नरक और महा अन्धकार है।

{265}

हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं हिंसैव दुरितार्णवः।

(ज्ञा. 8/18/490)

हिंसा ही दुर्गति का द्वार है, हिंसा ही पाप का समुद्र है। अर्थात् हिंसक को निश्चित ही दुर्गति प्राप्त होती है और उसे प्राप्त होने वाले पाप एक समुद्र की तरह दुस्तर होते हैं।

{266}

तस्स य पावस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढंति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहकाल-बहुदुक्खसंकडं णरयतिरिक्खजोणिं।

(प्रश्न. 1/1/सू.22)

(पूर्वोक्त मूढ़ हिंसक लोग) हिंसा के फल-विपाक को नहीं जानते हुए, अत्यन्त भयानक एवं दीर्घकाल-पर्यन्त बहुत-से दुःखों से व्याप्त-परिपूर्ण एवं अविश्रान्त-लगातार निरन्तर होने वाली दुःख रूप वेदना वाली नरकयोनि और तिर्यञ्चयोनि को बढ़ाते हैं (अर्थात् बांधते हैं)।

{267}

हिंसायां निरता ये स्युर्ये मृषावादतत्पराः।
चुराशीलाः परस्त्रीषु ये रता मद्यपाश्च ये॥
ये च मिथ्यादृशः क्रूरा रौद्रध्यानपरायणाः।
सत्त्वेषु निरनुक्रोशा बह्वारम्भपरिग्रहाः॥
धर्मद्रुहश्च ये नित्यमधर्मपरिपोषकाः।
मुनिभ्यो धर्मशीलेभ्यो मधुमांसाशने रताः॥
वधकान् पोषयित्वाऽन्यजीवानां येऽतिनिर्घृणाः।
खादका मधुमांसस्य तेषां ये चानुमोदकाः॥
ते नराः पापभारेण प्रविशन्ति रसातलम्।
विपाकक्षेत्रमेतद्धि विद्धि दुष्कृतकर्मणाम्॥

(आ. पु. 10/22-27)

जो जीव हिंसा करने में आसक्ति रहते हैं, झूठ बोलने में तत्पर होते हैं, चोरी करते हैं, परस्त्रीरमण करते हैं, मद्य पीते हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, क्रूर हैं, रौद्रध्यान में तत्पर हैं, प्राणियों में सदा निर्दय रहते हैं, बहुत आरम्भ व परिग्रह रखते हैं, सदा धर्म से द्रोह करते हैं, अधर्म में सन्तोष रखते हैं, साधुओं की निन्दा करते हैं, मात्सर्य से उपहत हैं, धर्म सेवन करने वाले परिग्रहरहित मुनियों से बिना कारण ही क्रोध करते हैं, अतिशय पापी हैं, मधु व मांस खाने में तत्पर हैं, अन्य जीवों की हिंसा करने वाले कुत्ता, बिल्ली आदि पशुओं को पालते हैं, अतिशय निर्दय हैं, स्वयं मधु, मांस खाते हैं और उनके खानेवालों की अनुमोदना करते हैं, वे जीव पाप के भार से नरक में प्रवेश करते हैं। इस नरक को ही खोटे कर्मों के फल देने का क्षेत्र जानना चाहिए।

(तसपाणे थावरे य हिंसंति...) इओ आउक्खए चुया असुभकम्मबहुला उववज्जंति णरएसु हुलियं महालएसु वयरामय-कुड्ड-रुद्द-णिस्संधि-दार-विरहिय-णिम्मद्दव-भूमितल-खरामरिसविसम-णिरय-घरचारएसु महोसिण-सया-पतत्त-दुग्गंध-विस्स-उव्वेयजणगेसु बीभच्छदरिसणिज्जेसु णिच्चं हिमपडलसीयलेसु कालोभासेसु य भीम-गंभीर-लोमहरिसणेसु णिरभिरामेसु णिप्पडियार-वाहिरोगजरापीलिएसु अईवणिच्चंधयार-तिमिस्सेसु पइभएसु ववगय-गह-चंद-सूर-णक्खत्तजोइसेसु मेय-वसा-मंसपडल-पोच्चड-पूय-रुहि-रुक्किण्ण-विलीण-चिक्कण-रसिया वावण्णकुहियचिक्खल्लकद्दमेसु कुकू-लाणल-पलित्तजालमुम्मुर-असिक्खुर- करवत्तधारासु णिसिय-विच्छुयडंक-णिवायोवम्म-फरिसअइदुस्सहेसु य, अत्ताणा असरणा कडुयदुक्ख- परितावणेसु अणुबद्ध-णिरंतर-वेयणेसु जमपुरिस-संकुलेसु।

(प्रश्न. 1/1/सू.23)

(त्रस व स्थावर प्राणियों के हिंसक पापी जन) यहां-मनुष्य भव से आयु की समाप्ति होने पर, मृत्यु को प्राप्त होकर अशुभ कर्मों की बहुलता के कारण शीघ्र ही-सीधे ही-नरकों में उत्पन्न होते हैं।

वे नरक बहुत विशाल- विस्तृत हैं। उनकी भित्तियां वज्रमय हैं। उन भित्तियों में कोई सन्धि-छिद्र नहीं है, बाहर निकलने के लिए कोई द्वार नहीं है। वहां की भूमि मृदुतारहित-कठोर है। वह नरक रूपी विषम कारागार है। वहां नारकावास अत्यन्त उष्ण एवं तप्त रहते हैं। वे जीव वहां दुर्गन्ध-सडांध के कारण सदैव उद्विग्न-घबराए रहते हैं। वहां का दृश्य ही अत्यन्त बीभत्स है- वे देखने में भयंकर प्रतीत होते हैं। वहां (किन्हीं स्थानों में जहां शीत की प्रधानता है) हिम-पटल के सदृश शीतलता (बनी रहती) है। वे नरक भयंकर हैं, गंभीर एवं रोमांच खड़े कर देने वाले हैं। अरमणीय-घृणास्पद हैं। वे जिसका प्रतीकार न हो सके अर्थात् असाध्य कुष्ठ आदि व्याधियों, रोगों एवं जरा से पीड़ा पहुंचाने वाले हैं। वहां सदैव अन्धकार रहने के कारण प्रत्येक वस्तु अतीव भयानक लगती है। ग्रह, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र आदि की ज्योति- प्रकाश का वहां अभाव है। मेद, वसा- चर्बी, मांस के ढेर होने से वह स्थान अत्यन्त घृणास्पद है। पीव और रुधिर के बहने से वहां की भूमि गीली और चिकनी रहती है और कीचड़-सी बनी रहती है। (जहां उष्णता की प्रधानता है) वहां का

स्पर्श दहकती हुई करीष की अग्नि या खदिर (खैर) की अग्नि के समान उष्ण, तथा तलवार, उस्तरा अथवा करवत की धार के सदृश तीक्ष्ण है। वह स्पर्श बिच्छू के डंक से भी अधिक वेदना उत्पन्न करने वाला अतिशय दुस्सह होता है। वहां के नारकी जीव त्राण व शरण से रहित हैं, न कोई उनकी रक्षा करता है, न उन्हें आश्रय देता है। वे नरक कटुक दुःखों के कारण घोर परिणाम उत्पन्न करने वाले हैं। वहां लगातर दुःखरूप वेदना चालू ही रहती है- पल भर के लिए भी चैन नहीं मिलता। वहां यमपुरुषों अर्थात् पन्द्रह प्रकार के परमाधामी देवों की भरमार है।

{269}

पेस्सपसु- णिमित्तं ओसहाहारमाइएहिं उक्खणण-उक्कत्थण-पयण-कुट्टण-पीसण-पिट्टण-भज्जण-गालण-आमोडण-सडण-फुडण-भंजण-छेयण-तच्छण-विलुंचण-पत्तज्झोडण-अग्गिदहणाइयाइं, एवं ते भवपरंपरादुक्ख- समणुबद्धा अडंति संसारबीहणकरे जीवा पाणाइवायणिरया अणंतकालं।

(प्रश्न. 1/1/सू.41)

लोगों द्वारा अपने नौकर-चाकरों तथा गाय-भैंस-बैल आदि पशुओं की दवा और आहार आदि के लिए खोदना, छानना, मोड़ना, सड़ जाना, स्वयं टूट जाना, मसलना-कुचलना, छेदन करना, छीलना, रोमों का उखाड़ना, पत्ते आदि तोड़ना, अग्नि से जलाना, इस प्रकार (वनस्पतिकाय, पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय व वायुकाय के रूप में) जन्म-परम्परा के (अनेकानेक) दुःखों को भोगते हुए वे हिंसाकारी पापी जीव भयंकर संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करते रहते हैं।

{270}

जे वि य इह माणुसत्तणं आगया कहिं वि णरगा उव्वट्टिया अधण्णा ते वि य दीसंति पायसो विकयविगलरूवा खुज्जा वडभा य वामणा य बहिरा काणा कुंटा पंगुला विगला य मूका य मम्मणा य अंधयगा एगचक्खू विणिहयसंचिल्लया वाहिरोगपीलिय-अप्पाउय-सत्थबज्झबाला कुलक्खण-उक्किण्णदेहा दुब्बल-कुसंघयण-कुप्पमाण-कुसंठिया कुरूवा किविणा य हीणा हीणसत्ता णिच्चं सोक्खपरिवज्जिया असुहदुक्खभागी णरगाओ इहं सावसेसकम्मा उव्वट्टिया समाणा।

(प्रश्न. 1/1/सू.42)

जो अधन्य (हिंसा का घोर पापकर्म करने वाले) जीव नरक से निकल कर किसी भांति मनुष्य-पर्याय में उत्पन्न होते भी हैं, तो जिनके पापकर्म भोगने से शेष रह जाते हैं, वे प्राय: विकृत एवं विकल-अपरिपूर्ण रूप-स्वरूप वाले, कुबड़े, टेढे-मेढे शरीर वाले, वामन-बौने, बधिर- बहरे, काने, टोंटे-टूटे हाथ वाले, पंगुल-लंगड़े, अंगहीन, गूंगे, मम्मण-अस्पष्ट उच्चारण करने वाले, अंधे, खराब एक नेत्र वाले, दोनों खराब आंखों वाले या पिशाचग्रस्त, कुष्ठ आदि व्याधियों और ज्वर आदि रोगों से अथवा मानसिक रोगों से पीड़ित, अल्पायुष्क, शस्त्र से वध किए जाने योग्य, अज्ञानी-मूढ, अशुभ लक्षणों से भरपूर शरीर वाले, दुर्बल, अप्रशस्त संहनन वाले, बेडौल अंगोपांगों वाले, खराब संस्थान-आकृति वाले, कुरूप, दीन, हीन, सत्त्वविहीन, सुख से सदा वंचित रहने वाले और अशुभ दु:खों से युक्त होते हैं।

{271}

एवं णरगं तिरिक्ख-जोणिं कुमाणुसत्तं च हिंडमाणा पावंति अणंताइं दुक्खाइं पावकारी। एसो सो पाणवहस्स फलविवागो। इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भयो बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुंचई ण य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहंसु णायकुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधेज्जो कहेसी य पाणवहस्स फलविवागं।

एसो सो पाणवहो चंडो रुद्दो अणारिओ णिग्घिणो णिसंसो महब्भओ बीहणओ तासणओ अणज्जाओ उव्वेयणओ य णिरवयक्खो णिद्धम्मो णिप्पिवासो णिक्कलुणो णिरयवासगमणणिधणो मोहमहब्भयपवड्ढओ मरण-वेमणसो।

(प्रश्न. 1/1/सू.43)

इस प्रकार (हिंसारूप)पापकर्म करने वाले प्राणी नरक और तिर्यंच योनि में तथा कुमानुष-अवस्था में भटकते हुए अनन्त दु:ख प्राप्त करते हैं।

यह परिणाम (पूर्वोक्त) प्राणवध (हिंसा)का फलविपाक है, जो इहलोक (मनुष्यभाव)और परलोक (नारकादि भव) में भोगना पड़ता है। यह फलविपाक अल्प सुख किन्तु (भव-भवान्तर में) अत्यधिक दुःख वाला है। महान् भय का जनक है और अतीव गाढ़ कर्मरूपी रज से युक्त है। अत्यन्त दारुण है, अत्यन्त कठोर है और अत्यन्त असाता (दुःख) को उत्पन्न करने वाला है। हजारों वर्षों (सुदीर्घ काल) में इससे छुटकारा मिलता है। किन्तु इसे भोगे विना छुटकारा नहीं मिलता। हिंसा का यह फलविपाक ज्ञातकुल-नन्दन महात्मा महावीर नामक जिनेन्द्रदेव ने कहा है। यह प्राणवध चण्ड, रौद्र, क्षुद्र और अनार्य जनों द्वारा आचरणीय है। यह घृणारहित, नृशंस, महाभयों का कारण, भयानक, त्रासजनक और अन्यायरूप है। यह उद्वेगजनक, दूसरे के प्राणों की परवाह न करने वाला, धर्महीन, स्नेह-पिपासा से शून्य, करुणाहीन है। इसका अन्तिम परिणाम नरक में गमन करना है अर्थात् यह नरक-गति में जाने का कारण है। यह मोहरूपी महाभय को बढ़ाने वाला और मरण के कारण उत्पन्न होने वाली दीनता का जनक है।

{272}

एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे ण हिंसए कंचण सव्वलोए।

(सू.कृ. 1/5/2/24)

धीर मनुष्य इन नारकीय दुःखों को सुन कर संपूर्ण लोकवर्ती किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

{273}

श्रूयते प्राणिघातेन, रौद्रध्यानपरायणौ।
सुभूमो ब्रह्मदत्तश्च सप्तमं नरकं गतौ॥

(है. योग.2/27)

(आगम में) ऐसा सुना जाता है कि प्राणियों की हत्या से रौद्रध्यानपरायण हो कर सुभूम और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सातवीं नरक में गए।

{274}

तमाइक्खइ एवं खलु चउहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति, णेरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जंति। तं जहा- 1 महारंभयाए, 2 महापरिग्गहयाए, 3 पंचिंदियवहेणं, 4 कुणिमाहारेणं, एवं एएणं अभिलावेणं।

मणुस्सेसु-1 पगइभद्दयाए, 2 पगइविणीययाए, 3 साणुक्कोसयाए, 4 अमच्छरिययाए।

(औप. 56; उवा. 1/11)

भगवान् ने आगे कहा- जीव चार स्थानों- कारणों से- नैरयिक- नरक योनि का आयुष्य- बन्ध करते हैं, फलत: वे विभिन्न नरकों में उत्पन्न होते हैं।

वे स्थान या कारण इस प्रकार हैं- 1. महाआरम्भ- घोर हिंसा के भाव व कर्म, 2. महापरिग्रह-अत्यधिक संग्रह के भाव या वैसा आचरण, 3. पंचेन्द्रिय-वध- मनुष्य, तिर्यंच-पशु पक्षी आदि पांच इन्द्रियों वाले प्राणियों का हनन, तथा 4. मांस-भक्षण।

{275}

तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा- पाणे अतिवातित्ता भवइ, मुसं वइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलित्ता णिंदित्ता खिंसित्ता गरहित्ता अवमाणित्ता अण्णयरेणं अमणुण्णेणं अपीतिकारएणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ- इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति।

(ठा. 3/1/19)

तीन प्रकार से जीव अशुभ दीर्घायुष्य कर्म का बन्ध करते हैं- प्राणों का घात करने से, मृषावाद बोलने से और तथारूप श्रमण माहन की अवहेलना, निन्दा, अवज्ञा, गर्हा और अपमान कर किसी अमनोज्ञ तथा अप्रीतिकर अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का प्रतिलाभ (दान) करने से। इन तीन प्रकारों से जीव अशुभ दीर्घ आयुष्य कर्म का बन्ध करते हैं।

{276}

पंचहिं ठाणेहिं जीवा दोग्गतिं गच्छंति, तं जहा- पाणातिवातेणं जाव (मुसावाएणं, अदिण्णादाणेणं, मेहुणेणं), परिग्गहेणं।

(ठा. 5/1/16)

पांच कारणों से जीव दुर्गति में जाते हैं। जैसे-

1. प्राणातिपात (जीव-वध) से, 2. मृषावाद से, 3.अदत्तादान से , 4. मैथुन से, और 5. परिग्रह से।

{277}

अविद्याक्रान्तचित्तेन विषयान्धीकृतात्मना।
चरस्थिराङ्गिसंघातो निर्दोषोऽपि हतो मया॥

(ज्ञा. 33/34/1723)

यन्मया वञ्चितो लोको वराको मूढमानसः।
उपायैर्बहुभिर्निन्द्यैः स्वाक्षसंतर्पणार्थिना॥
कृतः पराभवो येषां धनभूस्त्रीकृते मया।
घाताश्च तेऽत्र संप्राप्ताः कर्तुं तस्याद्य निष्क्रियाम्॥

(ज्ञा. 33/37-37.1/1726-27)

(हिंसा कर नरक-गति में गया हुआ नारकी जीव सोचता है-) मैंने अज्ञान के वश होकर विषयों में अन्ध होते हुए निरपराध भी त्रस और स्थावर प्राणियों के समूह का घात किया है। (1723)

अपनी इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने की इच्छा से बहुत-से निन्द्य उपायों द्वारा जो मैंने बेचारे मूढबुद्धि जनों को ठगा था तथा धन, भूमि और स्त्री के निमित्त जिन लोगों का मैंने तिरस्कार किया था और जिनका घात भी किया था, वें आज यहां उसका प्रतीकार करने के लिए (अपना प्रतिशोध लेने हेतु) यहां (नरक में) प्राप्त हुए हैं। (1726-27)

{278}

ततो विदुर्विभङ्गात्स्वं पतितं श्वभ्रसागरे।
कर्मणाऽत्यन्तरौद्रेण हिंसाद्यारम्भजन्मना॥
ततः प्रादुर्भवत्युच्चैः पश्चात्तापोऽपि दुःसहः।
दहन्नविरतं चेतो वज्राग्निरिव निर्दयः॥

(ज्ञा. 33/27-28/1715-16)

(नरक में उत्पन्न) प्राणी अपने विभंगज्ञान के आश्रय से यह जान लेते हैं कि हम हिंसादि के आरम्भ से उत्पन्न हुए अतिशय दारुण कर्म के कारण इस नरक रूप समुद्र में गिराये गये हैं। तत्पश्चात् उन्हें निर्दय वज्राग्नि के समान निरन्तर चित्त को जलाने वाला अधिक दुःसह पश्चात्ताप उत्पन्न होता है।

{279}

रौरवादिषु घोरेषु विशन्ति पिशिताशनाः।
तेष्वेव हि कदर्थ्यन्ते जन्तुघातकृतोद्यमाः॥

(ज्ञा. 8/16/488)

जो मांस के खाने वाले हैं, वे सातवें नरक के रौरवादि बिलों में प्रवेश करते हैं और वहीं पर जीवों को घात करने वाले ये शिकारी आदिक भी पीड़ित होते हैं।

{280}

हिंसास्तेयानृताब्रह्मबह्वारम्भादिपातकैः।
विशन्ति नरकं घोरं प्राणिनोऽत्यन्तनिर्दयाः॥

(ज्ञा. 33/14/1702)

अतिशय निर्दय प्राणी हिंसा, चोरी, असत्य, अब्रह्म (मैथुन) और बहुत आरम्भादि पापों के कारण भयानक नरक में प्रवेश करते हैं।

{281}

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसई आयसुहं पडुच्चा।
जे लूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खई सेयवियस्स किंचि॥

(सू.कृ. 1/5/1/4)

जो अपने सुख के लिए क्रूर अध्यवसाय से त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करते हैं, उनका अंगच्छेद करते हैं, चोरी करते हैं और सेवनीय (आचरणीय) का अभ्यास नहीं करते (वे नरक में जाते हैं।)

{282}

जे इह आरंभणिस्सिया आयदंड एगंतलूसगा।
गंता ते पावलोगयं चिररायं आसुरियं दिसं॥

(सू.कृ. 1/2/3/63)

जो हिंसा-परायण, आत्मघाती और निर्जन प्रदेश में लूटने वाले हैं, वे नरक में जायेंगे और उस आसुरी दिशा में चिरकाल तक रहेंगे।

{283}

पागब्भि पाणे बहुणं तिवाई अणिव्वुडे घायमुवेइ बाले।
णिहो णिसं गच्छइ अंतकाले अहोसिरं कट्टु उवेइ दुग्गं॥

(सू.कृ. 1/5/1/5)

जो ढीठ मनुष्य अनेक प्राणियों को मारते हैं, अशान्त रहते हैं, वे अज्ञानी आघात (दुर्गति) को प्राप्त होते हैं। वे जीवन का अन्तकाल होने पर नीचे अंधकार-पूर्ण रात्रि (नरक) को प्राप्त होते हैं और नीचे सिर हो कठोर पीड़ा को प्राप्त करते हैं।

{284}

एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति, णरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जंति, तं जहा-महारंभयाए, महापरिग्गहयाए, पंचिंदियवहेणं, कुणिमाहारेणं।

(उवा. 1/11)

जीव चार स्थानों- कारणों से- नैरयिक-नरक योनि का आयुष्य-बन्ध करते हैं, फलतः वे विभिन्न नरकों में उत्पन्न होते हैं।

वे स्थान या कारण इस प्रकार हैं-1. महाआरंभ-घोर हिंसा के भाव व कर्म, 2. महापरिग्रह-अत्यधिक संग्रह के भाव व वैसा आचरण, 3. पंचेन्द्रिय-वध- मनुष्य, तिर्यंच-पशु पक्षी आदि पांच इंद्रियों वाले प्राणियों का हनन, तथा 4. मांस-भक्षण।

{285}

कहं णं भंते! जीवा असुभदीहाउयउत्ताए कम्मं पकरेंति?

गोयमा! पाणे अतिवाइत्ता, मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलित्ता निंदित्ता खिंसित्ता गरहित्ता अवमन्नित्ता, अन्नतरेणं अमणुण्णेणं अपीतिकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता, एवं खलु जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।

(व्या. प्र. 5/6/3)

[प्र.] भगवन्! जीव अशुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्म किन कारणों (कैसे) बांधते हैं?

[उ.] गौतम! प्राणियों की हिंसा करके, असत्य बोल कर, एवं तथारूप श्रमण और माहन की (जाति को प्रकट कर) हीलना, (मन द्वारा) निन्दा, खींसना (लोगों के समक्ष, झिड़कना, बदनाम करना), गर्हा (जनता के समक्ष निन्दा) एवं अपमान करके, अमनोज्ञ और अप्रीतिकर अशन, पान, खादिम और स्वादिम (रूप चतुर्विध आहार) दे (प्रतिलाभित) करके। इस प्रकार (इन तीन कारणों से) जीव अशुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्म बांधते हैं।

{286}

चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयाउयत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा- महारंभताए, महापरिग्गहयाए, पंचिंदियवहेणं, कुणिमाहारेणं।

(ठा. 4/4/628)

चार कारणों से जीव नारकायुष्क-योग्य कर्म उपार्जन करते हैं। जैसे-

1. महा आरम्भ (हिंसा-संकल्प)से, 2. महा परिग्रह से, 3. पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने से, 4. कुणप आहार से (मांसभक्षण करने से)।

○ जन-संहारकारी युद्ध की निन्दा

{287}

अकारणरणेनालं जनसंहारकारिणा।
महानेवमधर्मश्च गरीयांश्च यशोवधः॥

(आ. पु. 36/41)

मनुष्यों का संहार करने वाले इस कारणहीन युद्ध से कोई लाभ नहीं है क्योंकि इसके करने से बड़ा भारी अधर्म होता है और यश की भी हानि होती है।

○ संतान/भ्रूण-हत्या वर्जित

{288}

संतानघातिनः पुंसः का गतिर्नरकाद्विना।

(उ. पु. 65/78)

संतान का घात करने वाले पुरुष की नरक के सिवाय दूसरी कौन-सी गति हो सकती है?

{289}

[कर्म-बंध की कारणभूत क्रियाएं अनेक हैं, उनकी पृष्ठभूमि में विद्यमान विविध कारणों/स्थानों (हिंसा, लोभ आदि) के आधार पर उन 'क्रियास्थानों' को तेरह वर्गों में विभाजित किया गया है। उनमें से बारह क्रियास्थानों का सम्बन्ध निरर्थक असंयत हिंसाकारी प्रवृत्ति, जान-बूझ कर हिंसा की प्रवृत्ति, अन्य हिंसात्मक (अप्रशस्त) कषायों/मनोविकारों से है, उन्हें यहां वर्णित किया जा रहा है:-]

1. अहावरे चउत्थे दंडसमादाणे अकस्माद् दंडवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवित्तए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता एते मिय त्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वधाए उसुं आयामेत्ता णं णिसिरेज्जा, से मियं वहिस्सामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा चडगं वा लावगं वा कवोतगं वा कविं वा कविंजलं वा विंधित्ता भवति; इति खलु से अण्णस्स अट्ठाए अण्णं फुसइ, अकस्माद्दंडे।

2. जे जहाणामए केइ पुरिसे सालीणि वा वीहीणि वा कोद्दवाणि वा कंगूणि वा परगाणि वा रालाणि वा णिलिज्जमाणे अन्नयरस्स तणस्स वहाए सत्थं णिसिरेज्जा, से सामगं मयणगं मुगुंदगं वीहिरूसितं कालेसुतं तणं छिंदिस्सामि त्ति कट्टु सालिं वा वीहिं वा कोद्दवं वा कंगुं वा परगं वा रालयं वा छिंदित्ता भवइ, इति खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसति, अकस्मात् दंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, चउत्थे दंडसमादाणे अकस्मात् दंडवत्तिए त्ति आहिते।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 698)

1. जैसे कि कोई व्यक्ति नदी के तट पर अथवा द्रह (झील) पर ....कसी घोर दुर्गम जंगल में जा कर मृग (आदि प्राणी) को मारने की प्रवृत्ति करता है, मृग को मारने का संकल्प करता है, मृग का ही ध्यान रखता है, मृग का वधन करने के लए चल पड़ता है; 'यह मृग है' यों जान कर किसी एक मृग को मारने के लिए वह अपने धनुष पर बाण को खींच कर चलाता है, किंतु उस मृग को मारने का आशय होने पर भी उसका बाण लक्ष्य (वध्य जीवमृग) को न लग कर तीतर, बटेर (बतक), चिड़िया, लावक, कबूतर, बंदर या कपिंजल पक्षी को लग कर उन्हें बींध डालता है। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति दूसरे के लिए प्रयुक्त दंड से दूसरे का घात करता है, वह दंड (वध) इच्छा न होने पर भी अकस्मात् (सहसा) हो जाता है, इसलिए इसे अकस्माद्दंड (प्रत्ययिक) क्रियास्थान कहते हैं।

2. जैसे कोई पुरुष शाली, व्रीहि, कोद्रव (कोंदो), कंगू, परक और राल नामक धान्यों (अनाजों) को शोधित (साफ) करता हुआ किसी तृण (घास) को काटने के लिए शस्त्र (हंसिया या दांती) चलाता है, और 'मैं श्यामाक, तृण और कुमुद आदि घास को काटूं' ऐसा आशय होने पर भी (लक्ष्य चूक जाने से) शाली, व्रीहि, कोद्रव, कंगू, परक और राल के पौधों का ही छेदन कर बैठता है। इस प्रकार अन्य वस्तु को लक्ष्य करके किया हुआ दंड (प्राणिहिंसा) अन्य को स्पर्श करता है। यह दंड भी, घातक पुरुष का अभिप्राय न होने पर भी अचानक हो जाने के कारण, अकस्माद्दंड कहलाता है। इस प्रकार अकस्मात् (किसी जीव को) दंड के कारण उस घातक पुरुष को (उसके निमित्त से) सावद्य कर्म का बंध होता है। अतः यह चतुर्थ क्रियास्थान अकस्माद्दंड प्रत्ययिक कहा गया है।

{290}

पढमे दंडसमादाणे। अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जति से। जहानामए केइ पुरिसे आतहेउं वा णाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा मित्तहेउं वा णागहउं वा भूतहेउं वा जक्खहेउं वा तं दंडं तस- थावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति, अण्णेण वि णिसिरावेति, अण्णं पि णिसिरंतं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे ति आहिज्जति, पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिते।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 695)

प्रथम दण्डसमादान अर्थात् क्रियास्थान अर्थदंडप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे कि कोई पुरुष अपने लिए, अपने ज्ञातिजनों के लिए, अपने घर या परिवार के लिए, मित्रजनों के लिए अथवा नाग, भूत और यक्ष आदि के लिए स्वयं त्रस और स्थावर जीवों को दंड देता है (प्राणिसंहारिणी क्रिया करता है); अथवा (पूर्वोक्त कारणों से), दूसरे से दंड दिलवाता है; अथवा दूसरा दंड दे रहा हो, उसका अनुमोदन करता है। ऐसी स्थिति में उसे उस सावद्य क्रिया के निमित्त से पापकर्म का बंध होता है। यह प्रथम दंडसमादान अर्थदंडप्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया है।

[दंड-हिंसादि पाप से सम्बन्धित संकल्प, जो जीव को दंडित करता है, उसका समादान यानी ग्रहण ही 'दंडसमादान' है।]

1. अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहानामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति ते णो अच्चाए णो अजिणाए णो मंसाए णो सोणियाए एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणाए अट्ठीए अट्ठिमिंजाए, णो हिंसिंसु मे त्ति, णो हिसंति मे त्ति, णो हिंसिस्संति मे त्ति, णो पुत्तपोसणयाए, णो पसुपोसणयाए, णो अगारपरिवूहणताए णो समण-माहणवत्तियहेउं, णो तस्स सरीरगस्स किंचि वि परियादित्ता भवति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादंडे।

2. से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तंजहा-इक्कडा इ वा कढिणा इ वा जंतुगा इ वा परगा इ वा मोरका इ वा तणा इ वा कुसा इ वा कुच्चक्का इ वा पव्वगा ति वा पलालए इ वा, ते णो पुत्तपोसणयाए णो पसुपोसणयाए णो अगारपोसणयाए णो समण-माहणपोसणयाए, णो तस्स सरीरगस्स किंचि वि परियादित्ता भवति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंइपत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादंडे।

3. से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा दहंसि वा दगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय ऊसविय सयमेव अगणिकायं णिसिरति, अण्णेण वि अगणिकायं णिसिरावेति, अण्णं पि अगणिकायं णिसिरंतं समणुजाणति, अणट्ठादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिते।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 696)

जैसे कोई पुरुष ऐसा होता है, जो इन त्रस प्राणियों को न तो अपने शरीर की अर्चा (रक्षा या संस्कार के) लिए अथवा अर्चा-पूजा के लिए मारता है, न चमड़े के लिए, न ही मांस के लिए और न रक्त के लिए मारता है। एवं हृदय के लिए, पित्त के लिए, चर्बी के लिए, पिच्छ (पंख), पूंछ, बाल, सींग, विषाण, दांत, दाढ़, नख, नाड़ी, हड्डी और हड्डी की मज्जा (रग) के लिए नहीं मारता। तथा इसने मुझे या मेरे किसी सम्बन्धी को मारा है, अथवा मार रहा है या मारेगा, इसलिए नहीं मारता, एवं पुत्रपोषण, पशुपोषण तथा अपने घर की मरम्मत एवं हिफाजत (अथवा विशाल बनाने) के लिए भी नहीं मारता, तथा श्रमण और माहन (ब्राह्मण) के जीवन-निर्वाह के लिए, एवं उनके या अपने शरीर या प्राणों पर किञ्चित्

उपद्रव न हो, अतः परित्राणहेतु भी नहीं मारता, अपितु निष्प्रयोजन (बिना किसी अर्थ या निमित्त के) ही वह मूर्ख (बाल) प्राणियों को दंड देता हुआ उन्हें (दंड आदि से) मारता है, उनके (कान नाक आदि) अंगों का छेदन करता है, उन्हें शूल आदि से भेदन करता है, उन प्राणियों के अंगों को अलग-अलग करता है, उनकी आंखें निकालता है, चमड़ी उधेड़ता है, उन्हें डराता-धमकाता है, अथवा परमाधार्मिकवत् अकारण ही नाना उपायों से उन्हें पीड़ा पहुंचाता है, तथा प्राणों से रहित भी कर देता है। वह सद्विवेक का त्याग करके या अपना आपा (होश) खो कर (अविचारपूर्वक कार्य करने वाला) तथा निष्प्रयोजन त्रस प्राणियों को उत्पीड़ित (दंडित) करने वाला वह मूढ़ प्राणी अन्य प्राणियों के साथ (जन्म-जन्मान्तरानुबंधी) वैर का भागी बन जाता है।

2. कोई पुरुष, ये जो स्थावर प्राणी हैं, जैसे कि इक्कड़, कठिन, जंतुक, परक, मयूरक, मुस्ता (मोथा), तृण (हरीघास), कुश, कुच्छक (कर्चक) पर्वक और पलाल (पराल) नामक विविध वनस्पतियां होती हैं, उन्हें निरर्थक दंड देता है। वह इन वनस्पतियों को पुत्रादि के पोषणार्थ या पशुओं के पोषणार्थ, या गृहरक्षार्थ, अथवा श्रमण एवं माहन (ब्राह्मण) के पोषणार्थ दंड नहीं देता, न ही ये वनस्पतियां उसके शरीर की रक्षा के लिए कुछ काम आती हैं, तथापि वह अज्ञ निरर्थक ही उनका हनन, छेदन, भेदन, खंडन, मर्दन, उत्पीड़न करता है, उनमें भय उत्पन्न करता है, या जीवन से रहित कर देता है। विवेक को तिलांजलि दे कर वह मूढ़ व्यर्थ ही (वनस्पतिकायिक) प्राणियों को दंड देता है और (जन्मजन्मान्तर तक) उन प्राणियों के साथ वैर का भागी बन जाता है।

3. जैसे कोई पुरुष (सद-असद्विवेक रहित हो कर) नदी के कच्छ (किनारे) पर, द्रह (तालाब या झील) पर, या किसी जलाशय में, अथवा तृणराशि पर, तथा नदी आदि द्वारा घिरे हुए स्थान में, अंधकारपूर्ण स्थान में अथवा किसी गहन-दुष्प्रवेशस्थान में, वन में या घोर वन में, पर्वत पर या पर्वत के किसी दुर्गम स्थान में तृण या घास को बिछा-बिछा कर, फैला-फैला कर अथवा ऊंचा ढेर करके, स्वयं उसमें आग लगाता (जला डालता) है, अथवा दूसरे से आग लगवाता है, अथवा इन स्थानों पर आग लगाते (या जलाते) हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन-समर्थन करता है, वह पुरुष निष्प्रयोजन प्राणियों को दंड देता है। इस प्रकार उस पुरुष को व्यर्थ ही (अग्निकायिक तथा तदाश्रित अन्य त्रसादि) प्राणियों के घात के कारण सावद्य (पाप) कर्म का बंध होता है। (यह दूसरा अनर्थदंडप्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया है।)

{292}

अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे ममं वा ममिं वा अन्नं वा अन्निं वा हिंसिंसु वा हिंसइ वा हिंसिस्सइ वा तं दंडं तस-थावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति, अण्णेण वि णिसिरावेति, अन्नं पि णिसिरंतं समणुजाणति, हिंसादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जइ, तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिते।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 697)

तीसरा क्रियास्थान हिंसादंडप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे कि कोई पुरुष त्रस और स्थावर प्राणियों को इसलिए स्वयं दंड देता है कि इस (त्रस या स्थावर) जीव ने मुझे या मेरे सम्बंधी को तथा दूसरे को या दूसरे के सम्बन्धी को मारा था, मार रहा है या मारेगा, अथवा वह दूसरे से त्रस और स्थावर प्राणी को दंड दिलाता है, या त्रस और स्थावर प्राणी को दंड देते हुए दूसरे पुरुष का अनुमोदन करता है। ऐसा व्यक्ति प्राणियों को हिंसारूप दंड देता है। उस व्यक्ति को हिंसाप्रत्ययिक सावद्यकर्म का बंध होता है। अतः इस तीसरे क्रियास्थान को हिंसादंडप्रत्ययिक कहा गया है।

{293}

1. अहावरे पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठीविप्परियासियादंडे त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भातीहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूताहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्तमिति मन्नमाणे मित्ते हयपुव्वे भवति दिट्ठीविप्परियासियादंडे।

2. से जहा वा केइ पुरिसे गामघायंसि वा णगरघायंसि वा खेड. कब्बड. मडंबघातंसि वा दोणमुहघायंसि वा पट्टणघायंसि वा आसमघातंसि वा सन्निवेसघायंसि वा निगमघायंसि वा रायहाणिघायंसि वा अतेणं तेणमिति मन्नमाणे अतेण हयपुव्वे भवइ, दिट्ठीविपरियासियादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठीविप्परियासियादंडे त्ति आहिते।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 699)

जैसे कोई व्यक्ति अपने माता, पिता, भाइयों, बहनों, स्त्री, पुत्रों, पुत्रियों या पुत्रवधुओं के साथ निवास करता हुआ अपने उस मित्र (हितैषीजन) को (गलतफहमी से) शत्रु (विरोधी या अहितैषी) समझ कर मार देता है, इसको दृष्टिविपर्यासदंड कहते हैं, क्योंकि यह दंड दृष्टिभ्रमवश होता है।

जैसे कोई पुरुष ग्राम, नगर, खेड, कब्बड, मंडप, द्रोण-मुख, पत्तन, आश्रम, सन्निवेश, निगम अथवा राजधानी पर घात के समय किसी चोर से भिन्न (अचोर) को चोर समझ कर मार डाले तो वह दृष्टिविपर्यासदंड कहलाता है। इस प्रकार जो पुरुष अहितैषी या दंड्य के भ्रम से हितैषी जन या अदंड्य प्राणी को दंड दे बैठता है, उसे उक्त दृष्टिविपर्यास के कारण सावद्यकर्मबंध होता है। इसलिए इसे दृष्टिविपर्यास दंडप्रत्ययिक नामक पंचम क्रियास्थान बताया गया है।

{294}

अहावरे छट्ठे किरियाठाणे मोसवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहानामए केइ पुरिसे आयहेउं नायहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा सयमेव मुसं वयति, अण्णेण वि मुसं वदावेति, मुसं वयंतं पि अण्णं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, छट्ठे किरियाठाणे मोसवत्तिए त्ति आहिते।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 700)

छठा क्रियास्थान मृषाप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे कि कोई पुरुष अपने लिए, ज्ञातिवर्ग के लिए, घर के लिए अथवा परिवार के लिए स्वयं असत्य बोलता है, दूसरे से असत्य बुलवाता है, तथा असत्य बोलते हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन करता है; ऐसा करने के कारण उस व्यक्ति को असत्य प्रवृत्ति-निमित्तक पाप (सावद्य) कर्म का बंध होता है। इसलिए यह छठा क्रियास्थान मृषावादप्रत्ययिक कहा गया है।

{295}

अहावरे सत्तमे किरियाठाणे अदिण्णादाणवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा जाव परिवारहेउं वा सयमेव अदिण्णं आदियति, अण्णेण वि अदिण्णं आदियावेति, अदिण्णं आदियंतं अण्णं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, सत्तमे किरिया ठाणे आदिण्णादाणवत्तिए त्ति आहिते।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 701)

सातवां क्रियास्थान अदत्तादानप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे कोई व्यक्ति अपने लिए, अपनी जाति के लिए तथा अपने घर और परिवार के लिए अदत्त-वस्तु के स्वामी के द्वारा न दी गई वस्तु को स्वयं ग्रहण करता है, दूसरे से अदत्त को ग्रहण कराता है, और अदत्त ग्रहण करते हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन करता है, तो ऐसा करने वाले उस व्यक्ति को अदत्तादान-सम्बन्धित सावद्य (पाप) कर्म का बंध होता है। इसलिए इस सातवें क्रियास्थान को अदत्तादानप्रत्ययिक कहा गया है।

{296}

अहावरे अट्ठमे किरियाठाणे अज्झत्थिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे, से णत्थि णं किंचि विसंवादेति, सयमेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागर-संपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगते भूमिगतदिट्ठीए झियाति, तस्स णं अज्झत्थिया असंसइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जंति, तं.-कोहे माणे माया लोभे, अज्झत्थमेव कोह-माण-माया-लोहा, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, अट्ठमे किरियाठाणे अज्झत्थिए त्ति आहिते।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 702)

आठवां अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया है। जैसे कोई ऐसा (चिन्ता एवं भ्रम से ग्रस्त) पुरुष है, किसी विसंवाद (तिरस्कार या क्लेश) के कारण, दुःख उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा नहीं है, फिर भी वह स्वयमेव हीन-भावनाग्रस्त, दीन, दुश्चिन्त (दुःखित चित्त) दुर्मनस्क, उदास होकर मन में अस्वस्थ (बुरा) संकल्प करता रहता है, चिंता और शोक के सागर में डूबा रहता है, एवं हथेली पर मुंह रख कर (उदासीन मुद्रा में) पृथ्वी पर दृष्टि किए हुए आर्त्तध्यान करता रहता है। निःसंदेह उसके हृदय में संचित चार कारण हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ। वस्तुतः क्रोध, मान, माया और लोभ (आत्मा-अन्तःकरण में उत्पन्न होने के कारण) आध्यात्मिक भाव हैं। उस प्रकार अध्यात्मभाव के कारण सावद्यकर्म का बंध होता है। अतः आठवें क्रियास्थान को 'अध्यात्मप्रत्ययिक' कहा गया है।

{297}

अहावरे णवमे किरियाठाणे माणवत्तिए त्ति आहिज्जई। से जहाणामए केइ पुरिसे जातिमदेण वा कुलमदेण वा बलमदेण वा रूवमएण वा तवमएण वा सुयमदेण वा लाभमदेण वा इस्सरियमदेण वा पण्णामदेण वा अन्नतरेण वा मदट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेति निंदति खिंसति गरहति परिभवइ अवमण्णेति, इत्तरिए अयमंसि अप्पाणं समुक्कसे, देहा चुए कम्मबितिए अवसे पयाति, तंजहा गब्भातो गब्भं, जम्मातो जम्मं, मारातो मारं, णरगाओ णरगं, चंडे थद्धे चवले माणी यावि भवति, एवं खु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, णवमे किरियाठाणे माणवत्तिए त्ति आहिते

(सू.कृ. 2/2/ सू. 703)

नौवां क्रियास्थान मानप्रत्ययिक कहा गया है। जैसे कोई व्यक्ति जातिमद, कुलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुत (शास्त्रज्ञान) मद, लाभमद, ऐश्वर्यमद एवं प्रज्ञामद, इन आठ मदस्थानों में से किसी एक मद-स्थान से मत्त हो कर दूसरे व्यक्ति की अवहेलना (अवज्ञा) करता है,

निंदा करता है, उसे झिड़कता है, या घृणा करता है, गर्हा करता है, दूसरे को नीचा दिखाता (पराभव करता) है, उसका अपमान करता है। (वह समझता है-) यह व्यक्ति हीन (योग्यता, गुण आदि में मुझ से न्यून) है, मैं विशिष्ट जाति, कुल, बल आदि गुणों से सम्पन्न हूं, इस प्रकार अपने आपको उत्कृष्ट मानता हुआ गर्व करता है।

इस प्रकार जाति आदि मदों से उन्मत्त पुरुष आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर को (यहीं) छोड़ कर कर्ममात्र को साथ ले कर विवशतापूर्वक परलोक प्रयाण करता है। वहां वह एक गर्भ से दूसरे गर्भ को, एक जन्म से दूसरे जन्म को, एक मरण से दूसरे मरण को और एक नरक से दूसरे नरक को प्राप्त करता रहता है। परलोक में वह चंड (भयंकर, क्रोधी, अतिरौद्र), नम्रतारहित, चपल और अतिमानी होता है। इस प्रकार वह व्यक्ति उक्त अभिमान (मद) की क्रिया के कारण सावद्यकर्मबंध करता है। यह नौवां क्रियास्थान मानप्रत्ययिक कहा गया है।

{298}

अहावरे दसमे किरियाठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिज्जति, से जहाणामए केइ पुरसे मातीहिं वा पितीहिं वा भाईहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूयाहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नतरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं वत्तेति, तंजहा-सीतोदग-वियडंसि वा कायं ओबोलित्ता भवति, उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवति, अगणिकाएण वा कायं उड्डहित्ता भवति, जोत्तेण वा वेत्तेण वा णेत्तेण वा तया वा कसेण वा छिवाए वा लयाए वा पासाइं उद्दालेत्ता भवति, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा कायं आउट्टिट्टा भवति; तहप्पकारे पुरिसजाते संवसमाणे दुम्मणा भवंति, पवसमाणे सुमणा भवंति, तहप्पकारे पुरिसजाते दंडपासी दंडगुरुए दंडपुरक्खडे अहिए इमंसि लोगंसि अहिते परंसि लोगंसि संजलणे कोहणे पिट्ठिमंसि यावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, दसमे किरियाठाणे मित्तिदोसवत्तिए त्ति आहिते।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 704)

दसवां क्रियास्थान मित्र दोषप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे-कोई (प्रभुत्व संपन्न) पुरुष, माता, पिता, भाइयों, बहनों, पत्नी, कन्याओं, पुत्रों अथवा पुत्रवधुओं के साथ निवास करता हुआ, इनसे कोई छोटा-सा भी अपराध हो जाने पर स्वयं भारी दंड देता है, उदाहरणार्थ-सर्दी के दिनों में अत्यन्त ठंडे पानी में उन्हें डुबोता है; गर्मी के दिनों में उनके शरीर पर

अत्यन्त गर्म (उबलता हुआ) पानी छींटता है, आग से उनके शरीर को जला देता है या गर्म दाग देता है, तथा जोत्र से, बेंत से, छड़ी से, चमड़े से, लता से या चाबुक से अथवा किसी प्रकार की रस्सी से प्रहार करके उसके बगल (पार्श्वभाग) की चमड़ी उधेड़ देता है, तथैव डंडे से, हड्डी से, मुक्के से, ढेले से,ठीकरे या खप्पर से मार-मार कर उसके शरीर को ढीला (जर्जर) कर देता है। ऐसे (अतिक्रोधी) पुरुष के घर पर रहने से उसके सहवासी पारिवारिकजन दुःखी रहते हैं, ऐसे पुरुष के परदेश प्रवास करने से वे सुखी रहते हैं। इस प्रकार का व्यक्ति जो (हरदम) डंडा बगल में दबाये रखता है, जरा से अपराध पर भारी दंड देता है, हर बात में दंड को आगे रखता है अथवा दंड को आगे रख कर बात करता है, वह इस लोक में तो अपना अहित करता ही है, परलोक में भी अपना अहित करता है। वह प्रतिक्षण ईर्ष्या से जलता रहता है, बात-बात में क्रोध करता है, दूसरों की पीठ पीछे निन्दा करता है, या चुगली खाता है। इस प्रकार के (महादंडप्रवर्त्तक) व्यक्ति को हितैषी (मित्र) व्यक्तियों को महादंड देने की क्रिया के निमित्त से पापकर्म का बंध होता है। इसी कारण इस दसवें क्रियास्थान को 'मित्रदोष-प्रत्ययिक' कहा गया है।

{299}

अहावरे एक्कारसमे किरियाठाणे मायावत्तिए त्ति आहिज्जत्ति, जे इमे भवंति- गूढायारा तमोकासिया उलूगपत्तलहुया, पव्वयगुरुया, ते आरिया वि संता अणारियाओ भासाओ विउज्जंति, अन्नहा संतं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति अन्नं पुट्ठा अन्नं वागरेंति, अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं आइक्खंति। से जहाणामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले तं सल्लं णो सयं णीहरति, णो अन्नेण णीहरावेति, णो पडिवद्धंसेति, एवामेव णिण्हवेति, अविउट्टमाणे अंतो अंतो रियाति, एवामेव माई मायं कट्टु णो आलोएति णो पडिक्कमति णो णिंदति णो गरहति णो विउट्टति णो विसोहति णो अकरणयाए अब्भुट्ठेति णो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जति, मायी अस्सं लोए पच्चायाइ, मायी परंसि लोए पच्चायाति, निंदं गहाय पसंसते, णिच्चरति, ण नियट्टति, णिसिरिय दंडं छाएति, मायी असमाहडसुहलेसे यावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जइ, एक्कारसमे किरियाठाणे मायावत्तिए त्ति आहिते।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 705)

ग्यारहवां क्रियास्थान है, जिसे मायाप्रत्ययिक कहते हैं। ऐसे व्यक्ति, जो किसी को पता न चल सके, ऐसे गूढ़ आचार (आचरण) वाले होते हैं, लोगों को अंधेरे में रख कर

कायचेष्टा या क्रिया (काम) करते हैं, तथा अपने (कुकृत्यों के कारण) उल्लू के पंख के समान हलके होते हुए भी अपने आपको पर्वत के समान बड़ा भारी समझते हैं, वे आर्य्य (आर्यदेशोत्पन्न) होते हुए भी (स्वयं को छिपाने के लिए) अनार्यभाषाओं का प्रयोग करते हैं, वे अन्य रूप में होते हुए भी स्वयं को अन्यथा (साधु पुरुष के रूप में) मानते हैं; वे दूसरी बात पूछने पर (वाचालतावश) दूसरी बात का व्याख्यान करने लगते हैं, दूसरी बात कहने के स्थान पर (अपने अज्ञान को छिपाने के लिए) दूसरी बात का वर्णन करने पर उतर जाते हैं। (उदाहरणार्थ-) जैसे किसी (युद्ध से पलायित) पुरुष के अंतर में शल्य (तीर या नुकीला कांटा) गड़ गया हो, वह उस शल्य को (वेदनासहन में भीरुता प्रदर्शित न हो, इसलिए या पीड़ा के डर से) स्वयं नहीं निकालता, न किसी दूसरे से निकलवाता है, (और न चिकित्सक के परामर्शानुसार किसी उपाय से) उस शल्य को नष्ट करवाता है, प्रत्युत निष्प्रयोजन ही उसे छिपाता है, तथा उसकी वेदना से अंदर ही अंदर पीड़ित होता हुआ उसे सहता रहता है, इसी प्रकार मायी व्यक्ति भी माया (कपट) करके उस (अंतर में गड़े हुए) मायाशल्य को निंदा के भय से स्वयं (गुरुजनों के समक्ष) आलोचना नहीं करता, न उसका प्रतिक्रमण करता है, न (आत्मसाक्षी से) निंदा करता है, न (गुरुजन-समक्ष उसकी गर्हा करता है (अर्थात् उक्त माया शल्य को न तो स्वयं निकालता है, और न दूसरों से निकलवाता है।) न वह उस (मायाशल्य) को प्रायश्चित्त आदि उपायों से तोड़ता (मिटाता) है, और न उसकी शुद्धि करता है, उसे पुनः न करने के लिए भी उद्यत नहीं होता, तथा उस पापकर्म के अनुरूप यथायोग्य तपश्चरण के रूप में प्रायश्चित्त भी स्वीकार नहीं करता।

इस प्रकार मायी इस लोक में (मायी रूप में) प्रख्यात हो जाता है, (इसलिए) अविश्वसनीय हो जाता है; (अतिमायी होने से) परलोक में (अधम यातना-स्थानों-नरक तिर्यञ्चगतियों में) भी पुनः पुनः जन्म-मरण करता रहता है। वह (नाना प्रपञ्चों से वंचना करके) दूसरे की निंदा करता है, दूसरे से घृणा करता है, अपनी प्रशंसा करता है, निश्चिन्त हो कर बुरे कार्यों में प्रवृत्त होता है, असत् कार्यों से निवृत्त नहीं होता, प्राणियों को दंड दे कर भी उसे स्वीकारता नहीं, छिपाता है (दोष ढंकता है)। ऐसा मायावी शुभ लेश्याओं को अंगीकार भी नहीं करता। ऐसा मायी पुरुष पूर्वोक्त प्रकार की माया (कपट) युक्त क्रियाओं के कारण (सावद्य) कर्म का बंध करता है। इसीलिए इस ग्यारहवें क्रियास्थान को मायाप्रत्ययिक कहा गया है।

अहावरे बारसमे किरियाठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिज्जति, तंजहा-जे इमे भवंति आरण्णिया आवसहिया गामंतिया कण्हुईराहस्सिया, णो बहुसंजया, णो बहुपडिविरया सव्वपाण-भूत-जीव-सत्तेहिं, ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विउंजंति-अहं ण हंतव्वो अन्ने हंतव्वा, अहं ण अज्जावेतव्वो अन्ने अज्जावेयव्वा, अहं ण परिघेत्तव्वो अन्ने परिघेत्तव्वा, अहं ण परितावेयव्वो अन्ने परितावेयव्वा, अहं ण उद्दवेयव्वो अन्ने उद्दवेयव्वा, एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिता गरहिता अज्झोववण्णा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अन्नतरेसु आसुरिएसु किब्बिसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति, ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए जाइमूयत्ताए पच्चायंति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, दुवालसमे किरियाठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिते इच्चेताइं दुवालस किरियाठाणाइं दविएणं समणेणं वा महाणेणं वा सम्मं सुपरिजाणियव्वाइं भवंति।

(सू.कृ. 2/2/ सू. 706)

बारहवां क्रियास्थान है, जिसे लोभप्रत्ययिक कहा जाता है। वह इस प्रकार है- ये जो वन में निवास करने वाले (आरण्यक) हैं, जो कुटी बना कर रहते (आवसथिक) हैं, जो ग्राम के निकट डेरा डाल कर (ग्राम के आश्रय से अपना निर्वाह करने हेतु) रहते (ग्रामान्तिक) हैं, कई (गुफा, वन आदि) एकांत (स्थानों) में निवास करते हैं, अथवा कोई रहस्यमयी गुप्त क्रिया करते (राहस्यिक) हैं। ये आरण्यक आदि न तो सर्वथा संयत (सर्वसावद्य अनुष्ठानों से निवृत्त) हैं और न ही (प्राणातिपातादि समस्त आस्रवों से) विरत हैं, वे समस्त प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों की हिंसा से स्वयं विरत नहीं हैं। वे (आरण्यकादि) स्वयं कुछ सत्य और कुछ मिथ्या (सत्यमिथ्या) (अथवा सत्य होते हुए भी जीवहिंसात्मक होने से मृषाभूत) वाक्यों का प्रयोग करते हैं जैसे कि-मैं (उच्च जाति का होने से) मारे जाने योग्य नहीं हूं, अन्य लोग (नीच जाति का होने से) मारे जाने योग्य (मारे जा सकते) हैं, मैं (वर्णों में उत्तम होने से) आज्ञा देने (आज्ञा में चलाने) योग्य नहीं हूं, किंतु दूसरे (निम्नवर्णीय) आज्ञा देने योग्य हैं, मैं (दास-दासी आदि के रूप में खरीद कर) परिग्रहण या निग्रह करने योग्य, नहीं हूं, दूसरे (निम्नवर्णीय) परिग्रह या निग्रह करने योग्य हैं, मैं संताप देने योग्य नहीं हूं, किंतु अन्य जीव संताप देने योग्य हैं, मैं उद्विग्न करने या जीव-रहित करने योग्य नहीं हूं, दूसरे प्राणी उद्विग्न, भयभीत या जीवरहित करने योग्य हैं।

इस प्रकार परमार्थ से अनभिज्ञ वे अन्यतीर्थिक व्यक्ति स्त्रियों और शब्दादि कामभोगों में आसक्त (मूर्च्छित), गृद्ध (विषयलोलुप) सतत विषयभोगों में ग्रस्त, गर्हित एवं लीन रहते हैं।

वे चार, पांच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या अधिक काम-भोगों का उपभोग करके मृत्यु के समय मृत्यु पा कर असुरलोक में किल्बिषी असुर के रूप उत्पन्न होते हैं। उस आसुरी योनि से (आयुक्षय होने से) विमुक्त होने पर (मनुष्यभव में भी) बकरे की तरह मूक, जन्मान्ध (द्रव्य से अंध एवं भाव से अज्ञानान्ध) एवं जन्म से मूक होते हैं। इस प्रकार विषय-लोलुपता की क्रिया के कारण लोभप्रत्ययिक पाप (सावद्य) कर्म का बंध होता है। इसीलिए बारहवें क्रियास्थान को लोभप्रत्ययिक कहा गया है। इन पूर्वोक्त बारह क्रियास्थानों (के स्वरूप) को मुक्तिगमनयोग्य (द्रव्य-भव्य) श्रमण या माहन को सम्यक् प्रकार से जान लेना चाहिए, और तत्पश्चात् इनका त्याग करना चाहिए।

O हिंसाःअसंयम-द्वार

{301}

बेइंदिया णं जीवा असमारभमाणस्स चउव्विहे संजमे कज्जति, तं जहा- जिब्भामयातो सोक्खातो अववरोवित्ता भवति, जिब्भामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवति, फासामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति, फासामएणं दुक्खेणं असंजोगित्ता भवति।

(ठा. 4/4/616)

द्वीन्द्रिय जीवों को नहीं मारने वाले पुरुष के चार प्रकार का संयम होता है, जैसे-

1. द्वीन्द्रिय जीवों के जिह्वामय सुख का घात नहीं करता, यह पहला संयम है।
2. द्वीन्द्रिय जीवों के जिह्वामय दुःख का संयोग नहीं करता, यह दूसरा संयम है।
3. द्वीन्द्रिय जीवों के स्पर्शमय सुख का घात नहीं करता, यह तीसरा संयम है।
4. द्वीन्द्रिय जीवों के स्पर्शमय दुःख का संयोग नहीं करता, यह चौथा संयम है।

{302}

भावे अ असंजमो सत्थं।

(आचा. नि. 96)

भाव-दृष्टि से संसार में असंयम ही सबसे बड़ा शस्त्र है।

{303}

एगिंदिया णं जीवा समारभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जति, तंजहा- पुढविकाइय-असंजमे,(आउकाइयअसंजमे, तेउकाइयअसंजमे, वाउकाइयअसंजमे), वणस्सतिकाइयअसंजमे।

(ठा. 5/2/141)

एकेन्द्रिय जीवों का आरम्भ करने वाले को पांच प्रकार असंयम होता है। जैसे-

1. पृथिवीकायिक-असंयम, 2. अप्कायिक-असंयम, 3. तेजस्कायिक-असंयम, 4.वायुकायिक-असंयम, और 5. वनस्पतिकायिक-असंयम।

{304}

बेइंदिया णं जीवा समारभमाणस्स चउविधे असंजमे कज्जति, तं जहा- जिब्भामयातो सोक्खातो ववरोवित्ता भवति, जिब्भामएणं दुक्खेणं संजोगित्ता भवति, फासामयातो सोक्खातो ववरोवेत्ता भवति, (फासामएणं दुक्खेणं संजोगित्ता भवति)।

(ठा. 4/4/617)

द्वीन्द्रिय जीवों का घात करने वाले पुरुष के चार प्रकार असंयम होता है। जैसे-

1. द्वीन्द्रिय जीवों के जिह्वामय सुख का घात करता है, यह पहला असंयम है।
2. द्वीन्द्रिय जीवों के जिह्वामय दुःख का संयोग करता है, यह दूसरा असंयम है।
3. द्वीन्द्रिय जीवों के स्पर्शमय सुख का घात करता है, यह तीसरा असंयम है।
4. द्वीन्द्रिय जीवों के स्पर्शमय दुःख का संयोग करता है, यह चौथा असंयम है।

{305}

पंचिंदिया णं जीवा समारभमाणस्स पंचविधे असंजमे कज्जति, तंजहा- सोतिंदिय-असंजमे,(चक्खिंदियअसंजमे, घाणिंदियअसंजमे, जिब्भिंदियअसंजमे), फासिंदियअसंजमे।

(ठा. 5/2/143)

पंचेन्द्रिय जीवों का घात करने वाले को पांच प्रकार का असंयम होता है। जैसे-

1. श्रोत्रेन्द्रिय-असंयम, 2. चक्षुरिन्द्रिय-असंयम 3. घ्राणेन्द्रिय-असंयम 4. रसनेन्द्रिय असंयम, और 5. स्पर्शनेन्द्रिय-असंयम।

{306}

पंचिंदिया णं जीवा समारभमाणस्स दसविधे असंजमे कज्जति, तं जहा- सोतामयाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवति। सोतामएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवति। चक्खुमयाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवति। चक्खुमएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवति। घाणामयाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवति। घाणामएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवति। जिब्भामयाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवति। जिब्भामएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवति। फासामयाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवति। फासामएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवति।

(ठा. 10/23)

पंचेन्द्रिय जीवों का घात करने वाले के दस प्रकार का असंयम होता है। जैसे-

1. श्रोत्रेन्द्रिय-सम्बन्धी सुख का वियोग करने से।
2. श्रोत्रेन्द्रिय-सम्बन्धी दु:ख का संयोग करने से।
3. चक्षुरिन्द्रिय-सम्बन्धी सुख का वियोग करने से।
4. चक्षुरिन्द्रिय-सम्बन्धी दु:ख का संयोग करने से।
5. घ्राणेन्द्रिय-सम्बन्धी सुख का वियोग करने से।
6. घ्राणेन्द्रिय-सम्बन्धी दु:ख का संयोग करने से।
7. रसनेन्द्रिय-सम्बन्धी सुख का वियोग करने से।
8. रसनेन्द्रिय-सम्बन्धी दु:ख का संयोग करने से।
9. स्पर्शनेन्द्रिय-सम्बन्धी सुख का वियोग करने से।
10. स्पर्शनेन्द्रिय-सम्बन्धी दु:ख का संयोग करने से।

{307}

तेइंदिया णं जीवा समारभमाणस्स छव्विहे असंजमे कज्जति, तं जहा- घाणामातो सोक्खातो ववरोवेत्ता भवति। घाणामएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवति। (जिब्भामातो सोक्खातो ववरोवेत्ता भवति। जिब्भामएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवति। फासामातो सोक्खातो ववरोवेत्ता भवति) फासामएणं दुक्खेणं संजोगेत्ता भवति।

(ठा. 6/82)

त्रीन्द्रिय जीवों का घात करने वाले के छह प्रकार का असंयम होता है। जैसे-

1. घ्राण-जनित सुख का वियोग करने से।
2. घ्राण-जनित दु:ख का संयोग करने से।
3. रस-जनित सुख का वियोग करने से।
4. रस-जनित दु:ख का संयोग करने से।
5. स्पर्श-जनित सुख का वियोग करने से।
6. स्पर्श-जनित दु:ख का संयोग करने से।

{308}

सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं समारभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जति, तं जहा- एगिंदियअसंजमे, (बेइंदियअसंजमे, तेइंदियअसंजमे, चउरिंदियअसंजमे), पंचिंदिय संजमे।

(ठा. 5/2/145)

सभी प्राणी, भूत, जीव और सत्वों का घात करने वाले को पांच प्रकार असंयम होता है। जैसे- 1. एकेन्द्रिय-असंयम, 2. द्वीन्द्रिय असंयम, 3. त्रीन्द्रिय-असंयम, 4. चतुरिन्द्रिय-असंयम, और 5. पंचेन्द्रिय असंयम।

O अहिंसाः सर्वज्ञ तीर्थंकर-उपदिष्ट प्रमुख धर्म

{309}

अहिंसालक्षणस्तदागमदेशितो धर्मः।

(सर्वा. 6/13/634)

सर्वज्ञ-द्वारा प्रतिपादित आगम में उपदिष्ट अहिंसा ही 'धर्म' है।

{310}

भरहेरवएसु णं वासेसु पुरिम-पच्छिम-वज्जा मज्झिमगा बावीसं अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पण्णवेंति, तं जहा- सव्वाओ पाणातिवायाओ वेरमणं, एवं सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं।

(ठा. 4/1/136)

भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को छोड़ कर मध्यवर्ती बाईस अर्हन्त भगवन्तों ने चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया है। जैसे-

1. सर्व प्राणातिपात (हिंसा-कर्म) से विरमण।
2. सर्व मृषावाद (असत्य-भाषण) से विरमण।
3. सर्व अदत्तादान (चौर्य-कर्म) से विरमण।
4. सर्व बाह्य (वस्तुओं के) आदान से विरमण।

{311}

से बेमि- जे य अतीता जे य पडुप्पण्णा जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति-सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेतव्वा, ण परिघेत्तव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

एस धम्मे सुद्धे णितिए सासए समेच्च लोयं खेतण्णेहिं पवेदिते। तं जहा- उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा, उवरतदंडेसु वा अणुवरतदंडेसु वा सोवधिएसु वा अणुवहिएसु वा, संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा।

(आचा. 1/4/1 सू. 132)

मैं कहता हूं-जो अर्हन्त भगवान् अतीत में हुए हैं, जो वर्तमान में है और जो भविष्य में होंगे, वे सब ऐसा आख्यान (कथन) करते हैं, ऐसा (परिषद् में) भाषण करते हैं, (शिष्यों का संशय-निवारण करने हेतु-) ऐसा प्रज्ञापन करते हैं, (तात्त्विक दृष्टि से-) ऐसा प्ररूपण करते हैं-समस्त प्राणियों, सर्व भूतों, सभी जीवों और सभी सत्त्वों का (डंडे आदि से) हनन नहीं करना चाहिए, बलात् उन्हें शासित नहीं करना चाहिए, न उन्हें दास बनाना चाहिए, न उन्हें परिताप देना चाहिए और न उनके प्राणों का विनाश करना चाहिए।

यह अहिंसा धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है। खेदज्ञ अर्हन्तों ने (जीव-)लोक को सम्यक् प्रकार से जानकर इसका प्रतिपादन किया है।

(अर्हन्तों ने इस धर्म का उन सबके लिए प्रतिपादन किया है), जैसे कि- जो धर्माचरण के लिए उठे हैं अथवा अभी नहीं उठे हैं। जो धर्मश्रवण के लिए उपस्थित हुए हैं, या नहीं हुए है, जो (जीवों को मानसिक, वाचिक और कायिक)दण्ड देने से उपरत हैं अथवा अनुपरत हैं, जो (परिग्रहरूप) उपधि से युक्त हैं, अथवा उपधि-रहित हैं, जो संयोगों (ममत्व सम्बन्धों) में रत हैं, अथवा संयोगों में रत नहीं है।

{312}

सव्वेसु णं महाविदेहेसु अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पण्णवयंति, तं जहा- सव्वाओ पाणातिवायाओ वेरमणं, जाव [सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं], सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं।

(ठा. 4/1/137)

सभी महाविदेह क्षेत्रों में अर्हन्त भगवन्त चातुर्याम धर्म का उपदेश देते हैं, जैसे-

1. सर्व प्राणातिपात से विरमण। 2. सर्व मृषावाद से विरमण।

2. सर्व अदत्तादान से विरमण। 3. सर्व बाह्य-आदान से विरमण।

{313}

जे य अतीता जे य पडुप्पण्णा जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासेंति, एवं पण्णेंति, एवं परूवेंति— सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे णितिए सासते, समेच्च लोगं खेतन्नेहिं पवेदिते।

(सू.कृ. 2/1/सू. 680)

[इसलिए (वही बात) मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूं—] भूतकाल में (ऋषभदेव आदि) जो भी अर्हंत (तीर्थंकर) हो चुके, वर्तमान में जो भी (सीमन्धरस्वामी आदि) तीर्थंकर हैं, तथा जो भी भविष्य में (पद्मनाभ आदि) होंगे; वे अभी अर्हंत भगवान् (परिषद् में) ऐसा ही उपदेश देते हैं; ऐसा ही भाषण करते (कहते) हैं, ऐसा ही (हेतु, दृष्टान्त, युक्ति आदि द्वारा) बताते (प्रज्ञापन करते) हैं, और ऐसी ही प्ररूपणा करते हैं कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए, न ही बलात् उनसे आज्ञा-पालन कराना चाहिए, न उन्हें बलात् दास-दासी आदि के रूप में पकड़ कर या खरीद कर रखना चाहिए, न उन्हें परिताप (पीड़ा) देना चाहिए, और न उन्हें उद्विग्न (भयभीत या हैरान) करना चाहिए। यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत (सदैव स्थिर रहने वाला) है। समस्त लोक को 'केवल ज्ञान' के प्रकाश में जान कर जीवों के खेद (पीड़ा) को या क्षेत्र को जानने वाले श्री तीर्थंकरों ने इस धर्म का प्रतिपादन किया है।

{314}

अविहिंसामेव पव्वए अणुधम्मो मुणिणा पवेइओ ॥

(सू.कृ. 1/2/1/14)

अहिंसा में प्रव्रजन कर। महावीर के द्वारा प्रवेदित अहिंसा धर्म अनुधर्म है– पूर्ववर्ती ऋषभ आदि सभी तीर्थंकरों द्वारा प्रवेदित है।

{315}

अर्हता भगवता प्रोक्ते परमागमे प्रतिषिद्धः प्राणिवधः, सर्वत्र हिंसा-विरतिः श्रेयसीति।

(रा.वा. 8/1/15)

भगवान्-अर्हन्त (तीर्थंकर) देव द्वारा उपदिष्ट परमागम (द्वादशाङ्ग) में प्राणि-वध का निषेध किया गया है। अतः सर्वत्र हिंसा से विरत होना, अहिंसा का पालन करना ही श्रेयस्कर है।

{316}

तच्चं चेतं तहा चेतं अस्सिं चेतं पवुच्चति। तं आइत्तु ण णिहे, ण णिक्खिवे, जाणित्तु धम्मं जहा तहा। दिट्ठेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा। णो लोगस्सेसणं चरे। जस्स णत्थि इमा णाती अण्णा तस्स कतो सिया। दिट्ठं सुतं मयं विण्णायं जमेयं परिकहिज्जति। समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जातिं पकप्पेंती। अहो य रातो य जतमाणे धीरे सया आगतपण्णाणे, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

(आचा. 1/4/1 सू. 133)

वह (अर्हत्प्ररूपित अहिंसा धर्म) तत्त्व-सत्य है, तथ्य है, -(तथारूप ही है) । यह इस (अर्हत्प्रवचन) में सम्यक् प्रकार से प्रतिपादित है। साधक उस (अर्हत्-भाषित धर्म) को ग्रहण करके (उसके आचरण हेतु अपनी शक्तियों को) छिपाए नहीं, और न ही उसे (आवेश में आकर) फेंके या छोड़े। धर्म का जैसा स्वरूप है, वैसा जान कर (आजीवन उसका आचरण करे) । (इष्ट-अनिष्ट) रूपों (इन्द्रिय-विषयों) से विरक्ति प्राप्त करे। वह लोकैषणा में न भटके। जिस मुमुक्षु में (लोकैषणा) बुद्धि (ज्ञाति=संज्ञा) नहीं है, उससे अन्य (सावद्यारम्भ-हिंसा) प्रवृत्ति कैसे होगी? अथवा जिसमें सम्यक्त्व ज्ञाति नहीं है या अहिंसा-बुद्धि नहीं है, उसमें दूसरी विवेक-बुद्धि कैसे होगी? यह जो (अहिंसा धर्म) कहा जा रहा है, वह इष्ट, श्रुत (सुना हुआ), मत (माना हुआ) और विशेष रूप से ज्ञात (अनुभूत) है। हिंसा में (गृद्धिपूर्वक) रचे-पचे रहने वाले और उसी में लीन रहने वाले मनुष्य बार-बार जन्म लेते रहते हैं। (मोक्ष-मार्ग में) अहर्निश यत्न करने वाले, सतत प्रज्ञावान, धीर साधक! उन्हें देख जो प्रमत्त हैं,(धर्म से) बाहर हैं। इसलिए तू अप्रमत्त हो कर सदा (अहिंसादि रूप धर्म में) पराक्रम कर। ऐसा मैं कहता हूं।

{317}

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।

(दशवै. 6/271)

(तीर्थंकर) महावीर ने उन (अठारह आचारस्थानों) में प्रथम स्थान अहिंसा का कहा है।

{318}

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च साधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्॥

(पुरु. 2/10/29)

मोक्षसुख रूप सम्पदा के कारणभूत अहिंसामय धर्म में और सभी साधर्मी जनों में निरन्तर उत्कृष्ट वात्सल्य/प्रीति को अंगीकार करना चाहिये।

{319}

यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम्।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसासंभवं ज्ञेयम्॥

(ज्ञा. 8/56/529)

संसार में जीवों के जो कुछ दुःख, शोक व भय का बीज 'कर्म' है तथा जो दुर्भाग्यादिक भी हैं, वे समस्त एकमात्र हिंसा से उत्पन्न हुए हैं- ऐसा समझना चाहिए।

{320}

एसा भगवई अहिंसा जा सा अपरिमिय-णाणदंसणधरेहिं सील-गुण-विणय-तव संयम- णायगेहिं तित्थयरेहिं सव्वजगजीववच्छलेहिं तिलोयमहिएहिं जिणवरेहिं (जिणचंदेहिं) सुट्ठुदिट्ठा, ओहिजिणेहिं विण्णाया, उज्जुमईहिं विदिट्ठा, विउलमईहिं विदिआ, पुव्वधरेहिं अहीया, वेउव्वीहिं पतिण्णा, आभिणिबोहियणाणीहिं सुयणाणीहिं मणपज्जवणाणीहिं केवलणाणीहिं आमोसहिपत्तेहिं खेलोसहिपत्तेहिं जल्लोसहिपत्तेहिं विप्पोसहिपत्तोहिं सव्वोसहिपत्तेहिं बीयबुद्धीहिं पयाणुसारीहिं संभिण्णसोएहिं सुयधरेहिं मणबलिएहिं वयबलिएहिं कायबलिएहिं णाणबलिएहिं दंसणबलिएहिं चरित्तबलिएहिं खीरावसवेहिं महुआसवेहिं सप्पियासवेहिं अक्खीणमहाणसिएहिं चारणेहिं विज्जाहरेहिं।

चउत्थभत्तिएहिं एवं जाव छम्मासभत्तिएहिं उक्खित्तचरएहिं णिक्खित्तचरएहिं अंतचरएहिं पंतचरएहिं लूहचरएहिं समुयाणचरएहिं अण्णइलाएहिं मोणचरएहिं संसट्ठकप्पिएहिं तज्जायसंसट्ठकप्पिएहिं उवणिएहिं सुद्धेसणिएहिं संखादत्तिएहिं दिट्ठलाभिएहिं पुट्ठलाभिएहिं आयंबिलिएहिं पुरिमड्ढिएहिं एक्कासणिएहिं णिव्विइएहिं भिण्णपिंडवाइएहिं परिमियपिंडवाइएहिं अंताहारेहिं पंताहारेहिं अरसाहारेहिं विरसाहारेहिं

लूहाहारेहिं तुच्छाहारेहिं अंतजीवीहिं पंतजीवीहिं लूहजीवीहिं तुच्छजीवीहिं उवसंतजीवीहिं पसंतजीवीहिं विवित्तजीवीहिं अखीरमहुसप्पिएहिं अमज्जमंसासिएहिं ठाणाइएहिं पडिमंठाईहिं ठाणुक्कडिएहिं वीरासणिएहिं णेसज्जिएहिं डंडाइएहिं लगंडसाईहिं एगपासगेहिं आयावएहिं अप्पावएहिं अणिट्ठुभएहिं अकंडूयएहिं धुयकेसमंसुलोमणएहिं सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्केहिं समणुचिण्णा, सुयहरविइयत्थकायबुद्धीहिं। धीरमइबुद्धिणो य जे ते आसीविसउग्गतेयकप्पा णिच्छयववसायपज्जत्तकयमईया णिच्चं सज्झायज्झाणअणुबद्धधम्मज्झाणा पंचमहव्वयचरित्तजुत्ता समिया समिइसु, समियपावा छव्विहजगवच्छला णिच्चमप्पमत्ता एएहिं अण्णेहि य जा सा अणुपालिया भगवई।

(प्रश्न. 2/1/सू. 109)

यह भगवती अहिंसा वह है जो अपरिमित-अनन्त केवलज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले, शीलरूप गुण, विनय, तप और संयम के नायक-इन्हें चरम सीमा तक पहुंचाने वाले, तीर्थ की संस्थापना करने वाले- प्रवर्त्तक, जगत् के समस्त जीवों के प्रति वात्सल्य धारण करने वाले, त्रिलोकपूजित जिनवरों (जिनचन्द्रों) द्वारा अपने केवलज्ञान-दर्शन द्वारा सम्यक् रूप में स्वरूप, कारण और कार्य के दृष्टिकोण से निश्चित की गई है।

विशिष्ट अवधिज्ञानियों द्वारा विज्ञात की गई है-ज्ञपरिज्ञा से जानी गई और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से सेवन की गई है। ऋजुमति-मनःपर्यवज्ञानियों द्वारा देखी-परखी गई है। विपुलमति-मनः-पर्ययज्ञानियों द्वारा ज्ञात की गई है। चतुर्दश पूर्वश्रुत के धारक मुनियों ने इसका अध्ययन किया है। विक्रियालब्धि के धारकों ने इसका आजीवन पालन किया है। आभिनिबोधिक-मतिज्ञानियों ने, श्रुतज्ञानियों ने, अवधिज्ञानियों ने, मनः-पर्यवज्ञानियों ने, केवलज्ञानियों ने, आमर्षौषधिलब्धि के धारकों, श्लेष्मौषधिलब्धिधारकों, जल्लौषधिलब्धिधारकों, विप्रुडौषधिलब्धिधारकों, सर्वौषधिलब्धिप्राप्त, बीजबुद्धि-कोष्ठबुद्धि-पदानुसारिबुद्धि-लब्धि के धारकों, संभिन्नश्रोतसूलब्धि के धारकों, श्रुतधरों, मनोबली, वचनबली और कायबली मुनियों, ज्ञानबली, दर्शनबली तथा चारित्रबली महापुरुषों ने, मध्वास्रवलब्धिधारी, सर्पिरास्रवलब्धिधारी तथा अक्षीणमहानसलब्धि के धारकों ने, चारणों और विद्याधरों ने, चतुर्थभक्तिकों- एक-एक उपवास करने वालों से लेकर दो, तीन, चार, पांच दिनों, इसी प्रकार एक मास, दो मास, तीन मास, चार मास, पांच मास एवं छह मास तक का अनशन-उपवास करने वाले तपस्वियों ने, इसी प्रकार उत्क्षिप्तचरक, निक्षिप्तचरक, अन्तचरक, प्रान्तचरक, रूक्षचरक, समुदानचरक, अन्नग्लायक, मौनचरक, संसृष्टकल्पिक, तज्जातसंसृष्टकल्पिक,

उपनिधिक, शुद्धैषणिक, संख्यादत्तिक, दृष्टलाभिक, अदृष्टलाभिक, पृष्ठलाभिक, आचाम्लक, पुरिमार्धिक, एकाशनिक, निर्विकृतिक, भिन्नपिण्डपातिक, परिमितपिण्डपातिक, अन्ताहारी, प्रान्ताहारी, अरसाहारी, विरसाहारी, रूक्षाहारी, तुच्छाहारी, अन्तजीवी, प्रान्तजीवी, रूक्षजीवी, तुच्छजीवी, उपशान्तजीवी, प्रशान्तजीवी, विविक्तजीवी तथा दूध, मधु और घृत का यावज्जीवन त्याग करने वालों ने, मद्य और मांस से रहित आहार करने वालों ने, कायोत्सर्ग करके एक स्थान पर स्थित रहने का अभिग्रह करने वालों ने, प्रतिमा- स्थायिकों ने, स्थानोत्कटिकों ने, वीरासनिकों ने, नैषधिकों ने, दण्डायतिकों ने, लगण्डशायिकों ने, एकपार्श्वकों ने, आतापकों ने, अपाव्रतों ने, अनिष्ठीवकों ने, अकंडूयकों ने, धूतकेश-श्मश्रु-लोम-नख अर्थात् सिर के बाल, दाढी, मूंछ और नखों का संस्कार करने का त्याग करने वालों ने, सम्पूर्ण शरीर के प्रक्षालन आदि संस्कार के त्यागियों ने, श्रुतधरों के द्वारा तत्त्वार्थ को अवगत करने वाली बुद्धि के धारक महापुरुषों ने (अहिंसा भगवती का) सम्यक् प्रकार से आचरण किया है। (इनके अतिरिक्त) आशीविष सर्प के समान उग्र तेज से सम्पन्न महापुरुषों ने, वस्तुतत्त्व का निश्चय और पुरुषार्थ-दोनों में पूर्ण कार्य करने वाली बुद्धि से सम्पन्न प्रज्ञापुरुषों ने, नित्य स्वाध्याय और चित्तवृत्तिनिरोध रूप ध्यान करने वाले तथा धर्मध्यान में निरन्तर चिन्ता को लगाये रखने वाले पुरुषों ने, पांच महाव्रत-स्वरूप चारित्र से युक्त तथा पांच समितियों से सम्पन्न, पापों का शमन करने वाले, षट् जीवनिकायरूप जगत् के वत्सल, निरन्तर अप्रमादी रह कर विचरण करने वाले महात्माओं ने तथा अन्य विवेकविभूषित सत्पुरुषों ने अहिंसा भगवती की आराधना की है।

○ अहिंसाः सुख-शान्ति एवं कल्याण-मंगल का द्वार

{321}

स सुखं सेवमानोऽपि जन्मान्तरसुखाश्रयः।
यः परानुपघातेन सुखसेवापरायणः॥

(उपासका. 23/283)

जो दूसरों का घात न करके सुख का सेवन करता है (अर्थात् जो अपने सुख के लिए दूसरे की हिंसा नहीं करता,) वह इस जन्म में भी सुख भोगता है और दूसरे जन्म में भी सुख भोगता है।

{322}

हिंसानृतपरादत्तग्रहाब्रह्मपरिग्रहात्॥
निवृत्तानां प्रमत्तानामपि सौख्यं शमात्मकम्॥

(ह. पु. 3/89)

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह- इन पांच पापों से विरत 'प्रमत्त संयत' जीवों के शान्तिरूप सुख होता है।

{323}

अहिंसाप्रत्यपि दृढं भजन्नो जायते रुजि।
यस्त्वध्यहिंसासर्वस्वे स सर्वाः क्षिपते रुजः॥

(सा. ध. 8/82)

थोड़ी-सी भी अहिंसा को दृढ़तापूर्वक पालन करने वाला उपसर्ग आदि की पीड़ा उपस्थित होने पर दुःख से अभिभूत नहीं होता, अपितु और भी तेज-युक्त हो जाता है। जो समस्त अहिंसा का स्वामी होता है, वह तो समस्त दुःखों से दूर रहता है।

{324}

आयुष्मान्सुभगः श्रीमान्सुरूपः कीर्तिमान्नरः।
अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते॥

(उपासका. 26/362)

अकेले एक अहिंसा व्रत के प्रताप से ही मनुष्य चिरजीवी, सौभाग्यशाली, ऐश्वर्यवान्, सुन्दर और यशस्वी होता है।

{325}

हिंसादिभ्यो यथाशक्ति देशतो विरतात्मनाम्।
संयतासंयतानां च महातृष्णाजयात् सुखम्॥

(ह. पु. 3/90)

हिंसा आदि पांच पापों से यथाशक्ति एकदेश (आंशिक रूप से) निवृत्त होने वाले 'संयतासंयत' जीवों के महातृष्णा पर विजय प्राप्त होने के कारण (आध्यात्मिक) सुख होता है।

{326}

अहिंसैकाऽपि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम्।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपःश्रुतयमोत्करः॥

(ज्ञा. 8/46/518)

यह अहिंसा अकेली ही जीवों को जो सुख, कल्याण वा अभ्युदय देती है, उसे तप, स्वाध्याय और यम-नियमादि नहीं दे सकते हैं, क्योंकि धर्म के समस्त अङ्गों में अहिंसा ही एकमात्र प्रधान है।

{327}

एसा सा भगवई अहिंसा जा सा भीयाण विव सरणं, पक्खीणं विव गमणं, तिसियाणं विव सलिलं, खुहियाणं विव असणं, समुद्दमज्झे व पोयवहणं, चउप्पयाणं व आसमपयं, दुहट्टियाणं व ओसहिबलं, अडवीमज्झे व सत्थगमणं, एत्तो विसिट्ठतरिया अहिंसा जा सा पुढवी-जल-अगणि-मारुय-वणस्सइ-बीय-हरिय-जलयर-थलयर-खहयर-तस-थावर-सव्वभूय-खेमकरी।

(प्रश्न. 2/1/सू.108)

यह अहिंसा भगवती जो है, वह (संसार के समस्त) भयभीत प्राणियों के लिए शरणभूत है, पक्षियों के लिए आकाश में गमन करने-उड़ने के समान है, यह अहिंसा प्यास से पीडित प्राणियों के लिए जल के समान है, भूखों के लिए भोजन के समान है, समुद्र के मध्य में डूबते हुए जीवों के लिए जहाज समान है, चतुष्पद-पशुओं के लिए आश्रम-स्थान के समान है, दुःखों से पीडित-रोगी जनों के लिए औषध-बल के समान है, भयानक जंगल में सार्थ-संघ के साथ गमन करने के समान है। (क्या भगवती अहिंसा वास्तव में जल, अन्न, औषध, यात्रा में सार्थ (समूह) आदि के समान ही है? नहीं।) भगवती अहिंसा इनसे भी अत्यन्त विशिष्ट है, जो पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, बीज, हरितकाय, जलचर, स्थलचर, खेचर, त्रस और स्थावर सभी जीवों का क्षेम-कुशल-मंगल करने वाली है।

{328}

तत्थ पढमं अहिंसा, तस-थावर-सव्वभूय-खेमकरी।

(प्रश्न. 2/1/105)

(संवरद्वारों में) प्रथम जो अहिंसा है, वह त्रस और स्थावर-समस्त जीवों का क्षेम-कुशल करने वाली है।

{329}

धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमहिंसा संयमस्तपः।

(ह. पु. 18/37)

अहिंसा, संयम और तप- ये ही धर्म व मंगल हैं।

{330}

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।

(दशवै. 1/1)

अहिंसा, संयम व तप- ये उत्कृष्ट धर्म और मंगल रूप हैं।

○ अहिंसाः प्रशस्त गति व दीर्घ जीवन की हेतु

{331}

ताणि ठाणाणि गच्छन्ति सिक्खित्ता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा जे सन्ति परिनिव्वुडा॥

(उत्त. 5/28)

भिक्षु हो या गृहस्थ, जो हिंसा आदि से निवृत्त होते हैं, वे ही संयम और तप का अभ्यास कर देव-लोकों में जाते हैं।

{332}

कहं णं भंते! जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति?

गोयमा! तिहिं ठाणेंहि-नो पाणे अतिवाइत्ता, नो मुसं वदित्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असणं-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता, एवं खलु जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।

(व्या. प्र. 5/6/2)

[प्र.] भगवन्! जीव दीर्घायु के कारणभूत कर्म कैसे बांधते हैं?

[उ.] गौतम! तीन कारणों से जीव दीर्घायु को कारणभूत कर्म बांधते हैं- (1) प्राणतिपात न करने से, (2) असत्य न बोलने से, और (3) तथारूप श्रमण और माहन को प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिम- (रूप चतुर्विध आहार) देने से। इस प्रकार (तीन कारणों) से जीव दीर्घायुष्क के (कारणभूत) कर्म का बन्ध करते हैं।

{333}

कहं णं भंते! जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति?

गोयमा! नो पाणे अतिवातित्ता, नो मुसं वइत्ता, ताहरूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमंसित्ता जाव पज्जुवासित्ता, अन्नतरेणं मणुण्णेणं पीतिकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता, एवं खलु जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।

(व्या. प्र. 5/6/4)

[प्र.] भगवन्! जीव शुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्म किन कारणों से बांधते हैं?

[उ.] गौतम! प्राणहिंसा न करने से, असत्य न बोलने से, और तथारूप श्रमण या माहन को वन्दना, नमस्कार यावत् पर्युपासना करके मनोज्ञ एवं प्रीतिकारक अशन, पान, खादिम और स्वादिम देने (प्रतिलाभित करने) से। इस प्रकार जीव (इन तीन कारणों से) शुभ दीर्घायु का कारणभूत कर्म बांधते हैं।

{334}

चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्साउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा- पगतिभद्दताए, पगतिविणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरिताए।

(ठा. 4/4/630)

चार कारणों से जीव मनुष्यायुष्क कर्म का उपार्जन करते हैं। जैसे-

1. प्रकृति-भद्रता से, 2. प्रकृति-विनीतता से, 3. सानुक्रोशता से (दयालुता और सहृदयता से), तथा 4. अमत्सरित्व से (मत्सर-भाव न रखने से)।

{335}

स्वभावादार्जवोपेताः स्वभावान्मृदवो मताः।
स्वभावाद् भद्रशीलाश्च स्वभावात् पापभीरवः॥
प्रकृत्या मधुमांसादिसावद्याहारवर्जिताः।
अर्जयन्ति सुमानुष्यं कुमानुष्यं कुकर्मभिः॥

(ह. पु. 3/125-126)

जो मनुष्य स्वभाव से ही सरल हैं, स्वभाव से ही कोमल हैं, स्वभाव से ही भद्र हैं, स्वभाव से ही पाप-भीरु हैं और स्वभाव से ही मधु-मांसादि सावद्य आहार के त्यागी हैं, वे उत्तम मनुष्यपर्याय प्राप्त करते हैं तथा जो खोटे (हिंसादि सावद्य) कर्म करते हैं वे खोटी (दुर्दशापूर्ण) मनुष्यपर्याय प्राप्त करते हैं।

{336}

मणुस्सेसु–1 पगइभद्दयाए, 2 पगइविणीययाए, 3 साणुक्कोसयाए, 4 अमच्छरिययाए।

(औप. 56)

इन कारणों से जीव मनुष्य-योनिमें उत्पन्न होते हैं–

1. प्रकृति-भद्रता– स्वाभाविक भद्रता/अहिंसक आचरण– भलापन, जिससे किसी को भीति या हानि की आशंका न हो, 2. प्रकृति-विनीतता– स्वाभाविक विनम्रता, 3. सानुक्रोशता– दयालुता, करुणाशीलता, तथा 4. अमत्सरता–ईर्ष्या का अभाव।

{337}

तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा– णो पाणे अतिवातित्ता भवइ, णो मुसं वदित्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता णमंसित्ता सक्कारित्ता सम्माणित्ता कल्लाणं मंगलं–देवतं चेतितं पज्जुवासेत्ता मणुण्णेणं पीतिकारएणं असणपाणखाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ– इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुहदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति।

(ठा. 3/1/20)

तीन प्रकार से जीव शुभ दीर्घायुष्य कर्म का बन्ध करते हैं– प्राणों का घात न करने से, मृषावाद न बोलने से और तथारूप श्रमण माहन को वन्दन-नमस्कार कर, उनका सत्कार सम्मान कर, कल्याणकर, मंगल देवरूप तथा चैत्यरूप मान कर उसकी पर्युपासना कर उन्हें मनोज्ञ एवं प्रीतिकर अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार का प्रतिलाभ (दान) करने से। उक्त तीन प्रकारों से जीव शुभ दीर्घायुष्य कर्म का बन्ध करते हैं।

{338}

तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा– णो पाणे अतिवातित्ता भवइ, णो मुसं वइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा 'फासुएणं एसणिज्जेणं' असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ– इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति।

(ठा. 3/1/18)

तीन प्रकार से जीव दीर्घायुष्य कर्म का बन्ध करते हैं– प्राणों का अतिपात न करने से, मृषावाद न बोलने से, और तथारूप श्रमण महान को प्रासुक एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार का प्रतिलाभ (दान) करने से। इन तीन प्रकारों से जीव दीर्घआयुष्य कर्म का बन्ध करते हैं।

{339}

पंचहिं ठाणेहिं जीवा सोगतिं गच्छंति, तं जहा–पाणाति वातवेरमणेणंजाव (मुसावाय-वेरमणेणं, अदिण्णादाणवेरमणेणं, मेहुणवेरमणेणं), परिग्गहवेरमणेणं।

(ठा. 5/1/17)

पांच कारणों से जीव सुगति में जाते हैं। जैसे–

1. प्राणातिपात के विरमण से, 2. मृषावाद के विरमण से, 3. अदत्तादान के विरमण से, 4. मैथुन के विरमण से, और 5. परिग्रह के विरमण से।

○ अहिंसा से सातावेदनीय (सुखदायी) कर्म का बन्ध

{340}

सायावेयणिज्जकम्मासरीरप्पोगबंधे णं भंते! कस्स कम्मस्स उदएणं?

गोयमा! पाणाणुकंपयाए भूयाणुकंपयाए, एवं जहा सत्तमसए दुस्समा-उ (छट्ठु) द्देसए जाव अपरियावणयाए (स. 7 उ. 6 सु. 24) सायावेयणिज्जकम्मासरीरप्पयोगनामाए कम्सस्स उदएणं सायावेयणिज्जकम्मा जाव पयोगबंधे।

(व्या. प्र. 8/9/100)

[प्र.] भगवन्! सातावेदनीयकर्मशरीर-प्रयोगबन्धन किस कर्म के उदय से होता है?

[उ.] गौतम! प्राणियों पर अनुकम्पा करने से, भूतों (चार स्थावर जीवों) पर अनुकम्पा करने से इत्यादि, जिस प्रकार (भगवती सूत्र के) सातवें शतक के दु:षम नामक छठे उद्देशक (सू. 24) में कहा है, उसी प्रकार यहां भी, यावत्-प्राणों, भूतों जीवों और सत्त्वों को परिताप उत्पन्न न करने से तथा सातावेदनीय-कर्मशरीर-प्रयोग नामकर्म के उदय से सातावेदनीय-कर्मशरीर - प्रयोगबन्ध होता है, यहां तक कहना चाहिए।

{341}

कहं णं भंते! जीवाणं सातावेदणिज्जा कम्मा कज्जंति?

गोयमा! पाणाणुकंपाए भूयाणुकंपाए जीवाणुकंपाए सत्ताणुकंपाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरितावणयाए, एवं खलु गोयमा! जीवाणं सातावेदणिज्जा कम्मा कज्जंति।

(व्या. प्र. 7/6/24)

[प्र.] भगवन्! जीवों के सातावेदनीय कर्म कैसे बंधते हैं?

[उ.] गौतम! प्राणों पर अनुकम्पा करने से, भूतों पर अनुकम्पा करने से, जीवों के प्रति अनुकम्पा करने से और सत्त्वों पर अनुकम्पा करने से, तथा बहुत-से प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को दुःख न देने से, उन्हें शोक (दैन्य) उत्पन्न न करने से, (शरीर को सुखा देने वाली) चिन्ता (विषाद या खेद) उत्पन्न न करने से, विलाप एवं रुदन करा कर आंसू न बहवाने से, उनको न पीटने से, उन्हें परिताप न देने से (जीवों के सातावेदनीय कर्म बंधते हैं।) हे गौतम! इस प्रकार से जीवों के सातावेदनीय कर्म बंधते हैं।

{342}

तत्थ णं जे ते समण-माहणा एवं आइक्खंति जाव परूवेंति-सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेत्तव्वा ण उद्दवेयव्वा, ते णो आगंतुं छेयाए, ते णो आगंतुं भेयाए, ते णो आगंतुं जाइ-जरा-मरण-जोणिजम्मण-संसार-पुणब्भव-गब्भवास-भवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते णो बहूणं दंडणाणं जाव णो बहूणं दुक्खदोमणसाणं आभागिणो भविस्संति, अणातियं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं भुज्जो-भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्संति ते सिज्झिस्संति जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति।

(सू.कृ. 2/2/720)

धर्म-विचार के प्रसंग में जो सुविहित श्रमण एवं माहन यह कहते हैं कि-समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को नहीं मारना चाहिए, उन्हें अपनी आज्ञा में नहीं चलाना एवं उन्हें बलात् दास-दासी के रूप में पकड़ कर गुलाम नहीं बनाना चाहिए। उन्हें डराना-धमकाना या पीड़ित नहीं करना चाहिए, वे महात्मा भविष्य में छेदन-भेदन आदि कष्टों को प्राप्त नहीं करेंगे, वे जन्म, जरा, मरण, अनेक योनियों में जन्म-धारण, संसार में पुनः पुनः जन्म, गर्भवास तथा संसार के अनेकविध प्रपंच के कारण नाना दुःखों के भाजन नहीं होंगे, तथा वे आदि-अंतरहित, दीर्घकालिक मध्यरूप चतुर्गतिक संसाररूपी घोर वन में बार-बार भ्रमण नहीं करेंगे। (अंत में) वे सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करेंगे, केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर बुद्ध और मुक्त होंगे तथा समस्त दुःखों का सदा के लिए अंत करेंगे।

इह खलु पाईणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा-अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहू, एगच्चातो पाणातिवायातो पडिविरता जावज्जीवाए एगच्चातो अप्पडिविरता, जाव जे यावऽण्णे तहप्पकारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति ततो वि एगच्चातो पडिविरता एगच्चातो अप्पडिविरता। से जहाणामए समणोसासगा भवंति।............................ ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता आबाधंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइंति, बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा-महिड्ढिएसु महज्जुतिएसु जाव महासुक्खेसु, सेसं तहेव जाव एस ठाणे आरिए जाव एगंतसम्मे साहू। तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिए।

(सू.कृ. 2/2/715)

इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई मनुष्य होते हैं, जैसे कि-वे अल्प इच्छा वाले, अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही होते हैं। वे धर्माचरण करते हैं, धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं (अथवा धर्म की अनुज्ञा देते हैं), यहां तक कि (यावत्) धर्मपूर्वक अपनी जीविका चलाते हुए जीवन-यापन करते हैं। वे सुशील, सुव्रती, सुगमता से प्रसन्न हो जाने वाले और साधु (साधनाशील सज्जन) होते हैं। एक ओर वे किसी (स्थूल एवं संकल्पी) प्राणातिपात से जीवनभर विरत होते हैं तथा दूसरी ओर किसी (सूक्ष्म एवं आरम्भी) प्राणातिपात से निवृत्त नहीं होते, (इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से कथंचित् स्थूल रूप से) निवृत्त और कथंचित् (सूक्ष्म रूप से) अनिवृत्त होते हैं, ये और इसी प्रकार के अन्य बोधिनाशक एवं अन्य प्राणियों को परिताप देने वाले जो सावद्यकर्म (नरकादिगमन के कारणभूत यंत्रपीड़नादि कर्मादानरूप पापव्यवसाय) हैं उनसे निवृत्त होते हैं, दूसरी और कतिपय (अल्पसावद्य) कर्मों-व्यवसायों से वे निवृत्त नहीं होते। जैसा कि उनके नाम से विदित है, (इस मिश्रस्थान के अधिकारी) श्रमणोपासक (श्रमणों के उपासक-श्रावक) होते हैं। ....वे इस प्रकार के आचरण पूर्वक जीवनयापन (विचरण) करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक पर्याय (श्रावक व्रतों का) पालन करते हैं। यों श्रावक व्रतों की आराधना करते हुए रोगादि कोई बाधा उत्पन्न होने पर या न होने पर भी बहुत लम्बे दिनों तक का भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) करते हैं। वे चिरकाल तक का भक्त प्रत्याख्यान

(अनशन) करके उस अनशन-संथारे को पूर्ण (सिद्ध) रूप से करते हैं। उस अवमरण अनशन (संथारे) को सिद्ध करके अपने भूतकालीन पापों की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करके समाधि प्राप्त होकर मृत्यु (काल) का अवसर आने पर मृत्यु प्राप्त करके किन्हीं (विशिष्ट) देवलोकों में से किसी एक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। तदनुसार वे महाऋद्धि, महाद्युति, महाबल, महायश यावत् महासुख वाले देवलोकों में महाऋद्धि आदि से संपन्न देव होते हैं। यह (तृतीय मिश्रपक्षीय) स्थान आर्य (आर्यों द्वारा सेवित), एकांत सम्यक् और उत्तम है।

{344}

कहं णं भंते! जीवाणं कल्लाणा कम्मा जाव कज्जंति?

कालोदाई! से जहानामए केइ पुरिसे मणुण्णं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाकुलं ओसह-सम्मिस्सं भोयणं भुंजेज्जा, तस्स णं भोयणस्स आवाते णो भद्दए भवति, तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए जाव सुहत्ताए, नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति। एवामेव कालोदाई! जीवाणं पाणातिवातवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे तस्स णं आवाए नो भद्दए भवइ, ततो पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए, जाव सुहत्ताए, नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ एवं खलु कालोदाई! जीवाणं कल्लाणा कम्मा जाव कज्जंति।

(व्या. प्र. 7/10/18)

[प्र.] भगवन्! जीवों के कल्याणकर्म, कल्याणफलविपाक से संयुक्त कैसे होते हैं?

[उ.] कालोदायिन्! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ (सुन्दर) स्थाली (हांडी, तपेली या देगची) में पकाने से शुद्ध पका हुआ और अठारह प्रकार के दाल, शाक आदि व्यंजनों से युक्त औषधमिश्रित भोजन करता है, तो वह भोजन ऊपर-ऊपर से प्रारम्भ में अच्छा न लगे, परन्तु बाद में परिणत हो होता-होता वह सुरूपत्व रूप में, सुवर्णरूप में यावत् सुख (या शुभ) रूप में बार-बार परिणत होता है, तब वह दुःखरूप में परिणत नहीं होता, इसी प्रकार हे कालोदायिन्! जीवों के लिए प्राणातिपात- विरमण यावत् परिग्रह-विरमण, क्रोधविवेक (क्रोधत्याग) यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विवेक प्रारम्भ में अच्छा नहीं लगता, किन्तु उसके पश्चात् उसका परिणमन होते-होते सुरूपत्व रूप में, सुवर्णरूप में उसका परिणाम यावत् सुखरूप होता है, दुःखरूप नहीं होता। इसी प्रकार हे कालोदायिन्! जीवों के कल्याण (पुण्य) कर्म कल्याणफलविपाक-संयुक्त होते हैं।

[निष्कर्षः- औषधयुक्त भोजन करना कष्टकर लगता है, उस समय उसका स्वाद अच्छा नहीं लगता, किन्तु उसका परिणाम हितकर, सुखकर और आरोग्यकर होता है। इसी प्रकार प्राणातिपातादि से विरति कष्टकर एवं अरुचिकर लगती है, किन्तु उसका परिणाम अतीव हितकर और सुखकर होता है।]

, इह खलु पाईणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा-अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुगा धम्मिट्ठा जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वता सुप्पडियाणंदा सुसाहू सव्वातो पाणातिवायातो पडिविरता जावज्जीवाए जाव जे यावऽण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति ततो वि पडिविरता जावज्जीवाए।..........................

ते णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता आबाहंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइंति, [बहूइं भत्ताइं] पच्चक्खित्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, बहूणि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे मुंडभावे अण्हाणगे अदंतवणगे अछत्तए अणोवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघरपवेसे लद्धावलद्ध-माणावमाणणाओ हीलणाओ निंदणाओ खिंसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति तमट्ठं आराहेंति, तमट्ठं आराहित्ता चरमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघातं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाण-दंसणं समुप्पाडेंति, समुप्पाडित्ता ततो पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति, एगच्चा पुण एगे गंतारो भवंति, अवरे पुण पुवकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति।

(सू.कृ. 2/2/714)

इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई पुरुष ऐसे होते हैं, जो अनारम्भ (आरम्भ रहित), अपरिग्रह (परिग्रह-विरत) होते हैं, जो धार्मिक होते हैं, धर्मानुसार प्रवृत्ति करते हैं या धर्म की अनुज्ञा देते हैं, धर्म को ही अपना इष्ट मानते हैं, या धर्मप्रधान होते हैं, धर्म की ही चर्चा करते हैं, धर्ममयजीवी, धर्म को ही देखने वाले, धर्म में अनुरक्त, धर्मशील तथा धर्माचारपरायण होते हैं, यहां तक कि वे धर्म से ही अपनी जीविका उपार्जन करते हुए जीवनयापन करते हैं, जो सुशील, सुव्रती, शीघ्र सुप्रसन्न होने वाले (सदानन्दी) और उत्तम सुपुरुष होते हैं। जो समस्त प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक जीवन भर विरत रहते हैं। जो स्नानादि से आजीवन निवृत्त रहते हैं, समस्त गाड़ी, घोड़ा, रथ आदि वाहनों से आजीवन विरत रहते हैं, क्रय-विक्रय, पचन, पाचन, सावद्य कर्म करने-कराने, आरम्भ-समारम्भ आदि से आजीवन निवृत्त रहते हैं, स्वर्ण-रजत धनधान्यादि सर्वपरिग्रह से आजीवन निवृत्त रहते हैं, यहां तक कि वे परपीड़ाकारी समस्त सावद्य अनार्य कर्मों से भी यावज्जीवन विरत रहते हैं।

वे महात्मा इस प्रकार उग्र विहार करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन करते हैं। रोगादि अनेकानेक बाधाओं के उपस्थित होने या न होने पर वे चिरकाल तक आहार का त्याग करते हैं। वे अनेक दिनों तक 'भक्त प्रत्याख्यान' (संथारा) करके उसे पूर्ण करते हैं। अनशन (संथारे) को पूर्णतया सिद्ध करके जिस प्रयोजन से उन महात्माओं द्वारा नग्नभाव, मुण्डित भाव, अस्नान भाव, अदन्त धावन (दांत साफ न करना), छाते और जूते का उपयोग न कराना, भूमि-शयन, काष्ठफलक- शयन, केशलुंचन, ब्रह्मचर्य-वास (या ब्रह्मचर्य=गुरुकुल में निवास), भिक्षार्थ परगृह-प्रवेश आदि कार्य किए जाते हैं, तथा जिसके लिए लाभ और अलाभ (भिक्षा में कभी आहार प्राप्त होना, कभी न होना), मान-अपमान, अवहेलना, निन्दा, फटकार, तर्जना (झिड़कियां), मार-पीट (ताड़ना), धमकियां और ऊंची-नीची बातें, एवं कानों को अप्रिय लगने वाले अनेक कटुवचन आदि बाईस प्रकार के परीषह एवं उपसर्ग समभाव से सहे जाते हैं, (तथा जिस उद्देश्य से वे महामुनि साधु-धर्म में दीक्षित हुए थे) उस उद्देश्य (लक्ष्य) की आराधना कर लेते हैं। उस उद्देश्य की आराधना (सिद्धि) करके अंतिम श्वासोच्छ्वास में अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, (निराबाध), निरावरण, संपूर्ण और प्रतिपूर्ण केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लेते हैं। केवलज्ञान-केवलदर्शन उपार्जित करने के पश्चात् वे सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, सर्व कर्मों से मुक्त होते हैं; परिनिर्वाण (अक्षय शांति) को प्राप्त कर लेते हैं, और समस्त दुःखों का अंत कर देते हैं।

कई महात्मा एक ही भव (जन्म) में संसार का अंत (मोक्ष प्राप्त) कर लेते हैं। दूसरे कई महात्मा पूर्वकर्मों के शेष रह जाने के कारण मृत्यु का अवसर आने पर मृत्यु प्राप्त करके किसी देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं।

O अहिंसाः संवर-द्वार

{346}

पढमं होइ अहिंसा, बिइयं सच्चवयणं ति पण्णत्तं।
दत्तमणुण्णाय संवरो य, बंभचेरमपरिग्गहत्तं च॥

(प्रश्न. 2/1/104)

पांच संवरद्वारों में प्रथम अहिंसा है, दूसरा सत्य वचन है, तीसरा स्वामी की आज्ञा से ही दत्त का ग्रहण (अदत्तादानविरमण) है, चौथा ब्रह्मचर्य और पंचम अपरिग्रह है।

{347}

पाणवह-मुसावाया अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरो।
राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो॥

(उत्त. 30/2)

प्राण-हिंसा, मृषावाद, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह और रात्रि-भोजन की विरति से जीव अनास्रव-आस्रवरहित होता है।

○ अहिंसाः संयम-द्वार

{348}

एगिंदिया णं जीवा असमारंभमाणस्स पंचविधे संजमे कज्जति, तं जहा- पुढविकाइय- संजमे, (आउकाइयसंजमे, तेउकाइयसंजमे, वाउकाइयसंजमे), वणस्सतिकाइयसंजमे।

(ठा. 5/2/140)

एकेन्द्रियजीवों का आरंभ-समारंभ नहीं करने वाले जीव को पांच प्रकार का संयम होता है। जैसे-1. पृथिवीकायिक-संयम, 2. अप्कायिक-संयम, 3. तेजस्कायिक-संयम, 4. वायुकायिक-संयम, और 5. वनस्पतिकायिक-संयम।

{349}

तेइंदिया णं जीवा असमारंभमाणस्स छव्विहे संजमे कज्जति, तं जहा- घाणामातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति। घाणामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवति। जिब्भामातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति, (जिब्भामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवति। फासामातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति। फासामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवति)।

(ठा. 6/81)

त्रीन्द्रिय जीवों का घात करने वाले पुरुष को छह प्रकार का संयम प्राप्त होता है। जैसे-

1. घ्राण-जनित सुख का वियोग नहीं करने से।
2. घ्राण-जनित-दुःख का संयोग नहीं करने से।
3. रस-जनित सुख का वियोग नहीं करने से।
4. रस-जनित दुःख का संयोग नहीं करने से।
5. स्पर्श-जनित सुख का वियोग नहीं करने से।
6. स्पर्श-जनित दुःख का संयोग नहीं करने से।

{350}

जो जीव-रक्खण-परो गमणागमणादि-सव्व कज्जेसु।
तण-छेदं पि ण इच्छदि संजम-धम्मो हवे तस्स॥

(स्वा. कार्ति. 12/399)

जीव की रक्षा में तत्पर जो मुनि गमन-आगमन आदि सब कार्यों में तृण का भी छेद नहीं करना चाहता, उस मुनि के संयम धर्म होता है।

{351}

पंचिंदिया णं जीवा असमारभमाणस्स दसविधे संजमे कज्जति, तं जहा- सोतामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवति। सोतामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवति। (चक्खुमयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवति। चक्खुमएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवति। घाणामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवति। घाणामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवति। जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवति। जिब्भामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवति। फासामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवति।) फासामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवति।

(ठा. 10/22)

पंचेन्द्रिय जीवों का घात नहीं करने वाले के दस प्रकार का संयम होता है। जैसे-

1. श्रोत्रेन्द्रिय-सम्बन्धी सुख का वियोग नहीं करने से।
2. श्रोत्रेन्द्रिय-सम्बन्धी दुःख का संयोग नहीं करने से।
3. चक्षुरिन्द्रिय-सम्बन्धी सुख का वियोग नहीं करने से।
4. चक्षुरिन्द्रिय-सम्बन्धी दुःख का संयोग नहीं करने से।
5. घ्राणेन्द्रिय-सम्बन्धी सुख का वियोग नहीं करने से।
6. घ्राणेन्द्रिय-सम्बन्धी दुःख का संयोग नहीं करने से।
7. रसनेन्द्रिय-सम्बन्धी सुख का वियोग नहीं करने से।
8. रसनेन्द्रिय-सम्बन्धी दुःख का संयोग नहीं करने से।
9. स्पर्शनेन्द्रिय-सम्बन्धी सुख का वियोग नहीं करने से।
10. स्पर्शनेन्द्रिय-सम्बन्धी दुःख का संयोग नहीं करने से।

{352}

पंचिंदिया णं जीवा असमारभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जति, तं जहा- सोतिंदिय-संजमे, (चक्खिंदियसंजमे, घाणिंदियसंजमे, जिब्भिंदियसंजमे), फासिंदियसंजमे।

(ठा. 5/2/142)

पंचेन्द्रिय जीवों का आरंभ-सभारंभ नहीं करने वाले को पांच प्रकार का संयम होता है। जैसे-

1. श्रोत्रेन्द्रिय-संयम, 2. चक्षुरिन्द्रिय-संयम, 3. घ्राणेन्द्रिय-संयम, 4. रसनेन्द्रिय-संयम, और 5. स्पर्शनेन्द्रिय-संयम (क्योंकि वह पांचों इन्द्रियों का व्याघात नहीं करता)।

{353}

सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं असमारभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जति, तं जहा- एगिंदियसंजमे, (बेइंदियसंजमे, तेइंदियसंजमे, चउरिंदियसंजमे), पंचिंदियसंजमे।

(ठा. 5/2/144)

सर्व प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का घात नहीं करने वाले को पांच प्रकार का संयम होता है। जैसे-1. एकेन्द्रिय-संयम, 2. द्वीन्द्रिय-संयम, 3. त्रीन्द्रिय-संयम, 4. चतुरिन्द्रिय-संयम, और 5. पंचेन्द्रिय-संयम।

{354}

अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो॥

(प्रश्न. 6/271)

सभी जीवों के प्रति 'संयम' भाव को ही 'अहिंसा' के रूप में (तीर्थंकर महावीर द्वारा) जाना-देखा गया है।

O अहिंसाः परम ब्रह्म

{355}

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।

(बृ.स्व.स्तो. 119)

इस लोक में प्राणियों के लिए 'अहिंसा' ही 'पर ब्रह्म' के रूप में प्रसिद्ध/मान्य हैं।

{356}

तत्र अहिंसाव्रतमादौ क्रियते प्रधानत्वात्। सत्यादीनि हि तत्परिपालनार्थानि, सस्यस्य वृत्तिपरिक्षेपवत्।

(सर्वा. 7/1/664)

पांच व्रतों में अहिंसा व्रत को प्रारम्भ में रखा गया है क्योंकि वह सब में मुख्य है। धान्य के खेत के लिए जैसे उसके चारों ओर कांटों का घेरा होता है, उसी प्रकार सत्यादिक सभी व्रत उसकी रक्षा के लिए हैं।

{357}

यतीनां श्रावकाणां च व्रतानि सकलान्यपि।
एकाहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं कथितानि जिनेश्वरैः॥

(पद्म. पं. 6/40)

जिनेश्वरों ने व्यक्तियों या श्रावकों के जितने भी व्रत कहे गए हैं, वे सभी एक 'अहिंसा' की सिद्धि हेतु ही उपदिष्ट हैं।

{358}

एतत्समयसर्वस्वमेतत्सिद्धान्तजीवितम्।
यज्जन्तुजातरक्षार्थं भावशुद्ध्या दृढं व्रतम्॥

(ज्ञा. 8/29/501)

यह 'अहिंसा' रूप दृढ़ व्रत ही है जिसमें समस्त जंतुओं की रक्षा का निर्मल/विशुद्ध भाव समाहित है, यह सभी मतों का सारभूत है और सभी सिद्धांतों का प्राण (मूल) है।

{359}

ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रो हरिरमृतभुजां चण्डरोचिर्ग्रहाणाम्,
कल्पाङ्गं पादपानां सलिलनिधिरपां स्वर्णशैलो गिरीणाम्।
देवः श्रीवीतरागस्त्रिदशमुनिगणस्यात्र नाथो यथाऽयम्,
तद्वच्छीलव्रतानां शमयमतपसां विद्ध्यहिंसां प्रधानाम्॥

(ज्ञा. 8/57/530)

हे भव्य जीव ! जिस प्रकार ज्योतिश्चक्रों में प्रधान स्वामी चंद्रमा है तथा देवों में मुनियों के नाथ (स्वामी) श्रीवीतराग देव प्रधान हैं, उसी प्रकार शील और व्रतों में तथा शमभाव, यम (महाव्रत) व तपों में अहिंसा को प्रधान जानो।

{360}

तपः श्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणाम्।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता॥

(ज्ञा. 8/41/513)

तप, श्रुत (शास्त्रका ज्ञान), यम (महाव्रत), ज्ञान (बहुत जानना), ध्यान और दान करना तथा सत्य, शील, व्रतादिक जितने उत्तम कार्य हैं, उन सब की माता एक अहिंसा ही है। अहिंसाव्रत के पालन बिना, उपर्युक्त गुणों में से एक भी संपन्न/सफल नहीं होता, इस कारण अहिंसा ही समस्त धर्मकार्यों को उत्पन्न करने वाली माता है।

{361}

सत्याद्युत्तरनिःशेषयमजातनिबन्धनम्।
शीलैश्वर्याद्यधिष्ठानमहिंसाख्यं महाव्रतम्॥

(ज्ञा. 8/6/478)

अहिंसा नामक महाव्रत सत्य (अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) आदि चार महाव्रतों का कारण है, क्योंकि सत्य, अचौर्य आदि, बिना अहिंसा के हो ही नहीं सकते। शीलादिसहित उत्तरगुणों की चर्या का एवं ऐश्वर्य आदि का स्थान भी यह अहिंसा ही है। अर्थात् समस्त उत्तरगुण भी इस अहिंसा महाव्रत पर आश्रित हैं।

O अहिंसा भगवती की महिमाः विविध दृष्टियों से

{362}

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे।
सूत्राधाराः प्रसूनानां हाराणां च सरा इव॥

(पद्म. पं. 6/39)

जिस प्रकार माला में डोरा पुष्पों (के हार को एकजुट रखने में उन) का आधारभूत होता है, वैसे ही, मनुष्य में सभी गुणों की आधार 'जीव-दया' होती है।

{363}

विरया वीरा समुट्ठिया कोहाकायरियाइपीसणा।
पाणे ण हणंति सव्ववो पावाओ विरयाऽभिणिव्वुडा॥

(सू.कृ. 1/2/1/12)

वीर वे हैं जो (हिंसा आदि से) विरत है, संयम में उपस्थित हैं, क्रोध, माया आदि कषायों का चूर्ण करने वाले हैं, जो सर्वशः प्राणियों की हिंसा नहीं करते, जो पाप से विरत हैं और उपशान्त हैं।

{364}

यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम्।
तथा तथा विवेकश्रीः परां प्रीतिं प्रकाशते॥

(ज्ञा. 8/54/526)

पुरुषों के हृदय में जैसे-जैसे करुणाभाव स्थिरता को प्राप्त करता है, वैसे-वैसे विवेक-रूपी लक्ष्मी उससे परम प्रीति प्रकट करती रहती है।

[अर्थात् करुणा/दया व्यक्ति में विवेक-ज्योति को समृद्ध करती है।]

{365}

अन्ययोगव्यवच्छेदादहिंसा श्रीजिनागमे।
परैश्च योगमात्रेण कीर्तिता सा यदृच्छया॥

(ज्ञा. 8/54.1/527)

जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग में तो अहिंसा अन्ययोगव्यवच्छेद से कही गई है अर्थात् अन्य मतों में ऐसी अहिंसा का योग (वर्णन) ही नहीं है। इस जिनमत में तो हिंसा का सर्वथा निषेध ही है किंतु अन्य मत के समर्थकों ने जो अहिंसा कही है, वह योगमात्र से ही कही है अर्थात् कहीं अहिंसा कही है और कहीं हिंसा का भी पोषण किया है, अतः अहिंसा का कथन उन्होंने मनमाने ढंग से किया है।

[जिनागम में हिंसा का सर्वथा निषेध है, किंतु अन्य मत में विक्षिप्त व्यक्ति के कथन की तरह कहीं तो हिंसा का निषेध किया गया है और कहीं उसका पोषण किया गया है।]

{366}

तन्नास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणम्।
यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण॥

(ज्ञा. 8/55/528)

इस जीव-लोक में (जगत् में) मनुष्य जीवरक्षा के अनुराग से समस्त कल्याणरूप पद को प्राप्त होते हैं। तीर्थंकर, देवेन्द्र या चक्रवर्ती- इनमें से कोई भी पद ऐसा नहीं है, जिसे प्राणी-रक्षक (दयावान्) व्यक्ति नहीं पा सकता। अर्थात् अहिंसा (दया) सर्वोत्तम पद की देने वाली है।

{367}

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च।
"अहिंसालक्षणो धर्मस्तद्विपक्षश्च पातकम्"॥

(ज्ञा. 8/30/502)

समस्त मतों के समस्त शास्त्रों में यही सुना जाता है कि अहिंसालक्षण तो धर्म है और इसका प्रतिपक्षी हिंसा करना पाप है।

{368}

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती॥

(ज्ञा. 8/31/503)

अहिंसा ही तो जगत् की माता है क्योंकि यही समस्त जीवों की प्रतिपालना करने वाली है। अहिंसा ही आनन्द की सन्तति अर्थात् परम्परा है। अहिंसा ही उत्तम गति और शाश्वती लक्ष्मी है। जगत् में जितने उत्तमोत्तम गुण हैं, वे सब इस अहिंसा में ही समाहित हैं।

{369}

जन्मोग्रभयभीतानामहिंसैवौषधिः परा।
तथाऽमरपुरीं गन्तुं पाथेयं पथि पुष्कलम्॥

(ज्ञा. 8/48/520)

इस संसाररूप तीव्र भय से भयभीत होने वाले जीवों के लिए यह अहिंसा ही एक परम औषधि है, क्योंकि यह सब का भय दूर करती है। यह अहिंसा ही स्वर्ग जाने वालों के लिये मार्ग में पुष्टिकारक प्रचुर पाथेयस्वरूप (भोजनादिकी सामग्री) सिद्ध होती है।

{370}

परमाणोः परं नाल्पं न महद् गगनात्परम्।
यथा किञ्चित्तथा धर्मो नाहिंसालक्षणात्परः॥

(ज्ञा. 8/40/512)

इस लोक में जैसे परमाणु से तो कोई छोटा वा अल्प नहीं है और आकाश से कोई बड़ा नहीं है, इसी प्रकार अहिंसारूप धर्म से अधिक बड़ा तथा कोई अधिक सूक्ष्म धर्म नहीं है।

{371}

मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी।
अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारणिः॥
अहिंसा दुःख-दावाग्नि-प्रावृषेण्यघनावली।
भवभ्रमिरुगार्तानामहिंसा परमौषधी॥

(है. योग. 2/50-51)

अहिंसा माता की तरह समस्त प्राणियों का हित करने वाली है। अहिंसा ही इस संसार-रूपी मरुभूमि (रेगिस्तान) में अमृत बहाने वाली सरिता है। अहिंसा दुःखरूपी दावाग्नि को शांत करने के लिए वर्षाऋतु की मेघ-घटा है, तथा भवभ्रमणरूपी रोग से पीड़ित जीवों के लिए अहिंसा एक परम औषधि है।

{372}

दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता।
अहिंसायाः फलं सर्वं, किमन्यत् कामदैव सा॥

(है. योग. 2/52)

दीर्घ आयुष्य, उत्तम रूप, आरोग्य, प्रशंसनीयता आदि सब अहिंसा के ही सुफल हैं। अधिक क्या कहें? अहिंसा कामधेनु की तरह समस्त मनोवाञ्छित फल देती है।

{373}

करुणार्द्रं च विज्ञानवासितं यस्य मानसम्।
इन्द्रियार्थेषु निःसङ्गं तस्य सिद्धं समीहितम्॥

(ज्ञा. 8/42/514)

जिस पुरुष का मन करुणा से आर्द्र (गीला) हो तथा विशिष्ट ज्ञानसहित हो और इन्द्रियों के विषयों से दूर हो, वही मनोवांछित कार्य को सिद्ध कर पाता है।

{374}

अहिंसैकाऽपि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम्।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपःश्रुतयमोत्करः॥

(ज्ञा. 8/46/518)

यह अहिंसा अकेली ही जीवों को जो सुख, कल्याण वा अभ्युदय देती है, उसे तप, स्वाध्याय और यम-नियमादि नहीं दे सकते हैं, क्योंकि धर्म के समस्त अङ्गों में अहिंसा ही एकमात्र प्रधान है।

{375}

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियम्।
अहिंसैव हितं कुर्याद् व्यसनानि निरस्यति॥

(ज्ञा. 8/32/504)

यह अहिंसा ही मुक्ति को उत्पन्न करती है तथा स्वर्ग की लक्ष्मी को देती है। अहिंसा ही आत्मा का हित करती है तथा समस्त कष्टरूप आपदाओं को नष्ट करती है।

{376}

किन्त्वहिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी।
तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती॥

(ज्ञा. 8/49/521)

यह अहिंसा ही है, जो जीवों के लिए माता के समान रक्षा करने वाली, पत्नी के समान चित्त को आनन्द देने वाली है तथा सदुपदेश देने वाली सरस्वती के समान है।

{377}

सव्वसत्ताण अहिंसादिलक्खणो धम्मो पिता, रक्खणत्तातो।

(नंदी. चू. 1)

अहिंसा, सत्य आदि धर्म सब प्राणियों का पिता है, क्योंकि वही सब का रक्षक है।

{378}

अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं।

(आचा. 1/3/4/129)

शस्त्र (=हिंसा) एक-से एक बढ़ कर है। परन्तु अशस्त्र (=हिंसा) एक-से-एक बढ़ कर नहीं है, अर्थात् अहिंसा की साधना से बढ़ कर श्रेष्ठ दूसरी कोई साधना नहीं है।

○ अहिंसा का जयघोषः रामराज्य में

{379}

लोकद्वयहितं मत्वा कारयामास घोषणाम्।
प्राणिनो नहि हन्तव्याः कैश्चिच्चेति दयोद्यतः॥

(उ.प्र. 68/698)

दया में उद्यत रहने वाले रामचंद्रजी ने दोनों लोकों का हित मान कर यह घोषणा करा दी कि कोई भी मनुष्य किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करे।

○ अहिंसक वृत्तिः कुशल शिक्षक व योग्य शिष्य की पहचान

{380}

जस्स इमाओ जातीओ सव्वतो सुपडिलेहिताओ भवंति आघाति से णाणमणेलिसं।

से किट्टति तेसिं समुट्ठिताणं निक्खित्तदंडाणं समाहिताणं पण्णाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं।

(आचा. 1/6/1 सू. 177)

जिसे ये जीव-जातियां (समग्र-संसार) सब प्रकार से भली-भांति ज्ञात होती हैं, वही विशिष्ट ज्ञान का सम्यग् आख्यान करता है।

वह (सम्बुद्ध पुरुष) इस लोक में उनके लिए मुक्ति-मार्ग का निरूपण (यथार्थ आख्यान) करता है, जो (धर्माचरण के लिए) सम्यक् उद्यत हैं, मन-वाणी और काया से जिन्होंने दण्डरूप हिंसा का त्याग कर स्वयं को संयमित किया है, जो समाहित (एकाग्रचित्त या तप-संयम में उद्यत) हैं तथा सम्यग् ज्ञानवान् हैं।

{381}

संतिविरतिं उवसमं निव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवातियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं जाव सत्ताणं अणुवीइ किट्टए धम्मं।

(सू.कृ. 2/1/ सू. 689)

(धर्मधुरन्धर) साधु शांति (समस्त क्लेशोपशमरूप) के लिए विरति (कषायों या आस्रवों से निवृत्ति) (अथवा शान्ति=क्रोधादि कषायविजय, शांति-प्रधान विरति=प्राणातिपातादि

से निवृत्ति), उपशम (इन्द्रिय और मन का शमन अथवा रागद्वेषाभावजनित उपशमन), निर्वाण (समस्तद्वन्द्वोपरमरूप या सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष), शौच (निर्लोभता), आर्जव (सरलता), मार्दव (कोमलता), लाघव (लघुता-हलकापन) तथा समस्त प्राणी, भूत जीव और सत्त्व के प्रति अहिंसा आदि धर्मों के अनुरूप (या प्राणियों के हितानुरूप) विशिष्ट चिन्तन करके धर्मोपदेश दे।

{382}

विद्वत्त्वं सच्चरित्रत्वं दयालुत्वं प्रगल्भता।
वाक्सौभाग्येङ्गितज्ञत्वे प्रश्नक्षोदसहिष्णुता॥
सौमुख्यं लोकविज्ञानं ख्यातिपूजाद्यवीक्षणम्।
मिताभिधानमित्यादि गुणा धर्मोपदेष्टरि॥

(उ. पु. 62/3-4)

विद्वान् होना, श्रेष्ठ चारित्र धारण करना, दयालु होना, बुद्धिमान् होना, बोलने में चतुर होना, दूसरों के इशारे को समझ लेना, प्रश्नों के आक्रामक वातावरण को सहन करना, मुख अच्छा होना, लोक-व्यवहार का ज्ञाता होना, प्रसिद्धि तथा पूजा की अपेक्षा नहीं रखना और थोड़ा बोलना इत्यादि धर्मोपदेश देने वाले के गुण हैं।

{383}

अह पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा कोहा पमाएणं रोगेणाऽलस्सएण य॥

(उत्त. 11/3)

इन पांच कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं होती है-अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य। (तात्पर्य यह है कि जिसने हिंसा-रूप-क्रोध आदि का त्याग नहीं किया है, वह धर्मोपदेश या शिक्षा को ग्रहण कर नहीं पाता।)

{384}

अह चउदसहिं ठाणेहिं वट्टमाणे उ संजए।
अविणीए वुच्चई सो उ निव्वाणं च न गच्छइ॥

(उत्त. 11/6)

निम्नलिखित चौदह प्रकार से व्यवहार करने वाला संयत-मुनि अविनीत कहलाता है और वह निर्वाण प्राप्त नहीं करता है:-

{385}

अभिक्खणं कोही हवइ पबन्धं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ सुयं लद्धूण मज्जई॥
अवि पावपरिक्खेवी अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्साવિ मित्तस्स रहे भासइ पावगं॥
पइण्णवाई दुहिले थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते अविणीए त्ति वुच्चई॥

(उत्त. 11/7-9)

(1) जो बार-बार क्रोध करता है, (2) जो क्रोध को लम्बे समय तक बनाये रखता है, (3) जो मित्रता को ठुकराता है, (4) जो श्रुत प्राप्त कर अहंकार करता है, (5) जो स्खलना होने पर दूसरों का तिरस्कार करता है, (6) जो मित्रों पर क्रोध करता है, (7) जो प्रिय मित्रों की भी एकान्त में बुराई करता है, (8) जो असंबद्ध प्रलाप करता है, (9) द्रोही है, (10) अभिमानी है, (11) रसलोलुप है, (12) अजितेन्द्रिय है, (13) असंविभागी है, साथियों में बांटता नहीं है, और (14) अप्रीतिकर है।

{386}

से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए संतिं विरतिं उवसमं णिव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियंअणतिवत्तियं। सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं, अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा।

(आचा. 1/6/5 सू. 196)

वह मुनि सद्ज्ञान सुनने के इच्छुक व्यक्तियों के बीच, फिर वे चाहे (धर्माचरण के लिए) उत्थित (उद्यत) हों या अनुत्थित (अनुद्यत), शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच (निर्लोभता), आर्जव (सरलता), मार्दव (कोमलता), लाघव (अपरिग्रह) एवं अहिंसा का प्रतिपादन करे।

वह भिक्षु समस्त प्राणियों, सभी भूतों, सभी जीवों और समस्त सत्त्वों का हित-चिन्तन करके (या उनकी वृत्ति-प्रवृत्ति के अनुरूप विचार करके) धर्म का व्याख्यान करे।

{387}

रागदोसाभिभूयप्पा मिच्छत्तेण अभिद्दुया।
अक्कोसे सरणं जंति टंकणा इव पव्वयं॥

(सू.कृ. 1/3/3/57)

(यदि श्रोता अज्ञानी व राग-द्वेष युक्त होने से हिंसक प्रवृत्ति के हैं तो उपदेशक मुनि को संकट का सामना करना पड़ सकता है, क्योंकि) राग-द्वेष से अभिभूत और मिथ्या धारणाओं से भरे हुए लोग गाली-गलौज की शरण में चले जाते हैं, जैसे तंगण (म्लेच्छ जाति के लोग) पर्वत की शरण में।

O अहिंसाः विद्वान्/ज्ञानी की पहचान

{388}

तसपाणे वियाणेत्ता संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं तं वयं बूम माहणं॥

(उत्त. 25/23)

(जयघोष मुनि का विजयघोष ब्राह्मण को कथन-)जो त्रस और स्थावर जीवों को सम्यक् प्रकार से जानकर उनकी मन, वचन और काया से हिंसा नहीं करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

{389}

से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए।

(आचा.1/4/4/145)

जो आरम्भ (=हिंसा) से उपरत है, वही प्रज्ञानवान् बुद्ध है।

{390}

एयं खु णाणिणो सारं जं ण हिंसइ कंचणं।

(सू.कृ. 1/1/4/85;1/11/10)

ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता।

{391}

दमो देवगुरूपास्तिर्दानमध्ययनं तपः।
सर्वमप्येतदफलं हिंसां चेन्न परित्यजेत्॥

(है. योग. 2/31)

जब तक कोई व्यक्ति हिंसा का त्याग नहीं कर देता, तब तक उसका इंद्रियदमन, देव और गुरु की उपासना, दान, शास्त्राध्ययन और तप आदि सब बेकार हैं, निष्फल हैं।

{392}

अहिंसा समयं चेव एयावंतं वियाणिया।

(सू.कृ. 1/1/4/85;1/11/10)

समता ही अहिंसा है, इतना ही ज्ञानी को जानना है।

{393}

उवेहेणं बहिया य लोकं। से सव्वलोकंसि जे केइ विण्णू। अणुवियि पास णिक्खित्तदंडा जे केइ सत्ता पलियं चयंति। णरा मुतच्चा धम्मविदु त्ति अंजू आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा।

(आचा. 1/4/3 सू. 140)

इस (अहिंसादि धर्म से) विमुख (बाह्य) जो (दार्शनिक) लोग हैं, उनकी उपेक्षा कर! जो ऐसा करता है, वह समस्त मनुष्य लोक में जो कोई विद्वान है, उनमें अग्रणी विज्ञ (विद्वान्) है। तू अनुचिन्तन करके देख-जिन्होंने (प्राणि-विघातकारी) दण्ड (हिंसा) का त्याग किया है, (वे ही श्रेष्ठ विद्वान् होते हैं।) जो सत्त्वशील मनुष्य धर्म के सम्यक् विशेषज्ञ होते हैं, वे ही कर्म (पलित) का क्षय करते हैं। ऐसे मनुष्य धर्मवेत्ता होते हैं, अतएव वे सरल (ऋजु-कुटिलता रहित) होते हैं, (साथ ही वे) शरीर के प्रति अनासक्त या कषायरूपी अर्चा को विनष्ट किये हुए (मृतार्च) होते हैं, अथवा शरीर के प्रति भी अनासक्त होते हैं।

3

दैनिक जीवन में सम्भावित हिंसा : अपेक्षित सावधानी

(हिंसा का सशक्त साधनःसावद्य वचन)

○ हिंसा की शाब्दिक अभिव्यक्तिः असत्य भाषण

{394}

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति॥

(पुरु. 4/63/99)

चूंकि सभी (असत्य) वचनों में वक्ता का आन्तरिक प्रमाद/कषाय कारण रूप में विद्यमान रहता है- ऐसा कहा गया है, इसलिए असत्य वचनों से 'हिंसा' निश्चित रूप से होती है (ऐसा मानना चाहिए)।

(अहिंसा की श्रेष्ठता का अवरोधक/विनाशकः असत्य भाषण)

{395}

अहिंसाव्रतरक्षार्थं यमजातं जिनैर्मतम्।
नारोहति परां कोटिं तदेवासत्यदूषितम्॥

(ज्ञा. 9/2/532)

जिनेन्द्र भगवान् ने जो यमनियमादि व्रतों का समूह कहा है, वह एक मात्र अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए ही कहा है। क्योंकि अहिंसा व्रत यदि असत्य वचन से दूषित हो तो वह उत्कृष्ट पद को प्राप्त नहीं होता (अर्थात् असत्य वचन के होने से अहिंसा-व्रत पूर्ण नहीं होता)।

{396}

जह परमण्णस्स विसं विणासयं जह व जोव्वणस्स जरा।
तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासयमसच्चं॥

(भग. आ. 839)

जैसे विष उत्तमोत्तम भोजन का विनाशक है और बुढ़ापा यौवन का विनाशक है, वैसे ही असत्य वचन अहिंसा आदि गुणों का विनाशक है।

○ हिंसात्मक प्राणी-पीड़ाकारी वचनः असत्य

{397}

सदर्थमसदर्थं च प्राणिपीडाकरं वचः।
असत्यमनृतं प्रोक्तमृतं प्राणिहितं वचः॥

(ह. पु. 58/130)

विद्यमान अथवा अविद्यमान वस्तु को निरूपण करने वाला जो वचन प्राणियों को पीड़ित करने वाला होता है तो वह 'असत्य' अथवा अनृत वचन कहलाता है। इसके विपरीत, जो वचन प्राणियों का हित करने वाला है, वह 'ऋत' (अथवा सत्यवचन) कहलाता है।

{398}

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्त्तन्ते॥

(पुरु. 4/61/97)

किसी जीव के छेदन, भेदन, मारण, घसीटने आदि की प्रेरणा देने वाले तथा (हिंसक) व्यापार एवं चोरी में प्रवृत्ति कराने वाले जो वचन हैं, वह सब पापयुक्त वचन हैं, क्योंकि वे प्राणी-हिंसा आदि पापों में प्रवृत्त कराते हैं।

{399}

कोवाकुलचित्तो जं संतमवि भासति, तं मोसमेव भवति।

(दशवै. चू. 7)

क्रोध (हिंसात्मक मनोवृत्ति) से क्षुब्ध हुए व्यक्ति का सत्य भाषण भी असत्य ही है।

{400}

असद्वदनवल्मीके विशाला विषसर्पिणी।
उद्वेजयति वागेव जगदन्तर्विषोल्बणा॥

(ज्ञा. 9/10/540)

दुष्ट पुरुषों के मुखरूपी बांबी में आन्तरिक विष (कलुषता) के कारण अत्यन्त तीक्ष्ण जो असत्य वाणीरूपी सर्पिणी रहती है, वह जगत् भर को दुःख देती है (पीड़ित करती है)।

{401}

अलियवयणं लहुसग-लहुचवल-भणियं भयंकरं दुहकरं अयसकरं वेरकरगं अरइ-रइ-रागदोष-मणसंकिलेस-वियरणं अलियणियडिसाइजोयबहुलं णीयजणणिसेवियं णिस्संसं अप्पच्चयकारगं परमसाहुगरणिज्जं परपीलाकारगं परमकिण्हलेस्ससेवियं दुग्गइविणिवायविवड्ढणं भवपुणब्भवकरं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं।

(प्रश्न. 1/2/सू.44; 59)

जो अलीकवचन अर्थात् मिथ्याभाषण है, वह गुण-गौरव से रहित, हल्के, उतावले और चंचल लोगों द्वारा बोला जाता है, (स्व एवं पर के लिए) भय उत्पन्न करने वाला, दुःखोत्पादक, अपयशकारी एवं वैर उत्पन्न करने वाला है। यह अरति, रति, राग, द्वेष और मानसिक संक्लेश को देने वाला है। शुभ फल से रहित है। धूर्तता एवं अविश्वसनीय वचनों की प्रचुरता वाला है। नीच जन इसका सेवन करते हैं। यह नृशंस, क्रूर अथवा निन्दित है। यह अप्रतीतिकारक है-विश्वसनीयता का विघातक है। यह उत्तम साधुजनों-सत्पुरुषों द्वारा निन्दित है। दूसरों को- जिनको लक्ष्य कर असत्यभाषण किया जाता है, उनको-पीड़ा उत्पन्न करने वाला है। यह उत्कृष्ट कृष्णलेश्या से सहित है अर्थात् कृष्णलेश्या वाले लोग इसका प्रयोग करते हैं। यह दुर्गतियों में निपात को बढ़ाने वाला-बारंबार दुर्गतियों में ले जाने वाला है। यह भव -पुनर्भव करने वाला अर्थात् जन्म-मरण की वृद्धि करने वाला है। यह चिरपरिचित है-अनादि काल से जीव इसके अभ्यासी हैं। यह निरन्तर साथ रहने वाला है और बड़ी कठिनाई से इसका अन्त होता है अथवा इसका परिणाम अतीव अनिष्ट होता है।

{402}

जंताइं विसाइं मूलकम्मं आहेवण-आविंधण-आभिओग-मंतोसहिप्पओगे चोरिय-परदार-गमण-बहुपावकम्मकरणं उक्खंधे गामघाइयाओ वणदहण-तलागभेयणाणि बुद्धिविसयविणासणाणि वसीकरणमाइयाइं भय-मरण-किलेसदोसजणणाणि भावबहुसंकिलिट्ठमलिणाणि भूयघाओवघाइयाइं सच्चाइं वि ताइं हिंसगाइं वयणाइं उदाहरंति।

(प्रश्न. 1/2/सू.55)

मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के लिए (लिखित) यन्त्रों या पशु-पक्षियों को पकड़ने वाले यन्त्रों, संखिया आदि विषों, गर्भपात आदि के लिए जड़ी-बूटियों के प्रयोग, मन्त्र आदि द्वारा नगर में क्षोभ या विद्वेष उत्पन्न कर देने अथवा मन्त्रबल से धनादि खींचने, द्रव्य और भाव से वशीकरण- मन्त्रों एवं औषधियों के प्रयोग करने, चोरी, परस्त्रीगमन करने आदि के बहुत-से पापकर्मों के उपदेश देने, तथा छल से शत्रुसेना की शक्ति को नष्ट करने अथवा उसे कुचल देने, जंगल में आग लगा देने, तालाब आदि जलाशयों को सुखा देने, ग्रामघात-गांव को नष्ट कर देने, बुद्धि के विषयों-विषयभूत पदार्थों को नष्ट करने के कारणभूत, वशीकरण आदि के द्वारा भय, मरण, क्लेश और दुःख उत्पन्न करने वाले, अतीव संक्लेश होने के कारण मलिन, जीवों का घात और उपघात करने वाले वचन तथ्य (यथार्थ) होने पर भी प्राणियों का घात करने वाले (होने से 'असत्य वचन') हैं, जिन्हें मृषावादी बोलते हैं।

{403}

इहलोइय परलोइय दोसा जे होंति अलियवयणस्स।
कक्कसवदणादीण वि दोसा ते चेव णादव्वा॥

(भग. आ. 845)

इस लोक और परलोक में असत्यवादी जिन दोषों का पात्र होता है, कर्कश आदि वचन बोलने वाला भी उन्हीं दोषों का पात्र होता है (अर्थात् कटु वचन बोलना असत्य भाषण जैसा ही अनिष्टकारी व निन्दनीय है)।

{404}

अदयैः संप्रयुक्तानि वाक्शस्त्राणीह भूतले।
सद्यो मर्माणि कृन्तन्ति शितास्त्राणीव देहिनाम्॥

(ज्ञा. 9/26)

निर्दय पुरुषों के द्वारा चलाये गए (प्रयुक्त) वचन रूप शस्त्र इस पृथ्वी-तल पर जीवों के मर्म को तीक्ष्ण शस्त्रों के समान तत्काल छेदन करते हैं, क्योंकि असत्य वचन के समान दूसरा कोई भी शस्त्र नहीं है।

○ अहिंसात्मक वचनः सत्य

{405}

अहिंसालक्षणो भावः पाल्यते येन वचसा तद्भावसत्यम्।

(भग. आ. विजयो. 1187)

जिस वचन के द्वारा अहिंसा रूप भाव पाला जाता है, वह वचन 'भाव सत्य' है।

{406}

असत्यमपि तत्सत्यं यत्सच्चाशंसकं वचः।
सावद्यं यच्च पुष्णाति तत्सत्यमपि निन्दितम्॥

(ज्ञा. 9/3/533)

जो वचन जीवों का इष्ट या हित करने वाला हो, वह असत्य हो तो भी सत्य है, और जो वचन पाप-सहित हिंसा रूप कार्य को पुष्ट करता हो, वह सत्य हो तो भी असत्य और निन्दनीय है।

{407}

सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम्।
अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं वचः शास्त्रे प्रशस्यते॥

(ज्ञा. 9/5/535)

जो वचन सत्य हो, करुणा से व्याप्त हो, विरुद्ध न हो, आकुलतारहित हो, गंवार व्यक्ति के वचन जैसा न हो, गौरवसहित हो अर्थात् जिसमें हलकापन नहीं हो, वही वचन शास्त्रों में प्रशंसित माना गया है।

{408}

सा मिथ्याऽपि न गीर्मिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी॥

(उपासका. 28/284)

जो वचन गुरु आदि (श्रेष्ठ) जनों को प्रसन्न करने वाला होता है, वह मिथ्या होते हुए भी मिथ्या नहीं है।

○ हिंसात्मक पीड़ाकारी वचन त्याज्य

{409}

न सत्यमपि भाषेत परपीड़ाकरं वचः।
लोकेऽपि श्रूयते यस्मात् कौशिको नरकं गतः॥

(है. योग. 2/61)

जिससे दूसरों को पीड़ा हो, ऐसा सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि यह लोकश्रुति है कि ऐसे वचन बोलने से कौशिक नरक में गया था।

{410}

तत्सत्यमपि नो वाच्यं यत्स्यात्परविपत्तये।
जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदाः॥

(उपासका. 28/377)

ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए, जिससे दूसरों पर विपत्ति आती हो या अपने ऊपर दुर्निवार संकट आता हो।

{411}

सच्चं वि य संजमस्स उवरोहकारगं किंचि ण वत्तव्वं, हिंसासावज्जसंपउत्तं भेयविकहकारगं अणत्थवायकलहकारगं अणज्जं अववाय-विवायसंपउत्तं वेलंबं ओजधेज्जबहुलं णिल्लज्जं लोयगरहणिज्जं...।

(प्रश्न. 2/2/सू.120)

जो सत्य संयम में बाधक हो-रुकावट पैदा करता हो, वैसा तनिक भी नहीं बोलना चाहिए (क्योंकि जो वचन तथ्य होते हुए भी हितकर नहीं, प्रशस्त नहीं, हिंसाकारी है, वह सत्य में परिगणित नहीं होता)। जो वचन (तथ्य होते हुए भी) हिंसा रूप पाप से अथवा

हिंसा एवं पाप से युक्त हो, जो भेद-फूट उत्पन्न करने वाला हो, जो विकथाकारक हो-स्त्री आदि से सम्बन्धित चारित्रनाशक या अन्य प्रकार से अनर्थ का हेतु हो, जो निरर्थक वाद या कलह का कारक हो अर्थात् जो वचन निरर्थक वाद-विवाद रूप हो और जिससे कलह उत्पन्न हो, जो वचन अनार्य हो-अनाड़ी लोगों के योग्य हो-आर्य पुरुषों के बोलने योग्य न हो अथवा अन्याययुक्त हो, जो अन्य के दोषों को प्रकाशित करने वाला हो, विवादयुक्त हो, दूसरों की विडम्बना-फजीहत करने वाला हो, जो विवेकशून्य जोश और धृष्टता से परिपूर्ण हो, जो निर्लज्जता से भरा हो, जो लोक-जनसाधारण या सत्पुरुषों द्वारा निन्दनीय हो, ऐसा वचन नहीं बोलना चाहिए।

{412}

दुद्दिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं, अप्पणो थवणा परेसु णिंदा; ण तंसि मेहावी, ण तंसि धण्णो, ण तंसि पियधम्मो, ण तंसि कुलीणो, ण तंसि दाणवई, ण तंसि सूरो, ण तंसि पडिरूवो, ण तंसि लट्ठो, ण पंडिओ, ण बहुस्सुओ, ण विय तंसि तवस्सी, ण यावि परलोयणिच्छयमई असि, सव्वकालं जाइ-कुल-रूव-वाहि-रोगेण वावि जं होई वज्जणिज्जं दुहओ उवयारमइक्कंतं एवंविहं सच्चं वि ण वत्तव्वं।

(प्रश्न. 2/2/सू.120)

जो घटना भलीभांति स्वयं न देखी हो, जो बात सम्यक् प्रकार से सुनी न हो, जिसे ठीक तरह-यथार्थ रूप में जान नहीं लिया हो, उसे या उसके विषय में बोलना नहीं चाहिए।

इसी प्रकार, अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा भी (नहीं करनी चाहिए), यथा- तू बुद्धिमान् नहीं है-बुद्धिहीन है, तू धन्य-धनवान् नहीं-दरिद्र है, तू धर्मप्रिय नहीं है, तू कुलीन नहीं, तू दानपति-दानेश्वर नहीं है, तू शूरवीर नहीं है, तू सुन्दर नहीं है, तू भाग्यवान् नहीं है, तू पण्डित नहीं है, तू बहुश्रुत-अनेक शास्त्रों का ज्ञाता नहीं है, तू तपस्वी भी नहीं है, तुझमें परलोक-सम्बन्धी निश्चय करने की बुद्धि भी नहीं है, आदि। अथवा जो वचन सदा-सर्वदा जाति (मातृपक्ष), कुल (पितृपक्ष), रूप (सौन्दर्य), व्याधि (कोढ आदि बीमारी), रोग (ज्वरादि) से सम्बन्धित हो, (किन्तु) जो पीडाकारी या निन्दनीय होने के कारण वर्जनीय हो-न बोलने योग्य हो, अथवा जो वचन द्रोह-कारक अथवा द्रव्य-भाव से आदर एवं उपचार से रहित हो-शिष्टाचार के अनुकूल न हो अथवा उपकार का उल्लंघन करने वाला हो (अर्थात् अपकार/अहित करने वाला हो), इस प्रकार का तथ्य-सद्भूतार्थ वचन भी नहीं बोलना चाहिए।

{413}

मा कडुयं भणह जणे महुरं, पडिभणह कडुयभणिया वि।
जइ गेण्हिऊण इच्छह लोए सुहयत्तण-पडायं॥

(कुवलयमाला, अनुच्छेद 85)

यदि संसार में अच्छेपन की ध्वजा लेकर चलना चाहते हो तो लोगों को कडुआ मत बोलो और उनके द्वारा कडुआ बोले जाने पर भी मधुर वचन बोलो।

{414}

हासेण वि मा भण्णऊ, णयरं जं मम्मवेहणं वयणं।

(कुवलयमाला, अनुच्छेद 85)

मज़ाक के द्वारा भी मर्मवेधक और व्यर्थ के वचन मत बोलो।

{415}

साइयं न मुसं बूया, एस धम्मे वुसीम ओ॥

(सू. कृ. 1/8/19)

विश्वासघात न करना, विश्वासघाती असत्य न बोलना- यही धर्म है।

{416}

कक्कस्सवयणं णिट्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च।
जं किंचि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण॥

(भग. आ. 824)

कर्कश वचन अर्थात् घमण्डयुक्त वचन, निष्ठुर वचन, दूसरे के दोषों का सूचन करने वाले वचन, हास्य वचन और जो कुछ भी बकवाद करना, ये सब संक्षेप में गर्हित वचन हैं।

{417}

जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च।
अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेवमादीयं॥

(भग. आ. 825)

जिस वचन से किसी के प्राणों का घात आदि दोष उत्पन्न होते हैं वह सावद्य वचन है। अथवा ऐसा कहने में दोष है या नहीं, यह विचार न करके चोर को चोर कहना (लोगों के सामने चोर को चोररूप में निर्दिष्ट करना)सावद्य वचन है (क्योंकि ऐसा करने से लोग उस चोर की हिंसा भी कर सकते हैं)।

{418}

परुसं कडुयं वयणं वेरं कलहं च जं भयं कुणइ।
उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण॥
हासभयलोहकोहप्पदोसादीहिं तु मे पयत्तेण।
एवं असंतवयणं परिहरिदव्वं विसेसेण॥

(भग. आ. 826-827)

कठोर वचन, कटुक वचन, जिस वचन से वैर, कलह और भय पैदा हो, अति त्रास देने वाले वचन, तिरस्कार-सूचक वचन -ये संक्षेप में अप्रियवचन हैं।

हास्य, भय, लोभ, क्रोध और द्वेष आदि कारणों से बोले जाने वाले वचन भी असत्य वचन हैं, प्रयत्नपूर्वक विशेष रूप से उन्हें नहीं बोलना चाहिए।

{419}

सर्वलोकप्रिये तथ्ये प्रसन्ने ललिताक्षरे।
वाक्ये सत्यपि किं ब्रूते निकृष्टः परुषं वचः॥

(ज्ञा. 9/22/552)

सर्वलोक को प्रिय लगने वाले, सब को प्रसन्न करने वाले, सत्य व ललित पदों वाले वचनों के होते हुए भी, नीच पुरुष, न जाने क्यों, कठोर वचन बोलते हैं?

{420}

इमाइं छ अवयणाइं वदित्तए-अलियवयणे, हीलियवयणे, खिंसितवयणे, फरुसवयणे, गारत्थियवयणे, विउसवितं वा पुणो उदीरित्तए।

(ठा. 6/3/100)

छह तरह के वचन (साधु आदि को) नहीं बोलने चाहिएं- असत्य वचन, तिरस्कारयुक्त वचन, झिड़कते हुए वचन, कठोर वचन, साधारण मनुष्यों की तरह अविचारपूर्ण वचन और शान्त हुए कलह को फिर से भड़काने वाले वचन।

{421}

मर्मच्छेदि मन:शल्यं च्युतस्थैर्यं विरोधकम्।
निर्दयं च वचस्त्याज्यं प्राणै:कण्ठगतैरपि॥

(ज्ञा. 9/13/543)

मर्म को छेदने वाले, मन में शल्य (कांटा चुभने की पीड़ा को)उपजाने वाले, स्थिरता-रहित (चंचल रूप), विरोध उपजाने वाले तथा दया-रहित वचन को कण्ठगत प्राण होने पर भी, नहीं बोलना चाहिए।

{422}

अत्युक्तिमन्यदोषोक्तिमसभ्योक्तिं च वर्जयेत्।

(उपासका. 28/376)

किसी बात को बढ़ा कर नहीं कहना चाहिए, न दूसरे के दोषों को ही कहना चाहिए।

{423}

इमं [सच्चवयणं] च अलिय-पिसुण-फरुस-कडुय-चवलवयण-परिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं णेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाणं विउसमणं।

(प्रश्न. 2/2/सू.121)

अलीक-असत्य, पिशुन-चुगली, परुष-कठोर, कटु-कटुक और चपल-चंचलता-युक्त (जो असत्यवत् दोषयुक्त हैं, ऐसे) वचनों से बचाव के लिए तीर्थंकर भगवान् ने यह प्रवचन समीचीन रूप से प्रतिपादित किया है। यह (सत्य समर्थक) भगवत्प्रवचन आत्मा के लिए हितकर है, जन्मान्तर में शुभ भावना से युक्त है, भविष्य में श्रेयस्कर है, शुद्ध-निर्दोष है, न्यायसंगत है, मुक्ति का सीधा मार्ग है, सर्वोत्कृष्ट है तथा समस्त दु:खों और पापों को पूरी तरह उपशान्त-नष्ट करने वाला है।

○ अहिंसात्मक हितकारी वचन का उपदेश

{424}

भाषेत वचनं नित्यमभिजातं हितं मितम्॥

(उपासका. 28/376)

असभ्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए। किन्तु सदा हित-मित और सभ्य वचन ही बोलना चाहिए।

{425}

वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं।

(दशवै. 7/56)

बुद्धिमान् ऐसी भाषा बोले- जो हितकारी हो एवं अनुलोम- सभी को प्रिय हो।

○ हिंसात्मक वातावरण का ध्यानः उपदेशक के लिए अपेक्षित

{426}

केसिंचि तक्काए अबुज्झ भावं खुद्दं पि गच्छेज्ज असद्दहाणे।
आउस्स कालातियारं वघातं लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे॥

(सू.कृ. 1/13/20)

अपनी तर्क-बुद्धि के द्वारा दूसरों के भावों को न जान कर (तत्त्व- चर्चा करने पर) अश्रद्धालु मनुष्य क्रोध को प्राप्त हो सकता है और वक्ता को मार सकता है या कष्ट दे सकता है, इसलिए (धर्मकथा करने वाला मुनि) अनुमान के द्वारा दूसरों के भावों को जान कर ही धर्म कहे (अर्थात् वह उपदेश देते समय इस बात का विशेष ध्यान रखे की कहीं उसके भाषण से लोग क्रोधित न हो जाएं और हिंसक वातावरण पैदा हो)।

{427}

अणुगच्छमाणे वितहं ऽभिजाणे तहा तहा साहु अकक्कसेणं।
ण कत्थई भास विहिंसएज्जा णिरुद्धगं वावि ण दीहएज्जा॥

(सू.कृ. 1/14/23)

(वक्ता के वचन को) कोई श्रोता यथार्थ रूप में जान लेता है और कोई उसे यथार्थ रूप में नहीं जान पाता। (उपदेशक को चाहिए कि वह) उस (मंदमति श्रोता) को वैसे-वैसे

(हेतु, दृष्टांत आदि के द्वारा) भली-भांति समझाए, किन्तु कर्कश वचन का प्रयोग न करे। कहीं भी उस (प्रश्नकर्ता की) की भाषा की हिंसा (तिंरस्कार) न करे (अर्थात् प्रश्नकर्ता के बोलने पर उसे तिरस्कृत न करे)। शीघ्र समाप्त होने वाली बात को (अधिक) लंबा न करे।

○ हितकारी भाषणः तपस्वी/सन्त का स्वभाव

{428}

अनेकजन्मजक्लेशशुद्ध्यर्थं यस्तपस्यति।
सर्वं सत्त्वहितं शश्वत्स ब्रूते सूनृतं वचः॥

(ज्ञा. 9/4/534)

जो मुनि अनेक जन्मों में उत्पन्न क्लेशों (दुःखों) की शांति के लिए तपश्चरण करता है, वह हमेशा प्राणियों के सर्वथा हित करने वाले सत्यवचन को ही बोलता है।

{429}

सन्तो हि हितभाषिणः।

(उ.प्र. 68/325)

सत्पुरुष हित का उपदेश देते हैं।

○ हिंसा-दोष से अस्पृष्टः गुरु का अप्रिय उपदेश-वचन

{430}

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम्॥

(पुरु. 4/64/100)

सभी प्रकार के 'असत्य' वचनों के मूल कारण वक्ता के अन्तरंग प्रमाद/कषाय होते हैं- ऐसा निर्देश शास्त्रों में है, इसलिए (गुरु आदि द्वारा कषाय-रहित होकर, जन-कल्याण के उद्देश्य से) हेय-उपादेय आदि विषयों का निरूपण करना (भले ही वे श्रोताओं को अप्रिय या पीडाकारक प्रतीत हों) 'असत्य' की कोटी में नहीं आता (क्योंकि उपदेश-दायक गुरु के मन में प्रमाद व कषाय नहीं हैं, अपितु शिष्य-हित का ही उद्देश्य है)।

{431}

कामं परपरितावो, असायहेतू जिणेहिं पण्णत्तो।
आत-परहितकरो पुण, इच्छिज्जइ दुस्सले स खलु॥

(बृह. भा. 5108)

यह ठीक है कि जिनेश्वर देव ने पर परिताप को दुःख का हेतु बताया है, किंतु शिक्षा की दृष्टि से दुष्ट शिष्य को दिया जाने वाला परिताप इस कोटि में नहीं है, चूंकि वह तो स्व-पर का हितकारी कार्य है।

O हिंसाप्रेरक व मिथ्या आचारः असावधान/अविवेकी जनों का वाणी-व्यवहार

{432}

पुट्ठा वा अपुट्ठा वा परतत्तियवावडा य असमिक्खियभासिणो उवदिसंति, सहसा उट्ठा गोणा गवया दमंतु, परिणयवया अस्सा हत्थी गवेलग-कुक्कुडा य किज्जंतु, किणावेह य विक्केह पहय य सयणस्स देह पियह... गहणाइं वणाइं खेत्तखिलभूमिवल्लराइं उत्तण-घणसंकडाइं डज्झंतु सूडिज्जंतु य रुक्खा, भिज्जंतु जंतभंडाइयस्स उवहिस्स कारणाए बहुविहस्स य अट्ठाए उच्छू दुज्जंतु, पीलिज्जंतु य तिला, पयावेह य इट्ठकाउ मम घरट्ठयाए, खेत्ताइं कसह कसावेह य, लहुं गाम-आगर-णगर-खेड-कब्बडे णिवेसेह, अडवीदेसेसु विउलसीमे पुप्फाणि य फलाणि य कंदमूलाइं काल- पत्ताइं गिण्हेह, करेह संचयं परिजणट्ठयाए साली वीही जवा य लुच्चंतु मलिज्जंतु उप्पणिज्जंतु य लहुं य पविसंतु य कोट्ठागारं। अप्पमहउक्कोसगा य हम्मंतु पोयसत्था, सेण्णा णिज्जाउ, जाउ डमरं, घोरा वट्टंतु य संगामा पवहंतु य सगडवाहणाइं।

(प्रश्न. 1/2/सू.56-57)

अन्य प्राणियों को सन्ताप-पीडा प्रदान करने में प्रवृत्त, अविचारपूर्वक भाषण करने वाले लोग किसी के पूछने पर और (कभी-कभी) विना पूछे ही सहसा (अपनी पटुता प्रकट करने के लिए) दूसरों को इस प्रकार का उपदेश देते हैं कि -ऊंटों को, बैलों को और गवयों-रोझों को दमो- इनका दमन करो। वयःप्राप्त-परिणत आयु वाले इन अश्वों को, हाथियों को, भेड़-बकरियों को या मुर्गों को खरीदो, खरीदवाओ, इन्हें बेच दो, पकाने योग्य वस्तुओं को पकाओ, स्वजन को दे दो, पेय-मदिरा आदि पीने योग्य पदार्थों का पान करो। ये सघन वन, खेत, विना जोती हुई भूमि, वल्लर- विशिष्ट प्रकार के खेत, जो उगे हुए, घास-

फूस से भरे हैं, उन्हें जला डालो, घास कटवाओ या उखड़वा डालो, यन्त्रों–घानी गाड़ी आदि भांड–कुन्डे आदि, उपकरणों के लिए और नाना प्रकार के प्रयोजनों के लिए वृक्षों को कटवाओ, इक्षु–ईख–गन्नों को कटवाओ, तिलों को पेलो–इनका तेल निकालो, मेरा घर बनाने के लिए ईंटों को पकाओ, खेतों को जोतो अथवा जुतवाओ, जल्दी–से ग्राम, आकर (खानों वाली बस्ती), नगर, खेड़ा और कर्वट–कुनगर आदि को बसाओ। अटवी– प्रदेश में विस्तृत सीमा वाले गांव बसाओ। पुष्पों और फलों को तथा प्राप्तकाल अर्थात् जिनको तोड़ने या ग्रहण करने का समय हो चुका है, ऐसे कन्दों और मूलों को ग्रहण करो। अपने परिजनों के लिए इनका संचय करो। शाली–धान, व्रीहि–अनाज आदि और जौ को काट लो। इन्हें मलो अर्थात् मसल कर दाने अलग कर लो। पवन से साफ करो–दानों को भूसे से पृथक् करो और शीघ्र कोठार में भर लो–डाल लो। छोटे, मध्यम और बड़े नौकादल या नौकाव्यापारियों या नौकायात्रियों के समूह को नष्ट कर दो, सेना (युद्धादि के लिए) प्रयाण करे, संग्रामभूमि में जाए, घोर युद्ध प्रारम्भ हो, गाड़ी और नौका आदि वाहन चलें।

{433}

सज्जणपरियणस्स य णियगस्स य जीवियस्स परिरक्ख–णट्ठयाए पडिसीसगाइं य देह, देह य सीसोवहारे विविहोसहिमज्जमंस–भक्खण्ण–पाण–मल्लाणुलेवणपईवजलि–उज्जलसुगंधि–धूवावगार–पुप्फ–फल–समिद्धे पायच्छित्ते करेह, पाणाइवायकरणेणं बहुविहेणं विवरीउप्पायदुस्सुमिण–पावसउण–असोमग्गहचरिय–अमंगल–णिमित्त–पडिघायहेउं, वित्तिच्छेयं करेह, मा देह किंचि दाणं, सुट्ठु हओ सुट्ठु छिण्णो भिण्णोत्ति उवदिसंता एवंविहं करेंति अलियं मणेण वायाए कम्मुणा य अकुसला अणज्जा अलियधम्म–णिरया अलियासु कहासु अभिरमंता तुट्ठा अलियं करेत्तु होइ य बहुप्पयारं।

(प्रश्न. 1/2/सू.57)

अपने कुटुम्बी जनों की अथवा अपने जीवन की रक्षा के लिए कृत्रिम–आटे आदि से बनाये हुए प्रतिशीर्षक (सिर को) चण्डी आदि देवियों की भेंट चढ़ाओ। अनेक प्रकार की ओषधियों, मद्य, मांस, मिष्टान्न, अन्न, पान, पुष्पमाला, चन्दन, लेपन, उबटन, दीपक, सुगन्धित धूप, पुष्पों तथा फलों से परिपूर्ण विधिपूर्वक बकरें आदि पशुओं के सिरों की बलि दो। विविध प्रकार की हिंसा करके अशुभ–सूचक उत्पात, प्रकृतिविकार, दु:स्वप्न, अपशकुन, क्रूरग्रहों के प्रकोप, अमंगल–सूचक अंगस्फुरण–भुजा आदि अवयवों का फड़कना, आदि के कुफल को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त करो। अमुक की आजीविका नष्ट–समाप्त कर दो। किसी को कुछ भी दान मत दो। वह मारा गया, यह अच्छा हुआ। उसे काट डाला गया, यह

ठीक हुआ। उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले गये, यह अच्छा हुआ। इस प्रकार, किसी के न पूछने पर भी आदेश-उपदेश अथवा कथन करते हुए, मन-वचन-काय से मिथ्या आचरण करने वाले अनार्य, अकुशल, मिथ्यामतों का अनुसरण करने वाले मिथ्या भाषण करते हैं। ऐसे मिथ्याधर्म में निरत लोग ही मिथ्या कथाओं में रमण करते हुए, नाना प्रकार के असत्य का सेवन करके सन्तोष का अनुभव करते हैं।

{434}

महामतिभिर्निष्ठ्यूतं देवदेवैर्निषेधितम्।
असत्यं पोषितं पापैर्दुःशीलाधमनास्तिकैः॥

(ज्ञा. 9/39/569)

जिस असत्य वचन को बुद्धिमान मनुष्यों ने फेंक दिया है- उसका परित्याग कर दिया है- तथा जिसका जिनेन्द्रदेव के द्वारा निषेध किया गया है, उसका पोषण पापी व दुष्ट स्वभाव वाले निकृष्ट नास्तिक जनों ने ही किया है।

(हिंसा और परिग्रह)

[जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन-धान्य व सम्पत्ति आदि का अर्जन करना होता है। वहां अहिंसा-धर्म के आराधक को कुछ विवेक रखना अत्यावश्यक है, अन्यथा उसे हिंसा-दोष का पात्र होना पड़ेगा। अर्थोपार्जन में तीव्र आसक्ति 'हिंसा' को ही फलित करेगी। इसी तरह, चोरी या लूट-मार कर सम्पत्ति बटोरना आदि कार्य भी 'हिंसा' को ही प्रतिबिम्बित करेंगें। इस सन्दर्भ में जैन आचार्यों के जो उपादेय वचन हैं, उन्हें यहां प्रस्तुत किया जा रहा है:-]

○ हिंसा और परिग्रह : परस्पर-सम्बद्ध

{435}

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसाऽन्तरङ्गसङ्गेषु।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्॥

(पुरु. 4/83/119)

सभी (मूर्छा-जनित) अन्तरङ्ग परिग्रह आत्म-स्वभाव के घातक होने के कारण 'हिंसा' रूप पर्याय ही हैं, अतः अन्तरंग परिग्रहों में हिंसा स्वयंसिद्ध है। बहिरंग परिग्रहों में भी आत्मा-स्वभाव-विघातक ममत्व-भाव कारण रूप से विद्यमान है, अतः वहां भी 'हिंसा' है। इस प्रकार 'मूर्च्छा' ही हिंसा रूप सिद्ध होती है।

{436}

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैषः कदाऽपि संगः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्॥

(पुरु. 4/81/117)

बहिरंग परिग्रह के अचित्त और सचित्त यह दो भेद हैं। ये सभी परिग्रह किसी समय भी हिंसा का उल्लंघन नहीं करते अर्थात् कोई भी परिग्रह कभी भी हिंसा-रहित नहीं होता है।

{437}

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः॥

(पुरु. 4/82/118)

जिनसिद्धान्त के जानने वाले आचार्य 'दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग' अहिंसा है और दोनों प्रकार के परिग्रह का धारण हिंसा है- ऐसा सूचित करते हैं।

{438}

तत्राहिंसा कुतो यत्र बह्वारम्भपरिग्रहः।
वञ्चके च कुशीले च नरे नास्ति दयालुता॥

(उपासका. 26/331)

जहां बहुत आरम्भ (हिंसा) और बहुत परिग्रह है, वहां अहिंसा कैसे रह सकती है? ठग और दुराचारी मनुष्य में दया नहीं होती।

{439}

आरम्भो जन्तुघातश्च कषायाश्च परिग्रहात्।
जायन्तेऽत्र ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे॥

(ज्ञा. 16/37/857)

जहां परिग्रह है, वहां (क्रोधादि)कषाय तथा प्राणी-हिंसा का सद्भाव रहता है। उसी के दुष्परिणाम स्वरूप प्राणियों का नरकरूप समुद्र में पतन होता है- नरक में जाकर उन्हें घोर दुःख सहना पड़ता है।

{440}

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाऽशुभम्।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम्॥

(ज्ञा. 16/11/831)

परिग्रह से विषयवांछा उत्पन्न होती है, फिर उस विषय-वांछा से क्रोध, उस क्रोध से हिंसा, उससे अशुभ कर्म का उपार्जन, उससे नरकगति की प्राप्ति और वहां पर अनिर्वचनीय दुःख प्राप्त होता है।

{441}

(तन्मूलाः सर्वे दोषाः।) ममेदमिति हि सति संकल्पे संरक्षणादयः संजायन्ते। तत्र च हिंसा अवश्यंभाविनी। तदर्थमनृतं जल्पति। चौर्यं वा आचरति। मैथुने च कर्मणि प्रयतते। तत्प्रभवा नरकादिषु दुःखप्रकाराः।

(सर्वा. 7/17/695)

(सब दोष परिग्रहमूलक ही होते हैं।) 'यह मेरा है।' इस प्रकार के संकल्प के होने पर वांछित वस्तुओं के संरक्षण आदि हेतु मनोभाव उत्पन्न होते हैं। इसमें हिंसा अवश्यंभाविनी है। इसके लिए व्यक्ति असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन-कर्म में प्रवृत्त होता है। नरकादिक में जितने दुःख हैं वे सब इससे उत्पन्न होते हैं।

{442}

सयं तिवाताए पाणे अदुवा अण्णेहिं घायए।
हणंतं वाणुजाणाइ वेरं वड्ढइ अप्पणो॥

(सू. कृ. 1/1/1/3)

परिग्रही मनुष्य प्राणियों का स्वयं हनन करता हैं, दूसरों से हनन कराता है अथवा हनन करने वाले का अनुमोदन करता है, वह अपने वैर को बढ़ाता है- वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।

{443}

आरंभपूर्वकः परिग्रहः।

(सूत्र. चू. 1/2/2)

बिना हिंसा के परिग्रह (धनसंग्रह) नहीं होता।

{444}

परिग्रहस्य च त्यागे तिष्ठन्ति निश्चलान्यहिंसादीनि।

(भग. आ. 1119)

परिग्रह का त्याग करने पर (ही) अहिंसा आदि व्रत स्थिर रह पाते हैं।

{445}

परिग्गहस्सेव य अट्ठाए करंति पाणाण वहकरणं अलिय-णियडिसाइसंपओगे परदव्वाभिज्जा सपरदारअभिगमणासेवणाए आयासविसूरणं कलहभंडणवेराणि य अवमाणणविमाणणाओ इच्छामहिच्छप्पिवाससययतिसिया तण्हगेहिलोहघत्था अत्ताणा अणिग्गहिया करेंति कोहमाणमायालोहे।

अकित्तणिज्जे परिग्गहे चेव होंति णियमा सल्ला दंडा य गारवा य कसाया सण्णा य कामगुण-अण्हगा य इंदियलेस्साओ सयणसंपओगा सचित्ताचित्तमीसगाइं दव्वाइं अणंतगाइं इच्छंति परिघेत्तुं।

सदेवमणुयासुरम्मि लोए लोहपरिग्गहो जिणवरेहिं भणिओ णत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि सव्वजीवाणं सव्वलोए।

(प्रश्न. 1/5/सू.96)

परिग्रह के लिए लोग प्राणियों की हिंसा के कृत्य में प्रवृत्त होते हैं। झूठ बोलते हैं, दूसरों को ठगते हैं, निकृष्ट वस्तु को मिलावट करके उत्कृष्ट दिखलाते हैं और परकीय द्रव्य में लालच करते हैं। स्वदार-गमन में शारीरिक एवं मानसिक खेद को तथा परस्त्री की प्राप्ति न होने पर मानसिक पीड़ा को अनुभव करते हैं। कलह-वाचनिक विवाद-झगड़ा, लड़ाई तथा वैर-विरोध करते हैं, अपमान तथा यातनाएं सहन करते हैं। इच्छाओं और चक्रवर्ती आदि के समान महेच्छाओं रूपी पिपासा से निरन्तर प्यासे बने रहते हैं। तृष्णा-अप्राप्त द्रव्य की प्राप्ति की लालसा तथा प्राप्त पदार्थों संबंधी गृद्धि-आसक्ति तथा लोभ में ग्रस्त-आसक्त रहते हैं। वे त्राणहीन एवं इन्द्रियों तथा मन के निग्रह से रहित होकर क्रोध, मान, माया और लोभ का सेवन करते हैं।

इस निन्दनीय परिग्रह में ही नियम से शल्य-मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य और निदान शल्य होते हैं, उसी में दण्ड-मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड-अपराध होते हैं, ऋद्धि रस तथा साता रूप तीन गौरव होते हैं, क्रोधादि कषाय होते हैं, आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रह नामक संज्ञाएं होती हैं, कामगुण-शब्दादि इन्द्रियों के विषय तथा हिंसादि पांच आस्रवद्वार, इन्द्रियविकार तथा कृष्ण, नील एवं कापोत नामक तीन अशुभ

लेश्याएं होती हैं। स्वजनों के साथ संयोग होते हैं और परिग्रहवान् असीम-अनन्त सचित्त, अचित्त एवं मिश्र-द्रव्यों को ग्रहण करने की इच्छा करते हैं।

देवों, मनुष्यों और असुरों सहित इस त्रस-स्थावररूप जगत् में जिनेन्द्र भगवन्तों-तीर्थंकरों ने (पूर्वोक्त स्वरूप वाले) परिग्रह का प्रतिपादन किया है। (वास्तव में) परिग्रह के समान अन्य कोई पाश-फंदा, बन्धन नहीं है।

{446}

संगणिमित्तं मारेइ अलियवयणं च भणइ तेणिक्कं।
भजदि अपरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमवि य जीवो॥

(भग. आ. 1119)

परिग्रह के लिए मनुष्य प्राणियों का घात करता है। पराये द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा से उनका घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, अपरिमित तृष्णा रखता है और स्त्री-सेवन (अब्रह्मचर्य) करता है।

{447}

आदाणे णिक्खेवे सरेमणे चावि तेसि गंथाणं।
उक्कस्सणे वेक्कसणे फालणपप्फोडणे चेव॥
छेदणबंधणवेढणआदावणधोव्वणादिकिरियासु।
संघट्टणपरिदावणहणणादी होदि जीवाणं॥

(भग. आ. 1153-1154)

परिग्रह के ग्रहण करने, रखने, संस्कार करने, बाहर ले जाने, बन्धन खोलने, फाड़ने, झाड़ने, छेदने, बांधने, ढांकने, सुखाने, धोने, मलने आदि में जीवों का घात आदि होता ही है।

{448}

सच्चित्ता पुण गंथा वधंति जीवे सयं च दुक्खंति।
पावं च तण्णिमित्तं परिगिण्हंतस्स से होई।

(भग. आ. 1156)

दासी-दास, गाय-भैंस आदि सचित्त परिग्रह से जीवों का घात होता है और परिग्रही स्वयं दुःखी होते हैं। उन्हें सावद्य कामों में लगाने पर वे जो पापाचरण करते हैं, उसका भागी उनका स्वामी भी होता है।

{449}

एनः केन धनप्रसक्तमनसा नासादि हिंसादिना,
कस्तस्यार्जनरक्षणक्षयकृतैर्नादाहि दुःखानलैः।
तत्प्रागेव विचार्य वर्जय वरं व्यामूढवित्तस्पृहाम्,
येनैकास्पदतां न यासि विषयं पापस्य तापस्य च॥

(ज्ञा. 16/40/862)

जिनका मन धन में अनुरक्त रहता है, उनके हिंसा आदि किस दुराचरण के द्वारा पाप का उपार्जन नहीं हुआ है? अर्थात् वे हिंसा आदि अनेक पापकार्यों को करके अशुभ कर्म को उपार्जित करते ही हैं। उस धन में अनुराग रखने वाला कौन सा मनुष्य उसके उपार्जन, रक्षण, और नाश से उत्पन्न हुए दुःखरूप अग्नि से सन्तप्त नहीं हुआ है? सभी धनानुरागी उसके अर्जन आदि के कारण दुःखी होते हैं। इसलिए हे मूर्ख! तू पहले ही इसका भलीभांति विचार करके उस धन-इच्छा को छोड़ दे। इसका परिणाम यह होगा कि तू न तो पाप का और न ही सन्ताप का पात्र बनेगा।

○ हिंसा व परिग्रहः सुखासक्ति की उपज

{450}

इन्द्रियसुखं वाऽत्र सुखशब्देनोच्यते, तत्रासक्तो हिंसादिषु प्रवर्तते। तेन परिग्रहारंभमूलात्सुखासंगाद्व्यावृत्तिः संवर एवेति।

(भग. आ. विजयो. 90)

सुख शब्द से इन्द्रिय-सुख अर्थ अभिप्रेत है। जो इन्द्रिय-सुख में आसक्त होता है, वह हिंसा आदि करता है। अतः जो सुखासक्ति परिग्रह और आरम्भ का मूल है, उससे निवृत्त होना 'संवर' ही है।

○ **हिंसात्मक क्रोध आदि कषाय= परिग्रह**

{451}

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः॥

(पुरु. 4/80/116)

मिथ्यात्व, तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद का राग, और इसी तरह हास्यादि- (हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा- ये) छह दोष और चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ)- ये अन्तरंग परिग्रह चौदह हैं।

○ **परिग्रह की परिणति : कलह-विरोध**

{452}

सण्णागारवपेसुण्णकलहफरुसाणि णिट्ठुरविवादा।
संगणिमित्तं ईसासूयासल्लाणि जायंति॥

(भग. आ. 1120)

परिग्रही के परिग्रह संज्ञा और परिग्रह में आसक्ति होती है। वह दूसरे के दोषों को इधर-उधर कहता है। परिग्रही पुरुष दूसरे का धन लेने के लिए दूसरों के दोष प्रकट करके उसका धन हरता है। कलह करता है। धन के लिए कठोर वचन बोलता है, झगड़ा करता है, ईर्ष्या और असूया करता है।

(यह व्यक्ति अमुक को तो देता है मुझे नहीं देता, इस प्रकार के संकल्प को ईर्ष्या कहते हैं। दूसरे के धनी होने को न सहना असूया है।)

{453}

परिग्गहो... अपरिमियमणंत-तण्ह-मणुगय-महिच्छ- सारणिरयमूलो लोहकलिकसायमहक्खंधो, चिंतासयणिचियविउलसालो, गारवपविरल्लियग्गविडवो, णियडि-तयापत्तपल्लवधरो पुप्फफलं जस्स कामभोगा, आयासविसूरणा कलह-पकंपियग्गसिहरो।

(प्रश्न. 1/5/सू.93)

परिग्रह (नामक आस्रव-द्वार का स्वरूप इस प्रकार है:- यह) एक महावृक्ष है।

कभी और कहीं जिसका अन्त नहीं आता, ऐसी अपरिमित एवं अनन्त तृष्णा रूपी महती इच्छा ही अक्षय एवं अशुभ फल वाले इस वृक्ष के मूल हैं। लोभ, कलि-कलह-लड़ाई-झगड़ा और क्रोधादि कषाय इसके महास्कन्ध हैं। चिन्ता, मानसिक सन्ताप आदि की अधिकता से अथवा निरन्तर उत्पन्न होने वाली सैकडों चिन्ताओं से यह विस्तीर्ण शाखाओं वाला है। ऋद्धि, रस और साता रूप गौरव ही इसके विस्तीर्ण शाखाग्र-शाखाओं के अग्रभाग हैं। निकृति-दूसरों को ठगने के लिए की जाने वाली वंचना-ठगाई या कपट ही इस वृक्ष के त्वचा-छाल, पत्र और पुष्प हैं। इनको यह धारण करने वाला है। काम-भोग ही इस वृक्ष के पुष्प और फल हैं। शारीरिक श्रम, मानसिक खेद और कलह ही इसका कम्पायमान अग्रशिखर-ऊपरी भाग है।

{454}

संगणिमित्तं कुद्धो कलहं रोलं करिज्ज वेरं वा।
पहणेज्ज व मारेज्ज व मरिजेज्ज व तह य हम्मेज्ज॥

(भग. आ. 1147)

परिग्रह के कारण मनुष्य क्रोध करता है, कलह करता है, विवाद करता है, वैर करता है, मारपीट करता है, दूसरों के द्वारा मारा जाता है, पीटा जाता है, या स्वयं मर जाता है।

{455}

तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजियाणं संसिंचियाणं तिविधेण जा वि से तत्थ मत्ता भवति अप्पा वा बहुगा वा। से तत्थ गढिते चिट्ठति भोयणाए।

ततो से एगदा विप्परिसिट्ठं संभूतं महोवकरणं भवति। तं पि से एगदा दायादा विभयंति, अदत्तहारो वा से अवहरति, रायाणो वा से विलुंपंति,, णस्सति वा से, विणस्सति वा से, अगार- दाहेण वा से डज्झति। इति से परस्सऽट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति।

(आचा. 1/2/3 सू. 79)

वह परिग्रह में आसक्त हुआ मनुष्य, द्विपद (मनुष्य-कर्मचारी) और चतुष्पद (पशु आदि) का परिग्रह करके उनका उपयोग करता है। उनको कार्य में नियुक्त करता है। फिर धन का संग्रह-संचय करता है। अपने, दूसरों के और दोनों के सम्मिलित प्रयत्नों से (अथवा अपनी पूर्वार्जित पूंजी, दूसरों का श्रम तथा बुद्धि-तीनों के सहयोग से) उसके पास अल्प या बहुत मात्रा में धन-संग्रह हो जाता है। वह उस अर्थ में गृद्ध-आसक्त हो जाता है और भोग के लिए उसका संरक्षण करता है।

पश्चात् वह विविध प्रकार से भोगोपभोग करने के बाद बची हुई विपुल अर्थ-सम्पदा से महान् उपकरण वाला बन जाता है।

एक समय ऐसा आता है, जब उस सम्पत्ति में से दायाद- बेटे-पोते हिस्सा बांट लेते हैं, चोर चुरा लेते हैं, राजा उसे छीन लेते हैं। या वह नष्ट-विनष्ट हो जाती है। या कभी गृह-दाह के साथ जल कर समाप्त हो जाती है। इस प्रकार वह अज्ञानी पुरुष, दूसरों के लिए क्रूर कर्म करता हुआ अपने लिए दुःख उत्पन्न करता है, फिर उस दुःख से त्रस्त हो वह सुख की खोज करता है, पर अन्त में उसके हाथ दुःख ही लगता है। इस प्रकार वह मूढ विपर्यास (विपरीत/प्रतिकूल स्थिति) को प्राप्त होता है।

○ हिंसात्मक परिग्रह त्याज्य

{456}

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः॥ (सूत्र)

(टीका-) आरम्भः प्राणिपीडाहेतुर्व्यापारः। ममेदंबुद्धिलक्षणःपरिग्रहः। आरम्भाश्च परिग्रहाश्च आरम्भपरिग्रहाः। बहव आरम्भपरिग्रहा यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः। तस्य भावो बह्वारम्भपरिग्रहत्वम्। हिंसादिक्रूरकर्माजस्रप्रवर्तनपरस्वहरण-विषयातिगृद्धि-कृष्णलेश्याभिजातरौद्रध्यानमरणकालतादिलक्षणो नारकस्यायुष आस्रवो भवति।

(सर्वा. 6/15/638)

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाले का भाव नरकायु का आस्रव है। (सूत्र)

(टीका-) प्राणियों को दुःख पहुंचाने वाली प्रवृत्ति करना 'आरम्भ' है। यह वस्तु मेरी है- इस प्रकार का संकल्प रखना 'परिग्रह' है। जिसके बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह हो, वह बहुत आरम्भ और बहुत 'परिग्रह' वाला कहलाता है और उसका भाव बह्वारम्भपरिग्रहत्व है। हिंसा आदि क्रूर कार्यों में निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरे के धन का अपहरण, इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त आसक्ति तथा मरने के समय कृष्ण लेश्या और रौद्रध्यान आदि का होना-ये सभी नरकायु के आस्रव (कारण/द्वार) हैं।

{457}

संसारमूलमारम्भास्तेषां हेतुः परिग्रहः।
तस्मादुपासकः कुर्यादल्पमल्पं परिग्रहम्॥

(है. योग. 2/110)

प्राणियों के उपमर्दन (पीड़ा या वध) रूप आरम्भ होते हैं, वे ही संसार के मूल हैं। उन 'आरम्भों' का मूल कारण 'परिग्रह' है। इसलिए श्रमणोपासक या श्रावक को चाहिए कि वह धन-धान्यादि का परिग्रह अल्प से अल्प करे। यानी परिग्रह का परिमाण निश्चित करके उससे अधिक न रखे।

○ अहिंसक भावना अपेक्षितः राजकीय कोष-संग्रह में

{458}

समञ्जसत्वमस्येष्टं प्रजास्वविषमेक्षिता।
आनृशंस्यमवाग्दण्डपारुष्यादिविशेषितम्॥

(आ. पु. 38/279)

समस्त प्रजा को समान रूप से देखना अर्थात् किसी के साथ पक्षपात नहीं करना ही राजा का 'समंजसत्व' गुण (सबको साथ लेकर एवं समन्वय के साथ चलने का गुण) कहलाता है। उस समंजसत्व गुण में क्रूरता या घातकपना नहीं होना चाहिए और न कठोर वचन तथा दण्ड की कठिनता ही होनी चाहिए।

{459}

पयस्विन्या यथा क्षीरमद्रोहेणोपजीव्यते।
प्रजाऽप्येवं धनं दोह्या नातिपीडाकरैः करैः॥

(आ. पु. 16/254)

जिस प्रकार दूध देने वाली गाय से उसे बिना किसी प्रकार की पीड़ा पहुंचाये दूध दुहा जाता है और ऐसा करने से वह गाय भी सुखी रहती है तथा दूध दुहने वाले की आजीविका भी चलती रहती है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से धन वसूल करना चाहिए। वह धन अधिक पीड़ा न देनेवाले करों (टैक्सों) से वसूल किया जा सकता है। ऐसा करने से प्रजा भी दुःखी नहीं होती और राज्यव्यवस्था के लिए योग्य धन भी सरलता से मिल जाता है।

○ हिंसा की ही एक विधिः स्तेय/चोरी/अदत्तादान

{460}

वित्तमेव मतं सूत्रे प्राणा बाह्या शरीरिणाम्।
तस्यापहारमात्रेण स्युस्ते प्रागेव घातिताः॥

(ज्ञा. 10/3/575)

आगम में प्राणियों का बाह्य प्राण धन ही माना गया है। इसीलिए धन का हरण करने मात्र से प्राणी के वे बाह्य प्राण पहले ही नष्ट हो जाते हैं। (अभिप्राय यह है कि मनुष्य धन को प्राणों से भी बढ़ कर मानते हैं। इसलिए धन के चुराये जाने पर मनुष्य को भारी कष्ट होता है। यहां तक कि कितने ही मनुष्य तो धन के नष्ट हो जाने पर अतिशय सन्तप्त होकर प्राणों को भी त्याग देते हैं। इस प्रकार वह चौर्य कर्म महती हिंसा का कारण है।)

{461}

एकस्यैकं क्षणं दुःखं मार्यमाणस्य जायते।
सपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीवमिते धने॥

(है. योग. 2/68)

जिस जीव की हिंसा की जाती है उसे चिरकाल तक दुःख नहीं होता, अपितु क्षण-भर के लिए होता है। मगर किसी का धन-हरण किया जाता है; तो उसके पुत्र, पौत्र और सारे परिवार का जिंदगी भर दुःख नहीं जाता, यानी पूरी जिंदगी तक उसके दुःख का घाव नहीं मिटता। [अतः चोरी किसी के प्राण-वध से भी अधिक कष्टदायक होती है।]

{462}

आस्तां स्तेयमभिध्यापि विध्याप्याग्निरिव त्वया।
हरन् परस्वं तदसून् जिहीर्षन् स्वं हिनस्ति हि॥

(सा. ध. 8/86)

चोरी की तो बात ही क्या, उसकी इच्छा को भी तुम्हें आग की तरह तत्काल शान्त कर देना चाहिए। अर्थात् जैसे आग सन्ताप का कारण है, वैसे ही परधन की इच्छा भी सन्ताप का कारण होती है। क्योंकि परद्रव्य को हरने वाला उसके प्राणों को हरना चाहता है अतः वह अपना ही घात करता है।

{463}

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्॥

(पुरु. 4/66/102)

जो प्रमाद (कषाय) के कारण विना दिये किसी के परिग्रह का- स्वर्ण-वस्त्रादि का ग्रहण करना है, वह 'चोरी' ही है, और वह 'हिंसा' रूप भी है क्योंकि वह (किसी न किसी दृष्टि से) सम्बद्ध व्यक्ति की 'हिंसा' में कारण होता है।

{464}

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्॥

(पुरु. 4/67/103)

जो मनुष्य जिस जीव के पदार्थों अथवा धन को हर लेता है, वह मनुष्य (एक प्रकार से) उस जीव के प्राणों को हर लेता है, क्योंकि जगत् में जो ये धनादि पदार्थ प्रसिद्ध हैं, वे सभी मनुष्य के बाह्य प्राण (जैसे)हैं।

{465}

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः॥

(पुरु. 4/68/104)

हिंसा में और चोरी में अव्याप्ति (साहचर्य का अभाव) नहीं है। (अपितु दोनों का परस्पर साहचर्य ही देखा जाता है।) चोरी में हिंसा घटित होती ही है, क्योंकि दूसरों के द्वारा स्वीकार (हस्तगत) किए गए द्रव्यों में कहीं न कहीं प्रमाद/कषाय का योगदान रहता ही है।

{466}

अदत्तादाने कृते तत्स्वामिनः प्राणापहार एव कृतो भवति। बहिश्चराः प्राणा धनानि।

(भग. आ. विजयो. 611)

विना दी हुई वस्तु का ग्रहण अर्थात् चोरी करने पर, उसके स्वामी का प्राण ही हर लिया जाता है क्योंकि धन मनुष्यों का बाहरी प्राण होता है।

{467}

परद्रव्यग्रहार्तस्य तस्करस्यातिनिर्दया।
गुरुं बन्धुं सुतान् हन्तुं प्रायः प्रज्ञा प्रवर्तते॥

(ज्ञा. 10/6/578)

जो चोर दूसरे के धन के ग्रहण में व्याकुल रहता है, उसकी अत्यन्त दुष्टबुद्धि प्रायः गुरु, हितैषी, मित्र आदि और पुत्रों के भी घात में प्रवृत्त होती है।

{468}

परदव्वहरणमेदं आसवदारं खु बेंति पावस्स।
सोगरियवाहपरदारिएहि चोरो हु पापदरो॥

(भग. आ. 859)

यह परद्रव्य का हरण पाप क आने का द्वार कहा जाता है। मृग व पशु-पक्षियों का घात करने वाले और पर-स्त्रीगमन के प्रेमी जनों की अपेक्षा भी चोर अधिक पापी-हिंसक होता है।

{469}

अत्थम्मि हिदे पुरिसो उम्मत्तो विगयचेयणो होदि।
मरदि व हक्कारकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स॥

(भग. आ. 853)

दूसरे के द्वारा अपना धन हरे जाने पर मनुष्य पागल हो जाता है, उसकी चेतना (विवेक शक्ति) नष्ट हो जाती है। (यहां चेतना शब्द चेतना के भेद ज्ञानपर्याय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतः उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है ऐसा अर्थ लेना चाहिए, क्योंकि चेतना का तो विनाश होता नहीं।) वह हाहाकार करके मर जाता है। ठीक ही कहा है- धन मनुष्य का प्राण है।

{470}

विउलबलपरिग्गहा य बहवे रायाणो परधणम्मि गिद्धा सए व दव्वे असंतुट्ठा परविसए अहिहंणति ते लुद्धा परधणस्स कज्जे चउरंगविभत्त- बलसमग्गा णिच्छियवरजोहजुद्धसद्धिय-अहमहमिइ-दप्पिएहिं सेण्णेहिं संपरिवुडा पउम-सगड- सूइ-चक्क-सागर-गरुलवूहाइएहिं अणिएहिं उत्थरंता अभिभूय हरंति परधणाइं।

(प्रश्न. 1/3/सू.63)

इनके अतिरिक्त विपुल बल- सेना और परिग्रह-धनादि सम्पत्ति या परिवार वाले राजा लोग भी,जो पराये धन में गृद्ध अर्थात् आसक्त हैं और अपने द्रव्य से जिन्हें सन्तोष नहीं है, दूसरे (राजाओं के) देश-प्रदेश पर आक्रमण करते हैं। वे लोभी राजा दूसरे के धनादि को हथियाने के उद्देश्य से रथसेना, गजसेना, अश्वसेना और पैदलसेना, इस प्रकार चतुरंगिणी सेना के साथ (अभियान करते हैं)। वे दृढ़ निश्चय वाले, श्रेष्ठ योद्धाओं के साथ युद्ध करने में विश्वास रखने वाले, मैं पहले जूझूंगा, इस प्रकार के दर्प से परिपूर्ण सैनिकों से संपरिवृत- घिरे हुए होते हैं। वे नाना प्रकार के व्यूहों (मोर्चों) की रचना करते हैं, जैसे कमलपत्र के आकार का पद्मपत्र व्यूह, बैलगाड़ी के आकार का शकटव्यूह, सूई के आकार का सूचीव्यूह, चक्र के आकार का चक्रव्यूह, समुद्र के आकार का सागर-व्यूह और गरुड़ के आकार का गरुड़व्यूह। इस तरह नाना प्रकार की व्यूहरचना वाली सेना द्वारा दूसरे-विरोधी राजा की सेना को आक्रान्त करते हैं, अर्थात् अपनी विशाल सेना से विपक्ष की सेना को घेर लेते हैं-उस पर छा जाते हैं और उसे पराजित करके दूसरे की धन-सम्पत्ति को हरण कर लेते हैं-लूट लेते हैं।

{471}

णिरणुकंपा णिरवयक्खा गामागर-णगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह- पट्टणासम-णिगम-जणवए य धणसमिद्धे हणंति थिरहियय-छिण्ण-लज्जा-बंदिग्गह- गोग्गहे य गिण्हंति दारुणमई णिक्किवा णियं हणंति छिंदंति गेहसंधि णिक्खित्ताणि य हरंति धणधण्णदव्वजायाणि जणवय-कुलाणं णिग्घिणमई परस्स दव्वाहिं जे अविरया।

(प्रश्न. 1/3/सू.68)

जिनका हृदय अनुकम्पा-दया से शून्य है, जो परलोक की परवाह नहीं करते, ऐसे लोग धन से समृद्ध ग्रामों, आकरों, नगरों, खेटों, कर्वटों, मडम्बों, पत्तनों, द्रोणमुखों, आश्रमों, निगमों एवं देशों को नष्ट कर देते-उजाड़ देते हैं। और वे कठोर हृदय वाले या स्थिरहित- निहित स्वार्थ वाले, निर्लज्ज लोग मानवों को बन्दी बना कर अथवा गायों आदि को ग्रहण

करके ले जाते हैं। दारुण मति वाले, कृपाहीन-निर्दय या निकम्मे अपने-आत्मीय जनों का भी घात करते हैं। वे गृहों की सन्धि को छेदते हैं अर्थात् सेंध लगाते हैं।

इस प्रकार, जो परकीय द्रव्यों से विरत-विमुख-निवृत्त नहीं हैं ऐसे निर्दय बुद्धि वाले (वे चोर) लोगों के घरों में रक्खे हुए धन, धान्य एवं अन्य प्रकार के द्रव्य के समूहों को हर लेते हैं।

{472}

ते पुण करेंति चोरियं तक्करा परदव्वहरा छेया, कयकरणलद्ध-लक्खा साहसिया लहुस्सगा अइमहिच्छलोभगत्था दद्दरओवीलका य गेहिया अहिमरा अणभंजगा भग्गसंधिया रायदुट्ठकारी य विसयणिच्छूढ-लोकबज्झा उद्दोहग-गामघायग-पुरघायग-पंथघायग-आलीवग-तित्थभेया लहुहत्थ- संपउत्ता जूइकरा खंडरक्ख-त्थीचोर-पुरिसचोर-संधिच्छेया य, गंथीभेयग-परधणहरण-लोमावहारा अक्खेवी हडकारगा णिम्मद्दगगूढचोरग-गोचोरग-अस्सचोरग-दासीचोरा य एकचोरा ओकड्ढग-संपदायग-उच्छिंपग-सत्थघायग-बिलचोरीकारगा य णिग्गाहविप्पलुंपगा बहुविहतेणिक्कहरणबुद्धी एए अण्णे य एवमाई परस्स दव्वाहि जे अविरया।

(प्रश्न. 1/3/सू.62)

उस (पूर्वोक्त) चोरी को वे चोर-लोग करते हैं जो परकीय द्रव्य को हरण करने वाले हैं, हरण करने में कुशल है, अनेकों बार चोरी कर चुके है और अवसर को जानने वाले हैं, साहसी हैं-परिणाम की परवाह न करके भी चोरी करने में प्रवृत्त हो जाते हैं, जो तुच्छ हृदय वाले, अत्यन्त महती इच्छा-लालसा वाले एवं लोभ से ग्रस्त हैं, जो लिए कुछ ऋण को नहीं चुकाने वाले हैं, जो की हुई सन्धि, प्रतिज्ञा या वायदे को भंग करने वाले हैं, जो वचनों के आडम्बर से अपनी असलियत को छिपाने वाले हैं या दूसरों को लज्जित करने वाले हैं, जो दूसरों के धनादि में गृद्ध-आसक्त हैं, जो सामने से सीधा प्रहार करने वाले हैं- सामने आए हुए को मारने वाले हैं, जो लिए हुए ऋण को नहीं चुकाने वाले हैं, जो की हुई सन्धि, प्रतिज्ञा या वादे को भंग करने वाले हैं, जो राजकोष आदि को लूट कर या अन्य प्रकार के राजा-राज्यशासन का अनिष्ट करने वाले हैं, देशनिर्वासन दिए जाने के कारण जो जनता द्वारा बहिष्कृत हैं, जो घातक हैं या उपद्रव (दंगा आदि) करने वाले हैं, ग्रामघातक, नगरघातक, मार्ग में पथिकों को लूटने वाले या मार डालने वाले हैं, आग लगाने वाले और तीर्थ में भेद करने वाले हैं, जो (जादूगरों की तरह) हाथ की चालाकी वाले हैं-जेब या गांठ काट लेने में कुशल हैं, जो जुआरी हैं, खण्डरक्ष-चुंगी लेने वाले या कोतवाल हैं, स्त्रीचोर हैं-जो स्त्री को या स्त्री की वस्तु को चुराते हैं अथवा स्त्री का वेष धारण करके चोरी करते हैं, जो पुरुष

की वस्तु को अथवा (आधुनिक डकैतों की भांति फिरौती लेने आदि के उद्देश्य से) पुरुष का अपहरण करते हैं, जो खात (बारूदी सुरंग आदि बिछाने) खोदने वाले हैं, गांठ काटने वाले हैं, जो परकीय धन का हरण करने वाले हैं, (जो निर्दयता या भय के कारण अथवा आतंक फैलाने के लिए) मारने वाले हैं, जो वशीकरण आदि का प्रयोग करके धनादि का अपहरण करने वाले हैं, सदा दूसरों के उपमर्दक, गुप्तचोर, गो-चोर-गाय चुराने वाले, अश्व-चोर एवं दासी को चुराने वाले हैं, अकेले चोरी करने वाले, घर में से द्रव्य निकालने वाले, चोरों को बुला कर दूसरों के घर में चोरी करवाने वाले, चोरों की सहायता करने वाले, चोरों को भोजनादि देने वाले, उच्छिपक-छिप कर चोरी करने वाले, सार्थ-समूह को लूटने वाले, दूसरों को धोखा देने के लिए बनावटी आवाज में बोलने वाले, राजा द्वारा निगृहीत-दंडित एवं छलपूर्वक राजाज्ञा का उल्लंघन करने वाले, अनेकानेक प्रकार से चोरी करके परकीय द्रव्य को हरण करने की बुद्धि वाले, ये लोग तथा इसी कोटि के अन्य-अन्य लोग, जो दूसरे के द्रव्य को ग्रहण करने की-इच्छा से निवृत्त (विरत) नहीं है अर्थात् अदत्तादान के त्यागी नहीं है- जिनमें परधन के प्रति लालसा विद्यमान हैं, वे (पूर्वोक्त हिंसक प्रकार से) चौर्य-कर्म में प्रवृत्त होते हैं।

{473}

अदिण्णादाणं हर-दह-मरणभय-कलुस-तासण-परसंतिग-अभेज्ज-लोभ-मूलं कालविसमसंसियं अहोऽच्छिण्ण-तण्हपत्थाण-पत्थोइमइयं अकित्तिकरणं अणज्जं छिद्दमंतर-विहुर-वसण-मग्गण-उस्सवमत्त-प्पमत्त-पसुत्त-वंचणक्खिवण-घायणपरं अणिहुयपरिणामं तक्कर-जणबहुमयं अकलुणं रायपुरिस-रक्खियं सया साहु-गरहणिज्जं पियजण-मित्तजण-भेय-विप्पिइकारगं रागदोसबहुलं पुणो य उप्पूरसमरसंगामडमर-कलिकलहवेहकरणं दुग्गइविणिवायवड्ढणं-भवपुणब्भवकरं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं।

(प्रश्न. 1/3/सू.60)

अदत्तादान-अदत्त-बिना दी गई किसी दूसरे की वस्तु को आदान-ग्रहण करना (परकीय पदार्थ का) हरण रूप है। हृदय को जलाने वाला है। मरण और भय रूप अथवा मरण-भय रूप है। पापमय होने से कलुषित-मलिन है। परकीय धनादि में रौद्रध्यानस्वरूप मूर्च्छा-लोभ ही इसका मूल है। विषमकाल-आधी रात्रि आदि और विषमस्थान-पर्वत सघन वन आदि स्थानों पर आश्रित है अर्थात् चोरी करने वाले विषम काल और विषम देश की तलाश में रहते हैं। यह अदत्तादान निरन्तर तृष्णाग्रस्त जीवों को अधोगति की ओर ले जाने वाली बुद्धि वाला है अर्थात् चोरी करने वाले की बुद्धि ऐसी कलुषित हो जाती है कि

वह उसे अधोगति में ले जाती है। अदत्तादान अपयश का कारण है, अनार्य पुरुषों द्वारा आचरित है। आर्य- श्रेष्ठ मनुष्य कभी अदत्तादान नहीं करते। यह छिद्र-प्रवेशद्वार, अन्तर- अवसर, विधुर-अपाय एवं व्यसन-राजा आदि द्वारा उत्पन्न की जाने वाली विपत्ति का मार्गण करने वाला-उसका पात्र है। उत्सवों के अवसर पर मदिरा आदि के नशे में बेभान, असावधान तथा सोये हुए मनुष्यों को ठगने वाला, चित्त में व्याकुलता उत्पन्न करने और घात करने में तत्पर है तथा अशान्त परिणाम वाले चोरों द्वारा बहुमत-अत्यन्त मान्य है। यह करुणाहीन कृत्य- निर्दयता से परिपूर्ण कार्य है, राजपुरुषों- चौकीदार ,कोतवाल, पुलिस आदि द्वारा इसे रोका जाता है। सदैव साधु-जनों-सत्पुरुषों द्वारा यह निन्दित है। प्रियजनों तथा मित्रजनों में (परस्पर) फूट और अप्रीति उत्पन्न करने वाला है। यह राग और द्वेष की बहुलता वाला है। यह बहुतायत से मनुष्यों को मारने वाले संग्रामों, स्वचक्र-परचक्रसम्बन्धी सम्बन्धी डमरों-विप्लवों, लड़ाई-झगड़ों, तकरारों एवं पश्चात्ताप का कारण है। दुर्गति- पतन में वृद्धि करने वाला, भव-पुनर्भव- वारंवार जन्म-मरण कराने वाला, चिरकाल- सदाकाल से परिचित, आत्मा के साथ लगा हुआ-जीवों का पीछा करने वाला और परिणाम में-अन्त में दुःखदायी होता है।

○ हिंसा का संस्कारः चोर के अगले भव में भी

{474}

मया संता पुणो परलोग-समावण्णा णरए गच्छंति ते अणंतकालेण जइ णाम कहिं वि मणुयभावं लभंति णेगेहिं णिरयगइ-गमण-तिरिय-भव-सयसहस्स-परियट्टेहिं।

तत्थ वि य भवंतऽणारिया णीय-कुल-समुप्पण्णा अणज्जा कूरा मिच्छत्तसुइपवण्णा य होंति एगंत-दंड-रुइणो वेढेंता कोसिकारकीडो व्व अप्पगं अट्ठकम्मतंतु-घणबंधणेणं।

(प्रश्न. 1/3/सू.76)

चोर (अपने दुःखमय जीवन का अन्त करते हुए) मर कर परलोक को प्राप्त होकर नरक में उत्पन्न होते हैं। किसी प्रकार, अनेकों बार नरक गति, और लाखों बार तिर्यंच गति में जन्म-मरण करते-करते यदि मनुष्यभव पा लेते हैं तो वहां भी नीच कुल में उत्पन्न होते हैं और अनार्य होते हैं। वे अनार्य- शिष्टजनोचित आचार-विचार से रहित, क्रूर-नृशंस- निर्दय एवं मिथ्यात्व के पोषक शास्त्रों को अंगीकार करते हैं। एकान्ततः हिंसा में ही उनकी रुचि होती है। इस प्रकार रेशम के कीड़े के समान वे अष्ट कर्म रूपी तन्तुओं से अपनी आत्मा को प्रगाढ़ बन्धनों से जकड़ लेते हैं।

(हिंसा और अब्रह्मचर्य)

○ अहिंसा का पोषक : अब्रह्मचर्य

{475}

अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म।

(सर्वा. 7/16/693)

अहिंसादिक गुण जिसके पालन करने पर बढ़ते हैं वह 'ब्रह्म' कहलाता है।

{476}

अहिंसादिगुणा यस्मिन् बृंहन्ति ब्रह्मतत्त्वत:।
अब्रह्मान्यत्तु रत्यर्थं स्त्रीपुंसमिथुनेहितम्॥

(ह. पु. 58/132)

जिसमें अहिंसादि गुणों की वृद्धि हो वह वास्तविक 'ब्रह्मचर्य' है। इससे विपरीत सम्भोग के लिए स्त्री-पुरुषों की जो चेष्टा है वह 'अब्रह्म' है।

○ हिंसात्मक कार्य: अब्रह्म-सेवन

{477}

मेहुणमूलं य सुव्वए तत्थ तत्थ वत्तपुव्वा संगामा जणक्खयकरा सीयाए, दोवईए कए, रुप्पिणीए, पउमावईए, ताराए, कंचणाए, रत्तसुभद्दाए, अहिल्लियाए, सुवण्णगुलियाए, किण्णरीए, सुरूवविज्जुमईए, रोहिणीए य, अण्णेसु य एवमाइएसु बहवे महिलाकएसु सुव्वंति अइक्कंता संगामा गामधम्ममूला अबंभसेविणो।

(प्रश्न. 1/4/सू.91)

सीता के लिए, द्रौपदी के लिए, रुक्मिणी के लिए, पद्मावती के लिए, तारा के लिए, काञ्चना के लिए, रक्तसुभद्रा के लिए, अहिल्या के लिए, स्वर्णगुटिका के लिए, किन्नरी के लिए, सुरूपविद्युन्मती के लिए और रोहिणी के लिए पूर्वकाल में मनुष्यों का संहार करने वाले विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित जो संग्राम हुए सुने जाते हैं, उनका मूल कारण अब्रह्मचर्य ही था- अब्रह्म-सेवन सम्बन्धी वासना के कारण ये सब महायुद्ध हुए हैं। इनके अतिरिक्त, महिलाओं के निमित्त से अन्य संग्राम भी हुए हैं, जो अब्रह्ममूलक थे।

O हिंसक वातावरण का कारण : अब्रह्मसेवन

{478}

मेहुणसण्णासंपगिद्धा य मोहभरिया सत्थेहिं हणंति एक्कमेक्कं।

विसयविसउदीरएसु अवरे परदारेहिं हम्मंति विसुणिया धणणासं सयणविप्पणासं य पाउणंति।

परस्स दाराओ जे अविरया मेहुणसण्णासंपगिद्धा य मोहभरिया अस्सा हत्थी गवा य महिसा मिगा य मारेंति एक्कमेक्कं।

(प्रश्न. 1/4/सू.90)

जो मनुष्य मैथुनसंज्ञा में अर्थात् मैथुन-सेवन की वासना में अत्यन्त आसक्त हैं और मोहभृत अर्थात् मूढता अथवा कामवासना से भरे हुए हैं, वे आपस में एक दूसरे का शस्त्रों से घात करते हैं।

कोई-कोई विषयरूपी विष की उदीरणा करने वाली- बढ़ाने वाली परकीय स्त्रियों में प्रवृत्त होकर अथवा विषय-विष के वशीभूत होकर परस्त्रियों में प्रवृत्त होकर दूसरों के द्वारा मारे जाते हैं। जब उनकी परस्त्रीलम्पटता प्रकट हो जाती है तब (राजा या राज्य-शासन द्वारा) धन का विनाश और स्वजनों-आत्मीय जनों का सर्वथा नाश प्राप्त करते हैं, अर्थात् उनकी सम्पत्ति और कुटुम्ब का नाश हो जाता है।

जो परस्त्रियों से विरत नहीं हैं और मैथुनसेवन की वासना में अतीव आसक्त है और मूढता या मोह से भरपूर हैं, ऐसे घोड़े, हाथी, बैल, भैंसे और मृग-वन्य पशु परस्पर लड़ कर एक-दूसरे को मार डालते हैं।

O अहिंसा आदि व्रतों का मूलःब्रह्मचर्य

{479}

तं च इमं-

पंच महव्वयसुव्वयमूलं, समणमणाइलसाहुसुचिण्णं।
वेरविरामणपज्जवसाणं, सव्वसमुद्दमहोदहितित्थं॥

(प्रश्न. 2/4/सू.143.1)

(ब्रह्मचर्य के संबंध में) भगवान् का कथन इस प्रकार का है-

यह ब्रह्मचर्यव्रत अहिंसा आदि पांच महाव्रतरूप शोभन व्रतों का मूल है, शुद्ध आचार या स्वभाव वाले मुनियों के द्वारा भावपूर्वक सम्यक् प्रकार से सेवित है, यह वैरभाव की निवृत्ति और उसका अन्त करने वाला है तथा समस्त समुद्रों में स्वयंभूरमण समुद्र के समान (दुस्तर, किन्तु) तैरने का साधन होने के कारण तीर्थस्वरूप है।

O अहिंसा व मुक्ति का मार्गः अनासक्ति

{480}

निव्वेएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

निव्वेएणं दिव्व-माणुस-तेरिच्छि एसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्व-मागच्छइ। सव्वविसएसु विरज्जइ। सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरम्भ-परिच्चाइं करेइ। आरम्भपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिन्दइ, सिद्धिमग्गे पडिवन्ने य भवइ॥

(उत्त. 29/सू.3)

भन्ते! निर्वेद (विषयविरक्ति) से जीव को क्या प्राप्त होता है?

(उत्तर-) निर्वेद से जीव देव, मनुष्य और तिर्यंच-सम्बन्धी काम-भोगों में शीघ्र निर्वेद को प्राप्त होता है। निर्वेद से वह सभी विषयों में विरक्ति को प्राप्त होता है। सभी विषयों में विरक्त होकर आरम्भ अर्थात् हिंसा का परित्याग कर संसार-मार्ग का विच्छेद करता है और सिद्धि-मार्ग को प्राप्त होता है।

(हिंसक भावना के प्रवर्तक तत्त्व)

O हिंसा व क्रूर कर्मों का मूलःकाम भोग-आसक्ति

{481}

काम-गिद्धे जहा बाले भिसं कूराइं कुव्वई॥

(उत्त. 5/4)

काम-भोग में आसक्त बाल जीव- अज्ञानी आत्मा क्रूर कर्म करता है।

{482}

तओ से दण्डं समारभई तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए भूयग्गामं विहिंसई॥

(उत्त. 5/8)

फिर वह त्रस एवं स्थावर जीवों के प्रति दण्ड (घातक उपकरण) का प्रयोग करता है। प्रयोजन से अथवा कभी निष्प्रयोजन ही प्राणी-समूह की हिंसा करता है।

{483}

जं जीवणिकायवहेण विणा इंदियकयं सुहं णत्थि।
तम्हि सुहे णिस्संगो तम्हा सो रक्खदि अहिंसा॥

(भग. आ. 810)

चूंकि छहकाय के जीवों की हिंसा के विना इन्द्रियजन्य सुख नहीं होता। विचित्र प्रकार से स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदि का सेवन जीवों को पीड़ा करने वाला होता है, क्योंकि बहुत आरम्भ (हिंसा) करने के बाद उस सुख की प्राप्ति होती है। अत: जो इन्द्रिजन्य सुख में आसक्त नहीं है, वही अहिंसा की रक्षा करता है। जो इन्द्रिय-सुख का अभिलाषी है, वह नहीं रक्षा करता। अत: इन्द्रियसुख का आदर करना उचित नहीं है।

{484}

अडईगिरिदरिसागरजुद्धाणि अडंति अत्थलोभादो।

(भग. आ. 854)

धन के लोभ से मनुष्य जंगल, पर्वत, गुफा और समुद्र में भटकता है, युद्ध करता है।

{485}

दुक्खस्स पडिगरेंतो सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो।
पाणवधादी दोसे करेइ मोहेण संछण्णो॥
दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं बंधदि तदो णवं जीवो।
अध तेण पच्चइ पुणो पविसित्तु व अग्गिमग्गीदो॥

(भग. आ. 1789-90)

मोह से आच्छादित यह जीव दु:ख से बचने का उपाय करता है, इन्द्रिय-सुख की अभिलाषा रखता है और उसके लिए हिंसा आदि दोषों को करता है। उन हिंसा आदि दोषों को करने से जीव बहुत-सा नया कर्म बांधता है। कर्मबन्ध के पश्चात् उस कर्म का फल भी भोगता है। इस प्रकार जैसे कोई एक आग से निकलकर दूसरी आग में प्रवेश करके कष्ट उठाता है, वैसे ही पूर्वबद्ध कर्मों को भोग कर पुन: नवीन कर्मरूपी आग में जलता है।

{486}

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भोवत्थाण कारणं जीवो।
मरदि य मारावेदि य अणंतसो सव्वकालं तु॥

(मूला. 10/989)

यह जीव धन, जीवन, रसना-इन्द्रिय और कामेन्द्रिय के निमित्त हमेशा अनन्त बार स्वयं मरता है और अन्यों को भी मारता है।

{487}

आतुरा परितावेंति।

(आचा.1/1/6/49)

विषयातुर मनुष्य ही दूसरे प्राणियों को परिताप देते हैं।

{488}

जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे।

इति से गुणट्ठी महत्त परितावेणं वसे पमत्ते। तं जहा-माता मे, पिता मे, भाया मे, भगिणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, सुण्हा मे, सहि-सयण-संगंथ-संथुता मे, विवित्तोव-गरण-परियट्टण-भोयण-अच्छायणं मे।

इच्चत्थं गढिए लोए वसे पमत्ते। अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठायी संजोगगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसक्कारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो।

(आचा. 1/2/1 सू. 63)

जो गुण (इन्द्रिय-विषय) है, वह (कषायरूप संसार का) मूल स्थान है। जो मूल स्थान है, वह गुण है।

इस प्रकार (आगे कथ्यमान) विषयार्थी पुरुष, महान् परिताप से प्रमत्त होकर, जीवन बिताता है। वह इस प्रकार मानता है-"मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरा भाई है, मेरी बहन है, मेरी पत्नी है, मेरा पुत्र है, मेरी पुत्री है, मेरी पुत्र-वधू है, मेरे सखा-स्वजन-सम्बन्धी-सहवासी हैं, मेरे विविध प्रचुर उपकरण (अश्व, रथ, आसन आदि), परिवर्तन (देने-लेने की सामग्री), भोजन तथा वस्त्र हैं।"

इस प्रकार- मेरेपन (ममत्व) में आसक्त हुआ पुरुष, प्रमत्त होकर उनके साथ निवास करता है। वह प्रमत्त तथा आसक्त पुरुष रात-दिन परितप्त/चिन्ता एवं तृष्णा से आकुल

रहता है। काल या अकाल में (समय-बेसमय/हर समय) प्रयत्नशील रहता है। वह संयोग का अर्थी होकर, अर्थ का लोभी बन कर लूट-पाट करने वाला (चोर या डाकू) बन जाता है। सहसाकारी-दु:साहसी और बिना विचारे कार्य करने वाला हो जाता है। विविध प्रकार की आशाओं में उसका चित्त फंसा रहता है। वह बार-बार शस्त्र-प्रयोग करता है और संहारक-आक्रामक बन जाता है।

{489}

जीविते इह जे पमत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवेत्ता उत्तासयित्ता-अकडं करिस्सामि त्ति मण्णमाणे।

(आचा. 1/2/1 सू. 66)

जो इस जीवन (विषय, कषाय आदि) के प्रति प्रमत्त है/ आसक्त है, वह हनन, छेदन, भेदन, चोरी, ग्रामघात, उपद्रव (जीव-वध) और उत्त्रास आदि प्रवृत्तियों में लगा रहता है। (जो आज तक किसी ने नहीं किया, वह) 'अकृत काम मैं करूंगा' इस प्रकार मनोरथ करता रहता है।

{490}

कासंकसे खलु अयं पुरिसे, बहुमायी, कडेण मूढे, पुणो तं करेति लोभं, वेरं वड्ढेति अप्पणो। जमिणं परिकहिज्जइ इमस्स चेव पडिबूहणताए। अमरायइ महासड्ढी। अट्ठमेतं तु पेहाए। अपरिण्णाए कंदति।

(आचा. 1/2/5 सू. 93)

(काम-भोग में आसक्त) यह पुरुष सोचता है-मैंने यह कार्य किया, यह कार्य करूंगा, (इस प्रकार की आकुलता के कारण) वह दूसरों को ठगता है, माया-कपट रचता है, और फिर अपने रचे माया-जाल में स्वयं फंस कर मूढ बन जाता है। वह मूढभाव से ग्रस्त फिर लोभ करता है (काम-भोग प्राप्त करने को ललचाता है) और (माया एवं लोभयुक्त आचरण के द्वारा) प्राणियों के साथ अपना वैर बढ़ाता है। जो मैं यह कहता हूं (कि वह कामी पुरुष माया तथा लोभ का आचरण कर अपना वैर बढ़ाता है), वह इस शरीर को पुष्ट बनाने के लिए ही ऐसा करता है। वह काम-भोग में महान् श्रद्धा (आसक्ति) रखता हुआ अपने को अमर की भांति समझता है। तू देख, वह आर्त- पीड़ित तथा दुखी है। परिग्रह का त्याग नहीं करने वाला क्रन्दन करता है (रोता है)।

{491}

इच्चेते कलहासंगकरा भवंति। पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्ज अणासेवणाए त्ति बेमि।

(आचा. 1/5/4 सू. 164)

ये काम-भोग कलह (कषाय) और आसक्ति (द्वेष और राग) पैदा करने वाले होते हैं। स्त्री-संग से होने वाले ऐहिक एवं पारलौकिक दुष्परिणामों को आगम के द्वारा तथा अनुभव द्वारा समझ कर आत्मा को उनके अनासेवन की आज्ञा दे। अर्थात् काम-भोग के न सेवन करने का सुदृढ़ संकल्प करे-ऐसा मैं कहता हूं।

{492}

रागो दोसो मोहो कसायपेसुण्ण संकिलेसो य।
ईसा हिंसा मोसा सूया तेणिक्क कलहो य॥
जंपणपरिभवणियडिपरिवादरिपुरोगसोगधणणासो।
विसयाउलम्मि सुलहा सव्वे दुक्खावहा दोसा॥

(भग. आ. 914-915)

राग, द्वेष, मोह, कषाय, पैशुन्य- दूसरे के दोष कहना, संक्लेश, ईर्ष्या, हिंसा, झूठ, असूया- दूसरे के गुणों को न सहना, चोरी, कलह, वृथा बकवाद, तिरस्कार, ठगना, पीठ पीछे बुराई करना, शत्रु, रोग, शोक, धननाश इत्यादि सब कुछ दुःखदायी दोष विषयासक्त व्यक्ति में सुलभ होते हैं।

{493}

सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति।

(आचा. नि. 94)

कुछेक मनुष्य स्वयं के सुख की खोज में दूसरों को दुःख पहुंचा देते हैं।

{494}

अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठायी संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसक्कारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो।

से आतबले, से णातबले, से मित्तबले, से पेच्चबले, से देवबले, से रायबले, से चोरबले, से अतिथिबले, से किवणबले, से समणबले, इच्चेतेहिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं दंडसमादाणं सपेहाए भया कज्जति, पावमोक्खो त्ति मण्णमाणे अदुवा आसंसाए।

(आचा. 1/2/2 सू. 72-73)

(जो विषयों से निवृत्त नहीं होता) वह रात-दिन परितप्त रहता है। काल या अकाल में (धन आदि के लिए) सतत प्रयत्न करता रहता है। विषयों को प्राप्त करने का इच्छुक होकर वह धन का लोभी बनता है। चोर व लुटेरा बन जाता है। उसका चित्त व्याकुल व चंचल बना रहता है, और वह पुनः-पुनः शस्त्र-प्रयोग (हिंसा व संहार) करता रहता है।

वह आत्म-बल (शरीर-बल), ज्ञाति-बल, मित्र-बल, प्रेत्य-बल (पर-लोक में सुख पाने), देव-बल (देवताओं की तुष्टि), राज-बल, चोर-बल, अतिथि-बल, कृपण-बल, और श्रमण -बल का संग्रह करने के लिए अनेक प्रकार के कार्यों (उपक्रमों) द्वारा दण्ड (हिंसा)का प्रयोग करता है। कोई व्यक्ति किसी कामना से (अथवा किसी अपेक्षा से) एवं कोई भय के कारण हिंसा आदि करता है। कोई पाप से मुक्ति पाने की भावना से (यज्ञ-बलि आदि द्वारा) हिंसा करता है। कोई किसी आशा-'अप्राप्त को प्राप्त करने की लालसा' से हिंसा-प्रयोग करता है।

{495}

सिया तत्थ एकयरं विप्परामुसति छसु अण्णयरम्मि कप्पति। सुहट्ठी लालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति। सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वति जंसिमे पाणा पव्वहिता।

(आचा. 1/2/6 सू. 95-96)

कदाचित् (वह प्रमाद या अज्ञानवश) किसी एक जीवकाय का समारंभ करता है, तो वह छहों जीव-कायों (में से किसी का भी या सभी) का समारंभ कर सकता है। वह सुख का अभिलाषी, बार-बार सुख की इच्छा करता है, (किन्तु) स्व- कृत कर्मों के कारण, (व्यथित होकर) मूढ बन जाता है और विषयादि सुख के बदले दुःख को प्राप्त करता है। वह-(मूढ) अपने अति प्रमाद के कारण ही अनेक योनियों में भ्रमण करता है, जहां पर कि प्राणी अत्यन्त दुःख भोगते हैं।

बहुदुक्खा हु जंतवो। सत्ता कामेंहि माणवा। अबलेण वहं गच्छंति सरीरेण पभंगुरेण।

अट्टे से बहुदुक्खे इति बाले पकुव्वति।

एते रोगे बहू णच्चा आतुरा परितावए।

णालं पास। अलं तवेतेहिं।

एतं पास मुणी! महब्भयं। णातिवादेज्ज कंचणं।

(आचा. 1/6/1 सू. 180)

संसार में (कर्मों के कारण) जीव बहुत ही दुःखी हैं। (बहुत-से) मनुष्य काम-भोगों में आसक्त हैं। (जिजीविषा में आसक्त मानव) इस निर्बल (निःसार और स्वतः नष्ट होने वाले) शरीर को सुख देने के लिए अन्य प्राणियों के वध की इच्छा करते हैं [अथवा कर्मोदयवश अनेक बार वध-विनाश को प्राप्त होते हैं]।

वेदना से पीड़ित वह मनुष्य बहुत दुःख पाता है। इसलिए वह अज्ञानी (वेदना के उपशमन के लिए) प्राणियों को कष्ट देता है, (अथवा प्राणियों को क्लेश पहुंचाता हुआ वह धृष्ट (बेदर्द) हो जाता है)।

इन (पूर्वोक्त) अनेक रोगों को उत्पन्न हुए जान कर (उन रोगों की वेदना से) आतुर मनुष्य (चिकित्सा के लिए दूसरे प्राणियों को) परिताप देते हैं।

तू (विशुद्ध विवेक-दृष्टि से) देख। ये (प्राणिघातक-चिकित्साविधियां कर्मोदय-जनित रोगों का शमन करने में पर्याप्त) समर्थ नहीं है। (अतः जीवों को परिताप देने वाली) इन (पाप-कर्मजनक चिकित्साविधियों) से तुमको दूर रहना चाहिए।

मुनिवर! तू देख! यह (हिंसामूलक चिकित्सा) महान भयरूप है। (इसलिए चिकित्सा के निमित्त भी) किसी प्राणी का अतिपात/वध मत कर।

O जीवघातक व आत्मघातक: विषय भोग-आसक्त प्राणी

[इंद्रियों की विषयों के प्रति भोगों में निरन्तर प्रवृत्ति 'असंयम', है, उसे प्रश्नव्याकरण-सूत्र (1/1सू. 3) में हिंसा कहा है। इसी के विपरीत, संयम व विरति-दोनों को वहां 'अहिंसा' का पर्याय भी बताया गया है (द्र. प्रश्नव्याकरण सूत्र-2/1सू.107)। इन्द्रिय-विषयों के सेवन से सर्वविनाश व आत्म-विनाश की स्थिति ही परिणत होती है। इसी दृष्टि से विषय-आसक्ति के आत्मघाती स्वरूप को स्पष्ट करने के उद्देश्य से कुछ उपयोगी शास्त्रीय वचन यहां संकलित किए गए हैं:-]

{497}

रूवाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

(उत्त. 32/27)

मनोज्ञ रूप की आशा (इच्छा) का अनुगमन करने वाला व्यक्ति अनेकरूप चराचर अर्थात् त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को ही अधिक महत्त्व देने वाला वह क्लिष्ट (राग से बाधित) अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हें परिपात देता है, पीड़ा पहुंचाता है।

{498}

फासाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेंहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

(उत्त. 32/79)

स्पर्श की आशा का अनुगामी व्यक्ति अनेक-रूप त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को ही मुख्य मानने वाला वह क्लिष्ट अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हें परिताप देता है, पीड़ा पहुंचाता है।

{499}

पंचहिं ठाणेहिं जीवा विणिघायमावज्जंति, तं जहा- सद्देहिं, जाव (रूवेहिं, गंधेहिं, रसेहिं), फासेहिं।

(ठा. 5/1/11)

पांच स्थानों (कारणों) से जीव विनिघात (विनाश) को प्राप्त होते हैं। जैसे-1. शब्दों से, 2. रूपों से, 3. गन्धों से, 4. रसों से, 5. स्पर्शों से, अर्थात् इनकी अति लोलुपता के कारण जीव विघात को प्राप्त होते हैं।

{500}

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धाः,
नद्धास्ते वारिबन्धे ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षिदोषात्।
भृङ्गा गन्धोद्धताशाः प्रलयमुपगताः श्रोतुकामाः कुरङ्गाः,
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागः॥

(ज्ञा. 18/149/1047)

मछलियां रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर मृत्यु को प्राप्त हुई हैं, हाथी स्पर्श-सुख के वशीभूत होकर वारिबन्ध में बांधे गये हैं, पतंग चक्षु-इन्द्रिय के दोष से अग्नि को प्राप्त हुए हैं- अग्नि में भस्मसात् हुए हैं, गन्ध में उत्कट इच्छा रख कर भ्रमर नाश को प्राप्त हुए हैं तथा गीत सुनने में अनुरक्त होकर हिरण भी कालरूप सर्प के द्वारा काटे गये हैं- मरण को प्राप्त हुए हैं। फिर भी प्राणियों को इन इन्द्रियविषयों में अनुराग है, यह आश्चर्य व खेद की बात है।

{501}

एकैककरणपरवशमपि मृत्युं याति जन्तुजातमिदम्।
सकलाक्षविषयलोलः कथमिह कुशली जनोऽन्यः स्यात्॥

(ज्ञा. 18/150/1048)

यह जन्तु-समूह एक-एक इन्द्रिय के अधीन भी होकर मरण को प्राप्त होता है। फिर जो अन्य प्राणी यहां सभी इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो, उसकी तो कुशलता कैसे रह सकती है? वह तो दुःसह दुख का भाजन होगा ही।

{502}

कुलघाताय पाताय, बन्धाय च वधाय च।
अनिर्जितानि जायन्ते, करणानि शरीरिणाम्॥

(है. योग. 4/27)

अविजित (काबू में नहीं की हुई) इन्द्रियां शरीरधारियों के कुल को नष्ट करने वाली, पतन, बन्धन और वध कराने वाली होती हैं।

{503}

वशात् स्पर्शसुखास्वाद-प्रसारितकरः करी।
आलानबन्धनक्लेशमासादयति तत्क्षणात्॥
पयस्यगाधे विचरन् गिलन् गलगलामिषम्।
मैनिकस्य करे दीनो मीनः पतति निश्चितम्॥
निपतन् मत्त-मातङ्ग-कपोले, गन्धलोलुपः।
कर्णतालतलाघातात् मृत्युमाप्नोति षट्पदः॥
कनकच्छेदसंकाश-शिखालोकविमोहितः ।
रभसेन पतन् दीपे शलभो लभते मृतिम्॥
हरिणो हरिणीं गीतिमाकर्णयितुमुद्धुरः।
आकर्णाकृष्टचापस्य, याति व्याधस्य वेध्यताम्॥

(है. योग. 4/28-32)

हथिनी के स्पर्श-सुख का स्वाद लेने के लिए सूंड फैलाता हुआ हाथी क्षण भर में खंभे के बन्धन में पड़ कर क्लेश पाता है। अगाध जल में रहने वाली मछली जाल में लगे हुए लोहे के कांटे पर मांस का टुकड़ा खाने के लिए ज्यों ही आती है, त्यों ही निःसंदेह वह बेचारी मच्छीमार के हाथ में आ जाती है। मदोन्मत्त हाथी के गंडस्थल पर गंध में आसक्त हो कर भौंरा बैठता है, परन्तु उसके कान की फटकार से मृत्यु का शिकार हो जाता है। सोने के तेज के समान चमकती हुई दीपक की लौ के प्रकाश को देख कर पतंगा मुग्ध हो जाता है और दीपक पर टूट पड़ता है; जिससे वह मौत के मुंह में चला जाता है। मनोहर गीत सुनने में तन्मय बना हुआ हिरन कान तक खींचे हुए शिकारी के बाण से बिंध जाता है और मृत्यु को प्राप्त करता है।

○ हिंसक वृत्ति का कारणः भूख की पीड़ा

{504}

आहारत्थं मज्जारिसुंसुमारी अही मणुस्सी वि।
दुब्भिक्खादिसु खायंति पुत्तभंडाणि दइयाणि॥
इहपरलोइयदुक्खाणि आवहंते णरस्स जे दोसा।
ते दोसे कुणइ णरो सव्वे आहारगिद्धीए॥

(भग. आ.1642-43)

भूख से पीड़ित होने पर बिल्ली, मत्स्य, सर्पिणी और दुर्भिक्ष आदि में मनुष्य भी अपने प्रिय पुत्रों को खा जाते हैं। मनुष्य के जो दोष इस लोक और परलोक में दुःखदायी हैं, उन सब दोषों को मनुष्य आहार की लम्पटता के कारण ही करता है।

{505}

आहारत्थं हिंसइ भणइ असच्चं करेइ तेणेक्कं।
रूसइ लुब्भइ मायं करेइ परिगिण्हदि य संगे॥

(भग. आ.1637)

आहार के लिए मनुष्य छहकाय के जीवों का घात करता है। असत्य बोलता है, चोरी करता है। आहार न मिलने पर क्रोध करता है। मिलने पर उसका लोभ करता है। मायाचार करता है। घर, पत्नी आदि परिग्रह संचित करता है।

O हिंसक आजीविका वाली म्लेच्छ जातियाँ

{506}

कयरे ते?

जे ते सोयरिया मच्छबंधा साउणिया वाहा कूरकम्मा वाउरिया दीवित-बंधणप्पओग-तप्पगल-जाल-वीरल्लगायसीदब्भ-वग्गुरा-कूडछेलियाहत्था हरिएसा साउणिया बीदंसगपासहत्था वणचरगा लुद्धगा महुघाया पोयघाया एणीयारा पएणीयारा सर-दह-दीहिय-तलाग-पल्लव-परिगालण-मलण- सोत्तबंधण-सलिलासयसोसगा विसगरलस्स य दायगा उत्तणवल्लर-दवग्गि-णिद्दया पलीवगा कूर- कम्मकारी।

(प्रश्न. 1/1/सू.19)

वे हिंसक प्राणी कौन हैं? (वे हैं-)

शौकरिक-जो शूकरों का शिकार करते हैं, मत्स्यबन्धक-मछलियों को जाल में बांध कर मारने वाले, जाल में फंसा कर पक्षियों का घात करने वाले, व्याध-मृगों, हिरणों को फंसाकर मारने वाले, क्रूरकर्मा वागुरिक-जाल में मृग आदि को फंसाने के लिए घूमने वाले, जो मृगादि को मारने के लिए चीता, बन्धन-प्रयोग-फंसाने या बांधने के लिए उपकरणों, मछलियां पकड़ने के लिए तप्र-छोटी नौका, गल-मछलियां पकड़ने के लिए कांटे पर आटा या मांस, जाल, वीरल्लक-बाज पक्षी, लोहे का जाल, दर्भ-डाभ या

दर्भनिर्मित रस्सी, कूटपाश, बकरी-(चीता आदि को पकड़ने के लिए पिंजरे आदि में रक्खी हुई अथवा किसी स्थान पर बांधी हुई बकरी अथवा बकरा)-इन सब साधनों को हाथ में लेकर फिरने वाले-इन साधनों का प्रयोग करने वाले, हरिकेश-चाण्डाल, चिड़ीमार, बाज पक्षी तथा जाल को रखने वाले, वनचर-भील आदि वनवासी, मधु-मक्खियों का घात करने वाले, पोतघातक-पक्षियों के बच्चों का घात करने वाले, मृगों को आकर्षित करने के लिए हरिणियों का पालन करने वाले, मत्स्य, शंख आदि प्राप्त करने के लिए सरोवर, ह्रद, वापी, तालाब, पल्लव-क्षुद्र जलाशय को खाली करने वाले-पानी निकाल कर, जलागम का मार्ग रोक कर तथा जलाशय को किसी उपाय से सुखाने वाले, विष अथवा, गरल-अन्य वस्तु में मिले विष को खिलाने वाले, उगे हुए त्रण-घास एवं खेत को निर्दयतापूर्वक जलाने वाले, ये सब क्रूरकर्मकारी हैं, (जो अनेक प्रकार के प्राणियों का घात करते हैं)।

{507}

इमे य बहवे मिलक्खुजाई, के ते?

सक-जवण-सबर-बब्बर-गाय-मुरुंडोद-भडग-तित्तिय-पक्कणिय-कुलक्ख-गोड-सीहल-पारस-कोचंध-दविल-बिल्लल-पुलिंद-अरोस-डोंब-पोक्कण-गंध-हारग-बहलीय-जल्ल-रोम-मास-बउस-मलया-चुंचुया य चूलिया कोंकणगा-मेत्त-पण्हव-मालव-मालव-महुर-आभासिय-अणक्ख चीण-लासिय-खस-खासिया-नेहुर-मरहट्ठ-मुट्ठिय-आरब-डोबिलग-कुहण-केकय-हूण-रोमग-रुरु-मरुया-चिलायविसयवासी य पावमइणो।

(प्रश्न. 1/1/सू.20)

(पूर्वोक्त हिंसाकारियों के अतिरिक्त) ये बहुत-सी म्लेच्छ जातियां भी हैं, जो हिंसक हैं। वे (जातियां) कौन-सी हैं? शक, यवन, शबर, बब्बर, काय (गाय), मुरुंड, उद, भडक, तित्तिक, पक्कणिक, कुलाक्ष, गौड, सिंहल, पारस, क्रौंच, आन्ध्र, द्रविड़, विल्वल, पुलिंद, आरोष, डौंब, पोकण, गान्धार, बहलीक, जल्ल, रोम, मास, वकुश, मलय, चुंचुक, चूलिक, कोंकण, मेद, पण्हव, मालव, महुर, आभाषिक, अणक्क, चीन, ल्हासिक, खस, खासिक, नेहुर, महाराष्ट्र, मौष्टिक, आरब, डोबलिक, कुहण, कैकय, हूण, रोमक, रुरु, मरुक, चिलात-इन देशों के निवासी, जो पाप बुद्धि वाले हैं, वे (हिंसा में प्रवृत्त रहते हैं।)

{508}

जलयर-थलयर-सणप्फ-योरग-खहयर-संडासतुंड-जीवोवग्घायजीवी सण्णी य असण्णिणो पज्जत्ते अपज्जत्ते य असुभलेस्स-परिणामे एए अण्णे य एवमाई करेंति पाणाइवायकरणं।

पावा पावाभिगमा पावरुई पाणवहकयरई पाणवहरूवाणुट्ठाणा पाणवहकहासु अभिरमंता तुट्ठा पांव करेत्तु होंति य बहुप्पगारं।

(प्रश्न. 1/1/सू.21)

ये पूर्वोक्त विविध देशों और जातियों के लोग तथा इनके अतिरिक्त अन्य जातीय और अन्य देशीय लोग भी, जो अशुभ लेश्या-परिणाम वाले हैं, वे जलचर, स्थलचर, सनखपद, उरग, नभश्चर, संडासी जैसी चोंच वाले आदि जीवों का घात करके अपनी आजीविका चलाते हैं। वे संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्त और अपर्याप्त जीवों का हनन करते हैं।

वे पापी जन पाप को ही उपादेय मानते हैं। पाप में ही उनकी रुचि-प्रीति होती है। वे प्राणियों का घात करके प्रसन्नता अनुभव करते हैं। उनका अनुष्ठान-कर्त्तव्य प्राणवध करना ही होता है। प्राणियों की हिंसा की कथा-वार्ता में ही वे आनन्द मानते हैं। वे अनेक प्रकार के पापों का आचरण करके संतोष अनुभव करते हैं।

○ हिंसा की प्रवृत्तिः प्रायः स्वार्थी व अज्ञानियों में

{509}

तं च पुण करेंति केइ पावा असंजया अणिहुयपरिणामदुप्पयोगा पाणवहं भयंकरं बहुविहं बहुप्पगारं परदुक्खुप्पायणपसत्ता इमेहिं तसथावरेहिं जीवेहिं पडिणिविट्ठा।

(प्रश्न. 1/1/सू.4)

कितने ही पातकी, संयमविहीन, तपश्चर्या के अनुष्ठान से रहित, अनुपशान्त परिणाम वाले एवं जिनके मन, वचन और काय का व्यापार दुष्ट है, जो अन्य प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने में आसक्त रहते हैं तथा त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा न करने के कारण वस्तुतः जो उनके प्रति द्वेषभाव वाले हैं, वे अनेक प्रकारों से, विविध भेद-प्रभेदों से भयंकर प्राणवध-हिंसा किया करते हैं।

{510}

इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं, किं ते? चम्म-वसा-मंस-मेय-सोणिय-जग फिप्फिस-मत्थु-लुंग-हिययंत-पित्त-फोफस-दंतट्ठा अट्ठिमिंज-णह-णयण-कण्ण-ण्हारुणि-णक्क-धमणि-सिंग-दाढि-पिच्छ-विस-विसाण-बालहेउं।

हिंसंति य भमर-महुकरिगणे रसेसु गिद्धा तहेव तेइंदिए सरीरोवगरणट्ठयाए किवणे बेइंदिए बहवे वत्थोहर-परिमंडणट्ठा।

(प्रश्न. 1/1/सू.11)

इन कारणों (उद्देश्यों) से लोग प्राणियों की हिंसा करते हैं। वे कारण क्या हैं? (उत्तर-) चमड़ा, चर्बी, मांस, मेद, रक्त, यकृत्, फेफड़ा, भेजा, हृदय, आंत, पित्ताशय, फोफस (शरीर का एक विशिष्ट अवयव), दांत, अस्थि-हड्डी, मज्जा, नाखून, नेत्र, कान, स्नायु, नाक, धमनी, सींग, दाढ़, पिच्छ, विष, विषाण- हाथी-दांत तथा शूकरदंत, और बालों के लिए (हिंसक प्राणी जीवों की हिंसा करते हैं)।

रसासक्त मनुष्य मधु के लिए भ्रमर- मधुमक्खियों का हनन करते हैं, शारीरिक सुख या दुःखनिवारण करने के लिए खटमल आदि त्रीन्द्रियों का वध करते हैं, (रेशमी) वस्त्रों के लिए अनेक द्वीन्द्रिय कीड़ों आदि का घात करते हैं।

{511}

अण्णेहि य एवमाइएहिं बहूहिं कारणसएहिं अबुहा इह हिंसति तसे पाणे। इमे य- एगिंदिए बहवे वराए तसे य अण्णे तयस्सिए चेव तणुसरीरे समारंभंति। अत्ताणे, असरणे, अणाहे, अबंधवे, कम्मणिगड-बद्धे, अकुसलपरिणाम-मंदबुद्धिजणदुव्विजाणए, पुढविमए, पुढविसंसिए, जलमए, जलगए, अणलाणिल-तण-वणस्सइगणणिस्सिए य तम्मयतज्जिए चेव तयाहारे तप्परिणय-वण्ण-गंध-रस-फास-बोंदिरूवे अचक्खुसे चक्खुसे य तसकाइए असंखे। थावरकाए य सुहुम-बायर-पत्तेय-सरीरणामसाहारणे अणंते हणंति अविजाणओ य परिजाणओ य जीवे इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं।

(प्रश्न. 1/1/सू.12)

बुद्धिहीन अज्ञानी पापी लोग ही पूर्वोक्त तथा अन्य अनेकानेक प्रयोजनों से त्रस- चलते-फिरते, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय -जीवों का समारंभ करते हैं। ये प्राणी त्राणरहित हैं-उनके पास अपनी रक्षा के साधन नहीं हैं, अशरण हैं- उन्हें कोई शरण- आश्रय देने वाला नहीं है, वे अनाथ हैं, बन्धु-बान्धवों से रहित हैं-सहायकविहीन हैं और

बेचारे अपने कृत कर्मों की बेड़ियों से जकड़े हुए हैं। जिनके परिणाम–अन्तःकरण की वृत्तियां अकुशल–अशुभ हैं, जो मन्दबुद्धि हैं, वे इन प्राणियों को नहीं जानते। वे अज्ञानी जन न पृथ्वीकाय को जानते हैं, न पृथ्वीकाय के आश्रित रहे अन्य स्थावरों एवं त्रस जीवों को जानते हैं। उन्हें जलकायिक तथा जल में रहने वाले अन्य त्रस–स्थावर जीवों का ज्ञान नहीं है। उन्हें अग्निकाय, वायुकाय, तृण तथा (अन्य) वनस्पतिकाय के एवं इनके आधार पर रहे हुए अन्य जीवों का परिज्ञान नहीं है। ये प्राणी उन्हीं (पृथ्वीकाय आदि) के स्वरूप वाले, उन्हीं के आधार से जीवित रहने वाले अथवा उन्हीं का आहार करने वाले होते हैं। उन जीवों का वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और शरीर अपने आश्रयभूत पृथ्वी, जल आदि के सदृश होता है। उनमें से कई जीव नेत्रों से दिखाई नहीं देते हैं और कोई–कोई दिखाई देते भी हैं। ऐसे असंख्य त्रसकायिक जीवों की तथा अनन्त सूक्ष्म, बादर, प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर वाले स्थावरकाय के जीवों की जान–बूझ कर या अनजाने कारणों से हिंसा करते हैं।

{512}

से बेमि–

अप्पेगे अच्चाए वधेंति, अप्पेगे अजिणाए वधेंति, अप्पेगे मंसाए वधेंति; अप्पेगे सोणिताए वधेंति, अप्पेगे हिययाए वधेंति, एवं पित्ताए वसाए पिच्छाए बालाए सिंगाए विसाणाए दंताए, दाढाए नहाए ण्हारुणीए अट्ठिए अट्ठिमिंजाए अट्ठाए अणट्ठाए।

अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति वा, अप्पेगे हिंसंति वा, अप्पेगे हिंसिस्संति वा णे वधेंति।

(आचा. 1/1/6/सू. 52)

मैं कहता हूं– कुछ मनुष्य अर्चा (देवता की बलि या शरीर के शृंगार) के लिए जीव हिंसा करते हैं। कुछ मनुष्य चर्म के लिए, मांस, रक्त, हृदय (कलेजा), पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, केश, सींग, विषाण (सुअर का दांत,)दांत,दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि (हड्डी) और अस्थिमज्जा के लिए प्राणियों की हिंसा करते हैं। कुछ किसी प्रयोजन–वश, कुछ निष्प्रयोजन/ व्यर्थ ही जीवों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति (इन्होंने मेरे स्वजनादि की) हिंसा की, इस कारण (प्रतिशोध की भावना से) हिंसा करते हैं। कुछ व्यक्ति (यह मेरे स्वजन आदि की) हिंसा करता है, इस कारण (प्रतीकार की भावना से) हिंसा करते हैं। कुछ व्यक्ति (यह मेरे स्वजनादि की हिंसा करेगा) इस कारण (भावी आतंक/भय की संभावना से) हिंसा करते हैं।

{513}

तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता।

इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए दुक्ख- पडिघातहेतुं।

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति।

जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

(आचा. 1/1/1/सू. 7-9)

इस सम्बन्ध में (कर्म-बन्धन के कारणों के विषय में) भगवान ने परिज्ञा-विवेक का उपदेश किया है।

(अनेक मनुष्य इन आठ हेतुओं से कर्म समारंभ-हिंसा करते हैं)-

1. अपने इस जीवन के लिए,
2. प्रशंसा व यश के लिए,
3. सम्मान की प्राप्ति के लिए,
4. पूजा आदि पाने के लिए,
5. जन्म-सन्तान आदि के जन्म पर, अथवा स्वयं के जन्म निमित्त से,
6. मरण-मृत्यु सम्बन्धी कारणों व प्रसंगों पर,
7. मुक्ति की प्रेरणा या लालसा से, (अथवा जन्म-मरण से मुक्ति पाने की इच्छा से)
8. दुःख के प्रतीकार हेतु-रोग, आतंक, उपद्रव आदि मिटाने के लिए।

लोक में (जीवन-रक्षा, प्रशंसा/यश की प्राप्ति, दुःख-प्रतीकार आदि हेतुओं से होने वाले) ये सब कर्मसमारंभ/हिंसा के हेतु जानने योग्य और त्यागने योग्य होते हैं।

लोक में ये जो कर्मसमारंभ/हिंसा के हेतु हैं, इन्हें जो जान लेता है (और त्याग देता है) वही परिज्ञातकर्मा मुनि होता है। -ऐसा मैं कहता हूं।

{514}

सुप्प-वियण-तालयंट-पेहुण-मुह-करयल-सागपत्त-वत्थमाईएहिं अणिलं हिंसति।

(प्रश्न. 1/1/सू.16)

सूर्प-सूप-धान्यादि फटक कर साफ करने के उपकरणों, व्यजन-पंखा, तालवृन्त-ताड़ के पंखा, मयूरपंख आदि से, मुख से, हथेलियों से, सागवान आदि के पत्ते से तथा वस्त्र-खण्ड आदि से वायुकाय के जीवों की हिंसा की जाती है।

{515}

किं ते? करिसण-पोक्खरिणी-वावि-वप्पिणि-कूव-सर-तलाग-चिइ-वेइय-खाइय-आराम-विहार-थूभ-पागार-दार-गोउर-अट्टालग-चरिया-सेउ-संकम-पासाय-विकप्प-भवण-घर-सरण-लयण-आवण-चेइय-देवकुल-चित्तसभा-पवा-आयतणा-वसह-भूमिधर-मंडवाण कए भायणभंडोवगरणस्स य विविहस्स य अट्ठाए पुढविं हिंसंति मंदबुद्धिया।

(प्रश्न. 1/1/सू.13)

वे कारण कौन-से हैं, जिनसे (पृथ्वीकायिक) जीवों का वध किया जाता है?

(उत्तर-) कृषि, पुष्करिणी (चौकोर बावड़ी जो कोमलों से युक्त हो), बावड़ी, क्यारी, कूप, सर, तालाब, भित्ति, वेदिका, खाई, आराम, विहार (बौद्धभिक्षुओं ने ठहरने का स्थान), स्तूप, प्राकार, द्वार, गोपुर (नगरद्वार-फाटक), अटारी, चरिका (नगर और प्राकार के बीच का आठ हाथ प्रमाण मार्ग), सेतु-पुल, संक्रम (ऊबड़-खाबड़ भूमि को पार करने का मार्ग), प्रासाद-महल, विकल्प-विकप्प-एक विशेष प्रकार का प्रासाद, भवन, गृह, सरण-झौंपड़ी, लयन-पर्वत खोद कर बनाया हुआ स्थानविशेष, दूकान, चैत्य-चिता पर बनाया हुआ चबूतरा, छतरी और स्मारक, देवकुल-शिखर-युक्त देवालय, चित्रसभा, प्याऊ, आयतन, देवस्थान, आवसथ-तापसों का स्थान, भूमिगृह-भौंयरा-तलघर और मंडप आदि के लिए तथा नाना प्रकार प्रकार के भाजन-पात्र, भाण्ड-बर्त्तन आदि एवं उपकरणों के लिए मन्दबुद्धि जन पृथ्वीकाय जीवों की हिंसा करते हैं।

{516}

जलं च मज्जण-पाण-भोयण-वत्थधोवण-सोयमाइएहिं।

(प्रश्न. 1/1/सू.14)

मज्जन-स्नान, पान-पीने, भोजन, वस्त्र धोने एवं चौच-शरीर, गृह आदि की शुद्धि इत्यादि कारणों से जलकायिक जीवों की हिंसा की जाती है।

{517}

से तं जाणह जमहं बेमि। तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवइत्ता 'अकडं करिस्सामि' त्ति मण्णमाणे, जस्स वि य णं करेइ।

(आचा. 1/2/5 सू. 94)

तुम उसे जानो, जो मैं कहता हूं। अपने को चिकित्सा-पंडित बताते हुए कुछ वैद्य,

चिकित्सा (काम-चिकित्सा) में प्रवृत्त होते हैं। वह (काम-चिकित्सा के लिए) अनेक जीवों का हनन, भेदन, लुम्पन, विलुम्पन और प्राण-वध करता है। 'जो पहले किसी ने नहीं किया, ऐसा मैं करूंगा' -यह मानता हुआ (वह जीव-वध करता है), वह जिसकी चिकित्सा करता है (वह भी जीव-वध में सहभागी होता है)।

{518}

पयण-पयावण-जलावण-विदंसणेहिं अगणिं।

(प्रश्न. 1/1/सू.15)

भोजनादि पकाने, पकवाने, दीपक आदि जलाने तथा प्रकाश करने के लिए अग्निकाय के जीवों की हिंसा की जाती है।

{519}

अगार-परियार-भक्ख-भोयण-सयणासण-फलक-मूसल-उक्खल-तत-विततातोज्ज-वहण-वाहण-मंडव-विविह-भवण-तोरण-विडंग-देवकुल-जालय-द्धचंद-णिज्जूहग-चंदसालिय-वेतिय-णिस्सेणि-दोणि-चंगेरी-खील-मंडक-सभा-पवावसह-गंध-मल्लाणुलेवणं-अंबर-जुयणंगल-मइय-कुलिय-संदण-सीया-रह-सगड-जाण-जोग्ग-अट्टालग-चरिय-दार-गोउर-फलिहा-जंत-सूलिय-लउड-मुसंढि-सयग्घी-बहुपहरणा- वरणुवक्खराणकए, अण्णेहिं य एवमाइएहिं बहूहिं कारणसएहिं हिंसंति ते तरुगणे भणियाभणिए य एवमाई।

(प्रश्न. 1/1/सू.17)

अगार-गृह, परिचार-तलवार की म्यान आदि, भक्ष्य-मोदक-आदि, भोजन-रोटी वगैरह, शयन-शय्या आदि, आसन-विस्तर-बैठका आदि, फलक-पाट-पाटिया, मूसल, ओखली, तत-वीणा आदि, वितत-ढोल आदि, आतोद्य-अनेक प्रकार के वाद्य, वहन-नौका आदि, वाहन- रथ-गाड़ी आदि, मण्डप, अनेक प्रकार के भवन, तोरण, विडंग-विटंक, कपोतपाली-कबूतरों के बैठने के स्थान, देवकुल-देवालय, जालक-झरोखा, अर्द्धचन्द्र-अर्धचन्द्र के आकार की खिड़की या सोपान, निर्यूहक-द्वारशाखा, चन्द्रशाला-अटारी, वेदी, निःसरणी-नसैनी, द्रोणी- छोटी नौका, चंगेरी-बड़ी नौका या फूलों की डलिया, खूंटा-खूंटी, स्तम्भ-खम्भा, सभागार, प्याऊ, आवसथ- आश्रम, मठ, गंध, माला, विलेपन, वस्त्र, युग-जूवा, लांगल-हल, मतिक-जमीन जोतने के पश्चात् ढेला फोड़ने के लिए लम्बा काष्ठ-निर्मित उपकरणविशेष, जिससे भूमि समतल की जाती है, कुलिक-विशेष प्रकार का

हल-बखर, स्यन्दन-युद्ध-रथ, शिविका-पालकी, रथ, शटक-छकड़ा गाड़ी, यान, युग्य-दो हाथ का वेदिकायुक्त यानविशेष, अट्टालिका, चरिका-नगर और प्राकार के मध्य का आठ हाथ का चौड़ा मार्ग, परिघ-द्वार, फाटक, आगल, अरहट आदि, शूली, लकुट- लकड़ी-लाठी, मुसुंढी, शतघ्नी-तोप या महाशिला जिससे सैकड़ों का हनन हो सके, तथा अनेकानेक प्रकार के शस्त्र, ढक्कन एवं अन्य उपकरण बनाने के लिए और इसी प्रकार के ऊपर कहे गए तथा नहीं कहे गए ऐसे बहुत-से सैकड़ों कारणों से अज्ञानी जन वनस्पतिकाय की हिंसा करते हैं।

{520}

सत्ते सत्तपरिवज्जिया उवहणंति दढमूढा दारुणमई कोहा माणा माया लोहा हस्स रई अरई सोय वेयत्थी जीय-धम्मत्थकामहेउं सवसा अवसा अट्ठा अणट्ठाए य तसपाणे थावरे य हिंसंति मंदबुद्धी।

सवसा हणंति, अवसा हणंति, सवसा अवसा दुहओ हणंति, अट्ठा हणंति अणट्ठा हणंति, अट्ठा अणट्ठा दुहओ हणंति, हस्सा हणंति, वेरा हणंति, रईय हणंति, हस्सा-वेरा-रईय हणंति, कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति, कुद्धा लुद्धा मुद्धा हणंति, अत्था हणंति, धम्मा हणंति, कामा हणंति, अत्था धम्मा कामा हणंति॥

(प्रश्न. 1/1/सू.18)

दृढमूढ-हिताहित के विवेक से सर्वथा शून्य अज्ञानी, दारुण मति वाले पुरुष क्रोध से प्रेरित होकर, मान, माया और लोभ के वशीभूत होकर तथा हंसी-विनोद-दिलबहलाव के लिए, रति, अरति एवं शोक के अधीन होकर, वेदानुष्ठान के इच्छुक होकर, जीवन, धर्म, अर्थ एवं काम के लिए,(कभी) स्ववश- अपनी इच्छा से और बिना (कभी) परवश - पराधीन होकर, (कभी)प्रयोजन से और (कभी)बिना प्रयोजन त्रस तथा स्थावर जीवों का, जो अशक्त-शक्तिहीन हैं, घात करते हैं। (ऐसे हिंसक प्राणी वस्तुत:)मन्दबुद्धि हैं।

वे बुद्धिहीन क्रूर प्राणी स्ववश (स्वतंत्र) होकर घात करते हैं, विवश होकर घात करते हैं, स्ववश-विवश दोनों प्रकार से घात करते हैं। सप्रयोजन घात करते हैं, निष्प्रयोजन घात करते हैं, सप्रयोजन और निष्प्रयोजन दोनों प्रकार से घात करते हैं। (अनेक पापी जीव) हास्य-विनोद से, वैर से और अनुराग से प्रेरित होकर भी हिंसा करते हैं। क्रुद्ध होकर हनन करते हैं, लुब्ध होकर हनन करते हैं, मुग्ध होकर हनन करते हैं, क्रुद्ध-लुब्ध-मुग्ध होकर हनन करते हैं, अर्थ के लिए घात करते हैं, धर्म के लिए-धर्म मान कर घात करते हैं, काम-भोग के लिए घात करते हैं, तथा अर्थ-धर्म-कामभोग-तीनों के लिए घात करते हैं।

{521}

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहइ पूरइत्तए।

से अण्णवहाए अण्णपरियावाए अण्णपरिग्गहाए जणवयवहाए जणवयपरिवायाए जण-वयपरिग्गहाए।

(आचा. 1/3/2 सू. 118)

वह (असंयमी) पुरुष अनेक चित्त वाला है। वह चलनी को (जल से) भरना चाहता है। वह (तृष्णा की पूर्ति के हेतु व्याकुल मनुष्य)दूसरों के वध के लिए, दूसरों के परिताप के लिए, दूसरों के परिग्रह के लिए, तथा जनपद के वध के लिए, जनपद के परिताप के लिए और जनपद के परिग्रह के लिए (प्रवृत्ति करता है)।

{522}

आया अपच्चक्खाणी यावि भवति, आया अकिरियाकुसले यावि भवति, आया मिच्छासंठिए यावि भवति, आया एगंतदंडे यावि भवति, आया एगंतबाले यावि भवति, आया एगंतसुत्ते यावि भवति, आया अवियारमण-वयस-काय-वक्के यावि भवति, आया अप्पडिहय-अपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति, एस खलु भगवता अक्खाते असंजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमण-वयस-काय-वक्के सुविणमवि ण पस्सति, पावे से कम्मे कज्जति।

(सू.कृ. 2/4/747)

आत्मा (जीव) अप्रत्याख्यानी (सावद्यकर्मों का त्याग न करने वाला) भी होता है; आत्मा अक्रियाकुशल (शुभक्रिया न करने में निपुण) भी होता है; आत्मा मिथ्यात्व (के उदय) में संस्थित भी होता है; आत्मा एकान्त रूप से दूसरे प्राणियों को दंड देने वाला भी होता है; आत्मा एकान्त (सर्वथा) बाल (अज्ञानी) भी होता है; आत्मा एकान्त रूप से सुषुप्त भी होता है; आत्मा अपने मन, वचन, काया और वाक्य (की प्रवृत्ति) पर विचार न करने वाला (अविचारी) भी होता है। और आत्मा अपने पापकर्मों का प्रतिहत-घात एवं प्रत्याख्यान नहीं करता। इस जीव (आत्मा)को भगवान् ने असंयत (संयमहीन), अविरत (हिंसा आदि से अनिवृत्त), पापकर्म का घात (नाश) और प्रत्याख्यान (त्याग) न किया हुआ, क्रियासहित, संवर-रहित, प्राणियों को एकान्त (सर्वथा) दंड देने वाला, एकान्तबाल, एकान्तसुप्त कहा है। मन, वचन, काया और वाक्य (की प्रवृत्ति) के विचार से रहित वह अज्ञानी, चाहे स्वप्न भी न देखता हो अर्थात् अत्यन्त अव्यक्त विज्ञान से युक्त हो, तो भी वह हिंसादि पापकर्म करता है।

{523}

तत्थ खलु भगवता छज्जीवनिकाया हेऊ पण्णत्ता, तंजहा-पुढविकाइया जाव तसकाइया। इच्चेतेहिं छहिं जीवनिकाएहिं आया अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे, तंजहा-पाणाइवाए जाव परिग्गहे, कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। आचार्य आह-तत्थ खलु भगवता वहए दिट्ठंते पण्णत्ते, से जहानामए वहए सिया गाहावतिस्स वा गाहावतिपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामि पहारेमाणे, से किं नु हु नाम से वहए तस्स वा गाहावतिस्स तस्स वा गाहावतिपुत्तस्स तस्स वा रण्णो तस्स वा रायपुरिसस्स खणं निदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामि पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे भवति? एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चायए-हंता भवति।

आचार्य आह-जहा से वहए वा गाहावतिस्स तस्स वा गाहावतिपुत्तस्स तस्स वा रण्णो तस्स वा रायपुरिसस्स खणं णिदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामीति पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे एवामेव बाले वि सव्वेसिं पाणाणं जाव सत्ताणं पिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे, तं. पाणाइवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले, एवं खलु भगवता अक्खाए अस्संजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते यावि भवति, से बाले अवियारमण-वयस-काय-वक्के सुविणमवि ण पस्सति, पावे य से कम्मे कज्जति। जहा वे वहए तस्स वा गाहावतिस्स जाव तस्स वा रायपुरिसस्स पत्तेयं पत्तेयं चित्त समादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे भवति, एवामेव बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं पत्तेयं पत्तेयं चित्त समादाए दिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते जाव चित्तदंडे भवइ।

(सू.कृ. 2/4/749)

इस विषय में तीर्थंकर भगवान् ने षट्जीवनिकाय कर्मबंध के हेतु के रूप में बताए हैं। वे षड्जीवनिकाय पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय पर्यंत हैं। इन छह प्रकार के जीवनिकाय के जीवों की हिंसा से उत्पन्न पाप को जिस आत्मा ने (तत्पश्चर्या आदि करके) नष्ट (प्रतिहत) नहीं किया, तथा भावी पाप को प्रत्याख्यान के द्वारा रोका नहीं, बल्कि सदैव

निष्ठुरतापूर्वक प्राणियों की घात में चित्त लगाए रखता है, और उन्हें दंड देता है तथा प्राणातिपात से लेकर परिग्रह-पर्यंत तथा क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक के पापस्थानों से निवृत्त नहीं होता है, (वह चाहे किसी भी अवस्था में हो, अवश्यमेव पापकर्म का बंध करता है, यह सत्य है)।

(इस सम्बन्ध में) आचार्य (प्ररूपक) पुनः कहते हैं- इसके विषय में भगवान् महावीर ने वधक (हत्यारे) का दृष्टान्त बताया है- कल्पना कीजिए-कोई हत्यारा हो, वह गृहपति की अथवा गृहपति के पुत्र की अथवा राजा की या राजपुरुष की हत्या करना चाहता है। (वह इसी ताक में रहता है कि) अवसर पाकर मैं घर में प्रवेश करूंगा और अवसर पाते ही (उस पर) प्रहार करके हत्या कर दूंगा। 'उस गृहपति की, या गृहपतिपुत्र की, अथवा राजा की या राजपुरुष की हत्या करने हेतु अवसर पाकर घर में प्रवेश करूंगा, और अवसर पाते ही प्रहार करके हत्या कर दूंगा;' इस प्रकार (सतत संकल्प-विकल्प करने और मन में निश्चय करने वाला) वह हत्यारा दिन को या रात को, सोते या जागते प्रतिक्षण इसी उधेड़बुन में रहता है, जो उन सबका अमित्र-(शत्रु) भूत है, उन सबसे मिथ्या (प्रतिकूल) व्यवहार करने में जुटा हुआ (संस्थित) है, जो दंड (हिंसक) रूपी चित्त में सदैव विविध प्रकार के निष्ठुरतापूर्वक घात का दुष्ट विचार रखता है, क्या ऐसा व्यक्ति उन पूर्वोक्त व्यक्तियों का हत्यारा कहा जा सकता है, या नहीं?

आचार्यश्री के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर प्रेरक (प्रश्नकर्ता शिष्य) समभाव (माध्यस्थ्य-भाव) के साथ कहता है- 'हां, पूज्यवर! ऐसा (पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट) पुरुष हत्यारा (हिंसक) ही है।' आचार्य ने (पूर्वोक्त दृष्टान्त को स्पष्ट करने हेतु) कहा- जैसे उस गृहपति या गृहपति के पुत्र को अथवा राजा या राजपुरुष को मारने का इच्छुक वह वधक पुरुष सोचता है कि मैं अवसर पा कर इसके मकान (या नगर) में प्रवेश करूंगा और मौका (या छिद्र अथवा सुराग) मिलते ही इस पर प्रहार कर दूंगा; ऐसे कुविचार से वह दिन-रात, सोते-जागते हरदम घात लगाए रहता है, सदा उनका शत्रु (अमित्र) बना रहता है, मिथ्या (गलत) कुकृत्य करने पर तुला हुआ है, विभिन्न प्रकार से उनके घात (दंड) के लिए नित्य शठतापूर्वक उसके दुष्टचित्त में लहर चलती रहती है (वह चाहे घात न कर सके, परंतु है वह घातक ही)। इसी तरह (अप्रत्याख्यानी) बाल (अज्ञानी) जीव भी समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्वों का दिन-रात, सोते या जागते सदा वैरी (अमित्र) बना रहता है, मिथ्याबुद्धि से ग्रस्त रहता है, उन जीवों और सत्त्वों का दिन-रात, सोते या जागते सदा वैरी (अमित्र) बना रहता है, मिथ्याबुद्धि से ग्रस्त रहता है, उन जीवों को नित्य निरन्तर

शठतापूर्वक हनन करने (दंड देने) की बात चित्त में जमाए रखता है, क्योंकि वह (अप्रत्याख्यानी बाल जीव) प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानों में ओतप्रोत रहता है। इसीलिए भगवान् ने ऐसे जीव के लिए कहा है कि वह असंयत, अविरत, पापकर्मों का (तप आदि से) नाश एवं प्रत्याख्यान न करने वाला, पापक्रिया से युक्त, संवररहित, एकान्त रूप से प्राणियों को दंड देने (हनन करने) वाला, सर्वथा बाल (अज्ञानी) एवं सर्वथा सुप्त भी होता है। वह अज्ञानी जीव चाहे मन, वचन, काया और वाक्य का विचार पूर्वक (पापकर्म में) प्रयोग न करता हो, भले ही वह (पापकर्म करने का) स्वप्न भी न देखता हो, यानी उसकी चेतना (ज्ञान) बिलकुल अस्पष्ट ही क्यों न हो, तो भी वह (अप्रत्याख्यानी होने के कारण) पापकर्म का बंध करता रहता है। जैसे वध का विचार करने वाला घातक पुरुष उस दुर्विचार चित्त में लिए हुए अहर्निश, सोते या जागते उसी धुन में रहता है, वह उनका (प्रत्येक का), शत्रु-सा बना रहता है, उसके दिमाग में धोखे देने के दुष्ट (मिथ्या) विचार घर किए रहते हैं, वह सदैव उनकी हत्या करने की धुन में रहता है, शठतापूर्वक प्राणि-दंड के दुष्ट विचार ही चित्त में किया करता है, उसी तरह (अप्रत्याख्यानी भी) समस्त प्राणों, भूतों-जीवों और सत्त्वों के, प्रत्येक के प्रति चित्त में निरन्तर हिंसा के भाव रखने वाला और प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के 18 ही पापस्थानों से अविरत, अज्ञानी जीव दिन-रात, सोते या जागते सदैव उन प्राणियों का शत्रु-सा बना रहता है, उन्हें धोखे से मारने का दुष्ट विचार करता है, एवं नित्य उन जीवों के शठतापूर्वक (दंड) घात की बात चित्त में घोटता रहता है। स्पष्ट है कि ऐसे अज्ञानी जीव जब तक प्रत्याख्यान नहीं करते, तब तक वे पापकर्म से जरा भी विरत नहीं होते, इसलिए उनके पापकर्म का बंध होता रहता है।

{524}

जे इमे सण्णिपंचिंदिया पज्जत्तगा एतेसिं णं छज्जीवनिकाए पडुच्च तं.- पुढविकायं जाव तसकायं, से एगतिओ पुढविकाएण किच्चं करेति वि कारवेति वि, तस्स णं एवं भवति-एवं खलु अहं पुढविकाएणं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवति इमेण वा इमेण वा, से य तेणं पुढविकाएणं किच्चं करेइ वा कारवेइ वा, से य ताओ पुढविकायातो असंजयअविरयअपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति, एवं जाव तसकायातो त्ति भाणियव्वं, से एगतिओ छहिं जीवनिकाएहिं किच्चं करेति वि कारवेति वि, तस्स णं एवं भवति-एवं खलु छहिं जीवनिकाएहिं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवति-इमेहिं वा इमेहिं वा, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं जाव कारवेति वि, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं असंजय-

अविरय-अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, तं. पाणातिवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले, एस खलु भगवता अक्खाते असंजते अविरते अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सुविणमवि अपस्सतो पावे य कम्मे से कज्जति।...............जे इमे असण्णिणो पाणा, तं. पुढविकाइया जाव वणस्सतिकाइया छट्ठा वेगतिया तसा पाणा, जेसिं णो तक्का ति वा सण्णा ति वा पण्णाइ वा मणो ति वा वई ति वा सयं वा करणाए अण्णेहिं वा कारवेत्तए करेंतं वा समणुजाणित्तए ते वि णं बाला सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूता मिच्छासंठिता निच्चं पसढविओवात चित्तदंडा, तं. पाणातिवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले, इच्चेवं जाण, णो चेव मणो णो चेव वई पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणताए सोयणताए जूरणताए तिप्पणताए पिट्टणताए परितप्पणताए ते दुक्खण-सोयण जाव परितप्पण-वह-बंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरता भवंति। इति खलु ते असण्णिणो वि संता अहोनिसं पाणातिवाते उवक्खाइज्जंति जाव अहोनिसं परिग्गहे उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति।

(सू.कृ. 2/4/751)

(संज्ञि-दृष्टान्त) जो ये प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव हैं, इनमें पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक षड्जीवनिकाय के जीवों में से यदि कोई पुरुष पृथ्वीकाय से ही अपना आहारादि कृत्य करता है, कराता है, तो उसके मन में ऐसा विचार होता है कि मैं पृथ्वीकाय से अपना कार्य करता भी हूं और कराता भी हूं (या अनुमोदन करता हूं), उसे उस समय ऐसा विचार नहीं होता (या उसके विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है) कि वह इस या इस (अमुक) पृथ्वी (काय) से ही कार्य करता है, कराता है, संपूर्ण पृथ्वी से नहीं। (उसके सम्बन्ध में यही कहा जाता है कि) वह पृथ्वीकाय से ही कार्य करता है और कराता है। इसलिए वह व्यक्ति पृथ्वीकाय का असंयमी, उससे अविरत, तथा उसकी हिंसा का प्रतिघात (नाश) और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है। इसी प्रकार त्रसकाय तक के जीवों के विषय में कहना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति छहकाया के जीवों से कार्य करता है, कराता भी है, तो वह यही विचार करता (या कहता) है कि मैं छह काया के जीवों से कार्य करता हूं कराता भी हूं। उस व्यक्ति को ऐसा विचार नहीं होता, (या उसके विषय में ऐसा नहीं कहा जाता) कि वह इन या इन (अमुक-अमुक) जीवों से ही कार्य करता और कराता है, (सबसे नहीं); क्योंकि वह सामान्य रूप से उन छहों जीवनिकायों से कार्य करता है और

कराता भी है। इस कारण (यही कहा जाता है कि वह प्राणी उन छहों जीवनिकायों के जीवों की हिंसा से असंयत, अविरत है और उनकी हिंसा आदि से जनित पापकार्यों का प्रतिघात और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है।) वह प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के सभी पापों का सेवन करता है। तीर्थंकर भगवान् ने ऐसे प्राणी को असंयत, अविरत, पापकर्मों का (तप आदि से) नाश तथा प्रत्याख्यान से निरोध न करने वाला कहा है। चाहे वह प्राणी स्वप्न भी न देखता हो, अर्थात्- अव्यक्तचेतनाशील हो, तो भी वह पापकर्म (का बंध) करता है।

(असंज्ञि-दृष्टान्त)'पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर वनस्पति-कायिक जीवों तक पांच स्थावर एवं छठे जो त्रससंज्ञक अमनस्क जीव हैं, वे असंज्ञी हैं, जिनमें न तर्क है, न संज्ञा है न प्रज्ञा (बुद्धि) है, न मन (मनन करने का साधन) है, न वाणी है और जो न तो स्वयं कर सकते हैं और न ही दूसरे से करा सकते हैं, और न करते हुए को अच्छा समझ सकते हैं; तथापि वे अज्ञानी प्राणी भी समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के दिन-रात सोते या जागते हर समय शत्रु-से बने रहते हैं, उन्हें धोखा देने में तत्पर रहते हैं, उनके प्रति सदैव हिंसात्मक (भावमनोरूप-) चित्तवृत्ति रखते हैं, इसी कारण वे प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह ही पाप स्थानों में सदा लिप्त रहते हैं। इस प्रकार यद्यपि असंज्ञी जीवों के मन (द्रव्यमन) नहीं होता, और न ही वाणी होती है, तथापि वे (अप्रत्याख्यानी होने से) समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दुःख देने, शोक उत्पन्न करने, विलाप कराने, रुलाने, पीड़ा देने, वध करने, तथा परिताप देने अथवा उन्हें एक ही साथ (सामूहिक रूप से) दुःख, शोक, विलाप, रुदन, पीड़न, संताप, वध-बंधन, परिक्लेश आदि करने से विरत नहीं होते, अपितु पापकर्म में सदा रत रहते हैं। इस प्रकार वे प्राणी असंज्ञी होते हुए भी अहर्निश प्राणातिपात में प्रवृत्त कहे जाते हैं, तथा मृषावाद आदि से लेकर परिग्रह तक में तथा मिथ्यादर्शन शल्य तक के समस्त पापस्थानों में प्रवृत्त कहे जाते हैं।

सव्वजोणिया वि खलु सत्ता सण्णिणो होच्चा असण्णियो होंति, असण्णिणो होच्चा सण्णिणो होंति, होज्ज सण्णी अदुवा असण्णी, तत्थ से अविविंचिया अविधूणिया असमुच्छिया अण्णुताविया सण्णिकायाओ सण्णिकायं संकमंति 1, सण्णिकायाओ वा असण्णिकायं संकमंति 2, असण्णिकायाओ वा सण्णिकायं संकमंति 3, असण्णिकायाओ वा असण्णिकायं संकमंति 4। जे एते सण्णी वा असण्णी वा सव्वे ते मिच्छायारा निच्चं पसढविओवातचित्तदंडा, तं. पाणातिवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले। एवं खलु भगवता अक्खाते असंजए अविरए अप्पडिहयपच्च-क्खयपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमण-वसय-काय-वक्के, सुविणमवि अपासओ पावे य से कम्मे कज्जति।

(सू.कृ. 2/4/752)

सभी योनियों के प्राणी निश्चित रूप से संज्ञी होकर असंज्ञी (पर्याय में उत्पन्न) हो जाते हैं, तथा असंज्ञी होकर संज्ञी (पर्याय में उत्पन्न) हो जाते हैं। वे संज्ञी या असंज्ञी होकर यहां पापकर्मों को अपने से अलग (पृथक्) न करके, तथा उन्हें न झाड़ कर (तप आदि से उनकी निर्जरा न करके), (प्रायश्चित्त आदि से) उनका उच्छेद न करके तथा (आलोचना-निन्दना-गर्हणा आदि से) उनके लिए पश्चात्ताप न करके वे संज्ञी के शरीर से संज्ञी के शरीर में आते (जन्म लेते) हैं, अथवा संज्ञी के शरीर से असंज्ञी के शरीर में संक्रमण करते (आते) हैं, अथवा असंज्ञीकाय से संज्ञीकाय में संक्रमण करते हैं अथवा असंज्ञी की काया से असंज्ञी की काया में आते (संक्रमण करते) हैं।

जो ये संज्ञी अथवा असंज्ञी प्राणी होते हैं, वे सब मिथ्याचारी और सदैव शठतापूर्वक हिंसात्मक चित्तवृत्ति धारण करते हैं। इसी कारण से ही भगवान् महावीर ने इन्हें असंयत, अविरत, पापों का प्रतिघात (नाश) और प्रत्याख्यान न करने वाले, अशुभक्रियायुक्त, संवररहित, एकान्त हिंसक (प्राणियों को दंड देने वाले), एकान्तबाल (अज्ञानी) और एकान्त (भावनिद्रा)सुप्त कहा है। वह अज्ञानी (अप्रत्याख्यानी) जीव भले ही मन, वचन, काया और वाक्य का प्रयोग विचारपूर्वक न करता हो, तथा (हिंसा का) स्वप्न भी न देखता हो,- (अव्यक्तविज्ञानयुक्त हो) फिर भी पापकर्म (का बंध) करता रहता है।

[असंज्ञी-संज्ञी दोनों प्रकार अप्रत्याख्यानी प्राणी सदैव पापरत- उपर्युक्त सूत्रों में शास्त्रकार ने प्रत्याख्यानरहित सभी प्रकार के प्राणियों को सदैव पापकर्म बंध होते रहने का सिद्धान्त दृष्टान्तपूर्वक यथार्थ सिद्ध किया। इस त्रिसूत्री में से प्रथम सूत्र में प्रथम सूत्र में प्रश्न उठाया है, जिसका उक्त सूत्रों द्वारा समाधान किया गया है।

प्रेरक द्वारा नए पहलू से उठाया गया प्रश्न- सभी अप्रत्याख्यानी जीव सभी प्राणियों के शत्रु हैं, यह कथन युक्तिसंगत नहीं जंचता; क्योंकि संसार में ऐसे बहुत से प्राणी हैं, जो देश, काल एवं स्वभाव से अत्यन्त दूर, अतिसूक्ष्म एवं सर्वथा अपरिचित हैं, न तो वे आंखों से देखने में आते हैं, न ही कानों से उनके नाम सुनने में आते हैं, न वे इष्ट होते हैं, न ज्ञात होते हैं। अतः उनके साथ कोई सम्बन्ध या व्यवहार न रहने से किसी भी प्राणी की चित्तवृत्ति उन प्राणियों के प्रति हिंसात्मक कैसी बनी रह सकती है? इस दृष्टि से अप्रत्याख्यानी जीव समस्त प्राणियों का घातक कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार जो प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक के पापों के विषय में सर्वथा अज्ञात हैं, वे उन पापों से कैसे लिप्त हो सकते हैं?

यथार्थ समाधान- दो दृष्टान्तों द्वारा- जो प्राणी जिस प्राणी की हिंसा से निवृत्त नहीं, वह वध्य प्राणी भले ही देश-काल से दूर, सूक्ष्म, अज्ञात एवं अपरिचित हो; तो भी, अप्रत्याख्यानी प्राणी उसका घातक ही कहा जाएगा। उसकी चित्तवृत्ति उनके प्रति हिंसक ही है। इसी प्रकार जो हिंसादि पापों से विरत नहीं, वह चाहे उन पापों से अज्ञात हो, फिर भी अविरत कहलाएगा, इसलिए उसके उन सब पापकर्मों का बंध होता रहेगा। ग्रामघातक व्यक्ति ग्राम से दूर चले गए प्राणियों का भले ही घात न कर पाए, किंतु है वह उनका घातक ही, क्योंकि उसकी इच्छा समग्र ग्राम के घात की है। अतः अप्रत्याख्यानी प्राणी ज्ञात-अज्ञात सभी प्राणियों का हिंसक है, समस्त पापों में लिप्त है, भले ही वह 18 पापस्थानों में से एक पाप करता हो।

प्रथम दृष्टान्त- एक संज्ञी प्राणी है, उसने पृथ्वीकाय से अपना कार्य करना निश्चित किया है। शेष सब कार्यों के आरम्भ का त्याग कर दिया है। यद्यपि वह पृथ्वीकाय में भी देश-काल से दूरवर्ती समग्र पृथ्वीकाय का आरम्भ नहीं करता, एक देशवर्ती अमुक पृथ्वीविशेष का ही आरम्भ करता है, किंतु उसके पृथ्वीकाय के आरम्भ या घात का प्रत्याख्यान न होने से समग्र पृथ्वीकाय की हिंसा (आरम्भ) का पाप लगता है, वह अमुक दूरवर्ती पृथ्वीकाय का अनारम्भक या अघातक नहीं, आरम्भक एवं घातक ही कहा जाएगा। इसी प्रकार, जिस संज्ञी जीव ने छहों काया के प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान नहीं किया है, वह अमुक काय के जीव की या देश-काल से दूरवर्ती प्राणियों की हिंसा न करता हुआ भी प्रत्याख्यान न होने से षट्कायिक जीवों का हिंसक या घातक ही है। इसी प्रकार 18 पापस्थानों का प्रत्याख्यान न करने पर उसे 18 ही पाप- स्थानों का कर्त्ता माना जाएगा, भले ही वह उन पापों को मन, वचन व काय से समझ बूझ कर न करता हो।

दूसरा दृष्टान्त- असंज्ञी प्राणियों का है- पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक तथा कोई-कोई त्रसकाय (द्वीन्द्रिय आदि) तक के जीव असंज्ञी भी होते हैं, वे सम्यग्ज्ञान, विशिष्ट चेतना, या द्रव्य मन से रहित होते हैं। ये सुप्त, प्रमत्त या मूर्च्छित के समान होते हैं। इनमें तर्क, संज्ञा, प्रज्ञा, वस्तु की आलोचना कर पहचान करने, मनन करने, शब्दों का स्पष्ट उच्चारण करने तथा शरीर से स्वयं करने, कराने या अनुमोदन करने की शक्ति नहीं होती, इनमें मन, वचन, काय का विशिष्ट व्यापार नहीं होता। फिर भी ये असंज्ञी प्राणी प्राणि-हिंसा एवं अठारह पापस्थानों का प्रत्याख्यान न होने से दूसरे प्राणियों के घात की योग्यता रखते हैं, दूरवर्ती प्राणियों के प्रति भी हिंसात्मक दुष्ट आशय इनमें रहता है, ये प्राणियों को दुःख, शोक, संताप एवं पीड़ा उत्पन्न करने से विरत नहीं कहे जा सकते। पाप से विरत न होने से ये सतत अठारह ही पापस्थानों में लिप्त या प्रवृत्त कहे जाते हैं।

निष्कर्ष- यह है कि प्राणी चाहे संज्ञी हो या असंज्ञी, जो प्रत्याख्यानी नहीं है, वह चाहे जैसी अवस्था में हो, वध्य प्राणी चाहे देशकाल से दूर हो, चाहे वह (वधक) प्राणी स्वयं किसी भी स्थिति में मन-वचन-काया से किसी भी प्राणी की घात न कर सकता हो, स्वप्न में भी घात की कल्पना न आती हो, सुषुप्त चेतनाशील हो या मूर्च्छित हो, तो भी सब प्राणियों के प्रति दुष्ट आशय होने से तथा अठारह पापस्थानों से निवृत्त न होने से, उसके सतत पापकर्म का बंध होता रहता है।]

○ हिंसा के प्रेरक: अप्रशस्त कषाय भाव

{526}

कषायास्तु क्रोधादयः कषायन्ति हृदयम्। अथवा दुःखकारणासद्वेद्यार्जननिमित्तत्वात् दुःखवहाः। इन्द्रियकषायवशगो जीवान् हिनस्ति। दुःखकरणेन वाऽस्रवत्यसद्वेद्यम् , इति। यत एव दुःखावहा अतएव भीमाः।

(भग. आ. विजयो. 1310)

क्रोधादि कषाय हृदय को संताप पहुंचाती हैं। जो इन्द्रिय और कषाय के वश में होता है, वह जीवों का घात करता है। जीवों को दुःख देने से उसके असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है, और चूंकि ये इन्द्रिय तथा कषाय दुःखदायी हैं, अतएव ये भयंकर हैं।

{527}

कषायोन्मत्तो यथा पापं करोति, (पित्तोन्मत्तः) तथाभूतं न करोति। एकैकोऽपि क्रोधादिः हिंसादिषु प्रवर्तयति। कर्मणां स्थितिबन्धं दीर्घीकरोति। विवेकज्ञानमेव तिरस्करोति पित्तोन्मादः। ततोऽनयोर्महदन्तरम् इति भावः।

(भग. आ. विजयो. 1325)

कषाय के कारण उन्मत्त पुरुष जैसा पाप करता है, पित्त से उन्मत्त वैसा पाप नहीं करता। एक-एक भी क्रोधादि कषाय हिंसा आदि में प्रवृत्त करता है। कर्मों के स्थितिबन्ध को बढ़ाता है। किन्तु पित्त से हुआ उन्माद केवल विवेकमूल के ज्ञान का ही तिरस्कार करता है। इसलिए इन दोनों में बहुत अन्तर है।

{528}

सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादव्वा।
माणेण चेव मेधुणहिंसालियचोज्जमाचरदि॥

(भग. आ. 1372)

जो क्रोध के दोष कहे गये हैं, वे सब दोष मान कषाय के भी जानना। मान के कारण मनुष्य हिंसा, असत्य बोलना, चोरी और मैथुन में प्रवृत्ति करता है।

{529}

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा।
कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होंति॥

(भग. आ.1381)

जहां मायाचार है, वहां क्रोध, मान लोभ भी रहते हैं। क्रोध, मान और लोभ से उत्पन्न होने वाले सब दोष मायाचारी में होते हैं।

{530}

स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन्।
व्यापाद्य विगतशूको लोभार्तो वित्तमादत्ते॥

(ज्ञा. 18/107/1005)

लोभ से पीड़ित मनुष्य धन की प्राप्ति हेतु निर्दय होकर स्वामी, गुरु, बन्धु, वृद्ध, स्त्री बालक, दुर्बल, और दरिद्र (या दु:खी) आदि प्राणियों का भी घात करता है।

{531}

आकरः सर्वदोषाणां गुणग्रसनराक्षसः।
कन्दो व्यसनवल्लीनां लोभः सर्वार्थबाधकः॥

(है. योग. 4/18)

जैसे लोहा आदि सब धातुओं का उत्पत्तिस्थान खान है,वैसे ही प्राणातिपात आदि समस्त दोषों की खान लोभ है। यह ज्ञानादि गुणों को निगल जाने वाला राक्षस है, व्यसन/संकट रूपी बेलों का कंद (मूल) है। वस्तुतः लोभ धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप समस्त अर्थों-पुरुषार्थों में बाधक है।

{532}

सव्वे वि गंथदोसा लोभकसायस्स हुंति णादव्वा।
लोभे चेव मेहुणहिंसालियचोज्जमाचरदि॥

(भग. आ.1387)

परिग्रह के जो दोष कहे गये हैं, वे सब दोष लोभकषाय वाले के अथवा लोभ नामक कषाय के जानना। लोभ से ही मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी और स्त्री-सेवन करता है। अतः समस्त पाप- क्रियाओं का प्रथम कारण लोभ है।

{533}

पासम्मि बहिणिमायं, सिसुंपि हणेइ कोहंधो।

(वसु. श्रा. 67)

क्रोध में अंधा हुआ मनुष्य, पास में खड़ी मां, बहिन और बच्चे को भी मारने लग जाता है।

{534}

कोवेण रक्खसो वा, णराण भीमो णरो हवदि।

(भग.आ. 1355)

कुद्ध मनुष्य राक्षस की तरह भयंकर बन जाता है।

{535}

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाऽशुभम्।

(ज्ञा. 16/11/831)

परिग्रह से विषयवांछा उत्पन्न होती है, फिर उस विषय-वांछा से क्रोध, उस क्रोध से हिंसा और उसके फल स्वरूप हिंसक प्रवृत्तियों का उदय होता है।

{536}

तत्रोपतापकः क्रोधः, क्रोधो वैरस्य कारणम्।
दुर्गतेर्वर्तनी क्रोधः, क्रोधः शम-सुखार्गला॥

(है. योग. 4/9)

क्रोध, मान, माया, लोभ- इन चारों कषायों में भी, प्रथम कषाय क्रोध शरीर और मन दोनों को संताप देता है; क्रोध वैर का कारण है, क्रोध दुर्गति की पगदंडी है और क्रोध ही प्रशमसुख को रोकने के लिए अर्गला के समान है।

{537}

उत्पद्यमानः प्रथमं दहत्येव स्वमाश्रयम्।
क्रोधः कृशानुवत् पश्चादन्यं दहति वा न वा।।

(है. योग. 4/10)

किसी प्रकार का निमित्त पाकर क्रोध उत्पन्न होते ही सर्वप्रथम आग की तरह अपने आश्रयस्थान (जिसमें वह उत्पन्न होता है, उसी) को ही जलाता है। बाद में अग्नि की तरह दूसरे को जलाए, चाहे न भी जलाए।

{538}

हिंसनं साहसं द्रोहः पौरोभाग्यार्थदूषणे।
ईर्ष्या वाग्दण्डपारुष्ये कोपजः स्याद्गणोऽष्टधा॥

(उपासका. 31/420)

हिंसा, साहस, मित्रादि के साथ द्रोह, (पौरोभाग्य) दूसरों के दोष देखने का स्वभाव, अर्थदोष अर्थात् न ग्रहण करने योग्य धन का ग्रहण करना और देयधन को न देना, ईर्ष्या, कठोर वचन बोलना और कठोर दण्ड देना- ये आठ क्रोध के अनुचर हैं।

{539}

जह कोइ तत्तलोहं गहाय रुट्ठो परं हणामित्ति।
पुव्वदरं सो डज्झदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो॥
तध रोसेण सयं पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव।
अण्णस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्ज॥

(भग. आ. 1356-57)

जैसे कोई पुरुष रुष्ट होकर दूसरे का घात करने के लिए तपा लोहा उठाता है। ऐसा करने से दूसरा उससे जले या न जले, पहले वह स्वयं तो जलता ही है। उसी प्रकार पिघले हुए लोहे की तरह क्रोध से पहले वह (क्रोधी) स्वयं जलता है, दूसरे को वह दुःखी कर पाए या न कर पाए।

{540}

हिंसं अलियं चोज्जं आचरदि जणस्स रोसदोसेण।
तो ते सव्वे हिंसालियादि दोसा भवे तस्स॥

(भग. आ. 1367)

क्रोध के कारण मनुष्य लोगों की हिंसा करता है, उनके सम्बन्ध में झूठ बोलता है, चोरी करता है। अत: उस (क्रोधी) में हिंसा, झूठ आदि सब दोष होते हैं।

{541}

कुद्धो वि अप्पसत्थं मरणे पत्थेइ परवधादीयं।
जह उग्गसेणघादे कदं णिदाणं वसिट्ठेण॥

(भग. आ. 1212)

क्रोध कषाय के वश होकर कोई मरते समय भी दूसरे का वध करने की प्रार्थना करता है। जैसे वशिष्ठ ऋषि ने उग्रसेन का घात करने का निदान किया था।

[विशेषार्थ–वशिष्ठ तापस ने उग्रसेन को मारने का निदान किया था। इस निदान के फल से वह मर कर उग्रसेन का पुत्र कंस हुआ। उसने पिता को जेल में डाल कर राज्यपद प्राप्त किया। बाद में कृष्ण के द्वारा स्वयं भी मारा गया।]

O अहिंसात्मक प्रशम भाव या क्षमा: क्रोध की एकमात्र चिकित्सा

{542}

पयईइ व कम्माणं वियाणिउं वा विवागमसुहं ति।
अवरद्धे वि न कुप्पइ उवसमओ सव्वकालं पि॥

(श्रा.प्र. 55)

सम्यक्त्व से विभूषित जीव उपशम (प्रशम) के आश्रय से स्वभावत: अथवा कर्मों के अशुभ विपाक को जान कर सदा अपराधी प्राणी के ऊपर भी क्रोध नहीं किया करता है।

{543}

स एव प्रशम: श्लाध्य: स च श्रेयोनिबन्धनम्।
अदयैर्हन्तुकामैर्यो न पुंसां कश्मलीकृत:॥

(ज्ञा. 18/73/964)

मनुष्यों का वही प्रशमभाव प्रशंसनीय है और वही मोक्ष का भी कारण है जो कि प्राणघात के इच्छुक दुष्टजनों के द्वारा मलिन नहीं किया जाता है।

[अभिप्राय यह है कि हिंसा -अनुरागी दुष्ट व्यक्तियों में यह प्रशम भाव संभव नहीं है।]

{544}

क्रोधवह्नेः क्षमैकेयं प्रशान्तौ जलवाहिनी।
उद्दामसंयमारामवृतिर्वाऽत्यन्तनिर्भरा ॥

(ज्ञा. 18/49/939)

क्रोधरूप अग्नि को शान्त करने के लिए यह क्षमा अनुपम नदी के समान है तथा वह उत्कृष्ट संयमरूप उद्यान की अतिशय दृढ़ 'वृत्ति' (कांटों आदि से निर्मित खेत की बाड़) है।

{545}

जितात्मानो जयन्ति क्ष्मां क्षमया हि जिगीषवः।

(आ.पु. 34/76)

अपकार करने वाले इस क्रोध से दूर रहिए, क्योंकि जीत की इच्छा रखने वाले जितेन्द्रिय पुरुष केवल क्षमा के द्वारा ही पृथिवी को जीतते हैं।

{546}

पावं खमइ असेसं, खमाय पडिमंडिओ य मुणिपवरो।

(भा.पा. 108)

जो मुनिप्रवर क्रोध के अभावरूप क्षमा से मंडित है, वह समस्त पाप-कर्मों को अवश्य क्षय करता है।

{547}

कोहविजएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

कोहविजएणं खन्तिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

(उत्त. 29/सू.68)

भन्ते! क्रोध-विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है?

(उत्तर-)क्रोध-विजय से जीव क्षमा को प्राप्त होता है, क्रोध-वेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता है, और पूर्व-बद्ध कर्मों की निर्जरा भी करता है।

{548}

हओ न संजले भिक्खू मणं पि न पओसए।
तितिक्खं परमं नच्चा भिक्खु-धम्मं विचिंतए॥

(उत्त. 2/26)

मारे-पीटे जाने पर भी भिक्षु क्रोध न करे। और तो क्या, दुर्भावना से भी मन को दूषित न करे। तितिक्षा-क्षमा को साधना का श्रेष्ठ अंग जान कर मुनिधर्म का चिन्तन करे।

{549}

क्षमया मृदुभावेन, ऋजुत्वेनाऽप्यनीहया।
क्रोधं मानं तथा मायां, लोभं रुन्ध्याद् यथाक्रमम्॥

(है. योग. 4/82)

संयम-प्राप्ति के लिए प्रयन्न करने वाला योगी क्षमा से क्रोध को, नम्रता से मान को, सरलता से माया को और संतोष से लोभ को रोके।

{550}

शमाम्बुभिः क्रोधशिखी निवार्यतां नियम्यतां मानमुदारमार्दवैः।

(ज्ञा. 18/109/1007)

हे मुनीन्द्र! शम (क्रोध का निग्रह-क्षमा) रूप जल से क्रोधरूपी अग्नि का निवारण करना चाहिए, मृदुतापूर्ण व्यवहार से महान् मान का निग्रह करना चाहिए।

{551}

क्षान्त्या क्रोधो, मृदुत्वेन मानो, मायाऽऽर्जवेन च।
लोभश्चानीहया, जेयाः कषायाः इति संग्रहः॥

(है. योग. 4/23)

क्रोध को क्षमा से, मान को नम्रता से, माया को सरलता से, और लोभ को निःस्पृहता=संतोष से जीते। इस प्रकार चारों कषायों पर विजय प्राप्त करना चाहिए; यह समुच्चयरूप में निचोड़ है।

{552}

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए॥

(नि.सा. 115)

क्रोध को क्षमा से, मान को स्वकीय मार्दव धर्म से, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से, इस तरह चारों कषायों को ज्ञानी जीव निश्चय से जीतता है।

O **अहिंसात्मक प्रशस्त चिन्तनः क्षमा भाव का परिणाम**

{553}

आक्रुष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृतः।
मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना॥

(ज्ञा. 18/53/943)

(यदि कोई अपशब्द कहता है-गाली देता है- तो मुनि उस समय यह विचार करते हैं कि) मेरे लिए इसने अपशब्द ही तो कहे हैं, मुझे मारा तो नहीं । यदि वह कदाचित् मारने भी लग जावे तो वे विचार करते हैं कि इसने मुझे मारा ही तो है, मेरे दो टुकड़े तो नहीं किये- प्राणाघात तो नहीं किया। कदाचित् वह प्राणों के घात में ही प्रवृत्त हो जाता है तो वे सोचते हैं कि इसने मेरे शरीर का ही घात किया है, मेरे धर्म का तो कुछ घात नहीं किया- उसका तो उसने संरक्षण ही किया है; (अतएव वह मेरा बन्धु (हितैषी) ही हुआ। फिर भला उसके ऊपर क्रोध करना कहां तक उचित है?)

{554}

यदि वाक्कण्टकैर्विद्धो नावलम्बे क्षमामहम्।
ममाप्याक्रोशकादस्मात् को विशेषस्तदा भवेत्॥

(ज्ञा. 18/62/952)

(किसी के द्वारा अपशब्द कहे जाने पर मुनि विचार करते हैं कि) यदि वचनरूप कांटों से विद्ध होकर मैं क्षमा का आश्रय नहीं लेता हूं-क्रोध को प्राप्त होता हूं- तो फिर मुझ में इस गाली देने वाले की अपेक्षा विशेषता ही क्या रहेगी? कुछ भी नहीं-मैं भी उसी के समान हो जाऊंगा।

{555}

न चेदयं मां दुरितैः प्रकम्पयेदहं यतेयं प्रशमाय नाधिकम्।
अतोऽतिलाभोऽयमिति प्रतर्कयन् विचाररूढा हि भवन्ति निश्चला:॥

(ज्ञा. 18/68/959)

(दुर्व्यवहार करने वाले अपराधी के प्रति मुनि का यह चिन्तन होता है-) यदि यह मुझे पापों से कम्पायमान नहीं करता तो- 'यह पूर्वकृत अशुभ कर्म का फल है-' इस विचार को उत्पन्न नहीं करता। अथवा वध-बन्धनादिरूप दुर्व्यवहारों से मुझे यदि क्षुब्ध नहीं करता- तो मैं राग-द्वेष की शान्ति के लिए अधिक प्रयत्न नहीं कर सकता था। यह मेरे लिए बड़ा भारी लाभ है। इस प्रकार विचार करता हुआ साधु क्रोधादि विकारों को जीतता है। ठीक है- जो मनुष्य विचार-शील-होते हैं वे अपने कार्य में- लक्ष्य में दृढ़ रहा करते हैं।

{556}

यदि प्रशमसीमानं भित्त्वा रुष्यामि शत्रवे।
उपयोग: कदाऽस्य स्यात्तदा मे ज्ञानचक्षुषः॥
अयत्नेनापि सैवेयं संजाता कर्मनिर्जरा।
चित्रोपायैर्ममानेन यत्कृता भर्त्स्यर्यातना॥

(ज्ञा. 18/65-66/955-56)

यदि मैं इस समय शान्ति की मर्यादा को लांघ कर शत्रु के ऊपर क्रोध करता हूं तो फिर मेरे इस ज्ञानरूप नेत्र का उपयोग कब हो सकता है? इसने अनेक प्रकार के उपायों द्वारा जो मुझे निन्दा के साथ पीड़ा दी है, वही यह अनायास मेरी कर्मनिर्जरा का कारण हुई है- उससे मेरे पूर्वकृत कर्म की निर्जरा ही हुई है; यह इसने मेरा बड़ा उपकार किया है।

[विशेषार्थ- अभिप्राय यह है कि किसी के द्वारा अनिष्ट किये जाने पर साधु यह विचार करता है कि मुझे जो विवेक-बुद्धि प्राप्त है उससे यह विचार करने का यही सुअवसर है कि संसार में मेरा कोई भी शत्रु व मित्र नहीं है। यदि कोई वास्तविक शत्रु है तो वह मेरा ही पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म है और उसे यह वधबन्धनादि के द्वारा मुझसे पृथक् कर रहा है-उसकी निर्जरा का कारण बन रहा है। अतएव ऐसे उपकारी के ऊपर क्रोध करने से मेरी अज्ञानता ही प्रमाणित होगी। ऐसा सोच कर वह क्रोध के ऊपर विजय प्राप्त करता है।]

{557}

अस्य हानिर्ममात्मार्थसिद्धिः स्यान्नात्र संशयः।
हतो यदि न रुष्यामि रोषश्चेद् व्यत्ययस्तदा॥

(ज्ञा. 18/70/961)

यदि इसके द्वारा पीड़ित होकर मैं क्रोध नहीं करता हूं तो इसकी हानि (पापबन्ध) और मेरा आत्मप्रयोजन ही सिद्ध होता है, परन्तु यदि मैं उसके ऊपर क्रोध करता हूं तो उससे विपरीत अवस्था होती है-उसका भला न भी हो, परन्तु मेरी हानि (दुर्गति) निश्चित है- इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

{558}

प्राणात्ययेऽपि संपन्ने प्रत्यनीकप्रतिक्रिया।
मता सद्भिः स्वसिद्ध्यर्थं क्षमैका स्वस्थचेतसाम्॥

(ज्ञा. 18/71/962)

प्राणों के नष्ट होने पर भी शान्तचित्त साधुजनों की प्रतिकूल प्रतिक्रिया (प्रतीकार) एक क्षमा ही है, जो आत्मसिद्धिका कारण है। इसलिए वह सत्पुरुषों को विशेष अभीष्ट है।

{559}

इयं निकषभूरद्य संपन्ना पुण्ययोगतः।
समत्वं किं प्रपन्नोऽस्मि न वेत्यद्य परीक्ष्यते॥

(ज्ञा. 18/72/963)

आज यह (वध-बन्धनादिरूप बाधा प्राप्त हुई है, वह तो) पुण्य-योग है जिसके कारण मुझे यह अवसर मिल पाया है कि मैं अपने को कसौटी पर कस सकूं। मैं क्या समताभाव को- राग-द्वेष से रहित अवस्था को- प्राप्त हो चुका हूं अथवा नहीं, इसकी परीक्षा करने का यह सुअवसर प्राप्त हुआ है।

[अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शाणोपल (कसौटी) पर कस कर सुवर्ण के खरे-खोटेपन की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार इन उपद्रवों के द्वारा मेरी क्षमाशीलता की भी परीक्षा की जा रही है। यदि मैं क्रोध को प्राप्त होकर इस समय इस परीक्षा में असफल हो जाता हूं तो अब तक का मेरा वह सब परिश्रम व्यर्थ हो जावेगा। यह विचार करके साधु प्राप्त हुए उपद्रव को शान्तिपूर्वक सहता है।]

{560}

क्रोधवह्नेस्तदह्नाय शमनाय शुभात्मभिः।
श्रयणीया क्षमैकैव संयमारामसारणिः॥

(है. योग. 4/11)

उत्तम आत्मा को चाहिए कि वह क्रोधरूपी अग्नि को तत्काल शांत करने के लिए एकमात्र क्षमा का ही आश्रय ले। क्षमा ही क्रोधाग्नि को शांत कर सकती है। क्षमा संयम रूपी उद्यान को हराभरा बनाने के लिए क्यारी है।

{561}

सुयणो न कुप्पइ च्चिय अह कुप्पइ मंगुलं न चिंतेइ।
अह चिंतेइ न जंपइ अह जंपइ लिज्जरो होइ॥

(वज्जालग्ग 4/3)

सज्जन क्रोध ही नहीं करता है, यदि करता है तो अमंगल नहीं सोचता, यदि सोचता है तो कहता नहीं और यदि कहता है तो लज्जित हो जाता है।

{562}

खमावणयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाण-भूय-जीवसत्ते सु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काउण निब्भए भवइ॥

(उत्त. 29/सू.18)

भन्ते! क्षामणा (क्षमापना) करने से जीव को क्या प्राप्त होता है?

(उत्तर-) क्षमापना करने से जीव प्रह्लाद भाव (चित्तप्रसत्तिरूप मानसिक प्रसन्नता) को प्राप्त होता है। प्रह्लाद भाव से सम्पन्न साधक सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के साथ मैत्रीभाव को प्राप्त होता है। मैत्रीभाव को प्राप्त जीव भाव-विशुद्धि कर निर्भय होता है।

{563}

जो धम्मत्थो जीवो सो रिउ-वग्गे वि कुणइ खम-भावं।
ता पर-दव्वं वज्जइ जणणि-समं गणइ पर-दारं॥

(स्वा. कार्ति. 12/429)

धर्मात्मा जीव अपने मित्र वगैरह स्वजनों की तो बात ही क्या, अपने शत्रुओं पर भी क्रोध नहीं करता। वह पराये रत्न, सुवर्ण, मणि, मुक्ता व धन-धान्य-वस्त्र वगैरह को पाने का प्रयत्न भी नहीं करता। वह दूसरों की स्त्रियों (पर कुदृष्टि नहीं डालता और उन) को माता के समान देखता-समझता है।

{564}

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ॥

(आवश्यक सूत्र/4/क्षमापन सूत्र)

(प्रतिक्रमण-विधि में साधु द्वारा अभिव्यक्त भावना-) मैं समस्त जीवों से क्षमा मांगता हूं और सब मुझे क्षमा करें। सब जीवों के प्रति मेरा मैत्री-भाव है, मेरा किसी भी जीव के साथ वैर-विरोध नहीं है।

O अहिंसा की सहचारिणीः क्षमा, दया, अनुकम्पा, करुणा आदि

{565}

धर्मस्य दया मूलं न चाक्षमावान् दयां समादत्ते।
तस्माद्यः क्षान्तिपरः स साधयत्युत्तमं धर्मम्॥

(प्रशम. 168)

धर्म का मूल दया है। और दया का पालन क्षमावान ही कर सकता है। अत: जो क्षमारूपी धर्म में तत्पर है, वही उत्तम धर्म की साधना कर सकता है।

{566}

दयाया:परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्त्तिताः॥
धर्मस्य तस्य लिङ्गानि दमः क्षान्तिरहिंस्रता।
तपो दानं च शीलं च योगो वैराग्यमेव च॥

(आ. पु. 5/21-22)

दया की रक्षा के लिए ही उत्तम क्षमा आदि शेष गुण कहे गये हैं। इन्द्रियों का दमन करना, क्षमा धारण करना, हिंसा नहीं करना, तप, दान, शील, ध्यान और वैराग्य- ये उस दयारूप धर्म के चिह्न हैं।

{567}

पापवत्स्वपि चात्यन्तं स्वकर्मनिहतेष्वलम्।
अनुकम्पैव सत्त्वेषु न्याय्या धर्मोऽयमुत्तमः॥

(यो.दृ.स. 152)

मुमुक्षु पुरुषों में सभी प्राणियों के प्रति अनुकम्पा या दया का भाव रहे, यह तो अपेक्षित है ही, साथ ही अपने कुत्सित कर्मों द्वारा निहत-अत्यन्त पीड़ित पापी प्राणियों के प्रति भी वे अनुकम्पाशील हों। यह न्यायोचित-अपेक्षित है।

{568}

नारंभेण दयालुया।

(बृह. भा. 338)

हिंसक दयालु नहीं हो सकता (अर्थात् दया का सद्भाव अहिंसा के साथ है, हिंसा के साथ नहीं)।

{569}

सत्यं शौचं क्षमा त्यागः प्रज्ञोत्साहो दया दमः।
प्रशमो विनयश्चेति गुणाः सत्त्वानुषङ्गिणः॥

(आ. पु. 15/214)

सत्य, शौच, क्षमा, त्याग, प्रज्ञा, उत्साह, दया, दम, प्रशम और विनय- ये गुण सदा आत्मा के साथ-साथ रहने वाले गुण हैं (अर्थात् दया, क्षमा आदि शुद्ध आत्मा/निर्विकार अहिंसक आत्मा में पाए जाते हैं)।

○ अहिंसा-आराधक के लिए अपेक्षितः अनुकम्पा/करुणा

{570}

धम्मकहाकहणेण य बाहिरजोगेहिं चावि णवज्जेहिं।
धम्मो पहाविदव्वो जीवेसु दयाणुकंपाए॥

(मूला. 4/264)

धर्म-कथाओं के कहने से, निर्दोष बाह्य योगों से और जीवों में दया रूपी अनुकम्पा की भावना से धर्म की प्रभावना करनी चाहिए (अर्थात् धर्माराधक के लिए अनुकम्पा की भावना रखना अपेक्षित है)।

{571}

दट्ठूण पाणिनिवहं भीमे भवसागरंमि दुक्खत्तं।
अविसेसओणुकंपं दुहावि सामत्थओ कुणइ॥

(श्रा.प्र. 58)

सम्यग्दृष्टि जीव भयानक संसार रूप समुद्र में दुःखों से पीड़ित प्राणी-समूह को देख कर, बिना किसी विशेषता के-समान रूप से- यथाशक्ति द्रव्य व भाव के भेद से दोनों प्रकार की अनुकम्पा को करता है।

{572}

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतो भवेत्॥

(पद्म. पं. 6/37)

जिनोपदेश सुनकर (भी) जिनके मन/अन्तःकरण करुणा-अमृत से पूर्ण नहीं हो-जाते और जो जीव-दया से रहित हैं, उन्हें धर्म कैसे हो सकता है? (अर्थात् वे धर्माराधक नहीं हो सकते)।

{573}

सौजन्यस्य परा कोटिरनसूया दयालुता।
गुणपक्षानुरागश्च दौर्जन्यस्य विपर्ययः॥

(आ. पु. 1/91)

ईर्ष्या नहीं करना, दया करना तथा गुणी जीवों से प्रेम करना- यह सज्जनता की अन्तिम अवधि (सीमा) है और इसके विपरीत अर्थात् ईर्ष्या करना, निर्दयी होना तथा गुणी जीवों से प्रेम नहीं करना- यह दुर्जनता की अन्तिम अवधि है।

{574}

जायन्ते भूतयः पुंसां याः कृपाक्रान्तचेतसाम्।
चिरेणापि न ता वक्तुं शक्ता देव्यपि भारती॥

(ज्ञा. 8/52/524)

जिनका चित्त दयालु है, उन पुरुषों को जो सम्पदा होती है, उनका वर्णन सरस्वती-देवी भी बहुत काल पर्यंत करे तो भी उससे नहीं हो सकता, फिर अन्य से तो किया ही कैसे जा सकता है?

{575}

भूदेसु दयावण्णे चउदस चउदससु गंथपरिसुद्धे।
चउदसपुव्वपगब्भे चउदसमलवज्जिदे वंदे॥

(यो. भ. 9)

जो एकेन्द्रियादि चौदह जीवसमास रूप जीवों पर दया को प्राप्त हैं, जो मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह से रहित होने के कारण अत्यन्त शुद्ध हैं, जो चौदह पूर्वों के पाठी हैं तथा जो चौदह मलों से रहित हैं, ऐसे मुनियों को मैं नमस्कार करता हूं (अर्थात् वे वन्दनीय हैं)।

{576}

उवकुणदि जोवि णिच्चं चादुव्वण्णस्य समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सोवि सरागप्पधाणो से॥

(प्रव. 3/49)

जो, ऋषि, मुनि, यति और अनगार के भेद से चतुर्विध मुनि-समूह का, षट्कायिक जीवों की विराधना से रहित, उपकार करता है- वैयावृत्त्य के द्वारा उन्हें सुख पहुंचाता है, वह भी सराग-प्रधान अर्थात् शुभोपयोगी साधु है।

O अनुकम्पा व दया का स्वरूप और उसके प्रेरक उपदेश

{577}

सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः।
धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते॥

(उपासका. 21/230)

सब प्राणियों के प्रति चित्त का दयालु होना 'अनुकम्पा' है। दयालु पुरुष इसे धर्म का परम मूल बतलाते हैं।

{578}

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा॥

(पंचा. 137)

जो भूखे प्यासे अथवा अन्य प्रकार से दुःखी प्राणी को देखकर स्वयं दुःखित हृदय होता हुआ दयापूर्वक उसे अपनाता है- उसका दुःख दूर करने का प्रयत्न करता है, उसके अनुकम्पा होती है।

{579}

जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कढिणभावो।
एसो उ निरणुकंपो, अणु पच्छाभावजोएणं॥

(बृह. भा. 1320)

जो कठोर हृदय दूसरे को पीड़ा से प्रकंपमान देखकर भी प्रकम्पित नहीं होता, वह निरनुकंप (अनुकंपारहित) कहलाता है। चूंकि अनुकंपा का अर्थ ही है- कांपते हुए को देख कर कंपित होना।

{580}

छिन्नान् बद्धान् रुद्धान् प्रहतान् विलुप्यमानांश्च मर्त्यान्, सहैनसो निरैनसो वा परिदृश्य मृगान्विहगान् सरीसृपान् पशूंश्च मांसादिनिमित्तं प्रहन्यमानान् परलोकैः परस्परं वा तान् हिंसतो भक्षयतश्च दृष्ट्वा सूक्ष्माननेकान् कुन्थुपिपीलिकाप्रभृतिप्राणभृतो मनुजकरभखरशरभकरितुरगादिभिः समृद्यमानानभिवीक्ष्य असाध्यरोगोरगदशनात् परितप्यमानान्, मृतोऽस्मि नष्टोऽस्म्यभिधावतेति रोगाननुभूयमानान्, गुरुपुत्रकलत्रादिभिरप्राप्तकालः सहसा वियुज्य ऊर्ध्वभुजान् विक्रोशतः, स्वाङ्गानि घ्नतश्च शोकेन, उपार्जितद्रविणैर्वियुज्यमानान् कृपणान् प्रनष्टबन्धून् धैर्यशिल्पविद्याव्यवसायहीनान् यान् प्रज्ञाप्रशक्त्या वराकान् निरीक्ष्य तद्दुःखमात्मस्थमिव विचिन्त्य स्वास्थ्यमुपशमनमनुकम्पाः।

सुदुर्लभं मानुषजन्म लब्ध्वा मा क्लेशपात्राणि वृथैव भूत।
धर्मे शुभे भूतहिते यतध्वमित्येवमाद्यैरपि चोपदेशैः।।

कृतकरिष्यमाणोपकारानपेक्षैरनुकम्पा कृता भवति।
पुण्यास्रवं सा त्रिविधानुकम्पा सुतेषु पुत्रं जननी शुभेव।
श्वेतानुकम्पा प्रभवाद्विपुण्यान्नाके मृता अभ्युपपत्तिमीयुः॥

(भग. आ. विजयो. 1828)

जिनके अवयव कट गये हैं, जो बांधे गये हैं, रोके गये हैं, पीटे गये हैं, खोये गये हैं- ऐसे निरपराधी अथवा अपराधी मनुष्यों को देख कर तथा मृगों, पक्षियों, सरीसृपों और पशुओं को मांस के लिए दूसरे लोगों के द्वारा मारा जाता अथवा उन्हें परस्पर में ही एक दूसरे की हिंसा करते और एक दूसरे का भक्षण करते देख कर, तथा कुंथु, चींटी आदि अनेक छोटे जन्तुओं को मनुष्य, ऊंट, गधे, शरभ, हाथी, घोड़े, आदि के द्वारा कुचले जाते देखकर, तथा असाध्य रोगरूपी सर्प के द्वारा डसे जाने से पीड़ित मैं मर गया, मैं नष्ट हो गया इत्यादि चिल्लाने वाले रोगियों को देख तथा जिनकी अवस्था अभी मरने की नहीं है ऐसे गुरु, पुत्र, स्त्री आदि का सहसा वियोग हो जाने से चिल्लाते हुए, अपने अंगों को शोक से पीटते हुए, कमाये हुए धन के नष्ट हो जाने से दीन हुए तथा धैर्य, शिल्प, विद्या और व्यवसाय से रहित गरीब प्राणियों को देख उनके दुःख को अपना ही दुःख मानकर उसको शांत करना 'अनुकम्पा' है। 'अति दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर वृथा ही क्लेश के पात्र मत बनो। प्राणियों के लिए कल्याणकारी धर्म में मन लगाओ।' इत्यादि उपदेशों के द्वारा किये गये अथवा भविष्य में किये जाने वाले उपकार की अपेक्षा के बिना अनुकम्पा करनी चाहिए।

ये तीनों प्रकार की अनुकम्पा पुण्य कर्म का आस्रव करती है। वह, जैसे माता पुत्र के लिए शुभ होती है, उसी प्रकार शुभ है। उस अनुकम्पा से हुए पुण्य के विपाक से मर कर लोग स्वर्ग में देव होते हैं।

{581}

रोगेण वा छुधाए तण्हणया वा समेण वा रूढं।
देट्ठा समणं साधू पडिवज्जदु आदसत्तीए॥

(प्रव. 3/52)

शुभोपयोगी मुनि, किसी अन्य मुनि को रोग से, भूख से, प्यास से अथवा श्रम-थकावट आदि से आक्रान्त देख उसे अपनी शक्ति अनुसार स्वीकृत करे अर्थात् वैयावृत्त्य द्वारा उसका खेद दूर करे।

{582}

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालबुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥

(प्रव. 3/53)

ग्लान (बीमार), गुरु, बाल अथवा वृद्ध साधुओं की वैयावृत्त्य के निमित्त, शुभ भावों से सहित लौकिकजनों के साथ वार्तालाप करना भी (श्रमण के लिए) निन्दित नहीं है।

{583}

अइवड्ढबाल-मूयंध-बहिर-देसंतरीय-रोडाणं।
जह जोग्गं दायव्वं करुणादानं।

(वसु. श्रा. 235)

अतिवृद्ध, बालक, गूंगे, अन्धे, बहिरे, परदेशी एवं रोगी-दरिद्र प्राणियों को यथायोग्य करुणा-दान देना चाहिए।

{584}

स्वर्गायाव्रतिनोऽपि सार्द्रमनसः श्रेयस्करी केवला,
सर्वप्राणिदया, तया तु रहितः पापस्तपःस्थोऽपि वा॥

(पद्म. पं. 1/11)

जो व्यक्ति व्रती नहीं भी हो, किन्तु यदि वह कोमल-हृदय है और सर्व प्राणियों के प्रति दया भाव रखता है तो वह दया ही श्रेयस्कारिणी होकर उसके लिए स्वर्ग-प्राप्ति का कारण बनती है। दया से रहित व्यक्ति तपस्वी भी पापी ही है।

{585}

आवत्तीए जहा अप्पं रक्खंति, तहा अण्णोवि आवत्तीए रक्खियव्वो।

(नि. चू. 5942)

आपत्तिकाल में जैसे अपनी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार दूसरों की भी रक्षा करनी चाहिए।

{586}

असंगिहीयपरिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति।

(ठा. 8/111)

जो अनाश्रित एवं असहाय हैं, उनको सहयोग तथा आश्रय देने में सदा तत्पर रहना चाहिए।

{587}

गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति।

(ठा. 8/111)

रोगी की सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

{588}

बाला य बुड्ढा य अजंगमा य, लोगे वि एते अणुकंपणिज्जा।

(बृह. भा. 4342)

बालक, वृद्ध और अपंग व्यक्ति, विशेष अनुकंपा (दया) के योग्य होते हैं।

{589}

सोऊण वा गिलाणं, पंथे गामे य भिक्खवेलाए।
जति तुरियं णगच्छति, लग्गति गुरुए सवित्थारं॥

(नि. भा. 2970 / बृह. भा. 3769)

विहार करते हुए, गांव में रहते हुए, भिक्षाचर्या करते हुए यदि सुन पाए कि कोई साधु या साध्वी बीमार है, तो शीघ्र ही वहां पहुंचना चाहिए। जो साधु शीघ्र नहीं पहुंचता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

{590}

जह भमर-महुयर-गणा णिवतंति कुसुमितम्मि वणसंडे।
तह होति णिवतियव्वं, गेलण्णे कतितवजढेणं॥

(नि. भा. 2971)

जिस प्रकार कुसुमित उद्यान को देख कर भौंरे उस पर मंडराने लग जाते हैं, उसी प्रकार किसी साथी को दुःखी देख कर उसकी सेवा के लिए अन्य साथियों को सहज भाव से उमड़ पड़ना चाहिए।

{591}

अभओ पत्थिवा! तुब्भं अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिंसाए पसज्जसि?

(उत्त. 18/11)

(संजय राजा को अनगार गर्दभालि का प्रतिबोध-) "पार्थिव! तुझे अभय है। पर, तू भी अभयदाता बन। इस अनित्य जीवलोक में तू क्यों हिंसा में संलग्न है?"

{592}

लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं।

(आचा. 1/1/2/सू. 22)

मुनि (अतिशय ज्ञानी पुरुषों) की आज्ञा- वाणी से लोक को -अर्थात् अप्काय के जीवों का स्वरूप जानकर उन्हें अकुतोभय बना दे अर्थात् उन्हें किसी भी प्रकार का भय उत्पन्न न करे, संयत रहे।

{593}

किं न तप्तं तपस्तेन किं न दत्तं महात्मना।
वितीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम्॥

(ज्ञा. 8/53/525)

जिस महापुरुष ने जीवों को प्रीति का आश्रय देकर अभयदान दिया उस महात्मा ने कौन सा तप नहीं किया और कौन सा दान नहीं किया? अर्थात् उस महापुरुष को समस्त तप व दान के सुफल प्राप्त होते हैं; क्योंकि अभयदान में सब तप व दान समाहित होते हैं।

{594}

अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम्।
पश्यात्मसदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरम्॥

(ज्ञा. 8/51/523)

हे भव्य! तू जीवों को अभयदान दे तथा उनसे प्रशंसनीय मित्रता कर और समस्त त्रस व स्थावर जीवों को अपने समान देख।

{595}

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे नमंतेण।
भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं॥
पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि।
उप्पज्जंत मरंतो पत्तोसि णिरंतरं दुक्खं॥
जीवाणमभयदाणं देहि मुणी पाणिभूयसत्ताणं।
कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए॥

(भा.पा. 133-135)

हे मुनि! अनन्त संसार-सागर में घूमते हुए तूने भोग-सुख के निमित्त मन, वचन, काय से समस्त जीवों के दस प्रकार के प्राणों का आहार किया है। हे महायश के धारक मुनि! प्राणिवध के कारण तूने चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न होते और मरते हुए निरन्तर दुःख प्राप्त किया है। हे मुनि! तू परम्परा से तीर्थंकरों के कल्याण सम्बन्धी सुख के लिये मन, वचन, काय की शुद्धता से प्राणीभूत अथवा सत्त्व नाम धारक समस्त जीवों को अभय दान दे।

{596}

अभयं सर्वसत्त्वानामादौ दद्यात्सुधीः सदा।
तद्धीने हि वृथा सर्वः परलोकोचितो विधिः॥
दानमन्यद्भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रदः।
सर्वेषामेव दानानां यतस्तद्दानमुत्तमम्॥
तेनाधीतं श्रुतं सर्वं तेन तप्तं तपः परम्।
तेन कृत्स्नं कृतं दानं यः स्यादभयदानवान्॥

(उपासका. 43/773-775)

सब से प्रथम सब प्राणियों को अभयदान देना चाहिए। क्योंकि जो अभयदान नहीं दे सकता, उस मनुष्य की समस्त पारलौकिक क्रियाएं व्यर्थ हैं। और कोई दान दो या न दो, किन्तु अभयदान जरूर देना चाहिए, क्योंकि सब दानों मे अभयदान श्रेष्ठ है। जो अभय-दान देता है, वह सब शास्त्रों का ज्ञाता है, परम तपस्वी है और सब दानों का कर्ता है।

{597}

जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरण-भयभीरु जीवाणं।
तं जाण अभयदाणं सिहामणिं सव्वदाणाणं॥

(वसु. श्रा. 238)

मरण से भयभीत जीवों का जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, वह सब दानों का शिरोमणि रूप 'अभयदान' है।

{598}

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं सच्चेसु या अणवज्जं वयंति।

(सू.कृ. 1/6/23)

दानों में अभयदान और सत्य-वचन में अनवद्य-वचन को श्रेष्ठ कहा जाता है।

{599}

सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनाम्,
दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम्।
आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्योद्भयं
यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम्॥

(पद्म. पं. 7/11)

करुणावान् व्यक्तियों द्वारा सभी प्राणियों को अभय-दान जो दिया जाता है, वही 'दान' है, और (अभय-दान) के बिना तीनों (आहार, औषध व शास्त्र/ज्ञान) का दान निष्फल ही है।

आहार-दान से क्षुधा के भय का, औषध-दान से रोग के भय का तथा शास्त्र-दान से अज्ञान के भय का उन्मूलन जो सत्पात्र में किया जाता है, वही एकमात्र दान परम उत्कृष्ट है। (तात्पर्य यह है कि आहार, औषध व शास्त्र के दान भी एक प्रकार से अभय-दान ही हैं।)

O हिंसा-दोष से मुक्त ही शास्त्र व धर्म सेवनीय

{600}

श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशाङ्गमकल्मषम्।
हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक्॥
पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्स्याद् वधनिषेधि यत्।
वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम् ॥

(आ.पु. 39/22-23)

जिसके बारह अंग हैं, जो निर्दोष है और जिसमें श्रेष्ठ आचरणों का विधान है, ऐसा शास्त्र ही 'वेद' कहलाता है। जो हिंसा का उपदेश देने वाला वाक्य है वह 'वेद' नहीं है, उसे तो यमराज का वाक्य ही समझना चाहिए।

पुराण और धर्मशास्त्र भी वही हो सकता है जो हिंसा का निषेध करने वाला हो। इसके विपरीत, जो पुराण अथवा धर्मशास्त्र हिंसा का उपदेश देते हैं, उन्हें धूर्तों का बनाया हुआ समझना चाहिए।

{601}

वरमेकाक्षरं ग्राह्यं सर्वसत्त्वानुकम्पनम्।
न त्वक्षपोषकं पापं कुशास्त्रं धूर्तचर्चितम्॥

(ज्ञा. 8/25/497)

सर्व प्राणियों पर दया करने वाला तो एक अक्षर भी श्रेष्ठ है और ग्रहण करने योग्य है, परन्तु धूर्त तथा विषयकषायी पुरुषों का रचा हुआ और इंद्रियों का पोषक जो पापरूप कुशास्त्र है, वह श्रेष्ठ नहीं है।

{602}

निर्दयेन हि किं तेन श्रुतेनाचरणेन च।
यस्य स्वीकारमात्रेण जन्तवो यान्ति दुर्गतिम्॥

(ज्ञा. 8/24/496)

जिसमें दया नहीं है ऐसे शास्त्र तथा आचरण से क्या लाभ? क्योंकि ऐसे शास्त्र के या आचरण के अंगीकार मात्र से ही जीव दुर्गति को प्राप्त करते हैं।

{603}

अहो व्यसनविध्वस्तैर्लोकः पाखण्डिभिर्बलात्।
नीयते नरकं घोरं हिंसाशास्त्रोपदेशकैः॥

(ज्ञा. 8/15/487)

कितना आश्चर्य है कि विषयकषाय से पीड़ित, पाखंडी और हिंसा का उपदेश देने वाले (यज्ञादिक में पशु होमने तथा देवी आदि के समक्ष बलिदान आदि हिंसाविधान करने वाले) लोग (हिंसा-समर्थक) शास्त्रों को रच कर जगत् के जीवों को बलपूर्वक भयानक नरकादिक में ले जाते हैं।

{604}

हिंसाप्रधानशास्त्राद्वा राज्याद्वा नयवर्जितात्।
तपसो वाऽपमार्गस्थादुष्कलत्राद् ध्रुवं क्षतिः॥

(उ.प्र. 72/88)

हिंसाप्रधान शास्त्र से, नीति-रहित राज्य से, मिथ्या मार्ग में स्थित तप तथा दुष्ट कलत्र (स्त्री) से निश्चित ही हानि होती है।

{605}

आत्मैवोत्क्षिप्य तेनाशु प्रक्षिप्तः श्वभ्रसागरे।
स्नेहभ्रमभयेनापि येन हिंसा समर्थिता॥

(ज्ञा. 8/35/507)

जिस पुरुष ने किसी की प्रीति से, भ्रम से अथवा किसी के भय से, हिंसा का समर्थन किया (और कहा) कि हिंसा करना बुरा नहीं है, तो ऐसा समझो कि उसने अपनी आत्मा को उसी समय नरकरूपी समुद्र में डाल दिया।

{606}

अधीतैर्वा श्रुतैर्ज्ञातैः कुशास्त्रैः किं प्रयोजनम्।
यैर्मनः क्षिप्यते क्षिप्रं दुरन्ते मोहसागरे॥

(ज्ञा. 1/28/28)

उन शास्त्रों के पढ़ने, सुनने व जानने से क्या प्रयोजन (लाभ) है, जिनसे जीवों का चित्त (मन) दुरन्तर तथा दुर्निवार मोह-समुद्र में पड़ जाता है।

{607}

मिथ्यादृष्टिभिराम्नातो, हिंसाद्यैः कलुषीकृतः।
स धर्म इति वित्तोऽपि, भवभ्रमणकारणम्॥

(है. योग.2/13)

मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्रतिपादित तथा हिंसा आदि दोषों से दूषित धर्म यद्यपि संसार में धर्म के रूप में प्रसिद्ध हो भी जाए तो भी वह संसार-परिभ्रमण का कारण है।

{608}

विश्वस्तो मुग्धधीर्लोकः पात्यते नरकावनौ।
अहो नृशंसैर्लोभान्धैर्हिंसाशास्त्रोपदेशकैः॥

(है. योग. 2/32)

अहो! निर्दय और लोभान्ध हिंसाशास्त्र के उपदेशक इन बेचारे मुग्ध बुद्धि वाले भोले-भाले विश्वासी लोगों को वाग्जाल में फंसा कर या बहका कर नरक की कठोर भूमि में डाल देते हैं।

{609}

सरागोऽपि हि देवश्चेत्, गुरुरब्रह्मचार्यपि।
कृपाहीनोऽपि धर्मः स्यात्, कष्टं नष्टं ह हा! जगत्॥

(है. योग.2/14)

देवाधिदेव यदि सरागी हो, धर्मगुरु अब्रह्मचारी हो और दयारहित धर्म को अगर धर्म कहा जाय तो, बड़ा अफसोस है! इनसे ही तो संसार की लुटिया डूबी है।

{610}

शमशीलदयामूलं हित्वा धर्मं जगद्धितम्।
अहो हिंसाऽपि धर्म्माय जगदे मन्दबुद्धिभिः॥

(है. योग. 2/40)

जिसकी जड़ में शम, शील और दया है, ऐसे जगत्कल्याणकारी धर्म को छोड़ कर मंदबुद्धि लोगों ने हिंसा को भी धर्म की कारणभूत बता दिया है, यह बड़े खेद की बात है।

{611}

स्यान्निरामिषभोजित्वं शुद्धिराहारगोचरा।
सर्वङ्कषास्तु ते ज्ञेया ये स्युरामिषभोजिनः॥
अहिंसाशुद्धिरेषां स्याद् ये निःसङ्गा दयालवः।
रताः पशुवधे ये तु न ते शुद्धा दुराशयाः॥
कामशुद्धिर्मता तेषां विकामा ये जितेन्द्रियाः।
संतुष्टाश्च स्वदारेषु शेषाः सर्वे विडम्बकाः॥
इति शुद्धं मतं यस्य विचारपरिनिष्ठितम्।
स एवाप्तस्तदुन्नीतो धर्मः श्रेयो हितार्थिनाम्॥

(आ. पु. 39/29-32)

मांसरहित भोजन करना आहार-विषयक शुद्धि कहलाती है। जो मांसभोजी हैं उन्हें सर्वघाती समझना चाहिए। अहिंसा-शुद्धि उनके होती है जो परिग्रहरहित हैं और दयालु हैं, परन्तु जो पशुओं की हिंसा करने में तत्पर रहते हैं वे दुष्ट अभिप्राय वाले शुद्ध नहीं हैं। जो कामरहित जितेन्द्रिय मुनि हैं उन्हीं के कामशुद्धि मानी जाती है अथवा जो गृहस्थ अपनी स्त्रियों में संतोष रखते हैं उनके भी कामशुद्धि मानी जाती है परन्तु इनके सिवाय जो अन्य लोग हैं वे केवल विडम्बना करने वाले हैं। इस प्रकार विचार करने पर जिसका मत शुद्ध हो वही 'आप्त' कहला सकता है और उसी के द्वारा कहा हुआ धर्म ही हित चाहने वाले लोगों के लिए कल्याणकारी हो सकता है।

○ अहिंसक वेश-भूषा व स्वभाव वाले ही देव व गुरु मान्य

{612}

ये स्त्री-शस्त्राक्षसूत्रादिरागाद्यङ्ककलंकिताः।
निग्रहानुग्रहपरास्ते देवाः स्युर्न मुक्तये॥

(है. योग.2/6)

जो देव स्त्री, शस्त्र, जपमाला आदि रागादिसूचक चिह्नों से दूषित हैं, तथा शाप और वरदान देने वाले हैं, ऐसे देवों की उपासना आदि से मुक्ति का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

{613}

न वीतरागात् परमस्ति दैवतम्।

(अयो: द्वा. 28)

वीतराग को छोड़ कर अन्य कोई श्रेष्ठ 'देव' नहीं है।

{614}

कोदण्ड-दण्ड-चक्रासि-शूल-शक्तिधराः सुराः।
हिंसका अपि हा! कष्टं, पूज्यन्ते देवताधिया॥

(है. योग. 2/49)

अहा! यह अतिकष्ट की बात है कि धनुष, दण्ड, चक्र, तलवार, शूल और भाला (शक्ति) रखने (धारण करने) वाले हिंसक देव भी देवत्व-बुद्धि (दृष्टि) से पूजे जाते हैं।

{615}

दुर्मन्त्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ताः प्राणिमारणे॥
विश्वेश्वरादयो ज्ञेया देवताः शान्तिहेतवः।
क्रूरास्तु देवता हेया यासां स्याद् वृत्तिरामिषैः॥
निर्वाणसाधनं यत् स्यात्तल्लिङ्गं जिनदेशितम्।
एणाजिनादिचिह्नं तु कुलिङ्गं तद्धि वैकृतम्॥

(आ. पु. 39/26-28)

जो प्राणियों की हिंसा करने में प्रयुक्त होते हैं उन्हें दुर्मन्त्र अर्थात् खोटे मन्त्र ही समझना चाहिए। शान्ति को करने वाले तीर्थंकर आदि ही देवता हैं। इनके सिवाय जिनकी मांस वृत्ति से है वे दुष्ट देवता छोड़ने योग्य है। जो साक्षात् मोक्ष का कारण है, ऐसा जिनेन्द्र देव का कहा हुआ निर्ग्रन्थपना ही सच्चा लिङ्ग है। इसके सिवाय मृगचर्म आदि के रूप में बनाया गया चिह्न कुलिङ्गियों का बनाया हुआ कुलिङ्ग है।

{616}

अहिंसालक्षणो धर्मो यतयो विगतस्पृहाः। देवोऽर्हन्नैव निर्दोषः॥

(उ. पु. 63/373)

धर्म अहिंसा रूप है, मुनि इच्छा-रहित होते हैं और रागादि दोषों से रहित अर्हन्त ही देव हैं।

{617}

शूलचक्रासिकोदण्डैरुद्युक्ता: सत्त्वखण्डने।
येऽधमास्तेऽपि निस्त्रिंशैर्देवत्वेन प्रकल्पिता:॥

(ज्ञा. 8/36/508)

जो त्रिशूल, चक्र, तलवार और धनुष इत्यादि शस्त्रों से जीवों को घात करने में उद्यत हैं, ऐसे चंडी, काली, भैरवादिकों को भी देवता मान कर जो दयाहीन लोग उनकी स्थापना करते हैं, वे अधम हैं।

{618}

सग्रन्थारम्भहिंसानां, संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो, ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्॥

(रत्नक. श्रा. 24)

परिग्रह, आरम्भ और हिंसा-सहित (हिंसक) पाखण्डी (झूठे) साधुओं का आदर, सन्मान, भक्ति-पूजा आदि करना गुरु-मूढता (पाखण्डिमूढता) कहलाती है।

4

श्रावक-चर्या और अहिंसा

(अहिंसा की यथाशक्य साधनाः श्रावक-चर्या)

[धर्माचरण का प्रारम्भिक सोपान गृहस्थ-धर्म है। मुनि-धर्म अपेक्षाकृत उच्च कोटि है। गृहस्थ/श्रावक या श्रमणोपासक सांसारिक व्यवहार में रहने के कारण समस्त अहिंसा-धर्म का पूर्णतया पालन करने में सक्षम नहीं होता, फिर भी उसे मर्यादित रूप में अहिंसा-धर्म का पालन करना ही होता है। गृहस्थ जीवन में पालनीय अहिंसा-सम्बन्धी कुछ नियमों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।]

○ हिंसा व हिंसक वृत्तियों का संवर्धक : मद्यपान

{619}

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः॥

(पुरु. 4/28/64)

अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि हिंसा की पर्यायें हैं और यह सभी मदिरा के निकटवर्ती हैं। (मदिरा के सेवन करने वाला काम-क्रोधादि के आवेश से अधिक ग्रस्त होता है और हिंसा-कर्म की और प्रवृत्त होता है, अतः मदिरा-सेवन त्याज्य है।)

{620}

विवेकः संयमो ज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमा।
मद्यात्प्रलीयते सर्वं तृष्या वह्निकणादिव ॥

(है. योग. 3/16)

जैसे आग की एक ही चिनगारी से घास का बड़ा भारी ढेर जल कर भस्म हो जाता है; वैसे ही मद्यपान से हेयोपादेय का विवेक, संयम, ज्ञान, सत्यवाणी, आचारशुद्धि रूप शौच, दया, क्षमा आदि समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं।

{621}

भक्षयन् माक्षिकं क्षुद्रजंतुलक्षक्षयोद्भवम् ।
स्तोकजन्तुनिहन्तृभ्यः शौनिकेभ्योऽतिरिच्यते ॥

(है. योग. 3/37)

जिनके हड्डियां न हों, ऐसे जीव क्षुद्रजंतु कहलाते हैं, अथवा तुच्छ, हीन जीव भी क्षुद्र माने जाते हैं। ऐसे लाखों क्षुद्र जंतुओं के (धुआं करने से होने वाले) विनाश से उत्पन्न हुए मद्य का सेवन करने वाला आदमी थोड़े-से पशु को मारने वाले कसाई से भी बढ़ कर पापात्मा है।

{622}

समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकशः किल।
मद्यीभवन्ति कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥
मद्यैकबिन्दुसंपन्नाः प्राणिनः प्रचरन्ति चेत्।
पूरयेयुर्न संदेहं समस्तमपि विष्टपम् ॥

(उपासका. 21/274-275)

जन्तु अनेक बार जन्म-मरण करके काल के द्वारा प्राणियों का मन मोहित करने के लिए मद्य का रूप धारण करते हैं। मद्य की एक बूंद में इतने जीव रहते हैं कि यदि वे फैलें तो समस्त जगत् में भर जाएं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

{623}

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥

(पुरु. 4/25/61)

हिंसा-त्याग के इच्छुक पुरुषों को प्रथम ही शराब, मांस, शहद और पांच उदुम्बर फलों (के सेवन) को यत्नपूर्वक त्याग देना चाहिए।

{624}

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥

(पुरु. 4/26/62)

शराब मन को मोहित करती है, और मोहित चित्त वाला पुरुष तो धर्म को भूल ही जाता है तथा धर्म को भूला हुआ जीव निडर होकर हिंसा का आचरण करता है।

{625}

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम्॥

(पुरु. 4/27/63)

मदिरा को रस से उत्पन्न हुए बहुत जीवों का उत्पत्ति-स्थान माना जाता है। इसलिये जो मदिरापान करता है, वह उन जीवों की हिंसा का दोषी अवश्य ही होता है।

{626}

यदेकबिन्दोः प्रचरन्ति जीवाश्चेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति।
यद्विक्लवाश्चेममुं च लोकं यस्यन्ति तत्कश्यमवश्यमस्येत्॥

(सा. ध. 2/4)

जिस मद्य की एक बूंद से उसमें पैदा होने वाले जन्तु यदि बाहर फैलें तो समस्त संसार उनसे भर जाए। जिस मद्य को पीकर उन्मत्त हुए प्राणी अपने इस जन्म और दूसरे जन्म को दुःखमय बना लेते हैं, उस मद्य को अवश्य छोड़ना चाहिए।

{627}

पीते यत्र रसाङ्गजीवनिवहाः क्षिप्रं म्रियन्तेऽखिलाः,
कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः सावद्यमुद्यन्ति च।
तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कन्दीव यात्यापदम्,
तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति॥

(सा. ध. 2/5)

जिस मद्य के पीते ही मद्य के रस से पैदा होने वाले तथा मद्य में रस पैदा करने वाले जीवों के समूह तत्काल मर जाते हैं तथा पाप और निन्दा के साथ काम, क्रोध, भय, भ्रम प्रमुख दोष उत्पन्न होते हैं, उस मद्य (के त्याग) का व्रत लेने वाला व्यक्ति धूर्तिल नामक चोर की तरह विपत्ति में नहीं पड़ता। उस मद्य को पीने वाला मनुष्य एकपाद् नाम के संन्यासी की तरह दुराचार करता हुआ दुर्गति के दुःख में डूबता है।

[विशेषार्थ- मद्यपान से मनुष्य का मन आपे में नहीं रहता। वह मदहोश होकर धर्म को भूल जाता है। धर्म को भूल जाने पर पाप करते हुए संकोच नहीं होता। इसके साथ ही मद्य में जीवों की उत्पत्ति अवश्य होती है, उनके बिना मद्य तैयार नहीं होता। मद्यपान से वे सब मर जाते हैं। इस प्रकार, हिंसक वृत्तियों का संवर्धन होता है और मद्यपायी व्यक्ति हिंसक कार्य में लिप्त होता है।]

{628}

सद्यः सम्मूर्छितानन्तजन्तुसन्तानदूषितम् ।
नरकाध्वनि पाथेयं कोऽश्नीयात् पिशितं सुधीः॥

(है. योग. 3/33)

जीव का वध करते ही तुरंत उसमें निगोद रूप अनन्त संमूर्च्छिम जीव उत्पन्न हो जाते हैं, और उनकी बार-बार उत्पन्न होने की परम्परा चालू ही रहती है। [आगमों में बताया है- 'कच्चे या पकाये हुए मांस में या पकाते हुए मांस-पेशियों में निगोद के संमूर्च्छिम जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है।' इसलिए इतनी जीव-हिंसा से दूषित मांस नरक के पथ का पाथेय (भाता) है। इस कारण कौन सुबुद्धिशाली व्यक्ति मांस को खा सकता है?]

{629}

चिखादिषति यो मांसं, प्राणिप्राणापहारतः ।
उन्मूलयत्यसौ मूलं, दयाख्यं धर्मशाखिनः॥

(है. योग. 3/18)

प्राणियों के प्राणों का नाश किए बिना मांस मिलना सम्भव नहीं है। जो पुरुष ऐसा मांस खाना चाहता है, वह धर्मरूपी वृक्ष मूल को ही मानों उखाड़ डालता है।

{630}

अश्नीयन् सदा मांसं, दयां यो हि चिकीर्षति।
ज्वलति ज्वलने वल्लीं स रोपयितुमिच्छति ॥

(है. योग. 3/19)

जो सदा मांस खाता हुआ, दया करना चाहता है, वह जलती हई आग में बेल रोपना चाहता है। (अर्थात् ऐसे मांसभक्षियों के हृदय में दया का होना कठिन है।)

{631}

हंता पलस्य विक्रेता संस्कर्ता भक्षकस्तथा।
क्रेताऽनुमन्ता दाता च घातका एव यन्मनुः॥
अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता, क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

(है. योग. 3/20-21)

शस्त्रादि से घात करने वाला, मांस बेचने वाला, मांस पकाने वाला, मांस खाने वाला, मांस का खरीददार, उसका अनुमोदन करने वाला और मांस का दाता अथवा यजमान, ये सभी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप (परम्परा) से जीव के घातक (हिंसक) ही हैं।

मनु ने भी कहा है कि मांस खाने का अनुमोदन करने वाला, प्राणी का वध करने वाला, अंग-अंग काट कर विभाग करने वाला, मांस का ग्राहक और विक्रेता, मांस पकाने वाला, परोसने वाला या भेंट देने वाला और खाने वाला; ये सभी एक ही कोटि के घातक (हिंसक) हैं। (द्र. मनुस्मृति, 5वां अध्याय)

{632}

मांसास्वादनलुब्धस्य, देहिनं देहिनं प्रति।
हन्तुं प्रवर्तते बुद्धिः, शाकिन्या इव दुर्धियः॥

(है. योग. 3/27)

मांस के आस्वादन में लोलुप बने हुए दुर्बुद्धि मनुष्य की बुद्धि शाकिनी की तरह, जिस किसी जीव को देखा, उसे ही मारने में प्रवृत्त हो जाती है।

{633}

मांसादिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु।
आनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु॥

(उपासका. 24/293)

जो मांस खाते हैं, उनमें दया नहीं होती। जो शराब पीते हैं वे सच नहीं बोल सकते। और जो मधु और उदुम्बर फलों का भक्षण करते हैं, उनमें दया या करुणा नहीं होती।

{634}

स्वभावाशुचि दुर्गन्धमन्यापायं दुरास्पदम्।
सन्तोऽदन्ति कथं मांसं विपाके दुर्गतिप्रदम्॥

(उपासका. 23/279)

मांस स्वभाव से ही अपवित्र है, दुर्गन्ध से भरा है, दूसरों की जान ले-लेने पर तैयार होता है, तथा कसाई के घर-जैसे दुःस्थान से प्राप्त होता है। ऐसे मांस को भले आदमी कैसे खाते हैं?

{635}

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥

(है. योग. 3/22)

प्राणियों का वध किये बिना मांस कहीं प्राप्त या उत्पन्न नहीं होता और न ही प्राणि-वध जीवों को अत्यन्त दुःख देने वाला होने के कारण स्वर्ग देने वाला है; अपितु वह नरक के दुःख का कारण रूप ही है। ऐसा सोच कर मांस का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

{636}

न धर्मो निर्दयस्यास्ति, पलादस्य कुतो दया ।

(है. योग. 3/29)

निर्दय व्यक्ति के कोई धर्म नहीं होता, मांस खाने वालों में दया कहां से हो सकती है?

{637}

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादः तज्जातीनां निगोतानाम्॥
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम्॥

(पुरु. 4/31/67-68)

कच्चे अथवा पके हुये तथा पकते हुए मांस के टुकड़ों में भी उसी जाति के सम्मूर्छन जीवों का निरन्तर उत्पाद होता है। इसलिए, जो पुरुष कच्चे अथवा अग्नि पर पके हुए मांस के टुकड़ों को खाता है अथवा छूता है, वह पुरुष निरन्तर इकट्ठे हुये अनेक जाति के जीव-समूह के पिण्ड का घात करता है।

{638}

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा॥

(पुरु. 4/29/65)

चूंकि प्राणियों का घात किये बिना मांस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, इसलिये मांस खाने वाले जीव के अनिवार्य रूप से-अवश्य ही हिंसा फैलती है-लगती है।

{639}

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्॥

(पुरु. 4/30/66)

यद्यपि यह सत्य है कि अपने आप ही मरने वाले भैंस, बैल इत्यादि का भी मांस होता है, परन्तु वहां भी, अर्थात् उस मांस के खाने में भी, उसके आश्रय से रहने वाले उसी जाति के निगोदिया जीवों के घात से हिंसा होती है।

{640}

हिंस्रः स्वयं मृतस्यापि स्यादश्नन्वा स्पृशन् पलम्।

(सा. ध. 2/7)

स्वयं मरे हुए भी मच्छ, भैंसे आदि के मांस को खाने वाला और छूने वाला भी हिंसक है।

{641}

प्राणिहिंसार्पितं दर्पमर्पयत्तरसं तराम्।
रसयित्वा नृशंसः स्वं विवर्तयति संसृतौ॥

(सा. ध. 2/8)

मांस प्राणी को मारने से ही प्राप्त होता है और उसके खाने से अत्यन्त मद होता है। उसे खा कर क्रूर प्राणी अपने को संसार में भ्रमण कराता है।

{642}

अनेकजन्तुसंघात-निघातात् समुद्भवम्।
जुगुप्सनीयं लालावत् कः स्वा दयति माक्षिकम्?॥

(है. योग. 3/36)

अनेक जंतु-समूह के विनाश से तैयार हुए और मुंह से टपकने वाली लार के समान घिनौने मक्खी के मुख की लार से बने हुए शहद को कौन विवेकी पुरुष चाटेगा? (उपलक्षण से यहां भौंरे आदि का मधु भी समझ लेना चाहिए।)

{643}

एकैक-कुसुमक्रोड़ाद् रसमापीय माक्षिका:।
यद्वमन्ति मधूच्छिष्टं तदश्नन्ति न धार्मिका:॥

(है. योग. 3/38)

एक-एक फूल पर बैठ कर उसके मकरन्द रस को पी कर मधुमक्खियां उसका वमन करती हैं, उस वमन किए हुए उच्छिष्ट मधु (शहद) का सेवन धार्मिक पुरुष नहीं करते।

{644}

अप्यौषधकृते जग्धं मधु श्वभ्रनिबंधनम्।
भक्षित: प्राणनाशाय कालकूटकणोऽपि हि॥

(है. योग. 3/39)

रस-लोलुपता की बात तो दूर रही, औषध के रूप में भी रोगनिवारणार्थ मधुभक्षण पतन के गर्त में डालने का कारण है। क्योंकि प्रमादवश या जीने की इच्छा से कालकूटविष का जरा-सा कण भी खाने पर वह प्राणनाशक होता है।

{645}

मधुनोऽपि हि माधुर्यमबोधैरह होच्यते।
आसाद्यन्ते यदास्वादाच्चिरं नरकवेदनाः॥

(है. योग. 3/40)

यह सच है कि मधु व्यवहार से प्रत्यक्ष में मधुर लता है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से नरक-सी वेदना का कारण होने से अत्यन्त कड़वा है। खेद है, परमार्थ से अनभिज्ञ अबोधजन ही परिणाम में कटु मधु को मधुर कहते हैं। मधु का आस्वादन करने वाले को चिरकाल तक नरकसम वेदना भोगनी पड़ती है।

{646}

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम्॥

(पुरु. 4/33/69)

इस लोक में शहद की एक बूंद भी बहुधा मक्खियों की हिंसा से उत्पन्न होती है, इसलिये जो मूढ़बुद्धि मनुष्य शहद खाता है, वह अत्यन्त-घोर हिंसा करने वाला है।

{647}

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात्॥

(पुरु. 4/34/70)

जो कोई मधुछत्ते से, छल से अथवा अपने आप ही टपकते हुये मधु का ग्रहण करता है, वहां भी (भले ही उसने मधुमक्खियों को मारा न हो), उसके आश्रयभूत जीवों के घात से हिंसा होती ही है।

{648}

बहु-तस-समण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं।
जो ण य सेवदि णियदं सो दंसण-सावओ होदि॥

(स्वा. कार्ति. 12/328)

बहुत त्रसजीवों से युक्त मद्य, मांस आदि निन्दनीय वस्तुओं के सेवन का जो नियम से त्याग करता है, वह दर्शनिक श्रावक है।

{649}

मधुकृद्व्रातघातोत्थं मध्वशुच्यपि बिन्दुशः।
खादन् बध्नत्यघं सप्तग्रामदाहांहसोऽधिकम्॥

(सा. ध. 2/11)

मधुमक्खियों के समूह के घात से उत्पन्न अपवित्र मधु की एक बूंद को भी खाने वाला सात गांवों को जलाने से जितना पाप होता है, उससे भी अधिक पाप का बन्ध करता है।

{650}

मक्षिकामुखनिष्ठ्यूतं जन्तुघातोद्भवं मधु।
अहो पवित्रं मन्वाना देवस्नानं प्रयुञ्जते॥

(है. योग. 3/41)

अहो! कितने खेद की बात है कि मधुमक्खी के मुंह से वमन किये हुए और अनेक जंतुओं की हत्या से निष्पन्न मधु को पवित्र मानने वाले (अन्यतीर्थिक) लोग (शंकर आदि) देवों के अभिषेक में इसका उपयोग करते हैं।

{651}

उदुम्बर - वट - प्लक्ष-काकोदुम्बरशाखिनाम् ।
पिप्पलस्य च नाश्नीयात्, फलं कृमिकुलाकुलम्॥

(है. योग. 3/42)

उदुम्बर (गुल्लर), बड़, अंजीर, काकोदुम्बर (कठूमर), पीपल; इन पांचों वृक्षों के फल अगणित जीवों (के स्थान) से भरे हुए होते हैं। इसलिए ये पांचों ही उदुम्बर-फल त्याज्य हैं।

{652}

स्वयं परेण वा ज्ञातं फलमद्याद् विशारदः।
निषिद्धे विषफले वा, माभूदस्य प्रवर्त्तनम्॥

(है. योग. 3/47)

स्वयं को या दूसरे को जिस फल की पहिचान नहीं है, जिसे कभी देखा, सुना या जाना नहीं है; उस फल को न खाए।

[बुद्धिशाली व्यक्ति वही फल खाये, जो उसे ज्ञात है। चतुर आदमी अनजाने में (अज्ञानतावश) अगर अज्ञात फल खा लेगा तो, निषिद्ध फल खाने से उसका व्रतभंग होगा, दूसरे, कदाचित् कोई जहरीला फल खाने में आ जाय तो उससे प्राणनाश हो जाएगा। इसी दृष्टि से अज्ञातफल के भक्षण में प्रवृत्त होने का निषेध किया गया है।]

{653}

अप्राप्नुवन्नन्यभक्ष्यमपि क्षामो बुभुक्षया ।
न भक्षयति पुण्यात्मा पञ्चोदुम्बरजं फलम् ॥

(है. योग. 3/43)

विषम (दुर्भिक्ष पड़े हुए) देश और काल में जहां भक्ष्य अन्न, फल आदि नहीं मिलते हों, कड़ाके की भूख लगी हो; भूख के मारे शरीर कृश हो रहा हो, तब भी पुण्यात्मा लोग पंचोदुम्बरफल नहीं खाते।

{654}

आर्द्र-कन्दः समग्रोऽपि सर्वः किशलयोऽपि च।
स्नुही लवणवृक्षत्वक् कुमारी गिरिकर्णिका॥
शतावरी, विरूढानि गुडूची कोमलाम्लिका।
पल्यंकोऽमृतवल्ली च वल्लः शूकरसंज्ञितः॥
अनन्तकायाः सूत्रोक्ता अपरेऽपि कृपापरैः।
मिथ्यादृशामविज्ञाता वर्जनीयाः प्रयत्नतः॥

(है. योग. 3/44-46)

समस्त हरे कन्द, सभी प्रकार के नये पल्लव (पत्ते), थूहर, लवणवृक्ष की छाल, कुंआरपाठा, गिरिकर्णिका लता, शतावरी, फूटे हुए अंकुर, गिलोय, कोमल इमली, पालक का साग, अमृत बेल, शूकर जाति के बाल, इन्हें सूत्रों में अनन्तकाय कहा है। और भी अनन्तकाय हैं, जिनसे मिथ्यादृष्टि अनभिज्ञ हैं, उन्हें भी दयापरायण श्रावकों को यतनापूर्वक छोड़ देना चाहिए।

{655}

मद्य-पल-मधु-निशासन-पञ्चफलीविरति-पञ्चकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्ट मूलगुणाः॥

(सा. ध. 2/18)

मद्य का त्याग, मांस का त्याग, मधु का त्याग, रात्रि-भोजन का त्याग, पांच उदुम्बर फलों का त्याग, त्रिकाल देववन्दना, जीव-दया और छने पानी का उपयोग, ये आठ मूलगुण शास्त्र में कहे गए हैं।

{656}

त्रसहतिपरिहरणार्थं, क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं, जिनचरणौ शरणमुपयातैः॥

(रत्नक. श्रा. 84)

मधु और मांस के खाने से त्रस जीवों की हिंसा होती है और मदिरा पीने से त्रसहिंसा तथा मोह की उत्पत्ति होती है, इसलिए इस व्रत के धारक को इन तीनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

{657}

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा॥

(पुरु. 4/36/72)

ऊमर, कठूमर, पाकर, बड़ और पीपल वृक्ष- इन उदुम्बरों के फल त्रस जीवों की खान होते हैं, इसलिये उनके खाने में उन त्रस जीवों की हिंसा होती है।

{658}

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात्॥

(पुरु. 4/37/73)

जो पांच उदुम्बर फल (ऊमर, कठूमर, पाकर, बड़, पीपल) काल बीतने पर त्रस जीवों से रहित होकर सूख गये हों, तो भी उनके खाने वाले को विशेष रागादि रूप हिंसा होती है- लगती है।

{659}

मांसमद्यमधुद्यूतवेश्यास्त्रीनक्तभुक्तितः ।
विरतिर्नियमो ज्ञेयोऽनन्तकायादिवर्जनम्॥

(ह. पु. 58/157)

मांस, मदिरा, मधु, जुआ, वेश्या तथा रात्रिभोजन से विरत होना एवं अनन्तकाय फलादि का त्याग करना 'नियम' कहलाता है।

{660}

मांसमद्यमधुद्यूतक्षीरिवृक्षफलोज्झनम् ।
वेश्यावधूरतित्याग इत्यादिनियमो मतः॥

(ह. पु. 18/48)

मद्य-त्याग, मांस-त्याग, मधु-त्याग, द्यूत-त्याग, क्षीरिफल-त्याग, वेश्या-त्याग तथा अन्यवधू-त्याग आदि 'नियम' कहलाते हैं (जो श्रावक के लिए पालनीय होते हैं)।

{661}

पिप्पलोदुम्बर-प्लक्ष-वट-फल्गु-फलान्यदन् ।
हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः॥

(सा. ध. 2/13)

पीपल, उदुम्बर, पिलखन, बड़ और कठूमर के गीले फलों को खाने वाला त्रस जीवों को मारता है। सूखे फलों को भी खाने वाला राग के सम्बन्ध से अपनी आत्मा का घात करता है।

○ अहिंसा आदि अणुव्रतों का पालनः श्रावकोचित आचार

{662}

हिंसादेर्देशतो मुक्तिरणुव्रतमुदीरितम्।

(ह. पु. 18/46)

हिंसादि पापों का एकदेश (आंशिक रूप से) छोड़ना अणुव्रत कहा गया है।

{663}

पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं च हुंति तिन्नेव।
सिक्खावयाइं चउरो सावगधम्मो दुवालसहा॥

(श्रा.प्र. 6)

पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत-इस प्रकार से वह श्रावक धर्म बारह प्रकार का है।

{664}

पंच उ अणुव्वयाइं थूलगपाणिवहविरमणाईणि।
तत्थ पढमं इमं खलु पन्नत्तं वीयरागेहिं॥
थूलपाणिवहस्स विरई, दुविहो अ सो वहो होई।
संकप्पारंभेहि य, वज्जइ संकप्पओ विहिणा॥

(श्रा.प्र. 106-107)

स्थूल प्राणिवध-विरमण आदि अणुव्रत पांच ही हैं। उनमें वीतराग (तीर्थंकरों) द्वारा स्थूलप्राणातिपात-विरमण को प्रथम अणुव्रत के रूप में उपदिष्ट किया गया है।

स्थूल प्राणियों के वध से विरत होने का नाम स्थूल प्राणिवधविरति अणुव्रत है। वह वध संकल्प और आरम्भ के भेद से दो प्रकार का है। उसमें प्रथम अणुव्रत का धारक श्रावक आगमोक्त विधि के अनुसार संकल्प से ही उस वध का परित्याग करता है।

{665}

विरतिः स्थूलहिंसादेर्द्विविध-त्रिविधादिना।
अहिंसादीनि पंचाणुव्रतानि जगदुर्जिनाः॥

(है. योग. 2/18)

स्थूल हिंसा आदि से द्विविध-त्रिविध आदि यानी 6 प्रकार (मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदित आदि रूप) से विरत होने को श्री जिनेश्वरदेवों ने अहिंसादि पांच अणुव्रत रूप से वर्णित किया है।

{666}

पंचाणुव्वया पण्णत्ता, तं जहा- थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे, इच्छापरिमाणे।

(ठा. 5/1/2)

अणुव्रत पांच कहे गये हैं। जैसे-

1. स्थूल प्राणातिपात (त्रस जीव-घात) से विरमण।
2. स्थूल मृषावाद (धर्म-घातक, लोक-विरुद्ध असत्य भाषण) से विरमण।
3. स्थूल अदत्तादान (राज-दण्ड, लोक-दण्ड देने वाली चोरी) से विरमण।
4. स्वदारसन्तोष (पर-स्त्री सेवन से विरमण)।
5. इच्छापरिमाण (इच्छा-परिग्रह का परिमाण करना)।

{667}

हिंसानृतचौर्येभ्यो, मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो, विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥

(रत्नक. श्रा. 49)

पाप (अशुभास्रव) के कारण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह –इन पांचों पापों का एकदेश या सर्वथा त्याग करना सम्यक्चारित्र कहलाता है।

{668}

प्राणातिपातवितथ-व्याहारस्तेयकाममूर्छेभ्यः।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो, व्युपरमणमणुव्रतं भवति॥

(रत्नक. श्रा. 52)

स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह –इन पांचों पापों का एकदेश त्याग अणुव्रत कहलाता है। इन पांचों के त्याग से ही पांच अणुव्रत होते हैं।

{669}

पंच अणुव्वयाइं, तं जहा 1 थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, 2 थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, 3 थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, 4 सदारसंतोसे, 5 इच्छापरिमाणे।

(औप. 57)

5 अणुव्रत इस प्रकार हैं:– 1. स्थूल प्राणातिपात विरति– त्रस जीव की संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा से निवृत्त होना, 2. स्थूल मृषावाद से निवृत्त होना, 3. स्थूल अदत्तादान से निवृत्त होना, 4. स्वदार-संतोष– अपनी परिणीता पत्नी तक सहवास की सीमा, 5. इच्छा– परिग्रह की इच्छा का परिमाण या मर्यादीकरण।

{670}

महाव्रतं भवेत् कृत्स्नहिंसाद्यागोविवर्जितम्।
विरतिः स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुव्रतं मतम्॥

(आ. पु. 39/4)

सूक्ष्म अथवा स्थूल-सभी प्रकार के हिंसादि पापों का त्याग करना 'महाव्रत' कहलाता है और स्थूल हिंसादि दोषों से निवृत्त होने को अणुव्रत कहते हैं।

{671}

विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः।
क्वचिदपरेऽप्यननुमतैः पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः॥

(सा. ध. 4/5)

गृहत्यागी श्रावक में मन, वचन, काय और उनमें से प्रत्येक के कृत, कारित, अनुमोदना, इस प्रकार नौ भंगों के द्वारा स्थूल हिंसा आदि का त्याग पांच अहिंसा आदि अणुव्रत होते हैं। घर में रहने वाले श्रावक में अनुमोदना को छोड़ कर शेष छह भंगों के द्वारा स्थूल हिंसा आदि का त्यागरूप पांच अहिंसा आदि अणुव्रत होते हैं।

{672}

पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं ।
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं॥

(भग. आ. 2074)

हिंसा, असत्य, बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण, पर-स्त्रीगमन और इच्छा का अपरिमाण- इनसे विरतिरूप ही पांच अणुव्रत हैं।

{673}

इत्यनारम्भजां जह्याद् हिंसामारम्भजां प्रति।
व्यर्थस्थावरहिंसावद्यतनां सावहेद् गृही ॥

(सा. ध. 4/10)

गृहत्यागी श्रावक के लिए बतलाये गए विधि के अनुसार ही घर में रहने वाले श्रावक को उठते-बैठते आदि में होने वाली हिंसा को छोड़ना चाहिए। बिना प्रयोजन के एकेन्द्रियघात की तरह आरम्भ में होने वाली हिंसा के प्रति श्रावक सावधानता बरते।

{674}

गृहवासो विनारम्भान्न चारम्भो विना वधात्।
त्याज्यः स यत्नात्तन्मुख्यो दुस्त्यजस्त्वानुषङ्गिकः॥

(सा. ध. 4/12)

गृहस्थाश्रम आरम्भ के बिना संभव नहीं है और आरम्भ हिंसा के बिना नहीं होता। इसलिए जो मुख्य संकल्पी हिंसा है, उसे सावधानतापूर्वक छोड़ना चाहिए। आनुषंगिक (जान-बूझकर नहीं की जाने वाली) हिंसा का छोड़ना तो अशक्य है।

{675}

त्रसस्थावरकायेषु त्रसकायापरोपणात्।
विरतिः प्रथमं प्रोक्तमहिंसाख्यमणुव्रतम्॥

(ह. पु. 58/138)

त्रस और स्थावर के भेद से जीव दो प्रकार के हैं। इनमें-से त्रसकायिक जीवों के विघात से विरत होना पहला अहिंसाणुव्रत कहा गया है।

{676}

सङ्कल्पात्कृतकारित-मननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः, स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः॥

(रत्नक. श्रा. 53)

मन, वचन और काय के कृत, कारित और अनुमोदना रूप नौ सकंल्पों से संकल्प-पूर्वक त्रस जीवों का घात नहीं करना 'अहिंसाणुव्रत' कहलाता है।

{677}

सन्तोषपोषतो यः स्यादल्पारम्भपरिग्रहः।
भावशुद्ध्येकसर्गोऽसावहिंसाणुव्रतं भजेत्॥

(सा. ध. 4/14)

जो सन्तोष से पुष्ट होने के कारण थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह वाला है तथा जो मन की शुद्धि की ओर ध्यान रखता है, वह अहिंसाणुव्रत का पालन कर सकता है।

[विशेषार्थः- आरम्भ और परिग्रह हिंसा की खान है। इसकी बहुतायत में हिंसा की भी बहुतायत होती है और इनके कम होने से हिंसा में भी कमी होती है। किन्तु वह अल्प आरम्भ और अल्पपरिग्रह सन्तोषजन्य होने चाहिएं, अभावजन्य नहीं। गरीबी से पीड़ित जन ऐसे भी हैं जिनके पास न कोई आरम्भ है और न परिग्रह। किन्तु इससे वे महान् दुःखी रहते हैं। उनकी बात नहीं है। ऐसे में भी जो सन्तुष्ट रहते हैं या सन्तोष के कारण आरम्भ और परिग्रह घटा लेते हैं, वे अहिंसाणुव्रत पालने के योग्य होते हैं। इसके साथ ही मानसिक अशुद्धि का नाम ही भावहिंसा है और जैन धर्म में भावहिंसा का नाम ही हिंसा है। भाव हिंसा से सम्बद्ध होने से द्रव्य हिंसा को भी हिंसा कहा जाता है। अतः अहिंसाणुव्रत का पालन करना हो तो मन की शुद्धि की ओर से सदा सावधान रहना चाहिए।]

{678}

जो वावरेइ सदओ अप्पाण-समं परं पि मण्णंतो।
णिंदण-गरहण-जुत्तो परिहरमाणो महारंभे॥
तस-घादं जो ण करदि मण-वय काएहि णेव कारयदि।
कुव्वं पि ण इच्छदि पढम-वयं जायदे तस्स॥

(स्वा. कार्ति. 12/331-332)

जो श्रावक दयापूर्वक व्यापार करता है, अपने ही समान दूसरों को भी मानता है, अपनी निन्दा और गर्हा करता हुआ महाआरम्भ को नहीं करता, जो मन वचन और काय से त्रसजीवों का घात न स्वयं करता है, न दूसरों से कराता है और कोई स्वयं करता हो तो उसे अच्छा नहीं मानता, उस श्रावक के प्रथम अहिंसाणुव्रत होता है।

{679}

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहाःत्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु॥

(पुरु. 4/40/76)

जो जीव अहिंसारूप धर्म को अच्छी तरह से सुन कर भी स्थावर जीवों की हिंसा छोड़ने को असमर्थ हैं, वे जीव भी त्रस जीवों की तो हिंसा त्याग ही दें।

{680}

निरर्थिकां न कुर्वीत जीवेषु स्थावरेष्वपि।
हिंसामहिंसाधर्मज्ञः काङ्क्षन् मोक्षमुपासकः॥

(है. योग.2/21)

अहिंसा धर्म को जानने वाला मुमुक्षु श्रमणोपासक स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा न करे।

{681}

स्तौकेकैन्द्रियघाताद् गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम्॥

(पुरु. 4/41/77)

इन्द्रियों के विषयों को न्यायपूर्वक सेवन करने वाले गृहस्थों को अल्प एकेन्द्रिय घात के अतिरिक्त शेष स्थावर जीवों के मारने का त्याग भी करना चाहिए।

ततो मनसा वचसा कायेन च पृथक्करणकारणानुमननै-र्निवृत्तिरहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाख्यानि पञ्चाणुव्रतानि क्वचिद् गृहवासनिवृत्ते श्रावके अननुमतैऽरनुमतिविवर्जितैर्मनस्करणादिभिः षड्भिः स्थूलहिंसादिनिवृत्त्या संपद्यन्ते तानि मध्यमवृत्त्याऽणुव्रतानि। तस्यापत्यादिभिः हिंसादिकरणे तत्कारणे वा अनुमतेरशक्यप्रतिषेधत्वात्। स एव द्विविधत्रिविधाख्यः स्थूलहिंसादिविरतिभङ्गो बहुविषयत्वाच्छ्रेयान्।

(सा. ध. 4/5 स्वोपज्ञ टीका)

विशेषार्थः- जैन धर्म में जीवों के दो भेद किए गए हैं- त्रस और स्थावर। त्रस जीव स्थूल होने से चलते-फिरते दृष्टिगोचर होते हैं उनकी हिंसा को स्थूल हिंसा कहते हैं और उसके त्याग को अहिंसाणुव्रत कहते हैं। स्नेह और मोह आदि के वशीभूत होकर ऐसा झूठ बोलना जिससे कोई घर उजड़ जाए या गांव ही नष्ट हो जाए, उसे स्थूल असत्य कहते हैं और उसका त्याग दूसरा सत्याणुव्रत है। जिससे दूसरे को कष्ट हो और राजदण्ड का भय हो- ऐसी दूसरे की वस्तु को लेना स्थूल चोरी है और उसका त्याग तीसरा अचौर्याणुव्रत है। परस्त्री और वेश्या से सम्भोग न करना चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रत है। धन, धान्य, जमीन जायदाद आदि का इच्छानुसार परिमाण करना पांचवां परिग्रह-परिमाण अणुव्रत है। ये स्थूल हिंसा आदि मन से, वचन से, काय से तथा कृत कारित ओर अनुमोदना से किए जाते हैं। अतः जो श्रावक गृहवास से निवृत्त हो गया है वह मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से पांचों स्थूल हिंसा आदि का त्याग करता है। ये उत्कृष्ट अणुव्रती कहे जाते हैं। किन्तु जो श्रावक घर में रहता है वह अनुमोदना सम्बन्धी तीन विकल्पों को छोड़कर शेष छह विकल्पों से ही स्थूल हिंसा आदि का त्याग करता है। उन्हें मध्यम अणुव्रती कहते हैं क्योंकि घर में रहने वाले श्रावक के पुत्र-पौत्रादि जो हिंसा आदि करते या कराते हैं उनकी अनुमति से वह नहीं बच सकता, उनमें उसकी अनुमति होती है। इस प्रकार स्थूल हिंसा आदि की निवृत्ति के अनेक प्रकार हैं क्योंकि शक्ति के अनुसार धारण किया गया व्रत यदि सुखपूर्वक पाला जाता है तो वह कल्याणकारी होता है।

अगारिणां विरतिपरिणामविकल्पो निरूप्यते। स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतविकल्पात् त्रिविधं मनोवाक्कायविकल्पैर्न त्यजति। मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं न करोमि, तथा वचसा कायेनेति त्रिविधं कृतम्। मनसा स्थूलकृतं प्राणातिपातादिकं न कारयामि तथा वचसा कायेन चेति त्रिविकल्पं कारितम्। तथा मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं नानुजानामि, तथा वचसा कायेन चेति त्रिभेदमनुमननम्। एवं नवविधं स्थूलकृतप्राणवधादिकं त्यक्तुमशक्तोऽगारी।

तथा मनोवाग्भ्यां स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतिविकल्पात्त्रिविधं कर्तुमशक्तो मनसा न करोमि, न कारयामि, नानुजानामि। वचसा न करोमि, न कारयामि नानुजानामि इति। कायेन कृतकारितानुमतविकल्पान् हिंसादींश्च न समर्थो विहातुम्। तथा च सूत्रम्-

'न खु तिविधं तिविधेण य दुविधेक्कविधेण वापि विरमेज्ज' इति॥

कथं तर्ह्यगारी विरतिमुपैति? अत्रोच्यते- कृतकारितविकल्पाद्द्विप्रकारं हिंसादिकं मनोवाक्कायैस्त्यजति। वाचा कायेन वा हिंसादिविषयं कृतकारितं त्यजति। कायेन एकेन वा कृतं कारितं त्यजति। अत एवोक्तं 'दुविधं पुण तिविधेण य दुविधेकविधेण वा विरमेज्ज' इति। अथवा हिंसायाः स्वयं करणमेकं मनोवाक्कायैस्त्यजति। नाहं मनसा वाचा कायेन स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं पंचकं करोमीति अभिसंधिपूर्वकं विरमणं करोति। वाक्कायाभ्यां वा स्वयं करणं त्यजति कायेनैकेन वा। तथा चोक्तम्-'एकविधं तिविधेण वापि विरमेज्ज' इति।

(भग. आ. विजयो. 118)

अब गृहस्थों के विरतिरूप परिणामों के भेद कहते हैं-कृत, कारित और अनुमत के भेद से तीन भेदरूप स्थूल हिंसा आदि को गृहस्थ मन-वचन-काय से नहीं त्यागता है। मन से स्थूल हिंसा आदि को नहीं करता हूं तथा वचन से और काय से नहीं करता हूं, ये तीन भेद कृत के हैं। मन से स्थूल हिंसा आदि को न कराता हूं तथा वचन से और काय से नहीं कराता हूं, ये तीन भेद कारित के हैं। तथा मन से स्थूल हिंसा आदि में अनुमति नहीं देता हूं तथा वचन से और काय से अनुमति नहीं देता हूं- ये तीन भेद अनुमत के हैं। इस प्रकार नौ प्रकार की स्थूल हिंसा आदि का त्याग करने में गृहस्थ असमर्थ होता है। तथा कृत-कारित-अनुमत के भेद से तीन भेदरूप स्थूल हिंसा आदि को मन और वचन से करने में असमर्थ होता है। मन से न करता हूं, न कराता हूं और न अनुमति देता हूं। वचन से न करता हूं, न कराता हूं

और न अनुमति देता हूं। काय से कृत-कारित-अनुमतरूप हिंसा आदि को छोड़ने में समर्थ नहीं हूं। सूत्र में कहा है-कृत-कारित-अनुमत के भेद से तीन भेद रूप हिंसा आदि को मन-वचन-काय से अथवा मन व वचन से अथवा काय से त्याग नहीं करता है।

तब गृहस्थ कैसे त्याग करता है यह बतलाते हैं-

कृत और कारित के भेद से दो भेदरूप हिंसा आदि को मन-वचन-काय से छोड़ता है। कृत कारित रूप हिंसादि को वचन और काय से छोड़ता है। अथवा कृत-कारित रूप हिंसा आदि को एक काय से छोड़ता है। इसी से कहा है- 'कृत-कारित रूप हिंसा आदि को तीन रूप से, दो रूप से या एक रूप से छोड़ता है।' अथवा हिंसा के एक स्वयं करने को मन-वचन-काय से त्यागता है। 'मैं मन से, वचन से, काय से स्थूल हिंसादि पांच पापों को नहीं करता हूं' इस प्रकार संकल्पपूर्वक त्याग करता है। अथवा स्वयं करने को वचन और काय से त्यागता है या एक काय से त्यागता है। कहा है-एक कृत को तीन प्रकार से त्यागता है।

{684}

स्वल्पकालवर्त्यपि अहिंसाव्रतं करोत्यात्मनो महान्तमुपकारमित्याख्यानं कथयति-

पाणो वि पाडिहेरं पत्तो छूढो वि सुंसुमारहदे।
एगेण एक्कदिवसक्कदेण हिंसावदगुणेण॥

(भग. आ. विजयो. 816)

थोड़े समय के लिए पाला गया भी अहिंसा व्रत आत्मा का महान् उपकार करता है -इसे दृष्टान्त द्वारा कहते हैं-

यमपाल चण्डाल भी एक चतुर्दशी के दिन किसी को फांसी न देने के एक अहिंसाव्रत के गुण से मगरमच्छों से भरे तालाब में फेंक दिए जाने पर प्रातिहार्य को प्राप्त हुआ- देवों ने उसकी पूजा की।

(सत्य-अणुव्रत)

{685}

हिंसा-वयणं ण वयदि कक्कस-वयणं पि जो ण भासेदि।
णिट्ठुर-वयणं पि तहा ण भासदे गुज्झ-वयणं पि॥
हिद-मिद-वयणं भासदि संतोस-करं तु सव्व-जीवाणं।
धम्म-पयासण-वयणं अणुव्वदी होदि सो बिदिओ॥

(स्वा. कार्ति. 12/333-334)

जो हिंसक वचन नहीं कहता, कठोर वचन और निष्ठुर वचन नहीं कहता और न दूसरों की गुप्त बात को प्रकट करता है, जो हितकारक व मित वचन बोलता है, सब जीवों को सन्तोषकारक वचन बोलता है, और धर्म का प्रकाश करने वाला वचन बोलता है, वह दूसरे सत्याणुव्रत का धारी है।

{686}

उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं।
एसो वाइयविणओ जहारिहो होदि कादव्वो॥

(भग. आ. 126)

उपशान्त वचन, जो वचन गृहस्थों के योग्य नहीं है, आरम्भ (हिंसा) से शून्य वचन, दूसरों की अवज्ञा न करने वाला वचन बोलना -यह वाचिक विनय है जो योग्यतानुसार पालनीय होती है।

(विशिष्ट अहिंसा-आराधक श्रावक)

{687}

स्थूलहिंसानृतस्तेयमैथुनग्रन्थवर्जनम्।
पापभीरुतयाऽभ्यसेद् बलवीर्यानिगूहकः॥

(सा. ध. 2/16)

अपने बल और वीर्य को न छिपाकर अर्थात् अपनी अन्तरंग और शरीरिक शक्ति के अनुसार पाक्षिक श्रावक को पाप के भय से स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल मैथुन और स्थूल परिग्रह के त्याग का अभ्यास करना चाहिए।

{688}

जो आरंभं ण कुणदि अण्णं कारयदि णेव अणुमण्णे।
हिंसा-संतट्ठ-मणो चत्तारंभो हवे सो हु॥

(स्वा. कार्ति. 12/385)

जो श्रावक 'आरम्भ' (हिंसा-संकल्प) नहीं करता, न दूसरे से कराता है और जो आरम्भ करता है उसकी अनुमोदना नहीं करता, हिंसा से भयभीत मन वाले उस श्रावक को आरम्भत्यागी कहते हैं।

(अहिंसा अणुव्रत के अतिचार)

{689}

गतिरोधकरो बन्धो वधो दण्डातिताडना।
कर्णाद्यवयवच्छेदोऽप्यतिभारातिरोपणम्॥
अन्नपाननिरोधस्तु क्षुद्बाधादिकरोऽङ्गिनाम्।
अहिंसाणुव्रतस्योक्ता अतिचारास्तु पञ्च ते॥

(ह. पु. 58/164-165)

जीवों की गति में रुकावट डालने वाला बन्ध, दण्ड आदि से अत्यधिक पीटना, वध, कान आदि अवयवों का छेदना, अधिक भार लादना और भूख आदि की बाधा करने वाला अन्नपान का निरोध- ये पांच अहिंसाणुव्रत के अतिचार कहे गये हैं।

{690}

छेदनबन्धनपीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणाणि च, स्थूलवधाद् व्युपरतेः पञ्च॥

(रत्नक. श्रा. 54)

1. छेदन-कान, नाक आदि का छेदन 2. बन्धन -स्वतन्त्र चलने-फिरने से रोकना, 3. पीडन (वध) -डण्डे और कोड़े आदि से मारना, 4. अतिभारारोपण-शक्ति से अधिक बोझ लादना, 5. आहारवारणा-समय पर पर्याप्त भोजन नहीं देना। दुर्भावनापूर्वक किये गये ये पांच कार्य अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

{691}

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति॥

(पुरु. 6/3/183)

(किसी जीव के) अंग का छेदन, मारना-पीटना, बहुत अधिक बोझ का लादना और अन्न-जल रोकना- इस प्रकार अहिंसाणुव्रत के ये पांच अतिचार हैं।

{692}

क्रोधाद् बन्ध-छविच्छेदोऽतिभाराधिरोपणम्।
प्रहारोऽन्नादिरोधश्चाहिंसायाः परिकीर्तिताः॥

(है. योग. 3/90)

1. क्रोध पूर्वक किसी जीव को बांधना, 2. उसके अंग काट देना, 3. उसके बलबूते से अधिक बोझ लाद देना, 4. उसे चाबुक आदि से बिना कसूर ही मारना, 5. उसका खाना-पीना बंद कर देना... ये पांच अतिचार अहिंसाणुव्रत के बताये गये हैं।

{693}

बंधवहछविच्छेए अइभारे भत्तपाणवुच्छेए।
कोहाइदूसियमणो गो-मणुयाईण नो कुज्जा॥

(श्रा.प्र. 258)

प्रथम अणुव्रत का धारक श्रावक क्रोधादि कषायों से मन को कलुषित कर गाय आदि पशुओं और मनुष्यों आदि का बंध, वध, छविच्छेद, अतिभार और भक्त-पानव्युच्छेद न करे।

{694}

थूलगस्स पाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा- बंधे, वहे, छवि-च्छेए, अइभारे, भत्त-पाण-वोच्छेए।

(उवा. 1/45)

इसके बाद श्रमणोपासक को स्थूल-प्रणातिपातविरमाण व्रत के पांच प्रमुख अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं-

बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार, भक्त-पान-व्यवच्छेद।

[बन्धः- इसका अर्थ बांधना है। पशु आदि को इस प्रकार बांधना, जिससे उनको कष्ट हो, बन्ध में परिगणित होता है। व्याख्याकारों ने दास आदि के बांधने को भी 'बन्ध' बताया है। उन्हें भी इस प्रकार बांधना, जिससे उन्हें कष्ट हो, इस अतिचार में शामिल है। दास आदि को बांधने का उल्लेख भारत के उस समय की ओर संकेत करता है, जब दास और दासी पशु तथा अन्यान्य अधिकृत सामग्री की तरह खरीदे-बेचे जाते थे। स्वामी का उन पर पूर्ण अधिकार होता था। पशुओं की तरह वे जीवन भर के लिए उनकी सेवा करने को बाध्य होते थे।

शास्त्रों में बन्ध दो प्रकार के बतलाए गए हैं- एक अर्थ-बन्ध तथा दूसरा अनर्थ-बन्ध। किसी प्रयोजन या हेतु से बांधना अर्थ-बन्ध में आता है, जैसे किसी रोग की चिकित्सा के लिए बांधना पड़े या किसी आपत्ति से बचाने के लिए बांधना पड़े। प्रयोजन या कारण के बिना बांधना अनर्थ-बन्ध है, जो सर्वथा हिंसा है। यह अनर्थ-दंड विरमण नामक आठवें व्रत के अन्तर्गत अनर्थ-दंड में जाता है। प्रयोजनवश किए जाने वाले बन्ध के साथ क्रोध, क्रूरता, द्वेष जैसे कलुषित भाव नहीं होने चाहिएं। यदि होते हैं तो वह अतिचार है। व्याख्याकारों ने अर्थ-बन्ध को सापेक्ष और निरपेक्ष- दो भेदों में बांटा है। सापेक्ष बन्ध वह है, जिससे छूटा जा सके, उदाहरणार्थ- कहीं आग लग जाय, वहां पशु बंधा हो, वह यदि हलके रूप में बंधा होगा तो वहां से छूट कर बाहर जा सकेगा। ऐसा बन्ध अतिचार में नहीं आता। पर वह बन्ध, जिससे भयजनक स्थिति उत्पन्न होने पर प्रयत्न करने पर भी छूटा न जा सके, निरपेक्ष बन्ध है। वह अतिचार में आता है। क्योंकि छूट न पाने पर बंधे हुए प्राणी को घोर कष्ट होता है, उसका मरण भी हो सकता है।

वध-साधारणतया वध का अर्थ किसी को जान से मारना है। पर, यहां वध इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। क्योंकि किसी को जान से मारने पर तो अहिंसा व्रत सर्वथा खंडित ही हो जाता है। वह तो अनाचार है। यहां वध घातक प्रहार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा प्रहार जिससे व्यक्ति के अंग-उपांग को हानि पहुंचे।

छविच्छेद- छवि का अर्थ सुन्दरता है। इसका एक अर्थ अंग भी किया जाता है। छविच्छेद का तात्पर्य किसी की सुन्दरता, शोभा मिटा देने अर्थात् अंग-भंग कर देने से है। किसी का कोई अंग काट डालने से वह सहज ही छविशून्य हो जाता है। क्रोधावेश में किसी का अंग काट डालना इस अतिचार में शामिल है। मनोरंजन के लिए कुत्ते आदि पालतू पशुओं की पूंछ, कान आदि काट देना भी इस अतिचार में आता है।

अतिभार- पशु, दास आदि पर उनकी ताकत से ज्यादा बोझ लादना अतिभार में आता है। आज की भाषा में नौकर, मजदूर, अधिकृत कर्मचारी से इतना ज्यादा काम लेना, जो उसकी शक्ति से बाहर हो, अतिभार ही है।

भक्त-पान-व्यवच्छेद-इसका अर्थ खान-पान में बाधा या व्यवधान डालना है। जैसे अपने आश्रित पशु को यथेष्ट चारा एवं पानी समय पर नहीं देना, भूखा-प्यासा रखना। यही बात दास-दासियों पर भी लागू होती है। उनकी भी खान-पान की व्यवस्था में व्यवधान या विच्छेद पैदा करना, इस अतिचार में शामिल है। आज के युग की भाषा में अपने नौकरों तथा कर्मचारियों आदि को समय पर वेतन न देना, वेतन में अनुचित रूप में कटौती कर देना, किसी की आजीविका में बाधा पैदा कर देना, सेवकों तथा आश्रितों से खूब काम लेना, पर उनके अनुपात में उचित व पर्याप्त भोजन न देना, वेतन न देना, इस अतिचार में शामिल है। ऐसा करना बुरा कार्य है, जनता के जीवन के साथ खिलवाड़ है।

इन अतिचारों में पशुओं की विशेष चर्चा आने से स्पष्ट है कि तब पशु-पालन एक गृहस्थ के जीवन का आवश्यक भाग था। घर, खेती, तथा व्यापार के कार्यों में पशु का विशेष उपयोग था। आज सामाजिक स्थितियां बदल गई हैं। निर्दयता, क्रूरता, अत्याचार आदि अनेक नये रूपों में उभरे हैं। इसलिए धर्मोपासक को अपनी दैनिन्दिन जीवन-चर्या को बारीकी से देखते हुए इन अतिचारों के मूल भाव को ग्रहण करना चाहिए और निर्दयतापूर्ण कार्यों का वर्जन करना चाहिए।]

(ब्रह्मचारी के लिए अणुव्रत पालनीय-)

{695}

ततोऽस्याधीतविद्यस्य व्रतवृत्त्यवतारणम्।
विशेषविषयं तच्च स्थितस्यौत्सर्गिके व्रते॥
मधुमांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम्।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् सार्वकालिकम्॥

(आ. पु. 38/121-122)

समस्त विद्याओं का अध्ययन कर लेने के बाद उस ब्रह्मचारी की व्रतावतरण क्रिया होती है। इस क्रिया में वह साधारण व्रतों का तो पालन करता ही है परन्तु अध्ययन के समय जो विशेष व्रत ले रखे थे उनका परित्याग कर देता है। इस क्रिया के बाद उस के लिए मधुत्याग, मांसत्याग, पांच उदुम्बर फलों का त्याग और हिंसा आदि पांच स्थूल पापों का त्याग, ये सदा काल अर्थात् जीवन पर्यन्त रहने वाले पालनीय व्रत रह जाते हैं।

{696}

एवंप्रायेण लिङ्गेन विशुद्धं धारयेद् व्रतम्।
स्थूलहिंसाविरत्यादि ब्रह्मचर्योपबृंहितम्॥

(आ. पु. 38/114)

ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह व्रतोचित चिह्नों से विशुद्ध और ब्रह्मचर्य के साथ स्थूल हिंसा का त्याग (अहिंसाणुव्रत) आदि व्रत धारण करे।

O स्थावर-हिंसा से अहिंसा अणुव्रत भंग नहीं:

(शास्त्रीय शंका-समाधान)

{697}

तसपाणघायविरई तत्तो थावरगयाण वहभावा।
नागरग-वहनिवित्ती-नायाओ केइ नेच्छंति॥
पच्चक्खायंमि इहं नागरगवहम्मि निग्गयं पि तओ।
तं वहमाणस्स न किं जायइ वहविरइभंगो उ॥
इय अवि सेसा तसपाणघायविरइं काउ तं तत्तो।

थावरकायमणुगयं वहमाणस्स धुवो भंगो॥
तसभूयपाणविरई तब्भावंमि वि न होइ भंगाय।
खीरविगइपच्चक्खातदहियपरिभोगकिरिय व्व॥
तम्हा विसेसिऊणं इय विरई इत्थ होइ कायव्वा।

(श्रा.प्र. 119-123)

कितने ही वादी नागरिक-वध की निवृत्ति क उदाहरण से उस त्रस प्राणियों के घात की विरति को इसलिए नहीं स्वीकार करते हैं कि उससे, त्रस अवस्था छोड़ कर स्थावरों में उत्पन्न हुए उन त्रस जीवों के घात की सम्भावना से, स्वीकृत (अणुव्रती का) व्रत भंग हो सकता है।

[नागरिकवधनिवृत्ति न्याय इस प्रकार है- यहां किसी के द्वारा नागरिक-वध का प्रत्याख्यान करने पर-जब वह ऐसे व्यक्ति का वध करता है, जो नगर में कभी रहा हो, किंतु बाद में नगर से निकल कहीं और रह रहा है। उस समय क्या उसके वध से वध-कर्ता का 'वध-विरति का व्रत' भंग नहीं हो जाता है? वह भंग होता ही है। अब इस दृष्टान्त की योजना दार्ष्टान्त के साथ की जाती है:-]

इस प्रकार सामान्य रूप से त्रस-प्राणघातविरति को स्वीकार करके उससे-द्वीन्द्रियादिरूप त्रस पर्याय से-स्थावरकाय को प्राप्त हुए उस त्रस का घात करते हुए श्रावक का वह व्रत निश्चित ही भंग होता है।

(उक्त शंका का समाधान)

त्रसभूत- त्रस पर्याय से अधिष्ठित प्राणियों के वध का व्रत, त्रस पर्याय से स्थावर को प्राप्त उन प्राणियों का वध करने पर भी, नष्ट नहीं होता है। जैसे दूध रूप विकार (गोरस) का प्रत्याख्यान करने पर दहीरूप विकार का उपभोग करना व्रत-भंग का कारण नहीं होता है।

इसलिए-उक्त दोष को दूर करने के लिए विशेषता के साथ-'भूत' शब्द के उपादानपूर्वक- त्रसभूत प्राणियों के घात का यहां व्रत करना चाहिए, न कि सामान्य से त्रस प्राणियों के घात का। (इस प्रकार यहां तक वादी ने अपने पक्ष को स्थापित किया है।)

[वादी का अभिप्राय यह है कि यदि सामान्य से त्रस प्राणियों के घात का व्रत कराया जाता है, तो वैसी अवस्था में जो द्वीद्रियादि त्रस जीव मर कर स्थावरों में उत्पन्न हुए हैं, उनका आरम्भ में प्रवृत्त हुआ श्रावक घात कर सकता है। इस प्रकार स्थावर अवस्था को प्राप्त हुए उन त्रस जीवों का घात होने पर श्रावक का वह व्रत भंग हो जाता

है। इसके लिए नागरिक-वध की निवृत्ति का उदाहरण भी है- जैसे किसी ने यह नियम किया कि 'मैं किसी नागरिक का घात नहीं करूंगा।' ऐसा नियम करने पर यदि वह नगर से बाहर निकले हुए किसी नागरिक का वध करता है तो जिस प्रकार उसका वह व्रत भंग हो जाता है, उसी प्रकार जिस श्रावक ने सामान्य से 'मैं त्रस जीवों का घात नहीं करूंगा' इस प्रकार के व्रत को स्वीकार किया है, वह जब त्रस पर्याय को छोड़ कर स्थावर पर्याय को प्राप्त हुए उन त्रस जीवों का प्रयोजन के वश घात करता है, तब उसका भी वह व्रत भंग होता है। और यह असम्भव भी नहीं है, क्योंकि कुछ त्रस जीव मरण को प्राप्त होकर उस त्रस पर्याय से स्थावर पर्याय को प्राप्त हो सकते हैं। अतः सामान्य से उन त्रस जीवों के घात का व्रत कराना उचित नहीं है। तब किस प्रकार से विशेषण से विशेषित उन त्रस जीवों के घात का व्रत कराना उचित है। इसे स्पष्ट करता हुआ वादी कहता है कि 'भूत' शब्द से विशेषित त्रसभूत-त्रस पर्याय से अधिष्ठित-उन त्रसों के विघात का व्रत कराने पर त्रस पर्याय को छोड़ कर स्थावरों में उत्पन्न हुए उन जीवों का घात करने पर भी वह उसका स्वीकृत व्रत भंग होने वाला नहीं है। कारण यह कि तब वे त्रसभूत-त्रस पर्याय से अधिष्ठित नहीं रहे। इसके लिए वादी के द्वारा उदाहरण दिया गया है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य क्षीरभूत गोरस का प्रत्याख्यान करके यदि दही का उपभोग करता है तो उसका वह व्रत भंग नहीं होता है। कारण यह कि गोरस के रूप में दोनों के समान होने पर भी दही क्षीरभूत नहीं रहा। यही अभिप्राय प्रकृत में समझना चाहिए।]

(वादी की शंका का प्रत्युत्तर)

{698}

नागरगंमि वि गामाइसंकमे अवगयंमि तब्भावे ।
नत्थि हु वहे वि भंगो अणवगए किमिह गामेण ॥

(श्रा.प्र. 131)

वादी के द्वारा दृष्टान्त रूप से उपस्थित किए गए नागरिक के ग्राम आदि में पहुंचने पर यदि उसकी नागरिकता नष्ट हो जाती है, तो फिर उसके वध में भी व्रत भंग होने वाला नहीं है और यदि वहां भी उसकी नागरिकता बनी रहती है तो फिर ग्राम से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? कुछ भी नहीं।

[वादी ने नागरिक का दृष्टान्त देते हुए कहा था कि जिस प्रकार नगर से बाहर ग्राम आदि में गए हुए नागरिक का वध करने पर नागरिक-वध का प्रत्याख्यान करने वाले का व्रत भंग होता है, उसी प्रकार मरण को प्राप्त होकर त्रस पर्याय से स्थावर पर्याय को प्राप्त हुए त्रस जीवों का वध करने पर त्रस-वध का प्रत्याख्यान करना चाहिए, न कि सामान्य रूप से। इस पर यहां वादी से पूछा गया है कि नगर के बाहर जाने पर उसकी नागरिकता नष्ट होती है या तदवस्थ बनी रहती है? यदि वह नष्ट हो जाती है, तब तो उसका वहां वध करने पर भी उसका वह नागरिक-वध का व्रत भंग नहीं होता है, क्योंकि वह उस समय नागरिक नहीं रहा- उसकी नागरिकता वहां वादी के अभिप्रायानुसार समाप्त हो जाती है। इस पर यदि यह कहा जाए कि उसकी नागरिकता वहां भी बनी रहती है, तो फिर गांव में जाने के निर्देश से क्या लाभ है, क्योंकि नागरिकता के वहां भी तदवस्थ रहने से वह वहां भी उसके लिए अवध्य है। इस प्रकार वादी के द्वारा उपन्यस्त वह नागरिक-वध का दृष्टान्त यहां लागू नहीं होता।]

{699}

न य सइ तसभावंमि थावरकायगयं तु सो वहइ।
तम्हा अणायमेयं मुद्धमइविलोहणं नेयं ॥

(श्रा.प्र. 132)

इसके अतिरिक्त, त्रसघात का प्रत्याख्यान करने वाला वह श्रावक त्रस अवस्था के रहने पर उस स्थावरकाय को प्राप्त हुए जीव का घात नहीं करता। इसलिए यह नागरिक वध का उदाहरण वस्तुतः उदाहरण न हो कर मूढ़ बुद्धियों को लुब्ध करने वाला अनुदाहरण ही समझना चाहिए।

[जिन जीवों के त्रस नामकर्म का उदय रहता है, वे त्रस कहलाते हैं। इससे जो जीव मरण को प्राप्त होते हैं, स्थावरकाय को प्राप्त होते हैं वे त्रस नहीं रहते, किंतु स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर होते हैं। इस प्रकार त्रस पर्याय के विनष्ट हो जाने पर यदि त्रस प्राणि-वध का प्रत्याख्यान करने वाला कोई श्रावक प्रयोजन-वश उनका घात करता है तो इससे उसका वह व्रत भंग होने वाला नहीं है। वादी के अभिमतानुसार 'भूत' शब्द का प्रयोग करने पर भी वे त्रस नहीं हो सकते, किंतु स्थावर नाम कर्म के उदय से वे स्थावर ही रहने वाले हैं। कारण यह कि त्रस पर्याय के रहते हुए कोई जीव स्थावर हो ही नहीं सकता। इससे यह निश्चित है कि नागरिक-वध का वह उदाहरण यथार्थ में उदाहरण नहीं है। इस प्रकार प्रथम अणुव्रत को ग्रहण कराते हुए जो श्रावक से त्रस प्राणियों के वध का प्रत्याख्यान कराया जाता है, वह सर्वथा निर्दोष है, यह सिद्ध होता है।]

O हिंसक पशुओं के साथ श्रावक का अहिंसक व्यवहार

(औचित्य सम्बन्धी शंका-समाधान)

{700}

सव्ववहसमत्थेणं पडिवन्नाणुव्वएण सिंहाई।
ण घाईओ त्ति तेणं तु घाइतो जुगप्पहाणो उ॥
तत्तो तित्थुच्छेओ धणियमणत्थो पभूयसत्ताणं ।
ता कइ न होइ दोसो तेसिमिह निवित्तिवादीणं॥
तम्हा नेव निवित्ती कायव्वा अवि य अप्पणा चेव।
अद्धोचियमालोचिय अविरुद्धं होइ कायव्वं॥

(श्रा.प्र. 165-167)

समस्त दुष्ट प्राणियों के वध में समर्थ किसी श्रावक ने अणुव्रत को स्वीकार कर लेने के कारण सिंह आदि हिंस्र प्राणी का घात नहीं किया। उधर उस सिंह ने किसी युग-प्रधान-

अनुयोग के धारक परम हितैषी साधु- का घात कर डाला। उससे युगप्रधान के घात से- तीर्थ का उच्छेद हो गया, जिससे अनेक आत्महितैषी जीवों का अत्यंत अनर्थ हुआ। इससे उन निवृत्तिवादियों के लिए दोष कैसे नहीं होता है? इस कारण प्राणवधनिवृत्ति नहीं करानी चाहिए। किंतु स्वयं ही समयोचित आलोचना को करके जिसमें किसी प्रकार का विरोध सम्भव न हो, ऐसा आचरण करना चाहिए।

[वादी अपने अभिमत को प्रस्तुत करता हुआ कहता है कि इस प्रकार से जो लोक का अहित होने वाला है, उसके संरक्षण की दृष्टि से किसी को प्राण-वध का प्रत्याख्यान नहीं कराना चाहिए। यदि कभी लोकहित की दृष्टि से किसी क्रूर प्राणी का घात भी करना पड़े तो उसे करके समयानुसार यथायोग्य आलोचनापूर्वक प्रायश्चित्त ग्रहण करके अपने को दोष से मुक्त करना ही उचित है।]

(वादी के उक्त मत का निराकरण करते हुए कथन-)

{701}

किं वा तेणावहिओ कहिंचि अहिमाइणा न खज्जेज्जा।
सो ता इहंपि दोसो कहं न होइ त्ति चिंतमिणं॥

(श्रा.प्र. 170)

अथवा उक्त आचार्य सिंह के द्वारा न मारा जा कर क्या किसी प्रकार-अंधेरी रात में प्रमाद के वश होकर-सर्प आदि के द्वारा नहीं खाया जा सकता है? यह भी सम्भव है। सिंह से बचाए जाने पर भी-कैसे दोष नहीं हो सकता है? सिंह से उसके बचाए जाने पर भी उपर्युक्त दोष संभव है। इस प्रकार वादी का उपर्युक्त कथन सोचनीय है-वह युक्तिसंगत नहीं है।

{702}

सीहवहरक्खिओ सो उड्डाहं किंपि कह वि काऊणं।
किं अप्पणो परस्स य न होइ अवगारहेउ त्ति॥
किं इय न तित्थहाणी किं वा वहिओ न गच्छई नरयं।
सीहो किं वा सम्मं न पावई जीवमाणो उ॥

(श्रा.प्र. 168-169)

सिंह के वध से रक्षित वह युग-प्रधान क्या किसी परस्त्री-सेवनादिरूप निकृष्ट आचरण को किसी प्रकार से-क्लिष्ट कर्म के उदय से- करके अपने व अन्य के अपकार का

कारण नहीं हो सकता था? यह भी तो सम्भव था। इस प्रकार-सिंह से बच कर निकृष्ट आचरण करने पर-भी क्या उस युग-प्रधान के द्वारा तीर्थ की हानि नहीं हो सकती थी? इस प्रकार से भी वह तीर्थहानि हो सकती थी। अथवा क्या इस प्रकार से मारा जाकर वह सिंह दुष्ट अभिप्राय के कारण नरक को नहीं जा सकता है? अवश्य जा सकता है। अथवा वही सिंह जीवित रहकर क्या सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त कर सकता है? जीवित रह कर वह किसी अतिशयवान साधु के समीप में उस सम्यक्त्व को पा करके आत्मल्याण भी कर सकता है। इस कारण आगन्तुक दोष की सम्भावना से सिंहादिक किसी भी प्राणी का वध करना उचित नहीं है।

○ जीव के शरीर-घात से उसकी आत्मा का वध कैसे? समाधान

{703}

अन्नुन्नाणुगमाओ भिन्नाभिन्नो तओ सरीराओ।
तस्स य वहंमि एवं तस्स वहो होइ नायव्वो॥

(श्रा.प्र. 190)

(यहां कोई शंका करता है कि आत्मा तो अमर होती है। उसका घात तो संभव नहीं। फिर, शरीर-घात करने वाले को जीव-वध का दोष कैसे लगता है? इसका समाधान यहां पस्तुत है:-) परस्पर में अनुप्रविष्ट होने के कारण उसे (जीव को) शरीर से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना चाहिए। इस प्रकार शरीर का वध करने पर उस जीव का वध होता है- ऐसा जानना चाहिए।

{704}

तप्पज्जायविणासो दुक्खुप्पाओ अ संकिलेसो य।
एस वहो जिणभणिओ तज्जेयव्वो पयत्तेणं॥

(श्रा.प्र. 191)

जिससे जीव की उस पर्याय का-मनुष्य व हिरण आदि अवस्था- विशेष का- विनाश होता है, उसे दुःख उत्पन्न होता है, तथा परिणाम में संक्लेश होता है, उसे जिन भगवान् के द्वारा 'वध' कहा गया है। उसे प्रयत्नपूर्वक छोड़ना चाहिए।

{705}

यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्वाक्चित्तकर्म्मभिः कार्यम्।
स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिमं लिङ्गम्॥

(ज्ञा. 2/168/221)

(अहिंसा) धर्म का मुख्य (प्रधान) चिह्न यह है कि, जो जो क्रियायें अपने को अनिष्ट (बुरी) लगती हों, उन-उन को अन्य के लिए मन-वचन-काय से स्वप्न में भी नहीं करना चाहिए।

{706}

परिसुद्धजलग्गहणं दारुय-धन्नाइयाण तह चेव।
गहियाण वि परिभोगो विहीइ तसरक्खणट्ठाए॥

(श्रा.प्र. 259)

त्रस जीवों की रक्षा के लिए निर्मल जल और विशुद्ध लकड़ी एवं धान्य आदि का भी ग्रहण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त ग्रहण किए हुए पदार्थों का उपभोग भी विधिपूर्वक करना चाहिए।

{707}

न्यायसम्पन्नविभवः शिष्टाचार-प्रशंसकः।
कुलशीलसमैः सार्द्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः॥
अवर्णवादी न क्वाऽपि राजादिषु विशेषतः।
अनतिव्यक्तगुप्ते च स्थाने सुप्रातिवेश्मिके॥
अनेकनिर्गमद्वारविवर्जितनिकेतनः ॥
कृतसंगः सदाचारैर्माता-पित्रोश्च पूजकः।
त्यजन्नुपप्लुतं स्थानमप्रवृत्तश्च गर्हिते॥
व्ययमायोचितं कुर्वन् वेषं वित्तानुसारतः।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः शृण्वानो धर्ममन्वहम्॥
अजीर्णे भोजनत्यागी काले भोक्ता च सात्म्यतः।
अन्योन्याऽप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयन्॥

यथावदतिथौ साधौ दीने च प्रतिपत्तिकृत्।
सदाऽनभिनिविष्टश्च पक्षपाती गुणेषु च॥
अदेशाकालयोश्चर्यां त्यजन् जानन् बलाबलम्।
वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां पूजकः पोष्य-पोषकः॥
दीर्घदर्शी विशेषज्ञः कृतज्ञो लोकवल्लभः।
सलज्जः सदयः सौम्यः परोपकृतिकर्मठः॥
अंतरंगारिषड्वर्ग-परिहार-परायणः ।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो गृहिधर्माय कल्पते॥

(है. योग. 1/47-56)

1. धन-वैभव को न्याय से उपार्जित करने वाला, 2. शिष्टाचार (उत्तम आचरण) का प्रशंसक, 3. समान कुल-शील वाले अन्य गोत्र के साथ विवाह करने वाला, 4. पापभीरु, 5. प्रसिद्ध देशाचार का पालक, 6. किसी का भी अवर्णवादी नहीं; विशेष कर राजादि के अवर्णवाद का त्यागी, 7. उसका घर न अतिगुप्त हो और न अतिप्रगट तथा उसका पड़ौस अच्छा हो और उसके मकान में जाने-आने के अनेक द्वार नहीं हों, 8. सदाचारी का सत्संग करने वाला, 9. माता-पिता का पूजक, 10. उपद्रव वाले स्थान को छोड़ देने वाला, 11. निंदनीय कार्य में प्रवृत्ति नहीं करने वाला, 12. आय के अनुसार व्यय करने वाला, 13. वैभव के अनुसर वेष-भूषा धारण करने वाला, 14. बुद्धि के आठ गुणों से युक्त, 15. हमेशा धर्मश्रवणकर्ता, 16. अजीर्ण के समय भोजन का त्यागी, 17. भोजनकाल में स्वस्थता से पथ्ययुक्त भोजन करने वाला, 18. धर्म, अर्थ और काम- इन तीन वर्गों का परस्पर, अबाधक-रूप से साधक, 19. अपनी शक्ति के अनुसार अतिथि, साधु एवं दीन-दु:खियों की सेवा करने वाला, 20. मिथ्या आग्रह से सदा दूर, 21. गुणों का पक्षपाती, 22. निषिद्ध देशाचार एवं निषिद्ध कालाचार का त्यागी, 23. बलाबल का सम्यक् ज्ञाता, 24. व्रत-नियम में स्थित ज्ञानवृद्धों का पूजक, 25. आश्रितों का पोषक, 26. दीर्घदर्शी, 27. विशेषज्ञ, 28. कृतज्ञ, 29. लोकप्रिय, 30. लज्जावान्, 31. दयालु, 32. शांतस्वभावी, 33. परोपकार करने में कर्मठ, 34. कामक्रोधादि अंतरंग छह शत्रुओं को दूर करने में तत्पर, 35. इंद्रिय-समूह को वश में करने वाला; इन पूर्वोक्त 35 गुणों से युक्त व्यक्ति गृहस्थ धर्म (देशविरतिचारित्र) पालन करने के योग्य बनता है।

{708}

धम्मरयणस्स जोगो, अक्खुद्दो रुववं पगइसोम्मो।
लोयप्पियो अक्कूरो, भीरु असठो सुदक्खिन्नो।
लज्जालुओ दयालू, मज्झत्थो सोम्मदिट्ठी गुणरागी।
सक्कह सपक्खजुत्तो, सुदीहदंसी विसेसन्नु।
वुड्ढाणुरागो विणीओ, कयन्नुओ परहिजत्थकारी य।
तह चेव लद्धलक्खो, एगवीसगुणो हवई सड्ढो॥

(प्रवचनसारोद्धार 1356-1358)

धर्म को धारण करने योग्य श्रावक में 21 गुण होने चाहिएं। यथा:- 1. अक्षुद्र, 2. रूपवान्, 3. प्रकृति-सौम्य, 4. लोकप्रिय, 5. अक्रूर, 6. पापभीरु, 7.अशठ (छल नहीं करने वाला), 8. सदाक्षिण्य (धर्मकार्य में दूसरों की सहायता करने वाला), 9. लज्जावान्, 10. दयालु, 11. रागद्वेषरहित (मध्यस्थभाव में रहने वाला), 12. सौम्यदृष्टि वाला, 13. गुणरागी 14. सत्य कथन में रुचि रखने वाला-धार्मिक परिवारयुक्त, 15. सुदीर्घदर्शी, 16. विशेषज्ञ 17. वृद्ध महापुरुषों के पीछे चलने वाला, 18. विनीत, 19. कृतज्ञ (किए उपकार को समझने वाला,) 20. परहित करने वाला, 21. लब्धलक्ष्य (जिसे लक्ष्य की प्राप्ति प्राय: हो गई हो।)

{709}

पापविसोत्तिग परिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो।
णायव्वो संखेवेण एसो माणस्सिओ विणओ॥

(भग. आ. 127)

पाप को लाने वाले परिणामों को न करना, जो गुरु को प्रिय और हितकर हो, उसी में परिणाम (मन) लगाना, इसे संक्षेप से मानसिक विनय जानना।

{710}

स्यादारेका च षट्कर्मजीविनां गृहमेधिनाम्।
हिंसादोषोऽनुसंगी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनाम्॥
इत्यत्र ब्रूमहे सत्यमल्पसावद्यसंगतिः।
तत्रास्त्येव तथाप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता॥
अपि चैषां विशुद्ध्यङ्गं पक्षश्चर्या च साधनम्।
इति त्रितयमस्त्येव तदिदानीं विवृण्महे॥
तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसाविवर्जनम्।
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैरुपबृंहितम्॥
चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्ध्यर्थमेव वा।
औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम्॥
तत्राकामकृते शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते।

(आ. पु. 39/143-148)

अब यहां यह शंका हो सकती है कि जो असि, मषी आदि छह कर्मों से आजीविका करने वाले जैन द्विज अथवा गृहस्थ हैं उनके भी हिंसा का दोष लग सकता है, इस विषय में हम यह कहते हैं कि आपने जो कहा है वह ठीक है। आजीविका के लिए छह कर्म करने वाले जैन गृहस्थों के थोड़ी-सी हिंसा की संगति अवश्य होती है परन्तु शास्त्रों में उन दोषों की शुद्धि भी तो दिखलायी गई है। उनकी विशुद्धि के अंग तीन हैं- पक्ष, चर्या और साधन। अब मैं यहां इन्हीं तीन का वर्णन करता हूं। उन तीनों में से मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य-भाव से वृद्धि को प्राप्त हुआ समस्त हिंसा का त्याग करना जैनियों का पक्ष कहलाता है। किसी देवता के लिए, किसी मन्त्र की सिद्धि के लिए अथवा किसी औषध या भोजन बनवाने के लिए मैं किसी जीव की हिंसा नहीं करूंगा- ऐसी प्रतिज्ञा करना 'चर्या' कहलाती है। इस प्रतिज्ञा में यदि कभी इच्छा न रहते हुए प्रमाद से दोष लग जावे तो प्रायश्चित्त से उनकी शुद्धि की जाती है। अत: मैत्री, प्रमोद, कारुण्य आदि साधनों से हिंसा-दोष की शुद्धि की जा सकती है।

○ अहिंसक पशुओं का पालकः श्रावक-वर्ग

{711}

सर्वानुपदिदेशासौ प्रजानां वृत्तिसिद्धये।
उपायान् धर्मकामार्थान् साधनान्यपि पार्थिवः॥
पशुपाल्यं ततः प्रोक्तं गोमहिष्यादिसंग्रहम्।
वर्जनं क्रूरसत्त्वानां सिंहादीनां यथायथम्॥

(ह. पु. 9/34,36)

(राजा नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव ने समस्त प्रजा को) आजीविका के निर्वाह के लिए सब उपाय तथा धर्म, अर्थ और कामरूप साधनों का उपदेश दिया था। (ऋषभदेव ने समस्त प्रजा को) यह भी बताया था कि गाय, भैंस आदि पशुओं का संग्रह तथा उनकी रक्षा करनी चाहिए और सिंह आदिक दुष्ट जीवों का परित्याग करना चाहिए।

○ हिंसात्मक आजीविका का त्यागः श्रावक के लिए अपेक्षित

{712}

इंगाली-वण-साडी-भाडी-फोडीसु वज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव दंत-लक्ख-रस-केस-विसविसयं॥
एवं खु जंतपीलणकम्मं निल्लंछणं च दवदाणं।
सर-दह-तलायसोसं असईपोसं च वज्जिज्जा॥

(श्रा.प्र. 287-288)

(उपभोग-परिभोग-परिणाम व्रत के विषय में जो कर्म विषयक 15 अतिचार कहे गए हैं, वे इस प्रकार हैं-)

अंगार कर्म, वन कर्म, शकट कर्म, भाटक कर्म, स्फोटन कर्म, दंत वाणिज्य, लाक्षा वाणिज्य, रस वाणिज्य, के शवाणिज्य और विष विषयक वाणिज्य; इनका परित्याग करना चाहिए। इसी प्रकार यंत्र-पीड़न कर्म, निर्लांछन कर्म, दवदान, सर-द्रह-तडागशोषण और असतीपोष। भोगोपभोग परिमाण के व्रती को कर्म विषयक उक्त पंद्रह अतिचारों का भी परित्याग करना चाहिए।

{713}

छिन्नाछिन्नवन-पत्र-प्रसून-फलविक्रयः ।
कणानां दलनात् पेषाद् वृत्तिश्च वनजीविका॥

(है. योग. 3/102)

जंगल में कटे हुए या नहीं कटे हुए वृक्ष के पत्ते, फूल, फल आदि को बेचना, चक्की में अनाज दल कर या पीस कर आजीविका चलाना इत्यादि 'वनजीविका' है। (वनजीविका में मुख्यतः वनस्पतिकाय के विघात होने की संभावना रहती है।)

{714}

शकटानां तदंगानां घटनं खेटनं तथा ।
विक्रयश्चेति शकटाजीविका परिकीर्तिता॥

(है. योग. 3/103)

शकट यानी गाड़ी और उसके विविध अंग-पहिये, आरे आदि स्वयं बनाना, दूसरे से बनवाना, अथवा बेचना या बिकवाना इत्यादि व्यवसाय को 'शकट जीविका' कहा गया है।

{715}

कम्मओ णं समणोवासएणं पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइं, तं जहा-इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दंतवाणिज्जे, लक्खावाणिज्जे, रसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे, केसवाणिज्जे, जंतपीलणकम्मे, निल्लंछणकम्मे, दवग्गिदावणया, सरदहतलायसोसणया, असईजणपोसणया।

(उवा. 1/51)

कर्म की अपेक्षा से श्रमणोपासक को पन्द्रह कर्मादानों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं-

अंगारकर्म, वनकर्म, शकटकर्म, भाटीकर्म, स्फोटनकर्म, दन्तवाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, रस-वाणिज्य, विषवाणिज्य, केशवाणिज्य, यन्त्रपीडनकर्म, निर्लांछन-कर्म, दवाग्निदापन, सर-हृद-तडाग-शोषण तथा असती-जन पोषण।

[कर्मादान-कर्म और आदान-इन दो शब्दों से 'कर्मादान' बना है। आदान का अर्थ ग्रहण है। कर्मादान का आशय उन प्रवृत्तियों से है, जिनके कारण ज्ञानावरण आदि कर्मों का प्रबल बन्ध होता है। उन कामों में बहुत अधिक हिंसा होती है। इसलिए श्रावक के लिए वे वर्जित हैं। श्रावक को इनके त्याग हेतु स्थान-स्थान पर प्रेरणा दी गई है। कहा गया है कि न वह स्वयं इन्हें करे, न दूसरों से कराए और न करने वालों का समर्थन करे।

कर्मादानों का विश्लेषण इस प्रकार है–

अंगार-कर्म–अंगार का अर्थ कोयला है। अंगार-कर्म का मुख्य अर्थ कोयले बनाने का धंधा करना है। जिन कामों में अग्नि और कोयलों का बहुत ज्यादा उपयोग हो, वे काम भी इसमें आते हैं; जैसे ईंटों का भट्टा, सीमेंट का कारखाना आदि। इन कार्यों में घोर हिंसा होती है।

वन-कर्म– वे धन्धे, जिनका सम्बन्ध वन के साथ है, वन-कर्म में आते हैं; जैसे– कटवा कर जंगल साफ कराना, जंगल के वृक्षों को काट कर लकड़ियां बेचना, जंगल काटने के ठेके लेना आदि। हरी वनस्पति के छेदन, भेदन तथा तत्सम्बद्ध प्राणि-वध की दृष्टि से ये भी अत्यन्त हिंसा के कार्य हैं।

शकट-कर्म–शकट का अर्थ गाड़ी है। यहां गाड़ी से तात्पर्य सवारी या माल ढोने के सभी तरह के वाहनों से है। ऐसे वाहनों को, उनके भागों या कल-पुर्जों को तैयार करना, बेचना आदि शकट-कर्म में शामिल है। आज की स्थिति में रेल, मोटर, स्कूटर, साईकिल, ट्रक, ट्रैक्टर, आदि बनाने के कारखाने भी इसमें आ जाते हैं।

भाटीकर्म– भाटी का अर्थ भाड़ा है। बैल, घोड़ा ऊंट, भैंसा, खच्चर आदि को भाड़े पर देने का व्यापार।

स्फोटन-कर्म–स्फोटन का अर्थ तोड़ना या खोदना है। खानें खोदने, पत्थर फोड़ने, कुए, तालाब तथा बावड़ी आदि खोदने का धंधा स्फोटन-कर्म में आते हैं।

दन्त-वाणिज्य– हाथी-दांत का व्यापार इसका मुख्य अर्थ है। वैसे हड्डी, चमड़े आदि का व्यापार भी उपलक्षण से यहां ग्रहण कर लिया जाना चाहिए।

लाक्षावाणिज्य– लाख का व्यापार।

रसवाणिज्य– मदिरा आदि मादक रसों का व्यापार। वैसे रस शब्द सामान्यत: ईख एवं फलों के रस के लिए भी प्रयुक्त होता है, किन्तु यहां वह अर्थ नहीं है।

शहद, मांस, चर्बी, मक्खन, दूध, दही, घी, तैल आदि के व्यापार को भी कई आचार्यों ने रसवाणिज्य में ग्रहण किया है।

विषवाणिज्य– तरह-तरह के विषों का व्यापार। तलवार, छुरा, कटार, बन्दूक, धनुष, बाण, बारूद, पटाखे आदि हिंसक व घातक वस्तुओं का व्यापार भी विष-वाणिज्य के अन्तर्गत लिया जाता है।

केशवाणिज्य– यहां प्रयुक्त केश शब्द लाक्षणिक है। केश-वाणिज्य का अर्थ दास, दासी, गाय, भैंस, बकरी, भेड़, ऊंट, घोड़े आदि जीवित प्राणियों की खरीद-बिक्री आदि का धन्धा है। कुछ आचार्यों ने चमरी गाय की पूंछ के बालों के व्यापार को भी इसमें शामिल किया है। इनके चंवर बनते हैं। मोर-पंख तथा ऊन का धन्धा केश-वाणिज्य में नहीं लिया जाता। चमरी गाय के बाल प्राप्त करने तथा मोर-पंख प्राप्त करने में खास भेद यह है कि बालों के लिए चमरी गाय को मारा जाता है, ऐसा किए बिना वे प्राप्त नहीं होते। मोर-पंख व ऊन प्राप्त करने में ऐसा नहीं है। मारे जाने के कारण को लेकर चमरी गाय के बालों का व्यापार इसमें लिया गया है।

यंत्रपीडनकर्म–तिल, सरसों, तारामीरा, तोरिया, मूंगफली, आदि तिलहनों से कोल्हू या घाणी द्वारा तैल निकालने का व्यवसाय।

निर्लांछनकर्म– बैल, भैंसे आदि को नपुंसक बनाने का व्यवसाय।

दवाग्निदापन– वन में आग लगाने का धन्धा। यह आग अत्यन्त भयानक और अनियंत्रित होती है। उसमें जंगल के अनेक जंगम-स्थावर प्राणियों का भीषण संहार होता है।

सरहृदतडागशोषण– सरोवर, झील, तालाब आदि जल-स्थानों को सुखाना।

असती-जन-पोषण– व्यभिचार के लिए वेश्या आदि का पोषण करना, उन्हें नियुक्त करना। श्रावक के लिए यह वास्तव में निन्दनीय कार्य है। इससे समाज में दुश्चरित्रता फैलती है, व्यभिचार को बल मिलता है।

आखेट-हेतु शिकारी कुत्ते आदि पालना, चूहों के लिए बिल्लियां पालना–ये सब भी असती-जन-पोषण के अन्तर्गत आते हैं।]

{716}

.............................कर्मतः खरकर्म तु।
तस्मिन् पंचदशमलान् कर्मादानानि संत्यजेत्॥
अंगार-वन-शकट-भाटक-स्फोटजीविका।
दंत-लाक्षा-रस-केश-विषवाणिज्यकानि च॥
यंत्रपीड़ा-निर्लांछनमसतीपोषणं तथा।
दवदानं सरःशोष इति पञ्चदश त्यजेत्॥

(है. योग. 3/98-100)

कर्म की अपेक्षा से प्राणिघातक कठोर कर्म में परिगणित (परिसीमित) 15 कर्मादान हैं, जो अहिंसा व्रत में मलिनता पैदा करने वाले हैं, अतः उनका भलीभांति त्याग करना चाहिए। वे पंद्रह कर्मादान इस प्रकार हैं- 1. अंगारजीविका, 2. वनजीविका, 3. शकटजीविका, 4. भाटकजीविका, 5. स्फोटजीविका, 6. दंतवाणिज्य, 7. लाक्षावाणिज्य, 8. रसवाणिज्य, 9. केशवाणिज्य, 10. विषवाणिज्य, 11. यंत्रपीड़ा कर्म, 12. निर्लांछन कर्म, 13. असतीपोषण, 14. दवदान (दावाग्नि लगाने का कर्म), 15. सरःशोष (तालाब आदि का सुखाना)। श्रावक को इन 15 कर्मादान रूप अतिचारों का त्याग करना चाहिए। (इन जीविका व व्यापार आदि का स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है:-)

{717}

अंगार-भ्राष्ट्रकरणं कुम्भायःस्वर्णकारिता।
ठठार-त्वेष्टकापाकाविति ह्यंगारजीविका॥

(है. योग. 3/101)

लकड़ी को जला कर कोयले बनाना और उसका व्यापार करना, भड़भूंजे, कुम्भकार, लुहार, सुनार, ठठेरे और ईंट पकाने वाले, इत्यादि का कार्य कर जीविका चलाना 'अंगार जीविका' कहलाती है।

{718}

शकटोक्षलुलायोष्ट्रखराश्वतरवाजिनाम्।
भारस्य वहनाद् वृत्तिर्भवेद् भाटकजीविका॥

(है. योग. 3/104)

गाड़ी, बैल,ऊंट, भैंसा, गधा, खच्चर, घोड़ा आदि पर भार लाद कर किराया लेना अथवा इन्हें किराये पर दे कर आजीविका चलाना 'भाटक (भाड़ा) जीविका' कहलाता है।

{719}

सर:कूपादिखनन - शिलाकुट्टनकर्मभिः ।
पृथिव्यारम्भसम्भूतैर्जीवनं स्फोटजीविका॥

(है. योग. 3/105)

तालाब, कुंए आदि खोदने, पत्थर फोड़ने इत्यादि पृथ्वीकाय के घातक कर्मों से जीविका चलाना 'स्फोटक-जीविका' है।

{720}

दंतकेशनखास्थित्वग्रोम्णो ग्रहणमाकरे।
त्रसाङ्गस्य वाणिज्यार्थं दन्तवाणिज्यमुच्यते॥

(है. योग. 3/106)

दांत, केश, नख, हड्डी, चमड़ा, रोम इत्यादि जीवों के अंगों को उनके उत्पत्ति-स्थानों पर जा कर व्यवसाय के लिए ग्रहण करना और बेचना 'दंत-वाणिज्य' कहलाता है।

{721}

लाक्षा-मन:शिला-नीली-धातकी-टङ्कणादिनः।
विक्रयः पापसदनं लाक्षावाणिज्यमुच्यते॥

(है. योग. 3/107)

लाख, मेनसिल, नील, धातकी वृक्ष, टंकणखार आदि पापकारी वस्तुओं का व्यापार करना 'लाक्षावाणिज्य' कहलाता है।

{722}

नवनीत-वसा-क्षौद्र-मद्यप्रभृतिविक्रयः ।
द्विपाच्चतुष्पाद्विक्रयो वाणिज्यं रसकेशयोः॥

(है. योग. 3/108)

मक्खन, चर्बी, शहद, मदिरा आदि का व्यापार 'रसवाणिज्य' और दो पैर वाले और चार पैर वाले जीवों का व्यापार 'केशवाणिज्य' कहलाता है।

{723}

विषास्त्रहलयन्त्रायोहरितालादिवस्तुनः ।
विक्रयो जीवितघ्नस्य विषवाणिज्यमुच्यते ॥

(है. योग. 3/109)

शृंगिक, सोमल आदि विष, तलवार आदि शस्त्र, हल, रेंहट, अंकुश, कुल्हाड़ी आदि, तथा हरताल आदि वस्तुओं के विक्रय से जीवों का घात होता है। इस कार्य को 'विष-वाणिज्य' कहते हैं।

{724}

तिलेक्षु-सर्षपैरण्डजलयन्त्रादिपीड़नम् ।
दलतैलस्य च कृतिर्यन्त्रपीड़ा प्रकीर्तिता ॥

(है. योग. 3/110)

घाणी में पील कर तेल निकालना, कोल्हू में पील कर इक्षु-रस निकालना, सरसों, अरंड आदि का तेल यन्त्र से निकालना, जल यन्त्र-रेंहट चलाना, तिलों को दल कर तेल निकालना और बेचना, ये सब 'यंत्रपीड़नकर्म' हैं। इन यन्त्रों द्वारा पीलने में तिल आदि में रहे हुए अनेक त्रसजीवों का वध होता है। इसलिए इस यन्त्रपीड़नकर्म का श्रावक को त्याग करना चाहिए।

{725}

नासावेधोऽङ्कनं मुष्कच्छेदनं पृष्ठगालनम् ।
कर्ण-कम्बल-विच्छेदो निर्लाञ्छनमुदीरितम् ॥

(है. योग. 3/111)

जीव के अंगों या अवयवों का छेदन करने का धंधा करना, उस कर्म से अपनी आजीविका चलाना 'निर्लांछन कर्म' कहलाता है। उसके भेद बताते हैं- बैल-भैंसे का नाक बींधना, गाय-घोड़े के निशान लगाना, उसके अण्डकोष काटना, ऊंट की पीठ गालना, गाय आदि के कान, गलकम्बल आदि काट डालना, इसके ऐसा करने से प्रकट रूप में जीवों को पीड़ा होती है, अतः विवेकीजन इसका त्याग करे।

{726}

सारिकाशुकमार्जार-श्व-कुर्कुट-कलापिनाम्।
पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसतीपोषणं विदुः॥

(है. योग. 3/112)

असती अर्थात दुष्टाचार वाले, तोता, मैना, बिल्ली, कुत्ता, मुर्गा, मोर आदि तिर्यंच पशु-पक्षियों का पोषण (पालन) करना, तथा धन-प्राप्ति के लिए व्यभिचार के द्वारा दास-दासी से आजीविका चलाना-असतीपोषण है। यह पाप का हेतु है। अतः इसका त्याग करना चाहिए।

{727}

व्यसनात् पुण्यबुद्ध्या वा दवदानं भवेद् द्विधा।
सरःशोषः सरः सिन्धु-ह्रदादेरम्बुसंप्लवः ॥

(है. योग. 3/113)

दवदान दो प्रकार से होता है- आदत (अज्ञानता) से अथवा पुण्यबुद्धि से तथा सरोवर, नदी, ह्रद या समुद्र आदि में पानी निकाल कर सुखाना 'सरःशोष' है।

(अहिंसा आदि अणुव्रतों के सहयोगी कुछ विशिष्ट नियम)

[अहिंसा आदि अणुव्रतों की पूर्णता व रक्षा हेतु जैन शास्त्रों में कुछ विशिष्ट नियमों का निरूपण प्राप्त होता है, जिन्हें गुणव्रत व शिक्षाव्रत के नाम से जाना जाता है। इनके पालन से श्रावक अपनी स्थूल अहिंसा-साधना को अधिक सशक्त रूप से सम्पन्न कर पाता है।]

O अहिंसा-पोषकः गुणव्रत व शिक्षाव्रत

{728}

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि॥

(पुरु. 4/100/136)

निश्चय ही जैसे कोट-किला नगरों की रक्षा करता है, उसी तरह शीलव्रत (-तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत-ये सात व्रत) पांचों अणुव्रतों का पालन अर्थात् रक्षण करते हैं। इसलिए व्रतों का पालन करने के लिए सात शीलव्रतों का भी पालन करना चाहिए।

[दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत- ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण-व्रत तथा अतिथि-संविभाग-व्रत/वैयावृत्त्य-ये चार शिक्षाव्रत हैं। इनका निरूपण आगे प्रस्तुत है:-]

अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा-पंच अणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं। पंच अणुव्वयाइं, तं जहा- थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे, इच्छापरिमाणे। तिण्णि गुणव्वयाइं, तं जहा-अणत्थदंडवेरमणं, दिसिव्वयं, उवभोग-परिभोगपरिमाणं। चत्तारि सिवखावयाइं, तं जहा-सामाइयं, देसावगासियं, पोसहोवसासे, अतिहि-संविभागे, अपच्छिमा-मारणंतिया-संलेहणा-झूसणा-राहणा, अयमाउसो! अगार-सामइए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए वा समणोवासिया वा विहरमाणे आणाए आराहए भवइ।

(उवा. 1/11)

भगवान् ने अगारधर्म 12 प्रकार का बतलाया है- 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत तथा 4 शिक्षाव्रत। 5. अणुव्रत इस प्रकार हैं- 1. स्थूल-मोटे तौर पर, अपवाद रखते हुए प्राणातिपात से निवृत्त होना, 2. स्थूल मृषावाद से निवृत्त होना, 3. स्थूल अदत्तादान से निवृत्त होना 4. स्वदारसंतोष-अपनी परिणीता पत्नी तक सहवास की सीमा, 5. इच्छा- परिग्रह की इच्छा का परिमाण या सीमाकरण।

3 गुणव्रत इस प्रकार हैं- 1. अनर्थदंड-विरमण-आत्मा के लिए अहितकर या आत्मगुण-घातक निरर्थक प्रवृत्ति का त्याग, 2. दिग्व्रत- विभिन्न दिशाओं में जाने के संबंध में मर्यादा या सीमाकरण, 3. उपभोग-परिभोग-परिमाण-उपभोग-जिन्हें अनेक बार भोगा जा सके, ऐसी वस्तुएं- जैसे वस्त्र आदि, तथा परिभोग जिन्हें एक ही बार भोगा जा सके- जैसे भोजन आदि-इनका परिमाण- सीमाकरण। 4 शिक्षा-व्रत इस प्रकार हैं-1. सामायिक-समता या समत्वभाव की साधना के लिए एक नियत समय (न्यूनतम एक मुहूर्त-48 मिनट) में किया जाने वाला अभ्यास, 2. देशावकासिक- नित्य प्रति अपनी प्रवृत्तियों में निवृत्ति-भाव की वृद्धि का अभ्यास 3. पोषधोपवास-अध्यात्म-साधना में अग्रसर होने के हेतु यथाविधि आहार, अब्रह्मचर्य आदि का त्याग तथा 4. अतिथि-संविभाग-जिनके आने की कोई तिथि नहीं, ऐसे अनिमंत्रित संयमी साधक या साधर्मिक बन्धुओं को संयमोपयोगी एवं जीवनोपयोगी अपनी अधिकृत सामग्री का एक भाग आदरपूर्वक देना, सदा मन में ऐसी भावना बनाए रखना कि ऐसा अवसर प्राप्त हो।

तितिक्षापूर्वक अन्तिम मरण रूप संलेखणा-तपश्चरण, आमरण अनशन की आराधना के साथ देहत्याग, श्रावक की इस जीवन की साधना का पर्यवसान है, जिसकी एक गृही साधक भावना लिए रहता है।

भगवान् ने कहा–आयुष्मन्! यह गृही साधकों का आचरणीय धर्म है। इस धर्म के अनुसरण में प्रयत्नशील होते हुए श्रमणोपासक–श्रावक या श्रमणोपासिका–श्राविका आज्ञा के आराधक होते हैं।

[टिप्पण: कुछ आचार्यों के मत में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का निरूपण भिन्न रूप से भी किया गया प्राप्त होता है। जैसे, दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड त्याग- ये तीन गुणव्रत माने गए हैं और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग--परिमाण तथा अतिथि संविभाग/ वैयावृत्त्य- इन्हें चार शिक्षाव्रतों के रूप में निरूपित किया गया है।]

{730}

गुणव्रतान्यपि त्रीणि पञ्चाणुव्रतधारिणः।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि भवन्ति गृहिणः सतः॥

(ह. पु. 58/143-144)

पांच अणुव्रतों के धारक सद्गृहस्थ के तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत भी होते हैं।

○ अहिंसा-पोषकः अनर्थदण्डविरति

{731}

विरई अणत्थदंडे तच्चं स चउव्विहो अवज्झाणो।
पमायायरिय-हिंसप्पयास-पावोवएसे य ॥

(श्रा.प्र. 289)

अनर्थदंड' के विषय में जो निवृत्ति की जाती है, उसे अनर्थदंडव्रत नाम का तीसरा गुणव्रत कहा जाता है। वह 'अनर्थदंड' चार प्रकार है- अपध्यान, प्रमादाचरित, हिंसा-प्रदान और पापोपदेश।

[बिना किसी उद्देश्य के जो हिंसा की जाती है, उसका समावेश अनर्थदंड में होता है। यद्यपि हिंसा तो हिंसा ही है, पर जो लौकिक दृष्टि से आवश्यकता या प्रयोजन के वश की जाती है, उसमें तथा निरर्थक की जाने वाली हिंसा में बड़ा भेद है। आवश्यकता या प्रयोजन के वश हिंसा करने को जब व्यक्ति बाध्य होता है तो उसकी विवशता को देखते हुए उसे व्यावहारिक दृष्टि से क्षम्य भी माना जा सकता है; पर जो प्रयोजन या मतलब के बिना हिंसा आदि का आचरण करता है, वह सर्वथा अनुचित है। इसलिए उसे 'अनर्थदंड' कहा जाता है।

वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरि ने धर्म, अर्थ तथा काम रूप प्रयोजन के बिना किये जाने वाले हिंसापूर्ण कार्यों को 'अनर्थदंड' कहा है।

'अनर्थदंड' के अन्तर्गत लिए गए 'अपध्यानाचरित' का अर्थ है–दुश्चिन्तन। दुश्चिन्तन भी एक प्रकार से हिंसा ही है। वह आत्मगुणों का घात करता है। दुश्चिन्तन दो प्रकार का है–आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान। अभीप्सित वस्तु, जैसे धन-संपत्ति, संतति, स्वस्थता आदि प्राप्त न होने पर एवं दारिद्र्य, रुग्णता, प्रियजन का विरह आदि अनिष्ट

स्थितियों के होने पर मन में जो क्लेशपूर्ण विकृत चिन्तन होता है, वह आर्त्तध्यान है। क्रोधावेश, शत्रु-भाव और वैमनस्य आदि से प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुंचाने आदि की बात सोचते रहना 'रौद्रध्यान' है। इन दोनों तरह से होने वाला दुश्चिन्तन अपध्यानाचरित रूप अनर्थदंड है।

प्रमादाचरित- अपने धर्म, दायित्व व कर्तव्य के प्रति अजागरूकता 'प्रमाद' है। ऐसा प्रमादी व्यक्ति अक्सर अपना समय दूसरों की निन्दा करने में, गप्प मारने में, अपने बडप्पन की शेखी बघारते रहने में, अश्लील बातें करने में बिताता है। इनसे संबंधित मन, वचन तथा शरीर के विकार प्रमाद-चरित में आते हैं। हिंस्र-प्रदान-हिंसा के कार्यों में साक्षात् सहयोग करना, जैसे चोर, डाकू तथा शिकारी आदि को हथियार देना, आश्रय देना तथा दूसरी तरह से सहायता करना। ऐसा करने से हिंसा को प्रोत्साहन और सहारा मिलता है, अत: यह अनर्थदंड है।

पापकर्मोपदेश- औरों को पाप-कार्य में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरणा, उपदेश या परामर्श देना। उदाहरणार्थ, किसी शिकारी को यह बतलाना कि अमुक स्थान पर शिकार-योग्य पशु-पक्षी उसे बहुत प्राप्त होंगे, किसी, व्यक्ति को दूसरों को तकलीफ देने के लिए उत्तेजित करना, पशु-पक्षियों को पीड़ित करने के लिए लोगों को दुष्प्रेरित करना- इन सबका पाप-कर्मोपदेश में समावेश है।

अनर्थदंड में लिए गए ये चारों प्रकार के दुष्कार्य ऐसे हैं, जिनका प्रत्येक धर्मनिष्ठ, शिष्ट व सभ्य नागरिक को परित्याग करना चाहिए। अध्यात्म-उत्कर्ष के साथ-साथ उत्तम और नैतिक नागरिक जीवन की दृष्टि से भी ये बहुत ही आवश्यक हैं।]

{732}

विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुदण्डकशादिन: ।
दानं हिंसाप्रदानं हि हिंसोपकरणस्य वै॥
हिंसारागादिसंवर्धिदु:कथाश्रुतिशिक्षयो: ।
पापबन्धनिबन्धो य: स स्यात्पापाशुभश्रुति:॥

(ह. पु. 58/151-152)

विष, कण्टक, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, दण्ड तथा कोड़ा आदि हिंसा के उपकरणों का देना- हिंसादान नाम का अनर्थदण्ड है। हिंसा तथा रागादि को बढ़ाने वाली दुष्ट कथाओं के सुनने तथा दूसरों को शिक्षा देने में जो पापबन्ध के कारण एकत्रित होते हैं, वह पाप से युक्त दु:श्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।

{733}

पापोपदेशहिंसादानापध्यान-दु:श्रुती: पञ्च।
प्राहु: प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधरा:॥

(रत्नक. श्रा. 75)

1. पापोपदेश, 2. हिंसादान, 3. अपध्यान, 4. दु:श्रुति और 5. प्रमादचर्य्या -ये पांच अनर्थदण्ड हैं।

{734}

पीड़ा पापोपदेशाद्यैर्देहाद्यर्थाद्विनाऽङ्गिनाम्।
अनर्थदण्डस्तत्त्यागोऽनर्थदण्डव्रतं मतम्॥

(सा. ध. 5/6)

अपने तथा अपने सम्बन्धियों के किसी मन-वचन-काय सम्बन्धी प्रयोजन के बिना पापोपदेश, हिंसादान, दुःश्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्या के द्वारा प्राणियों को पीड़ा देना अनर्थदण्ड है, और उसका त्याग अनर्थदण्ड व्रत गया माना है।

{735}

पापोपदेश आदिष्टो वचनं पापसंयुतम्।
यद्वणिग्वधकारम्भपूर्वं सावद्यकर्मसु॥
अपध्यानं जयः स्वस्य यः परस्य पराजयः।
वधबन्धार्थहरणं कथं स्यादिति चिन्तनम्॥
वृक्षादिच्छेदनं भूमिकुट्टनं जलसेचनम्।
इत्याद्यनर्थकं कर्म प्रमादाचरितं तथा॥

(ह. पु. 58/148-150)

वणिक् तथा वधक आदि के सावद्य कार्यों में आरम्भ कराने वाले जो पापपूर्ण वचन हैं वह पापोपदेश अनर्थदण्ड है। अपनी जय, दूसरे की पराजय तथा वध, बन्धन एवं धन का हरण आदि किस प्रकार हो- ऐसा चिन्तन करना- अपध्यान है। वृक्षादिक का छेदना, पृथिवी का कूटना, पानी का सींचना आदि अनर्थक कार्य करना प्रमादाचरित नाम का अनर्थदण्ड है।

{736}

असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः। ततो विरतिरनर्थदण्डविरतिः। अनर्थदण्डः पञ्चविधः- अपध्यानं पापोपदेशः प्रमादाचरितं हिंसाप्रदानं अशुभश्रुतिरिति। तत्र परेषां जयपराजयवधबन्धनाङ्गच्छेदपरस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्। तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारम्भादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः। प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितम्। विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जु-कशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसारागादिप्रवर्धनदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिः।

(सर्वा. 7/21/703)

उपकार न होकर जो प्रवृत्ति केवल पाप का कारण है वह अनर्थदण्ड है। इससे विरत होना अनर्थदण्डविरति है। अनर्थदण्ड पांच प्रकार का है-अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान और अशुभश्रुति। दूसरों का जय, पराजय, मारना, बांधना, अंगों का छेदन और धन का अपहरण आदि कैसे किया जाए- इस प्रकार मन से विचार करना अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड है। तिर्यंचों को क्लेश पहुंचाने वाले, वाणिज्य का प्रसार करने वाले और प्राणियों की हिंसा के कारणभूत आरम्भ आदि के विषय में पापबहुल वचन बोलना पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड है। बिना प्रयोजन के वृक्षादि का छेदन, भूमि का कूटना, पानी का सींचना आदि पाप कार्य प्रमादाचरित नाम का अनर्थदण्ड है। विष, कांटा, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक और लकड़ी आदि हिंसा के उपकरणों का प्रदान करना हिंसाप्रदान नाम का अनर्थदण्ड है। हिंसा और राग आदि को बढ़ाने वाली दुष्ट कथाओं का सुनना और उनकी शिक्षा देना अशुभश्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।

(हिंसात्मक अपध्यान रूप अनर्थदण्ड)

{737}

वैरिघातो नरेन्द्रत्वं पुरघाताऽग्निदीपने।
खेचरत्वाद्यपध्यानं मुहूर्तात्परतस्त्यजेत् ॥

(है. योग. 3/75)

शत्रु का नाश करना, राजा आदि होने के लिए अत्युत्कट राग-द्वेष-मय प्रवृत्ति, नगर में तोड़फोड़ या दंगे करना, नाश करना, आग लगाना अथवा अन्तरिक्ष यात्रा-अज्ञात अन्तरिक्ष में गमन आदि के चिन्तनरूप कुध्यान में डूबे रहना, अपध्यान है। ऐसा दुर्ध्यान आ भी जाय तो मुहूर्त के बाद तो उसे अवश्य ही छोड़ दे।

[दुश्मन की हत्या करने, नगर को उजाड़ने या नगर में तोड़फोड़, दंगे, हत्याकांड आदि करने, आग लगाने या किसी वस्तु को फूंक देने का विचार करना रौद्रध्यानरूप अपध्यान है। चक्रवर्ती बनूं या आकाशगामिनी विद्या का अधिकारी बन जाऊं, ऋद्धिसम्पन्न देव बन जाऊं अथवा देवांगनाओं या विद्याधारियों के साथ सुखभोग करने वाला या उनका स्वामी बनूं। इस प्रकार का दुश्चिन्तन 'आर्तध्यान' है। इस प्रकार के दुश्चिन्तनों को मुहूर्त के बाद तो अवश्य छोड़ देना चाहिए।]

{738}

वधवन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं, शासति जिनशासने विशदाः॥

(रत्नक. श्रा. 78)

द्वेष और राग से अन्य की स्त्री और धन आदि के नाश होने, अन्य के बंध जाने, कट जाने और हार जाने आदि से सम्बन्धित चिन्तन करने को 'अपध्यान' नामक अनर्थदण्ड कहते हैं।

(हिंसात्मक पापोपदेश त्याज्य)

{739}

तिर्यक्क्लेशवणिज्या-हिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
प्रसवः कथाप्रसङ्गः, स्मर्तव्यः पाप उपदेशः॥

(रत्नक. श्रा. 76)

गाय-भैंस आदि पशुओं का व्यापार, जीव-पीडाकारक व्यापार, शिकार करने आदि से सम्बन्धित हिंसा, जीवहिंसा की सम्भावना वाले कार्य, छलकपट के कार्य -इनका उपदेश करना, ऐसी कथा-वार्ता करना यह 'पापोपदेश' नामक अनर्थदण्ड कहलाता है।

{740}

क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्।
सरणं सारणमपि च, प्रमादचर्य्यां प्रभाषन्ते॥

(रत्नक. श्रा. 80)

निष्प्रयोजन जमीन खोदने, जल बहाने, अग्नि जलाने, हवा करने, वनस्पति तोड़ने, और निष्प्रयोजन घूमने-घुमाने को 'प्रमादचर्या' नामक अनर्थदण्ड कहते हैं।

{741}

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम्॥

(पुरु. 4/106/142)

विद्या, व्यापार, लेखनकला, खेती, नौकरी, और कारीगरी से निर्वाह करने वाले पुरुषों को पाप (हिंसा आदि) का उपदेश देने वाले वचन किसी भी समय अर्थात् कभी भी नहीं बोलने चाहियें।

{742}

वृषभान् दमय, क्षेत्रं कृष षण्ढय वाजिनः।
दाक्षिण्याविषये पापोपदेशोऽयं न कल्पते॥

(है. योग. 3/76)

बछड़ों को वश में करो, खेत जोतो, घोड़ों को खस्सी करो, इत्यादि पाप-जनक उपदेश दाक्षिण्य (लोकव्यवहार हेतु अपने पुत्रादि को समझाने-सिखाने) के सिवाय दूसरों को पापोपदेश देना श्रावक के लिए कल्पनीय (विहित) नहीं है।

(हिंसक प्रमादचर्या त्याज्य)

{743}

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च॥

(पुरु. 4/107/143)

पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाड़ना, अतिशय घास वाली भूमि रौंदना, पानी सींचना इत्यादि, और पत्ते, फल व फूल आदि तोड़ना इत्यादि (हिंसा-पूर्ण कार्य) भी विना प्रयोजन नहीं करने चाहिएं।

{744}

विहलो जो वावारो पुढवी-तोयाण अग्गि-वाऊणं।
तह वि वणप्फदि-छेदो अणत्थ-दंडो हवे तिदिओ॥

(स्वा. कार्ति. 12/346)

पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन- इनसे सम्बन्धित निष्प्रयोजन प्रवृत्ति (जैसे, भूमि खोदना, पत्थर कूटना, तोड़ना, जल का अनियन्त्रित दुरुपयोग, आग जलाना, जंगल जलाना आदि-आदि) करना, तथा निष्प्रयोजन वनस्पति को काटना- यह तीसरा अनर्थदण्ड है।

{745}

जीवघ्नजीवान् स्वीकुर्यान्मार्जारशुनकादिकान्॥

(सा. ध. 5/11)

प्राणियों का घात करने वाले कुत्ता-बिल्ली आदि जन्तुओं को भी नहीं पाले।

{746}

मज्जार-पहुदि-धरणं आउह-लोहादि-विक्कणं जं च।
लक्खा-खलादि-गहणं अणत्थ-दण्डो हवे तुरिओ॥

(स्वा. कार्ति. 12/347)

बिलाव आदि हिंसक जन्तुओं का पालना, लोहे तथा अस्त्र-शस्त्रों का देना-लेना और लाख, विष वगैरह का देना-लेना चौथा अनर्थदण्ड है।

{747}

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात्॥

(पुरु. 4/108/144)

छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष आदि हिंसा के उपकरणों का वितरण करना-दूसरों को देना, इनका भी प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये।

{748}

यंत्र-लांगल-शस्त्राग्नि-मूसलोदूखलादिकम्।
दाक्षिण्याविषये हिंस्रं नार्पयेत् करुणापर :॥

(है. योग. 3/77)

पुत्र आदि स्वजन के सिवाय अन्य लोगों को यंत्र (कोल्हू), हल, तलवार आदि हथियार, अग्नि, मूसल, ऊखली आदि हिंसाकारक वस्तुएं दयालु श्रावक नहीं दे।

{749}

तद्वच्च न सरेद् व्यर्थं न परं सारयेन्नहि।
जीवघ्नजीवान् स्वीकुर्यान्मार्जारशुनकादिकान्॥

(सा. ध. 5/11)

बिना प्रयोजन पृथ्वी खोदने आदि की तरह, बिना प्रयोजन हाथ- पैर आदि का हलन-चलन न स्वयं करे और न दूसरे से करावे। प्राणियों का घात करने वाले कुत्ता-बिल्ली आदि जन्तुओं को भी नहीं पाले।

{750}

परशुकृपाणखनित्र-ज्वलनायुधशृंखलादीनाम्।
वधहेतूनां दानं, हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः॥

(रत्नक. श्रा. 77)

हिंसा के कारणभूत फरसा, तलवार, कुदारी, फावड़ा, अग्नि, छुरी, कटार आदि हथियार, सींगी, विष और शांकल आदि वस्तुएं दूसरों को देना 'हिंसादान' नामक अनर्थदण्ड कहलाता है।

{751}

हिंसादानं विषास्त्रादिहिंसाङ्गस्पर्शनं त्यजेत्।
पाकाद्यर्थं च नाग्न्यादि दाक्षिण्याविषयेऽर्पयेत्॥

(सा. ध. 5/8)

अनर्थदण्ड व्रत का पालक श्रावक प्राणिवध के साधन विष, अस्त्र आदि के देने रूप हिंसादान नामक अनर्थदण्ड को छोड़े। इसके अतिरिक्त, पारस्परिक व्यवहार के सिवाय किसी दूसरे को पकाने आदि के लिए अग्नि वगैरह न देवे।

(हिंसा-समर्थक दूषित शास्त्रों/कथाओं/दृश्यों के सुनने-देखने का त्याग)

{752}

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि॥

(पुरु. 4/109/145)

मोह, राग-द्वेष आदि (हिंसात्मक वृत्ति) को बढ़ाने वाली तथा बहुत अंशों में अज्ञान से भरी हुई दुष्ट कथाओं का सुनना, धारण करना, सीखना आदि कभी भी नहीं करना चाहिये।

{753}

चित्तकालुष्यकृत्कामहिंसाद्यर्थश्रुतश्रुतिम् ।
न दुःश्रुतिमपध्यानं नार्तरौद्रात्म चान्वियात्॥

(सा. ध. 5/9)

जिन शास्त्रों में काम, हिंसा आदि का कथन है उनके सुनने से चित्त राग-द्वेष के आवेश से कलुषित होता है, अतः उनके सुनने को दुःश्रुति कहते हैं,७ यह नहीं करना चाहिए। आर्त और रौद्ररूप खोटे ध्यान भी नहीं करने चाहिएं।

[विशेषार्थ:- कुछ शास्त्र ऐसे होते हैं जिनमें मुख्य रूपसे काम-भोग सम्बन्धी या हिंसा, चोरी आदि की ही कथन रहता है। इनके सुनने व पढने से मन खराब होता है, पढ़ कर कामविकार उत्पन्न होता है, अतः ऐसी पुस्तकों को या शास्त्रों को नहीं पढ़ना चाहिए। इसी तरह, अपध्यान भी नहीं करना चाहिए।]

{754}

आरम्भसङ्गसाहस-मिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः।
चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति॥

(रत्नक. श्रा. 79)

आरम्भ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद और विषयभोग से चित्त को मलिन करने वाले शास्त्रों का सुनना 'दुःश्रुति' नामक अनर्थदण्ड कहलाता है।

{755}

कुतूहलाद् गीत-नृत्य-नाटकादिनिरीक्षणम्।
कामशास्त्रप्रसक्तिश्च द्यूतमद्यादिसेवनम्॥
जलक्रीड़ाऽन्दोलनादि विनोदं जन्तुयोधनम्।
रिपोः सुतादिना वैरं, भक्तस्त्रीदेशराट्कथा॥
रोगमार्गश्रमौ मुक्त्वा स्वापश्च सकलां निशाम्।
एवमादि परिहरेत् प्रमादाचरणं सुधीः॥

(है. योग. 3/78-80)

कुतूहल-पूर्वक गीत, नृत्य, नाटक आदि देखना; कामशास्त्र में आसक्त रहना; जुआ, मदिरा आदि का सेवन करना, जलक्रीड़ा करना, झूले आदि का विनोद करना, पशु-पक्षियों को आपस में लड़ाना, शत्रु के पुत्र आदि के साथ भी वैर-विरोध रखना, स्त्रियों की, खाने-पीने की, देश एवं राजा की व्यर्थ की ऊलजलूल विकथा करना, रोग या प्रवास की थकान को छोड़ कर अन्य समय में भी सारी रात भर सोते रहना; इस प्रकार के प्रमादाचरण का बुद्धिमान् पुरुष त्याग करे।

{756}

द्यूते हिंसानृतस्तेयलोभमायामये सजन्।
क्व स्वं क्षिपति नानर्थे वेश्याखेटान्यदारवत्॥

(सा. ध. 2/17)

वेश्यागमन, शिकार खेलना और परस्त्रीगमन में आसक्त मनुष्य की तरह हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ, और मायाचार से भरे जुए में आसक्त मनुष्य अपने को, अपने सम्बन्धियों को किस अनर्थ में नहीं डालता? अर्थात् सभी बुराइयों में डालता है।

{757}

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम्॥

(पुरु. 4/110/146)

सप्त व्यसनों में पहला-सब अनर्थों में मुख्य, सन्तोष का नाश करने वाला, मायाचार का घर, और चोरी व असत्य का स्थान- जुआ खेलना है, उसे दूर ही से त्याग देना चाहिये।

(हिंसा-निवृत्ति रूप अनर्थदण्ड व्रत का लाभ)

{758}

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते॥

(पुरु. 4/111/147)

जो मनुष्य इस प्रकार के तथा अन्य भी अनर्थदण्डों को जान कर छोड़ता है, उसका अहिंसाव्रत निरन्तर निर्दोष रूप से विजय (पूर्णता/सफलता) को प्राप्त करता है।

{759}

संयुक्ताधिकरणत्वमुपभोगातिरिक्तता ।
मौखर्यमथ कौत्कुच्यं कन्दर्पोऽनर्थदण्डगाः॥

(है. योग. 3/114)

1. हिंसा के साधन या अधिकरण संयुक्त रखना, 2. आवश्यकता से अधिक उपभोग के साधन रखना, बिना विचारे बोलना, भांड की तरह चेष्टा करना, कामोत्तेजक शब्दों का प्रयोग करना — ये पांच अतिचार अनर्थदण्डविरति के हैं।

O अहिंसा-पोषक दिग्व्रत

{760}

चराचराणां जीवानां विमर्दननिवर्तनात्।
तप्तायोगोलकल्पस्य सद्व्रतं गृहिणोऽप्यदः॥
जगदाक्रममाणस्य प्रसरल्लोभवारिधेः।
स्खलनं विदधे तेन, येन दिग्विरतिः कृता॥

(है. योग. 3/2-3)

चारों दिशाओं में क्षेत्र को मर्यादित करने से चराचर जीवों के हिंसादि के रूप में होने वाले विनाश से निवृत्ति होती है। इसलिए गृहस्थ के लिए, जो तपे हुए लोहे के गोले के समान (सर्वत्र जीव-हिंसा करने का अभ्यस्त) है, यह 'दिग्विरति' व्रत शुभ बताया जाता है। जिस मनुष्य ने दिग्विरति (दिशापरिमाण) व्रत अंगीकार कर लिया, उसने मानों सारे संसार पर आक्रमण करने हेतु विस्तृत होते रहने वाले लोभरूपी महासमुद्र को ही रोक लिया।

{761}

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्त्तव्या विरतिरविचलिता॥
इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य।
सकलासंयमविरहाद् भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम्॥

(पुरु. 4/101-102/137-138)

भली प्रकार प्रसिद्ध ग्राम, नदी, पर्वतादि भिन्न-भिन्न लक्षणों से, सभी दिशाओं में मर्यादा करके पूर्वादि दिशाओं में गमन न करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये। जो इस प्रकार मर्यादा की हुई दिशाओं के अन्दर रहता है, उस पुरुष को उस क्षेत्र के बाहर के समस्त असंयम के त्याग के कारण पूर्ण रूप से अहिंसाव्रत होता है।

○ अहिंसा व्रत का पूरक: उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत

{762}

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ॥

(पुरु. 4/125/161)

देशव्रती श्रावक को भोग और उपभोग के कारण से होने वाली हिंसा का दोष होता है, अन्य प्रकार से नहीं, इसलिये वे दोनों-भोग और उपभोग भी, वस्तुस्वरूप को और अपनी शक्ति को भी जानकर अर्थात् शक्ति अनुसार, त्यागने योग्य हैं।

{763}

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम्॥

(पुरु. 4/126/162)

चूंकि एक साधारण शरीर को- कन्दमूल आदि को भी घात करने की इच्छा रखने वाला पुरुष अनन्तजीवों को मारता है, इसलिए उन सभी अनन्तकाय वाले पदार्थों (के सेवन) का पूर्ण त्याग अवश्य करना चाहिये।

{764}

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम्।
भोगोपभोगविरहाद् भवति न लेशोऽपि हिंसायाः॥

(पुरु. 4/122/158)

निश्चय ही इस देशव्रती श्रावक द्वारा भोग-उपभोग के कारण स्थावर जीवों की हिंसा होती है, परन्तु भोग-उपभोग के त्याग से वह हिंसा बिलकुल भी नहीं होती।

{765}

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया॥

(पुरु.4/128/164)

बुद्धिमान् पुरुष अपनी शक्ति देखकर अविरुद्ध (दोष रहित) भोग को भी त्याग दे। यदि उचित भोग-उपभोग का त्याग न हो सके तो उसमें भी एक दिवस-रात की उपभोग्यता से मर्यादा करनी चाहिये।

{766}

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात्॥

(पुरु.4/130/166)

जो गृहस्थ इस प्रकार मर्यादित भोगों से सन्तुष्ट होकर बहुत से भोगों को त्याग देता है, उसके बहुत हिंसा के त्याग से विशेष अहिंसाव्रत होता है।

○ हिंसा आदि पापों का नियतकालिक त्याग

(सामायिक अनुष्ठान)

{767}

सामयिकं प्रतिदिवसं, यथावदप्यनलसेन चेतव्यम्।
व्रतपञ्चकपरिपूरण-कारणमवधान-युक्तेन॥

(रत्नक. श्रा. 101)

आलस्यरहित सावधान मनुष्य शास्त्रोक्ति विधि के अनुसार प्रतिदिन भी सामायिक अवश्य करें। क्योंकि भली प्रकार सामायिक करना पांचों अणुव्रतों को महाव्रतरूप करने में करना है। अर्थात् यथाविधि सामायिक करते समय अणुव्रत भी महाव्रत सरीखे हो जाते हैं।

{768}

आसमयमुक्तिमुक्तं, पञ्चाघानामशेष-भावेन।
सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति॥

(रत्नक. श्रा. 97)

दिग्व्रत तथा देशव्रत की मर्यादा के भीतर और बाहर सब जगह सामायिक के लिए निश्चित समय में पांचों पापों का मन, वचन, काय, और कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना, 'सामायिक' नामक शिक्षाव्रत कहलाता है।

{769}

व्यापार-वैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्या।
सामायिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा॥

(रत्नक. श्रा. 100)

मन, वचन, काय की चेष्टा और मन की कलुषता से निवृत्ति होने पर, मन के विकल्पों को रोक कर उपवास और एकाशन के दिन विशेष रीति से सामायिक करना चाहिए।

{770}

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्॥

(पुरु. 4/112/148)

रागद्वेष के त्याग से सभी इष्ट-अनिष्ट पदाथों में समता-भाव को अंगीकार करके आत्म-तत्त्व की प्राप्ति के मूल कारण-ऐसी सामायिक को अनेक बार करना चाहिए।

{771}

त्यक्तार्त्तरौद्रध्यानस्त्यक्त-सावद्यकर्मणः।
मुहूर्तं समता या तां विदुः सामायिक-व्रतम्॥

(है. योग. 3/82)

आर्त्त और रौद्र ध्यान का त्याग करके सर्व प्रकार के (हिंसा आदि) पाप- व्यापारों का त्याग कर एक मुहूर्त तक समता धारण करने को महापुरुषों ने 'सामायिक' व्रत कहा है।

{772}

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव, गृही तदा याति यतिभावम्॥

(रत्नक. श्रा. 102)

वीतराग मुनि के यद्यपि तिलतुषमात्र (तिल या तुष के बराबर भी) परिग्रह नहीं होता, किन्तु उपसर्ग आ जाए और कोई उन पर वस्त्र डाल दे, तो उस समय जैसा वह मुनि दिखता है, उसी प्रकार सामयिककर्ता भी सामायिक के समय में अन्तरङ्ग परिग्रहरहित हो जाता है, इसलिए वह उपर्युक्त (उपसर्गयुक्त सवस्त्र) मुनि के समान मालूम होता है। (अर्थात् यदि वह वस्त्र का त्याग और कर दे तो उतने समय के लिए ठीक वीतराग मुनि के समान हो जावे।)

O अहिंसा व्रत की पूर्णताः प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत से

{773}

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम्।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः॥

(पुरु. 4/115/151)

प्रतिदिन अंगीकार किये हुये सामायिक रूप संस्कार को स्थिर करने के लिए, दोनों पक्षों के अर्धभाग में अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी के दिन अवश्य ही उपवास करना चाहिये।

{774}

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्य्यात्॥

(रत्नक. श्रा. 107)

उपवास के दिन हिंसादि पांचों पाप, श्रृंगार, व्यापारादि आरम्भ, तेल, इत्र, माला, स्नान, अंजन और सूंघनी आदि के सेवन का त्याग कर देना चाहिए, (क्योंकि विषयानुराग का घटना ही वास्तविक उपवास है।)

{775}

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति॥

(पुरु. 4/121/157)

जो जीव इस प्रकार समस्त पाप-क्रियाओं से मुक्त होकर सोलह पहर बिताता है, उसके उस समय नियम से सम्पूर्ण अहिंसा-व्रत होता है।

○ हिंसात्मक लोभ-त्यागः अतिथिसंविभाग व्रत/वैयावृत्त्य

{776}

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम्॥

(पुरु. 4/136/172)

लोभ हिंसा का पर्याय ही है। चूंकि यहां दान में लोभ कषाय (रूप हिंसा) का त्याग किया जाता है, इसलिये अतिथि-दान में हिंसा का त्याग ही स्वतः समर्थित हो जाता है।

{777}

एवं व्रतस्थितो भक्त्या सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन्।
दयया चातिदीनेषु महाश्रावक उच्यते॥

(है. योग. 3/119)

शास्त्रोक्त रीति से बारह व्रतों में स्थिर हो कर सात क्षेत्रों में भक्तिपूर्वक तथा अति-दीनजनों में दयापूर्वक अपने धनरूपी बीज बोने वाला महाश्रावक कहलाता है।

{778}

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति॥

(पुरु. 4/137/173)

जो गृहस्थ घर पर आये हुए रत्नत्रय आदि से युक्त, भ्रमर समान वृत्ति से दूसरों को पीड़ा न देने वाले अतिथि-साधु को भोजनादि दान नहीं देता, वह लोभकषाय युक्त कैसे नहीं है? अर्थात् अवश्य लोभकषाय से युक्त है (और हिंसा-दोष से दूषित भी है)।

{779}

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव॥

(पुरु. 4/138/174)

'अपने लिये बनाया हुआ भोजन मुनि के लिये देता हूं'-इस प्रकार भावपूर्वक, अप्रीति और खिन्नता से रहित तथा लोभ को निष्क्रिय करने वाले श्रावक का दान अहिंसा-स्वरूप ही होता है।

{780}

दानं चतुर्विधाऽऽहारपात्राऽच्छादनसद्मनाम्।
अतिथिभ्योऽतिथिसंविभागव्रतमुदीरितम् ॥

(है. योग. 3/87)

चार प्रकार का आहार, वस्त्र, पात्र, मकान आदि कल्पनीय वस्तुएं साधु-साध्वियों को दान देना, 'अतिथि संविभाग' नामक चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है।

{781}

स संयमस्य वृद्ध्यर्थमततीत्यतिथिः स्मृतः।
प्रदानं संविभागोऽस्मै यथाशुद्धियथोदितम्॥
भिक्षौषधोपकरणप्रतिश्रयविभेदतः ।
संविभागोऽतिथिभ्यस्तु चतुर्विध उदाहृतः॥

(ह. पु. 58/158-159)

जो संयम की वृद्धि के लिए निरन्तर भ्रमण करता रहता है, वह अतिथि कहलाता है। उसे शुद्धिपूर्वक आगमोक्त विधि से आहार आदि देना अतिथिसंविभाग व्रत है। भिक्षा, औषध, उपकरण और आवास के भेद से अतिथि-संविभाग चार प्रकार का कहा गया है।

{782}

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः॥

(पुरु.4/131/167)

दातार के गुणों से युक्त गृहस्थ को चाहिए कि वह सहजरूपधारी अतिथि के निमित्त से, अपने और पर के उपकार के लिये, विशेष द्रव्य-दान-योग्य वस्तु का विधिपूर्वक भाग अवश्य ही करे।

(वैयावृत्त्यः उपकार-कार्य)

{783}

दव्वेण भावेण वा, जं अप्पणो परस्स वा उवकारकरणं, तं सव्वं वेयावच्चं॥

(नि. चू. 6605)

भोजन, वस्त्र आदि द्रव्य रूप से, और उपदेश एवं सत्प्रेरणा आदि भाव-रूप से, जो भी अपने को तथा अन्य को उपकृत किया जाता है, वह सब वैय्यावृत्य है।

{784}

तेषां व्याधिपरिषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण वा तत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं समाध्याधानविचिकित्साभावप्रवचनवात्सल्याद्यभिव्यक्त्यर्थम्।

(सर्वा. 9/24/866)

इन्हें (आचार्य आदि को) व्याधि होने पर, परीषह के होने पर एवं मिथ्यात्व आदि के प्राप्त होने पर, शरीर की चेष्टा द्वारा या अन्य द्रव्य द्वारा उनका प्रतीकार करना वैयावृत्त्य तप है। यह समाधि की प्राप्ति, विचिकित्सा का अभाव और प्रवचनवात्सल्य की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है।

{785}

दीनान्धकृपणा ये तु व्याधिग्रस्ता विशेषतः।
निःस्वाः क्रियान्तराशक्ता एतद्वर्गो हि मीलकः॥

(यो.बि. 123)

जो कार्य करने में अक्षम हैं, अंधे हैं, दुःखी हैं, विशेषतः रोग-पीड़ित हैं, निर्धन हैं, जिनके जीविका का कोई सहारा नहीं है, ऐसे लोग भी दान के पात्र हैं।

O अहिंसा व्रत का रक्षकः रात्रिभोजन-त्याग

{786}

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि॥

(पुरु. 4/93/129)

चूंकि रात में भोजन करने वालों को हिंसा अनिवार्य होती है, इसलिए हिंसा के त्यागियों को रात्रि-भोजन का भी त्याग करना चाहिए।

{787}

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती।

(भग. आ. 117; मूला. 4/295)

अहिंसा आदि व्रतों की रक्षा के लिए रात्रि-भोजन का त्याग कहा है।

{788}

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम्॥

(उपासका. 26/325)

अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए और मूलव्रतों को विशुद्ध रखने के लिए इस लोक और परलोक में दुःख देने वाले रात्रि-भोजन का त्याग कर देना चाहिए।

{789}

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत्॥

(सा. ध. 4/24)

अहिंसाणुव्रत की रक्षा के लिए मूल गुणों को निर्मल करने के लिए धीर व्रती को मन-वचन-काय से जीवनपर्यन्त के लिए रात्रि में चारों प्रकार के भोजन का त्याग करना चाहिए।

{790}

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति॥

(पुरु. 4/98/134)

अथवा बहुत अधिक कहने से क्या? जो पुरुष मन, वचन और काय से रात्रि-भोजन का त्याग करता है, वह निरन्तर अहिंसा का पालन करता है- यह सिद्ध हुआ।

{791}

मेधां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम्।
कुरुते मक्षिका वान्तिं, कुष्ठरोगं च कोकिलः॥
कण्टको दारुखण्डं च वितनोति गलव्यथाम्।
व्यंजनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः॥
विलग्नश्च गले बालः स्वरभंगो हि जायते।
इत्यादयो दृष्टदोषाः सर्वेषां निशि भोजने॥

(है. योग. 3/50/52)

रात को भोजन करते समय भोजन में यदि चींटी खाई जाय तो वह बुद्धि का नाश कर देती है। जूं निगली जाय तो वह जलोदर रोग पैदा कर देती है। मक्खी खाने में आ जाय तो उलटी होती है, कनखजूरा खाने में आ जाय तो कोढ़ हो जाता है। कांटा या लकड़ी का टुकड़ा गले में पीड़ा कर देता है, अगर सागभाजी में बिच्छू पड़ जाय तो वह तालु को फाड़ देता है, गले में बाल चिपक जाय तो उससे आवाज खराब हो जाती है। रात्रि-भोजन करने में ये और इस प्रकार के अन्य कई दोष तो सबको प्रत्यक्ष विदित ही हैं।

{792}

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम्॥

(पुरु. 4/97/133)

सूर्य के प्रकाश बिना रात में भोजन करने वाला मनुष्य जलते हुए दीपक (के टिमटिमाते प्रकाश) में भोजन में मिले हुए सूक्ष्म जीवों की हिंसा किस प्रकार टाल सकता है? अर्थात् नहीं टाल सकता।

{793}

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम्।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति॥

(पुरु. 4/94/130)

रागादि भावों के उदय की उत्कृष्टता के कारण अत्यागभाव (परिग्रह) हिंसा का उल्लंघन नहीं करता, अर्थात् हिंसा-दोष का पात्र बनाता ही है, अतः रात और दिन आहार करने वाले (तीव्र आहार-राग से युक्त व्यक्ति) को निश्चय ही हिंसा क्यों नहीं संभव होगी? अर्थात् अवश्य होगी।

{794}

यद्येवं तर्हि दिवा कर्त्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा॥
नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य॥

(पुरु. 4/95-96/131-132)

(शंका-) यदि ऐसा है, अर्थात् सदाकाल भोजन करने में हिंसा है, तब तो दिन में भोजन करने का भी त्याग कर देना चाहिए और रात में भोजन करना चाहिए, क्योंकि इस तरह से हिंसा सदाकाल में नहीं होगी। (समाधान-) ऐसा नहीं है, क्योंकि अन्न के ग्रास के खाने की अपेक्षा मांस के ग्रास खाने में जिस प्रकार राग अधिक होता है, उसी प्रकार दिन के भोजन की अपेक्षा रात्रि-भोजन में निश्चय ही अधिक राग होता है (और हिंसा भी अधिक होती है)।

{795}

रात्रौ यदि भिक्षार्थं पर्यटति त्रसान्स्थावरांश्च हन्याद्दुरालोकत्वात्।

(भग. आ. विजयो. 1179)

यदि मुनि रात्रि में भिक्षा के लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवों का घात करता है, क्योंकि रात्रि में उनको देख सकना कठिन है।

{796}

नाप्रेक्ष्य सूक्ष्मजन्तूनि निश्चयात् प्रासुकान्यपि।
अप्युद्यत्केवलज्ञानैर्नादृतं यन्निशाऽशनम्॥

(है. योग. 3/53)

रात को आंखों से दिखाई न दें, ऐसे सूक्ष्म जंतु भोजन में हों तो चाहे विविध प्रासुक (निर्जीव) भोजन ही हो, रात को नहीं करना चाहिए। क्योंकि जिन्हें 'केवल ज्ञान' प्राप्त हो गया है, उन्होंने ज्ञान-चक्षुओं से जानते-देखते हुए भी रात्रि-भोजन को स्वीकार नहीं किया है।

{797}

घोरान्धकाररुद्धाक्षैः पतन्तो यत्र जन्तवः।
नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र भुंजीत को निशि॥

(है. योग. 3/49)

घोर अंधेरे में आंखें काम नहीं करतीं; तेल, घी, छाछ आदि भोज्य पदार्थों में कोई चींटी, कीड़ा, मक्खी आदि जीव पड़ जाय तो वे आंखों से दिखाई नहीं देते। ऐसे में कौन समझदार आदमी रात को भोजन करेगा?

{798}

हृन्नाभिपद्मसंकोचः चण्डरोचिरपायतः।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं सूक्ष्मजीवादनादपि॥

(है. योग. 3/60)

सूर्य के अस्त हो जाने पर शरीर-स्थित हृदय-कमल और नाभि-कमल सिकुड़ जाते हैं और उस भोजन के साथ सूक्ष्म जीव भी खाने में आ जाते हैं, इसलिए भी रात्रि-भोजन नहीं करना चाहिए।

{799}

संसजज्जीवसंघातं भुंजाना निशिभोजनम्।
राक्षसेभ्यो विशिष्यन्ते; मूढात्मानः कथं नु ते?

(है. योग. 3/61)

जिस रात्रि-भोजन के करने में अनेक जीव-समूह आ कर भोजन में गिर जाते हैं, उस रात्रि-भोजन को करने वाले मूढ़ात्मा राक्षसों से बढ़ कर नहीं तो और क्या हैं?

○ अहिंसा का विशिष्ट साधकः प्रतिमाधारी श्रावक

{800}

मूलफलशाकशाखा-करीरकन्दप्रसूनबीजानि ।
नामानि योऽत्ति सोऽयं, सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥

(रत्नक. श्रा. 141)

जो व्यक्ति अपक्व- कच्चे, अशुष्क, सचित्त (अंकुरोत्पत्तिकारक), जड़, फल, शाक, डाली, कोंपल, जमीकन्द, फूल और बीज वगैरह नहीं खाता, पानी तक गरम कर पीता है, वह, सचित्तत्यागप्रतिमावान् कहलाता है।

{801}

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः, सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः॥

(रत्नक. श्रा. 142)

जो व्यक्ति जीवदया के विचार से रात्रि में दाल-भात वगैरह अन्न, दूध आदि पान, पेड़ा, बरफी आदि खाद्य, और रबड़ी, चटनी, आमरस आदि लेह्य- इन चार प्रकार के आहारों को नहीं खाता है, वह रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा का धारी है।

{802}

मलबीजं मलयोनिं, गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सम्।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद् विरमति यो ब्रह्मचारी सः॥

(रत्नक. श्रा. 143)

जो व्रती शरीर को अपवित्रता का कारण, नवद्वार से मल प्रवाहक (बहाने वाला) तथा दुर्गन्ध-पूर्ण और ग्लानि-योग्य जान कर कामसेवन का सर्वथा त्याग कर देता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक है।

{803}

अनुमतिरारम्भे वा, परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः॥

(रत्नक. श्रा. 146)

जो किसी भी आरम्भ, धन आदि परिग्रह, विवाह आदिक इस लोक सम्बन्धी कार्य- इन सभी में अनुमति नहीं देता, वह ममता और रागद्वेष से रहित व्यक्ति 'अनुमतित्याग प्रतिमावान्' कहलाता है।

{804}

सेवाकृषिवाणिज्य-प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोः योऽसावारम्भ-विनिवृत्तः॥

(रत्नक. श्रा. 144)

जो व्यक्ति हिंसा के कारणभूत कामों- नौकरी, खेती, व्यापार आदिक आरम्भ का त्याग कर देता है, वह 'आरम्भत्याग-प्रतिमावान्' कहलाता है।

{805}

बाह्येषु दशसु वस्तुषु, ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचितपरिग्रहाद्विरतः॥

(रत्नक. श्रा. 145)

जो मनुष्य बाह्य दश परिग्रहों से सर्वथा ममता छोड़ निर्मोही हो कर मायाचाररहित, परिग्रह की आकांक्षा का त्यागी होता है, वह 'परिग्रहत्यागप्रतिमावान्' कहलाता है।

O अहिंसा-साधक का प्रशस्त मरणः सल्लेखना का आश्रयण

{806}

सोऽथावश्यकयोगानां भंगे मृत्योरथागमे।
कृत्वा संलेखनामादौ, प्रतिपद्य च संयमम्॥

(है. योग. 3/148)

श्रावक जब यह देखे कि आवश्यक संयम-प्रवृत्तियों (धार्मिक क्रियाओं) के करने में शरीर अब अशक्त व असमर्थ हो गया है अथवा मृत्यु का समय सन्निकट आ गया है; तो सर्वप्रथम संयम को अंगीकार करके 'संलेखना' करे।

{807}

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम्॥

(पुरु. 5/2/176)

'मैं मरण के अन्त समय अवश्य ही शास्त्रोक्त विधि से सल्लेखना धारण करूंगा'- इस प्रकार भावना रूप परिणति करके, मरणकाल आने से पहले ही, यह सल्लेखनाव्रत पालना चाहिये।

{808}

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥

(रत्नक. श्रा. 122)

अटल उपसर्ग आने पर, अकाल पड़ने पर, बुढ़ापा आने पर और असाध्य रोग होने पर रत्नत्रयस्वरूप धर्मपालन करने के लिए कषाय को कृश करते हुए शरीर के त्याग करने को 'सल्लेखना' कहते हैं।

{809}

सम्यक्कायकषायाणां बहिरन्तर्हि लेखना।
सल्लेखनापि कर्तव्या कारणे मारणान्तिकी॥
रागादीनामनुत्पत्तावागमोदितवर्त्मना ।
अशक्यपरिहारे हि सान्ते सल्लेखना मता॥

(ह. पु. 58/160-161)

मृत्यु के कारण उपस्थित होने पर बहिरंग में शरीर और अन्तरंग में कषायों का अच्छी तरह कृश करना 'सल्लेखना' कहलाती है। व्रती मनुष्य को मरणान्तकाल में यह सल्लेखना अवश्य ही करनी चाहिए। जब अन्त अर्थात् मरण का किसी तरह परिहार न किया सके, तब रागादिक की अनुत्पत्ति के लिए आगमोक्त मार्ग से सल्लेखना करना उचित माना गया है।

(सल्लेखनाधारी: वैर आदि कलुषित भावों का त्यागी एवं क्षमाभाव का धारक)

{810}

शोकं भयमवसादं, क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च, मनः प्रसाद्य श्रुतैरमृतैः॥

(रत्नक. श्रा. 126)

सल्लेखनाधारी व्यक्ति शोक, भय, विषाद, राग, द्वेष और अप्रेम को छोड़कर अपने बल और उत्साह को बढ़ा कर अमृत के समान सुखकारक, तथा संसार के दुःख और सन्ताप के नाशक शास्त्रों को स्वयं सुन कर तथा दूसरों को सुना कर अपने मन को प्रसन्न करे।

{811}

स्नेहं वैरं सङ्गं, परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च, क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः॥

(रत्नक. श्रा. 124)

समाधिकरण करने वाला व्यक्ति उपकारक (इष्ट) वस्तु से राग, अनुपकारक (अनिष्ट) वस्तु से द्वेष, स्त्रीपुत्रादि से समता का सम्बन्ध (रिश्ते) और बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ कर शुद्ध मन होकर प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों व नौकरों आदि से अपने दोषों की क्षमा मांगे तथा आप भी उनके अपराधों को क्षमा करे।

{812}

यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः॥
नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम्॥

(पुरु. 5/4-5/178-179)

निश्चय ही क्रोधादि कषायों से घिरा हुआ जो पुरुष श्वास-निरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादि से अपने प्राणों को पृथक् करता है (अन्त करता है), उसका यह कार्य तो वास्तव में आत्मघात ही होता है।

किन्तु इस सल्लेखना-मरण में हिंसा की हेतुभूत कषाय ही क्षीणता को प्राप्त होती हैं, इसलिये सल्लेखना का प्रयोजन अहिंसा की सिद्धि को ही व्यक्त करता है।

{813}

रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशाद् आत्मानं घ्नतः स्वघातो भवति। न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति, ततो नात्मवधदोषः। उक्तं चः-

मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति॥

(पुरु. 5/3/177)

अवश्य ही होने वाले मरण की स्थिति आने पर, कषाय-सल्लेखना (कषायों को कृश करने मात्र के व्यापार) में प्रवर्त्तमान पुरुष आत्मघात का दोषी नहीं है क्योंकि उसके अन्तरंग में सल्लेखना के सन्दर्भ में राग (या द्वेष)आदि का सद्भाव नहीं है। राग, द्वेष और मोह से युक्त होकर जो विष, शस्त्र आदि उपकरणों का प्रयोग करके उनसे अपना घात करता है, उसे आत्मघात का दोष लगता है। परन्तु 'सल्लेखना' को प्राप्त हुए जीव के रागादिक तो हैं नहीं, इसलिए आत्मघात का दोष नहीं लगता।

5 साधु-चर्या और अहिंसा

O **अहिंसक आचार-विचार: साधु-चर्या का अभिन्न अंग**

{814}

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं, न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥ (10)

(दशवै. 6/273)

सभी जीव जीना चाहते हैं मरना नहीं, इसलिए निर्ग्रन्थ साधु (या साध्वी) प्राणि-वध को घोर (भयानक जान कर) उसका परित्याग करते हैं। (10)

{815}

तच्चिन्त्यं तद्भाष्यं तत्कार्यं भवति सर्वथा यतिना।
नात्मपरोभयबाधकमिह यत्परतश्च सर्वाद्धम्॥

(प्रशम. 147)

साधु को उसी का चिन्तन करना चाहिये, वही बोलना चाहिये और वही कार्य करना चाहिए, जो अपने और दूसरे के लिये, इस लोक और परलोक में सर्वदा दु:खदायी या बाधक न हो।

{816}

सर्वजीवदया हि यते: पक्ष:।

(भग. आ. विजयो. 96)

मुनि का पक्ष या प्रतिज्ञा है-सब जीवों पर दया करना।

{817}

जे ते अप्पमत्तसंजया ते णं नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव-अणारंभा।

(व्या. प्र. 1/1/7)

आत्मसाधना में अप्रमत्त रहने वाले साधक न अपनी हिंसा करते हैं, न दूसरों की, वे सर्वथा अनारंभ-अहिंसक रहते हैं।

{818}

हंतूण य बहुपाणं अप्पाणं जो करेदि सप्पाणं।
अप्पासुअसुहकंखी मोक्खंकंखी ण सो समणो॥

(मूला. 10/921)

जो बहुत से प्राणियों का घात करते हुए अपने प्राणों की रक्षा करता है, अप्रासुक (भोजन आदि के सेवन) में सुख का इच्छुक वह श्रमण मोक्ष-सुख का इच्छुक नहीं है (क्योंकि वह स्पष्टत: मोक्ष-विरोधी कार्य में संलग्न है)।

{819}

न हु पाणवहं अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं।
एवारिएहिं अक्खायं जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो॥

(उत्त. 8/8)

जिन्होंने साधु कर्म की प्ररूपणा की है, उन आर्य पुरुषों ने कहा है-"जो प्राणवध का अनुमोदन करता है, वह कभी भी सब दु:खों से मुक्त नहीं हो सकता।"

{820}

परपीडेह सूक्ष्माऽपि वर्जनीया प्रयत्नत:।
तद्वत्तदुपकारेऽपि यतितव्यं सदैव हि॥

(यो.दृ.स. 150)

(योग-) साधक का यह प्रयास रहे कि उसकी ओर से किसी को जरा भी पीड़ा न पहुंचे। उसी प्रकार, उसे सदा दूसरों का उपकार करने का भी प्रयत्न करते रहना चाहिए।

{821}

से ण छणे, न छणावए, छणंतं णाणुजाणति।

(आचा. 1/3/2 सू. 119)

वह (अनन्यसेवी मुनि) प्राणियों की हिंसा स्वयं न करे, न दूसरों से हिंसा कराए, और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन करे।

{822}

वसुधम्मि वि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु॥

(मूला. 9/800)

मुनि वसुधा पर विहार करते हुए भी कदाचित् किसी को भी पीड़ा नहीं पहुंचाते हैं। वे जीवों के प्रति उसी प्रकार दया भाव रखते हैं जैसे कि पुत्र-पुत्रियों के प्रति माता दया रखती है।

{823}

विहरन्तो महीं कृत्स्नां ते कस्याप्यनभिद्रुहः।
मातृकल्पा दयालुत्वात्पुत्रकल्पेषु देहिषु॥

(आ.पु. 34/191)

समस्त पृथ्वी पर विहार करते हुए और किसी भी जीव से द्रोह नहीं करते हुए वे मुनि दयालु होने से समस्त प्राणियों को पुत्र के तुल्य मानते थे और उनके साथ माता के समान व्यवहार करते थे।

{824}

महप्पसाया इसिणो हवन्ति। न हु मुणी कोवपरा हवन्ति॥

(उत्त. 12/31)

ऋषिजन महान् प्रसन्नचित्त होते हैं, अतः वे किसी पर क्रोध नहीं करते हैं।

{825}

आवंती केआवंती लोगंसि अणारंभजीवी, एतेसु चेव अणारंभजीवी।...
से अविहिंसमाणे अणवयमाणे पुट्ठो फासे विप्पणोल्लए। एस समियापरियाए वियाहिते।

(आचा. 1/5/2 सू. 152)

इस मनुष्य-लोक में जितने भी अनारम्भजीवी (अहिंसा के पूर्ण आराधक) हैं, वे (इन सावद्य-आरम्भ में प्रवृत्त गृहस्थों) के बीच रहते हुए भी अनारम्भ-जीवी (विषयों से निर्लिप्त-अप्रमत्त रहते हुए जीते) हैं।

वह (अनारम्भजीवी) साधक किसी भी जीव की हिंसा न करता हुआ, वस्तु के स्वरूप को अन्यथा न कहे (मृषावाद न बोले)। (यदि) परीषहों और उपसर्गों का स्पर्श हो तो उनसे होने वाले दु:खस्पर्शों को विविध उपायों (संसार की असारता की भावना आदि) से प्रेरित होकर समभावपूर्वक सहन करे। ऐसा (अहिंसक और सहिष्णु) साधक शमिता या समता का पारगामी, (उत्तम चारित्र-सम्पन्न)कहलाता है।

{826}

इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसति, संजमति, णो पगब्भति, उवेहमाणे पत्तेयं सातं, वण्णादेसी णारभे कंचणं सव्वलोए।

(आचा. 1/5/3 सू. 160)

इस प्रकार कर्म (और उसके कारण) को सम्यक् प्रकार जान कर वह (साधक) सब प्रकार के (किसी जीव की) हिंसा नहीं करता, (शुद्ध) संयम का आचरण करता है, (असंयम-कर्मों या अकार्य में प्रवृत्त होने पर) धृष्टता नहीं करता। प्रत्येक प्राणी का सुख अपना-अपना (प्रिय) होता है, यह देखता हुआ (वह किसी की हिंसा न करे)। मुनि समस्त लोक (सभी क्षेत्रों) में भी (शुभ या अशुभ)आरम्भ (हिंसा) को सौन्दर्य-वृद्धि या प्रशंसा का अभिलाषी होकर न करे।

{827}

ते अणवकंखमाणा, अणतिवातेमाणा, अपरिग्गहमाणा, णो परिग्गहावंति सव्वावंति च णं लोगंसि, णिहाय दंडं पाणेहिं पावं कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिते।

(आचा. 1/8/3 सू. 209)

वे काम-भोगों की आकांक्षा न रखने वाले, प्राणियों के प्राणों का अतिपात और परिग्रह न रखते हुए (निर्ग्रन्थ मुनि) समग्र लोक में अपरिग्रहवान् होते हैं। जो प्राणियों के लिए (परितापकर) दण्ड का त्याग करके (हिंसादि) पाप कर्म नहीं करता, उसे ही महान् अग्रन्थ (ग्रन्थविमुक्त निर्ग्रन्थ) कहा गया है।

{828}

तं णो करिस्सामि समुट्ठाए मत्ता मतिमं अभयं विदित्ता तं जे णो करए एसोवरते, एत्थोवरए, एस अणगारे त्ति पवुच्चति।

(आचा. 1/1/5/सू. 40)

(अहिंसा में आस्था रखने वाला यह संकल्प करे)– मैं संयम अंगीकार करके वह हिंसा नहीं करूंगा। बुद्धिमान् संयम में स्थिर होकर मनन करे और 'प्रत्येक जीव अभय चाहता है' यह जान कर (हिंसा न करे) जो हिंसा नहीं करता, वही व्रती है। इस अर्हत्-शासन में जो व्रती है, वही 'अनगार' कहलाता है।

{829}

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं एतेहिं कज्जेहि दंडं समारंभेज्जा, णेव अण्णं एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारंभावेज्जा, णेवण्णे एतेहिं कज्जेहि दंडं समारंभंते समणुजाणेज्जा। एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते जहेत्थ कुसले णोवलिंपेज्जासि त्ति बेमि।

(आचा. 1/2/2 सू. 74)

यह जान कर मेधावी पुरुष स्वयं हिंसा न करे, दूसरों से हिंसा न करवाए तथा हिंसा करने वाले का अनुमोदन भी न करे।

यह (लोक-विजय का/संसार से पार पहुंचने का) मार्ग आर्य पुरुषों ने–तीर्थंकरों ने बताया है। कुशल पुरुष इन विषयों में लिप्त न हों–ऐसा मैं कहता हूं।

{830}

तणरुक्खहरिदछेदणतयपत्तपवालकंदमूलाइं ।
फलपुप्फबीयघादं ण करेंति मुणी ण कारेंति॥

(मूला. 9/803)

तृण, वृक्ष, एवं हरित वनस्पति का छेदन तथा छाल, पत्ते, कोंपल, कन्द-मूल तथा फल, पुष्प और बीज –इन (वनस्पतिकायिक जीवों) का घात मुनि न स्वयं करते हैं और न कराते हैं।

{831}

पुढवीय समारंभं जलपवणग्गीतसाणमारंभं।
ण करेंति ण कारेंति य कारेंतं णाणुमोदंति॥

(मूला. 9/804)

मुनि पृथ्वी का समारम्भ, जल, वायु, अग्नि और त्रस जीवों का आरम्भ (हिंसादि) न स्वयं करते हैं, न कराते हैं और न करते हुए को अनुमोदना ही देते हैं।

{832}

सम्मद्दमाणे पाणाणि बीयाणि हरियाणि य।
असंजए संजयमन्नमाणे पावसमणे त्ति वुच्चई॥

(उत्त. 17/6)

जो प्राणी (द्वीन्द्रिय आदि जीवों), बीज और वनस्पति का संमर्दन करता रहता है, जो असंयत होते हुए भी स्वयं को संयत मानता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

{833}

घृततैलादिभिरभ्यंजनमपि न करोति प्रयोजनाभावादुक्तेन प्रकारेण घृतादिना क्षारेण स्पृष्टा भूम्यादि- शरीरादि जंतवो बाध्यन्ते। त्रसाश्च तत्रावलग्नाः। उद्वर्त्तने इतस्ततः पततां व्याघातः। मूलत्वक्फलपत्रादेः पेषणे, दलने च महानसंयमः।

(भग. आ. विजयो. 92)

साधु प्रयोजन होने से भी घी-तेल आदि से शरीर का अभ्यंजन नहीं करते, क्योंकि शास्त्रोक्त दृष्टि के अनुसार घी आदि से तथा क्षार से भूमि आदि तथा शरीर आदि में चिपटे जीवों को बाधा पहुंचती है। उद्वर्तन अर्थात् उबटन लगाने से शरीर से चिपटे त्रस जीव यहां-वहां गिर कर मर जाते हैं, तथा उबटन तैयार करने के लिए वृक्ष की जड़, छाल, फल, पत्ते आदि को पीसने या दलने में महान् असंयम होता है।

{834}

स्नानमनेकप्रकारम्......... तत्र शीतोदकेन क्रियते स्थावराणां त्रसानां च बाधा माभूदिति। कर्दमबालुकादिमर्द्दनाज्जलक्षोभणात्तच्छरीराणां च वनस्पतीनां पीडातः मत्स्यदर्दुरसूक्ष्मत्रसानां च स्नानं निवार्यते। उष्णोदकेन स्नात्विति चेन्न, तत्र त्रसस्थावर-बाधा स्थितैव। भूमिदरीविवरस्थितानां पिपीलिकादीनां मृतेः, तरुणतृणपल्लवानां चोष्णाम्बुभिस्तप्तानां दुःखासिका महती जायते, तथा क्षारतया धान्यरसादीनाम्।

(भग. आ. विजयो. 92)

स्नान के अनेक प्रकार हैं..........स्थावर और त्रसजीवों को बाधा न हो, इसलिए (मुनि) स्नान ठण्डे जल से नहीं करते। कीचड़, रेत आदि के मर्दन से पानी में क्षोभ पैदा होता है और जिसके होने से उनमें रहने- वाले वनस्पतिकायिक जीवों को तथा मछली, मेढक और सूक्ष्म त्रस जीवों को पीड़ा होती है। इसलिए मुनि शीतल जल से स्नान नहीं करते।

शंका- तब गर्म जल से स्नान करना चाहिए?

समाधान- उसमें भी त्रस और स्थावर जीवों को होने वाली बाधा रहती ही है। पृथिवी तथा पहाड़ के बिलों में रहने वाली चींटी आदि के मरने से और उष्ण जल के ताप से कोमल तृण, पत्ते आदि के झुलसने से बड़ा दुःख होता है तथा जल के खारपने से धान्य के रस को भी हानि पहुंचती है।

{835}

जे मायरं च पियरं च हिच्चा समणव्वए अगणिं समारभिज्जा।
अहाहु से लोए कुसीलधम्मे भूयाइ जे हिंसति आतसाते॥

(सू.कृ. 1/7/5)

जो माता-पिता को छोड़, श्रमण का व्रत लेकर भी, अग्नि का समारंभ और अपने सुख के लिए प्राणियों की हिंसा करता है, वह लोक में कुशील धर्म वाला कहा गया है।

{836}

भावंमि उ पव्वज्जा आरंभपरिग्गहच्चाओ।

(उत्त. नि. 263)

आरम्भ (हिंसा) और परिग्रह का त्याग ही वस्तुतः भावप्रव्रज्या है। (अर्थात् साधु प्रव्रजित होकर हिंसा व परिग्रह से सर्वथा मुक्त रहता है।)

{837}

सव्वारंभणियत्ता जुत्ता जिणदेसिदम्मि धम्मम्मि।
ण य इच्छंति ममत्तिं परिग्गहे बालमित्तम्मि॥

(मूला. 9/784)

मुनि सर्व आरम्भ (हिंसा आदि) से निवृत्त हो चुके होते हैं, जिनदेशित धर्म में तत्पर होते हैं और बालमात्र परिग्रह में भी ममत्व नहीं रखते हैं।

{838}

जंबू! अपरिग्गहसंवुडे य समणे आरंभ-परिग्गहाओ विरए, विरए कोह-माण-माया-लोहा।

(प्रश्न. 2/5/सू.154)

(श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रधान अन्तेवासी जम्बू को संबोधन करते हुए कहा-) हे जम्बू! जो मूर्च्छा-ममत्वभाव से रहित है, इन्द्रियसंवर तथा कषायसंवर से युक्त है एवं आरंभ (हिंसा) व परिग्रह से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित है, वही श्रमण या साधु होता है।

{839}

पाणे य नाइवाएज्जा से 'समिए' त्ति वुच्चई ताई।
तओ से पावयं कम्मं निज्जाइ उदगं व थलाओ॥

(उत्त. 8/9)

जो जीवों की हिंसा नहीं करता, वह साधक 'समित'-'सम्यक् प्रवृत्ति वाला' कहा जाता है। उससे अर्थात् उसके जीवन से पाप-कर्म वैसे ही निकल जाता है, जैसे ऊंचे स्थान से जल।

○ अहिंसा/समता/क्षमा से समन्वितः साधु-चर्या

(समता=अहिंसा)

{840}

एयं खु णाणिणो सारं जं ण हिंसइ कंचणं।
अहिंसा समयं चेव एयावंतं वियाणिया॥

(सू.कृ. 1/1/4/85;1/11/10)

ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता। समता ही अहिंसा है, इतना ही उसे जानना है।

○ अहिंसक साधुः आत्मवत् दृष्टि से सम्पन्न

{841}

णिक्खित्तसत्थदंडा समणा सम सव्वपाणभूदेसु।

(मूला. 9/805)

श्रमण शस्त्र और दण्ड (हिंसा) से रहित होते हैं, सभी प्राणियों और भूतों के प्रति समभावी होते हैं।

{842}

संधिं लोगस्स जाणित्ता आयाओ बहिया पास।
तम्हा ण हंता ण विघातए।

(आचा. 1/3/3 सू. 122)

साधक (धर्मानुष्ठान की अपूर्व) सन्धि-वेला समझ कर (प्राणि-लोक को दुःख न पहुंचाए) अथवा प्रमाद न करे।

अपनी आत्मा के समान बाह्य-जगत् (दूसरी आत्माओं) को देख! (सभी जीवों को मेरे समान ही सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है)- यह समझ कर मुनि जीवों का हनन न स्वयं करे और न दूसरों से कराए।

{843}

जह मे इट्ठाणिट्ठे सुहासुहे तह सव्वजीवाणं।

(आचा. चू. 1/1/6)

जैसे इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख मुझे होते हैं, वैसे ही सब जीवों को होते हैं-ऐसा सदा सोचना चाहिए।

{844}

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।

(नि.सा. 104)

मेरा सब जीवों में साम्यभाव है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है। (ऐसी भावना ज्ञानी मुनि जन को सर्वदा रहती है।)

{845}

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य।
सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो॥

(भा.पा. 72)

निन्दा और प्रशंसा, दुःख और सुख तथा शत्रु और मित्र में समभाव से ही चारित्र (साधुजनोचित आचार) सम्पन्न होता है।

{846}

माध्यस्थ्यलक्षणं प्राहुश्चारित्रं वितृषो मुनेः।
मोक्षकामस्य निर्मुक्तचेलस्याहिंसकस्य तत्॥

(आ. पु. 21/119)

इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में समताभाव धारण करने को सम्यक्चारित्र कहते हैं, वह सम्यक्चारित्र यथार्थ रूप से तृष्णारहित, मोक्ष की इच्छा करने वाले, अचेल और 'हिंसा का सर्वथा त्याग करने वाले' मुनिराज के ही होता है।

{847}

जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो॥ (129)
तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु॥ (132)

(अनुयो. 599)

जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सभी जीवों को दुःख प्रिय नहीं है- ऐसा समझ कर जो न स्वयं हिंसा करता है, और न ही किसी से हिंसा करवाता है, वह समत्वसम्पन्न ही सच्चा 'श्रमण'/समण है। (129)

जो मन से सुमन (निर्मल मन वाला) है, संकल्प से भी कभी पापोन्मुख नहीं होता, स्वजन हो या परकीय जन, सम्मान हो अपमान, सभी स्थितियों में 'सम' रहता है, वही समण (श्रमण) होता है। (132)

{848}

समया सव्वभूएसु सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई जावज्जीवाए दुक्करं॥

(उत्त. 19/26)

भिक्षु को जगत् में शत्रु और मित्र के प्रति, यहां तक कि सभी जीवों के प्रति समभाव रखना होता है। जीवन-पर्यन्त प्राणातिपात (जीव-वध) से निवृत्त होना भी बहुत दुष्कर है।

{849}

रोइय नायपुत्तवयणं, अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पिकाए।
पंच य फासे महव्वयाइं, पंचासवसंवरए जे, स भिक्खू॥ (5)

(दशवै. 10/525)

जो ज्ञातपुत्र (श्रमण भगवान् महावीर) के वचनों में रुचि (श्रद्धा) रख कर षट्कायिक जीवों (सर्वजीवों) को आत्मवत् मानता है, जो पांच महाव्रतों का पालन करता है, जो पांच (हिंसादि) आस्रवों का संवरण (निरोध) करता है, वह सद्भिक्षु है। (5)

{850}

पन्ने अभिभूय सव्वदंसी उवसन्ते अविहेडए स भिक्खू॥

(उत्त. 15/15)

जो प्राज्ञ है, जो परीषहों को जीतता है, जो सब जीवों के प्रति समदर्शी है और उपशान्त है, जो किसी को अपमानित नहीं करता है, वही भिक्षु है।

{851}

णिसम्मभासी य विणीयगिद्धो हिंसण्णितं वा ण कहं करेज्जा॥

(सू.कृ. 1/10/10)

सोच कर बोलने वाला और आसक्ति से दूर रहने वाला होकर (साधक) हिंसायुक्त कथा न करे।

{852}

से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा गामेसु वा गामंतरेसु वा णगरेसु वा णगंरतरेसु वा जणवएसु वा जणवयंतरेसु वा संतेगतिया जणा लूसगा भवंति अदुवा फासा फुसंति। ये ते फासे पुट्ठो धीरो अधियासए ओए समितदंसणे।

(आचा. 1/6/5 सू. 196)

वह (धुत/श्रमण) घरों में, गृहान्तरों में (घरों के आस-पास), ग्रामों में ग्रामान्तरों (ग्रामों के बीच) नगरों में, नगरान्तरों (नगरों के अन्तराल) में, जनपदों में या जनपदान्तरों (जनपदों के बीच) में (आहारादि के लिए विचरण करते हुए अथवा कायोत्सर्ग में स्थित मुनि को देखकर) कुछ विद्वेषी जन हिंसक- (उपद्रवी) हो जाते हैं, (वे अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग देते हैं)। अथवा (सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर आदि परिषहों के) स्पर्श (कष्ट) प्राप्त होते हैं। उनसे स्पृष्ट होने पर धीर मुनि उन सबको (समभाव से) सहन करे।

{853}

समावयंता वयणाभिघाया, कण्णंगया दुम्मणियं जणंति।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे, जिइंदिए जो सहई, स पुज्जो॥ (8)

(दशवै. 9/499)

(एक साथ एकत्र हो कर सामने से) आते हुए कटुवचनों के आघात (प्रहार) कानों में पहुंचते ही दौर्मनस्य उत्पन्न करते हैं, (परन्तु) जो वीर-पुरुषों का परम अग्रणी जितेन्द्रिय पुरुष 'यह मेरा धर्म है' ऐसा मान कर (उन्हें समभाव से) सहन कर लेता है, वही पूज्य होता है। (8)

{854}

जो सहइ उ गाम-कंटए, अक्कोस-पहार-तज्जणाओ य।
भय-भेरवसद्द संपहासे, समसुह-दुक्खसहे य जे, स भिक्खू॥ (11)

(दशवै. 10/531)

जो (साधु) इन्द्रियों को कांटे के समान चुभने वाले आक्रोश-वचनों, प्रहारों, तर्जनाओं और (वेताल आदि के) अतीव भयोत्पादक अट्टहासों को सहन करता है तथा सुख-दुःख को समभावपूर्वक सहन कर लेता है, वही सुभिक्षु है। (11)

○ **हिंसावर्धक क्रोध का विजेताः क्षमाशील साधु**

{855}

[बिइयं...] कोहो ण सेवियव्वो, कुद्धो चंडिक्किओ मणूसो अलियं भणेज्ज, पिसुणं भणेज्ज, फरुसं भणेज्ज, अलियं-पिसुणं-भणेज्ज, कलहं करिज्जा, वेरं करिज्जा, विकहं करिज्जा, कलहं-वेरं-विकहं करिज्जा, सच्चं हणेज्ज, सीलं हणेज्ज, विणयं हणेज्ज, सच्चं-सीलं-विणयं हणेज्ज, वेसो हवेज्ज, वत्थुं हवेज्ज, गम्मो हवेज्ज, वेसो-वत्थुं-गम्मो हवेज्ज, एयं अण्णं च एवमाइयं भणेज्ज कोहग्गि-संपलित्तो तम्हा कोहो ण सेवियव्वो। एवं खंतीइ भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकर-चरण-णयण-वयणो सूरो सच्चज्जवसंपण्णो।

(प्रश्न. 2/2/सू.123)

[सत्य महाव्रती की दूसरी भावना क्रोधनिग्रह-क्षमाशीलता है।] (सत्य के आराधक को) क्रोध का सेवन नहीं करना चाहिए। क्रोधी मनुष्य रौद्रभाव वाला हो जाता है और (ऐसी अवस्था में) असत्य भाषण कर सकता है (या करता है)। वह पिशुन-चुगली के वचन बोलता है, कठोर वचन बोलता है। मिथ्या, पिशुन और कठोर- तीनों प्रकार के वचन बोलता है। कलह करता है, वैर-विरोध करता है, विकथा करता है तथा कलह-वैर-विकथा-ये तीनों करता है। वह सत्य का घात करता है, शील-सदाचार का घात करता है, विनय का विघात करता है और सत्य, शील तथा विनय-इन तीनों का घात करता है। असत्यवादी लोक में द्वेष का पात्र बनता है, दोषों का घर बन जाता है और अनादर का पात्र बनता है, तथा द्वेष, दोष और अनादर-इन तीनों का पात्र बनता है।

क्रोधाग्नि से प्रज्वलितहृदय मनुष्य ऐसे और इसी प्रकार के अन्य वचनों को बोलता है। अतएव क्रोध का सेवन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार क्षमा से भावित अन्तरात्मा-अन्तःकरण वाला हाथों, पैरों, नेत्रों और मुख के संयम से युक्त, शूर साधु सत्य व आर्जव से सम्पन्न होता है।

{856}

भिक्खुं च खलु अपुट्ठा वा जे इमे आहच्च गंथा फुसंति, से हंता हणह खणह छिंदह दहह पचह आलुंपह विलुंपह सहसक्कारेह विप्परामुसह। ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासए। अदुवा आयारगोयरमाइक्खे तक्कियाणमणेलिसं।

(आचा. 1/8/2 सू. 206)

भिक्षु से पूछकर (सम्मति लेकर) या बिना पूछे ही (मैं अवश्य दे दूंगा, इस अभिप्राय से) किसी गृहस्थ द्वारा (अन्धभक्तिवश) बहुत धन खर्च करके बनाये हुए ये (आहारादि पदार्थ), भिक्षु के समक्ष भेंट रूप में ला कर रख देने पर (जब मुनि उसे स्वीकार नहीं करता), तब वह उसे परिताप देता है; वह सम्पन्न गृहस्थ क्रोधावेश में आकर स्वयं उस भिक्षु को मारता है, अथवा अपने नौकरों को आदेश देता है कि इस (- व्यर्थ ही मेरा धन व्यय कराने वाले साधु) को डंडों आदि से पीटो, घायल कर दो, इसके हाथ-पैर आदि अंग काट डालो, इसे जला दो, इसका मांस पकाओ, इसके वस्त्रादि छीन लो या इसे नखों से नोंच डालो, इसका सब कुछ लूट लो, इसके साथ जबर्दस्ती करो अथवा जल्दी ही इसे मार डालो, इसे अनेक प्रकार से पीड़ित करो। उन सब दु:ख स्पर्शों (कष्टों) के आ पड़ने पर, धीर (अक्षुब्ध) रह कर मुनि उन्हें (समभाव से) सहन करे।

{857}

अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणां तम्हा भिक्खू न संजले॥

(उत्त. 2/24)

यदि कोई भिक्षु को गाली दे, तो वह उसके प्रति क्रोध न करे। क्रोध करने वाला अज्ञानियों के सदृश होता है। अत: भिक्षु आक्रोश-काल में संज्वलित न हो, उबाल न खाए।

{858}

हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा वुच्चमाणो ण संजले।
सुमणो अहियासेज्जा ण य कोलाहलं करे॥

(सू.कृ. 1/9/31)

पीटे जाने पर क्रोध न करे, गाली देने पर उत्तेजित न हो, शान्तमन रह कर उन्हें सहन करे, कोलाहल न करे।

{859}

विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिते तु।
अब्भुट्ठिताए घडदासिए वा अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे॥
ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेज्जा ण यावि किंची फरुसं वदेज्जा।
तहा करिस्सं ति पडिस्सुणेज्जा सेयं खु मेयं ण पमाद कुज्जा॥

(सू.कृ. 1/14/8-9)

किसी शिथिलाचारी व्यक्ति के द्वारा समय (धार्मिक सिद्धांत) के अनुसार, किसी छोटे या बड़े के द्वारा, किसी पतित घटदासी के द्वारा अथवा किसी गृहस्थ के द्वारा समय (सामाजिक सिद्धांत) के अनुसार अनुशासित होने पर- उन (अनुशासन करने वालों) पर क्रोध न करे, उन्हें चोट न पहुंचाए, कठोर वचन न कहे, 'अब मैं वैसा करूंगा', 'यह मेरे लिए श्रेय हैं'- ऐसा स्वीकार कर फिर प्रमाद न करे।

{860}

तहागयं भिक्खुमणंतसंजतं, अणेलिसं विण्णु चरंतमेसणं।
तुदंति वायाहि अभिद्दवं णरा, सरेहिं संगामगयं व कुंजरं॥
तहप्पगारेहिं जणेहिं हीलिते, ससद्दफासा फरुसा उदीरिया।
तितिक्खए णाणि अदुट्ठचेतसा, गिरि व्व वातेण ण संपवेवए॥

(आचा. 2/16/सू. 794-95, गा. 136-137)

उस तथाभूत अनन्त (एकेन्द्रियादि जीवों) के प्रति सम्यक् यतनावान् अनुपम संयमी आगमज्ञ विद्वान एवं आगमानुसार आहारादि की एषणा करने वाले भिक्षु को देख कर मिथ्यादृष्टि अनार्य मनुष्य उस समय असभ्य वचनों के तथा पत्थर आदि के प्रहार से उसी तरह व्यथित कर देते हैं जिस तरह संग्राम में वीर योद्धा, शत्रु के हाथी को बाणों की वर्षा से व्यथित कर देता है।

असंस्कारी एवं असभ्य (तथाप्रकार के) जनों द्वारा कथित आक्रोशयुक्त शब्दों तथा प्रेरित शीतोष्णादि स्पर्शों से पीड़ित ज्ञानवान भिक्षु प्रशान्तचित से (उन्हें) सहन करे। जिस प्रकार वायु के प्रबल वेग से भी पर्वत कम्पायमान नहीं होता, ठीक उसी प्रकार संयमशील मुनि भी इन परीषहोपसर्गों से विचलित न हो।

○ अहिंसा का साकार रूपः अर्हत अवस्था

{861}

सत्तहिं ठाणेहिं केवलीं जाणेज्जा, तं जहा- णो पाणे अइवाइत्ता भवति। (णो मुसं वइत्ता भवति। णो अदिण्णं आदित्ता भवति। णो सद्दफरिसरसरूवगंधे आसादेत्ता भवति। णो पूयासक्करं अणुवूहेत्ता भवति। इमं सावज्जंति पण्णवेत्ता णो पडिसेवेत्ता भवति।) जहावादी तहाकारी यावि भवति।

(ठा. 7/29)

सात स्थानों (कारणों) से 'केवली' जाना जाता है। जैसे-

1. जो प्राणियों का घात नहीं करता है।
2. जो मृषा (असत्य) नहीं बोलता है।
3. जो अदत्त वस्तु को ग्रहण नहीं करता है।
4. जो शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध का आस्वादन नहीं लेता है।
5. जो पूजा और सत्कार का अनुमोदन नहीं करता है।
6. जो 'यह सावद्य है' ऐसा कह कर उसका प्रतिसेवन नहीं करता है।
7. जो जैसा कहता है, वैसा करता है।

○ अहिंसा की दुष्करचर्या के आदर्श साधकः भगवान् महावीर

{862}

पुढविं च आउकायं च तेउकायं च वायुकायं च।
पणगाइं बीयहरियाइं तसकायं च सव्वसो णच्चा॥ 52॥
एताइं संति पडिलेहे चित्तमंताइं से अभिण्णाय।
परिवज्जियाण विहरित्था इति संखाए से महावीरे॥ 53॥

(आचा. 1/9/1 सू. 265)

पृथ्वीकाय, अप्पकाय, तेजस्काय, वायुकाय, निगोद-शैवाल आदि, बीज और नाना प्रकार की हरी वनस्पति एवं त्रसकाय- इन्हें सब प्रकार से जान कर, 'ये अस्तित्वान् हैं', यह देख कर, 'ये चेतनावान् हैं' वह जान कर, उन के स्वरूप को भलीभांति अवगत करके वे भगवान् महावीर उनके आरम्भ/हिंसादि का परित्याग करके विहार करते थे।

लाढेहिं तस्सुवसग्गा बहवे जाणवया लूसिंसु।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु णिवतिंसु॥ 82॥
अप्पे जणे णिवारेति लूसणए सुणए डसमाणे।
छुच्छुकारेंति आहंतु समणं कुक्कुरा दसंतु त्ति॥ 83॥
एलिक्खए जणे भुज्जो बहवे वज्जभूमि फरूसासी।
लट्ठिं गहाय णालीयं समाणा तत्थ एव विहरिंसु॥ 84॥
एवं पि तत्थ विहरंता पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं।
संलुंचमाणा सुणएहिं दुच्चरगाणि तत्थ लाढेहिं॥ 85॥
णिहाय डंडं पाणेहिं तं वोसेज्ज कायमाणगारे।
अह गाम कंटए भगवं ते अहियासए अभिसमेज्जा॥ 86॥

(आचा. 1/9/3 सू. 295-299)

लाढ़ देश के क्षेत्र में भगवान् ने अनेक उपसर्ग सहे। वहां के बहुत से अनार्य लोग भगवान् पर डण्डों आदि से प्रहार करते थे, (उस देश के लोग ही रूखे थे, अतः) भोजन भी प्रायः रूखा-रूखा ही मिलता था। वहां के शिकारी कुत्ते उन पर टूट पड़ते और काट खाते थे। (82)

कुत्ते काटने लगते या भौंकते तो बहुत थोड़े-से लोग उन काटते हुए कुत्तों को रोकते, (अधिकांश लोग तो) इस श्रमण को कुत्ते काटें, इस नीयत से कुत्तों को बुलाते और छुछकार कर उनके पीछे लगा देते थे। (83)

वहां ऐसे स्वभाव वाले बहुत से लोग थे, उस जनपद में भगवान् ने (छः मास तक) पुनः-पुनः विचरण किया। उस वज्र (वीर) भूमि के बहुत-से लोग रूक्षभोजी होने के कारण कठोर स्वभाव वाले थे। उस जनपद में दूसरे श्रमण अपने (शरीर-प्रमाण) लाठी और (शरीर से चार अंगुल लम्बी) नालिका लेकर विहार करते थे। (84)

इस प्रकार से वहां विचरण करने वाले श्रमणों को भी पहले कुत्ते (टांग आदि से) पकड़ लेते, और इधर-उधर काट खाते या नोंच डालते। सचमुच उस लाढ देश में विचरण करना बहुत ही दुष्कर था। (85)

अनगार भगवान् महावीर प्राणियों के प्रति मन-वचन-काया से होने वाले दण्ड का परित्याग और अपने शरीर के प्रति ममत्व का व्युत्सर्ग करके (विचरण करते थे), अतः भगवान् उस ग्राम्यजनों के कांटों के समान तीखे वचनों को (निर्जरा का हेतु समझ कर सहन) करते थे। (86)

हतपुव्वो तत्थ डंडेणं अदुवा मुट्ठिणा अदु फलेणं।
अदु लेलुणा कवालेणं हंता हंता बहवे कंदिंसु॥ 89॥
मंसाणि छिण्णपुव्वाइं उट्ठभियाए एगदा कायं।
परिस्सहाइं लुंचिंसु अदुवा पंसुणा अवकरिंसु॥ 90॥
उच्चालइय णिहणिंसु अदुवा आसणाओ खलइंसु।
वोसट्ठकाए पणतासी दुक्खसहे भगवं अपडिण्णे॥ 91॥
सूरो संगामसीसे वा संवुडे तत्थ से महावीरे।
पडिसेवमाणो फरुसाइं अचले भगवं रीयित्था॥ 92॥

(आचा. 1/9/3 सू. 302-305)

उस लाढ देश में (गांव से बाहर ठहरे हुए भगवान् को) बहुत से लोग डण्डे से या मुक्के से अथवा भाले आदि शस्त्र से या फिर मिट्टी के ढेले या खप्पर (ठीकरे) से मारते, फिर 'मारो-मारो' कह कर होहल्ला मचाते। (89)

उन अनार्यों ने पहले एक बार ध्यानस्थ खड़े भगवान् के शरीर को पकड़ कर मांस काट लिया था। उन्हें (प्रतिकूल) परीषहों से पीड़ित करते थे, कभी-कभी उन पर धूल फेंकते थे। (90)

कुछ दुष्ट लोग ध्यानस्थ भगवान् को ऊंचा उठा कर नीचे गिरा देते थे, कुछ लोग आसन से (धक्का मार कर) दूर धकेल देते थे, किन्तु भगवान् शरीर का व्युत्सर्ग किए हुए परीषह सहन के लिए प्रणबद्ध, कष्टसहिष्णु-दुःखप्रतीकार की प्रतिज्ञा से मुक्त थे। अतएव वे इन परीषहों-उपसर्गों से विचलित नहीं होते थे। (91)

जैसे कवच पहना हुआ योद्धा युद्ध के मोर्चे पर शस्त्रों से विद्ध होने पर भी विचलित नहीं होता, वैसे ही संवर का कवच पहले हुए भगवान् महावीर लाढादि देश में परीषह-सेना से पीड़ित होने पर भी कठोरतम कष्टों का सामना करते हुए- मेरु पर्वत की तरह ध्यान में निश्चल रहकर मोक्ष-पथ में पराक्रम करते थे। (92)

{865}

दुविहं पि विदित्ता णं बुद्धा धम्मस्स पारगा।
अणुपुव्वीए संखाए आरंभाए तिउट्टति॥ 17॥
कसाए पयणुए किच्चा अप्पाहारो तितिक्खए।
अह भिक्खू गिलाएज्जा आहारस्सेव अंतियं ॥ 18॥
जीवियं णाभिकंखेज्जा रणं णो वि पत्थए।
दुहतो वि ण सज्जेज्जा जीविते मरणे तहा॥ 19॥
मज्झत्थो णिज्जरापेही समाहिमणुपालए।
अंतो बहिं वियोसज्ज अज्झत्थं सुद्धमेसए॥ 20॥
जं किंचुवक्कमं जाणे आउखेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अंतरद्धाए खिप्पं सिक्खेज्ज पंडिते॥ 21॥
गामे अदुवा रण्णे थंडिलं पडिलेहिया।
अप्पपाणं तु विण्णाय तणाइं संथरे मुणी॥ 22॥
अणाहारो तुवट्टेज्जा पुट्ठो तत्थ हियासए।
णातिवेलं उवचरे माणुस्सेहिं वि पुट्ठवं॥ 23॥
संसप्पगा य जे पाणा जे य उड्ढमहेचरा।
भुंजंते मंससोणियं ण छणे ण पमज्जए॥ 24॥
पाणा देहं विहिंसंति ठाणातो ण वि उब्भमे।
आसवेहिं विवित्तेहिं तिप्पमाणोऽधियासए॥ 25॥
गंथेहिं विवित्तेहिं आयुकालस्स पारए।
पग्गहिततरगं चेतं दवियस्स वियाणतो॥ 26॥

(आचा. 1/8/8 सू. 230-39)

वे धर्म के पारगामी प्रबुद्ध भिक्षु दोनों प्रकार से (शरीर उपकरण आदि बाह्य पदार्थों तथा रागादि आन्तरिक विकारों की) हेयता का अनुभव करके (प्रव्रज्या आदि के) क्रम से (चल रहे संयमी शरीर को) विमोक्ष का अवसर जान कर आरंभ (बाह्य प्रवृत्ति) से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं। (17)

वह कषायों को कृश (अल्प) करके, अल्पाहारी बन कर परीषहों एवं दुर्वचनों को सहन करता है, यदि भिक्षु ग्लानि को प्राप्त होता है, तो वह आहार के पास ही न जाये (आहार-सेवन न करे)। (18)

(संल्लेखना एवं अनशन-साधना में स्थित श्रमण) न तो जीने की आकांक्षा करे, न मरने की अभिलाषा करे। जीवन और मरण दोनों में भी आसक्त न हो। (19)

वह मध्यस्थ (सुख, दुःख में सम) और निर्जरा की भावना वाला भिक्षु समाधि का अनुपालन करे। वह (राग, द्वेष, कषाय आदि) आन्तरिक तथा (शरीर, उपकरण आदि) बाह्य पदार्थों का व्युत्सर्ग- त्याग करके शुद्ध अध्यात्म की एषणा (अन्वेषण) करे। (20)

(संलेखना-काल में भिक्षु को) यदि अपनी आयु के क्षेम (जीवन-यापन)में जरा-सा भी (किसी आतंक आदि का) उपक्रम (प्रारम्भ) जान पड़े तो उस संलेखना-काल के मध्य में ही पण्डित भिक्षु शीघ्र (भक्त-प्रत्याख्यान आदि से) पण्डितमरण को अपना ले। (21)

(संलेखना-साधक) ग्राम या वन में जाकर स्थण्डिलभूमि का प्रतिलेखन (अवलोकन) करे, उसे जीव-जन्तु रहित स्थान (के रूप में जांच-परख के साथ) जान कर मुनि (वहीं) घास बिछा ले। (22)

वह वहीं (उस घास के बिछौने पर) निराहार हो (त्रिविध या चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान) कर (शान्तभाव से) लेट जाये। उस समय परीषहों और उपसर्गों से आक्रान्त होने पर (समभावपूर्वक) सहन करे। मनुष्यकृत (अनुकूल-प्रतिकूल) उपसर्गों से आक्रान्त होने पर भी मर्यादा का उल्लंघन न करे। (23)

जो रेंगने वाले (चींटी आदि) प्राणी हैं, या जो (गिद्ध आदि) ऊपर आकाश में उड़ने वाले हैं, या (सर्प आदि) जो नीचे बिलों में रहते हैं, वे कदाचित् अनशनधारी मुनि के शरीर का मांस नोंचें और रक्त पीएं तो मुनि न तो उन्हें मारे और न ही रजोहरणादि से प्रमार्जन (निवारण) करे। (24)

(वह मुनि ऐसा चिन्तन करे) ये प्राणी मेरे शरीर का विघात (नाश) कर रहे हैं, (मेरे ज्ञानादि आत्म-गुणों का नहीं, ऐसा विचार कर उन्हें न हटाए) और न ही उस स्थान से उठ कर अन्यत्र जाए। आस्रवों (हिंसादि) से पृथक् हो जाने के कारण (अमृत से सिंचित की तरह) तृप्ति अनुभव करता हुआ (उन उपसर्गों को) सहन करे। (25)

उस सल्लेखना-साधक की (शरीर उपकरणादि बाह्य और रागादि अन्तरंग) गांठें (ग्रन्थियां) खुल जाती हैं, (तब मात्र आत्मचिन्तन में संलग्न वह मुनि) आयुष्य (समाधिमरण) के काल का पारगामी हो जाता है। (26)

{866}

तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ, तं जहा-अगार-धम्मं अणगार-धम्मं च। अणगार-धम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयइ, सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसा-वायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वओ राइ-भोयणाओ वेरमणं। अयमाउसो! अणगार-सामइए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरमाणे आणाए आराहए भवइ।

(उवा. 1/11)

धर्म दो प्रकार का है- अगार-धर्म और अनगार-धर्म। अनगार-धर्म में साधक सर्वत: सर्वात्मना-संपूर्ण रूप में, सर्वात्मभाव से सावद्य कार्यों का परित्याग करता हुआ मुंडित होकर, गृहवास से अनगार दशा-मुनि-अवस्था में प्रव्रजित होता है। वह संपूर्णत: प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रि-भोजन से विरत होता है।

भगवान् ने कहा- आयुष्मान्! यह अनगारों के लिए समाचरणीय धर्म कहा गया है। इस धर्म की शिक्षा-अभ्यास या आचरण में उपस्थित-प्रयत्नशील रहते हुए निर्ग्रन्थ-साधु या निर्ग्रन्थी-साध्वी आज्ञा (अर्हत्-देशना) के आराधक होते हैं।

{867}

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं विमुक्तताम्।
रात्र्यभोजनषष्ठानि व्रतान्येतान्यभावयन्॥

(आ.पु. 34/169)

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग और रात्रिभोजनत्याग- इन छह महाव्रतों का मुनि निरन्तर पालन करते थे।

{868}

सागारश्चानगारश्च द्वाविह व्रतिनौ मतौ।
सागारोऽणुव्रतोऽत्र स्यादनगारो महाव्रतः॥

(ह. पु. 58/136)

सागार और अनगार के भेद से व्रती दो प्रकार के माने गये हैं। इनमें अणुव्रतों के धारी सागार कहलाते हैं और महाव्रतों के धारक महाव्रती कहे जाते हैं।

{869}

तहेव हिंसं अलियं चोज्जं अबम्भसेवणं।
इच्छाकामं च लोभं च संजओ परिवज्जए॥

(उत्त. 35/3)

संयत भिक्षु हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, इच्छा-काम (अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा) और लोभ से दूर रहे।

{870}

अहिंस सच्चं च अतेणगं च तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ॥

(उत्त. 21/12)

विद्वान् मुनि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अरिग्रह-इन पांच महाव्रतों को स्वीकार करके जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

(हिंसादि की निवृत्ति हेतु महाव्रतों का धारण)

{871}

व्रतानां प्रत्यनीका ये दोषा हिंसानृतादयः।

(आ. पु. 21/91)

हिंसा, असत्य-भाषण आदि- ये व्रतों के विरोधी दोष हैं।

{872}

हिंसादिदुवाराणि वि दढवदफलहेहिं रुंभंति॥

(भग. आ. 1829)

हिंसा आदि आस्रव द्वारों को दृढ़ व्रतरूपी अर्गलाओं से रोका जाता है।

{873}

हिंसायामनृते स्तेये मैथुने च परिग्रहे।
विरतिर्व्रतमित्युक्तं सर्वसत्त्वानुकम्पकैः॥

(ज्ञा. 8/6)

हिंसा, अनृत, चोरी, मैथुन और परिग्रह- इन पापों से विरति या त्यागभाव होना ही 'व्रत' है- ऐसा समस्त जीवों-पर दयालु मुनियों का कथन है।

{874}

पञ्चानां पापानां, हिंसादीनां मनोवच:कायैः।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम्॥

(रत्नक. श्रा. 72)

मन, वचन, काय, तथा कृत, कारित, अनुमोदना –इन नव संकल्पों से हिंसा आदिक पांचों पापों का सर्वथा त्याग महाव्रत कहलाता है।

{875}

पंच महव्वया पण्णत्ता, तं जहा- सव्वाओ पाणातिवायाओ वेरमणं जाव (सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं,) सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।

(ठा. 5/1/1)

महाव्रत पांच कहे गये हैं। जैसे-

1. सर्व प्रकार के प्राणातिपात (जीव-घात) से विरमण।
2. सर्व प्रकार के मृषावाद (असत्य-भाषण) से विरमण।
3. सर्व प्रकार के अदत्तादान (चोरी) से विरमण।
4. सर्व प्रकार के मैथुन (कुशील-सेवन) से विरमण।
5. सर्व प्रकार के परिग्रह से विरमण।

{876}

हिंसानृतवचश्चौर्याब्रह्मचर्यपरिग्रहात् ।
विरतिर्देशतोऽणु स्यात्सर्वतस्तु महद् व्रतम्॥

(ह. पु. 58/116)

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अपरिग्रह, इन पांच पापों से विरत होना व्रत है। वह व्रत 'अणुव्रत' और 'महाव्रत' के भेद से दो प्रकार का है। उक्त पापों से एकदेश-विरत होना 'अणुव्रत' है और सर्वदेश- विरत होना 'महाव्रत' है।

{877}

महाव्रतानि साधूनामहिंसा सत्यभाषणम्।
अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च निर्मूर्च्छा चेति पञ्चधा॥

(ह. पु. 18/43)

1. अहिंसा, 2. सत्य भाषण, 3. अचौर्य, 4. ब्रह्मचर्य और 5. अपरिग्रह- ये पांच महाव्रत हैं।

{878}

सच्चवयणं अहिंसा अदत्तपरिवज्जणं च रोचंति।
तह बंभचेरगुत्ती परिग्गहादो विमुत्तिं च॥

(मूला. 9/781)

(दीक्षा ग्रहण के अनन्तर, मुनि) सत्य वचन, अहिंसा, अदत्त त्याग (अचौर्य), ब्रह्मचर्य, गुप्ति और 'परिग्रह से मुक्ति'- इन (पांच) व्रतों की रुचि करते हैं।

{879}

पाणिवह मुसावादं अदत्त मेहुण परिग्गहं चेव।
तिविहेण पडिक्कंते जावज्जीवं दिढधिदीया॥

(मूला. 9/782)

प्राणिवध, असत्यवचन, अदत्तग्रहण, मैथुन-सेवन और परिग्रह- इनका दृढ़ बुद्धि वाले पुरुष जीवन-पर्यन्त के लिए मन-वचन-काय से त्याग कर देते हैं।

{880}

हिंसाविरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च।
संगविमुत्ती य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता॥

(मूला. 1/4)

हिंसा का त्याग, सत्य बोलना, अदत्त वस्तुग्रहण का त्याग, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-त्याग -ये पांच महाव्रत जिनेन्द्र देव द्वारा कहे गये हैं।

{881}

कायेंदियगुणमग्गणकुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं।
णाऊण य ठाणादिसु हिंसादिविवज्जणमहिंसा॥

(मूला. 1/5)

काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनि-इन दृष्टियों से सभी जीवों को जान करके कायोत्सर्ग (ठहरने) आदि में हिंसा आदि का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है।

{882}

हिंसाविरइ अहिंसा।

(चा.पा. 30)

हिंसा का त्याग 'अहिंसा महाव्रत' है।

{883}

न यत् प्रमादयोगेन जीवित-व्यपरोपणम्।
त्रसानां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम्॥

(है. योग. 1/20)

प्रमाद के योग से त्रस या स्थावर जीवों के प्राणों का हनन किये जाना-इसका त्याग, प्रथम 'अहिंसा' महाव्रत माना गया है।

{884}

कायेन्द्रियगुणस्थानजीवस्थानकुलायुषाम्।
भेदान् योनिविकल्पांश्च निरूप्यागमचक्षुषा॥
क्रियासु स्थानपूर्वासु वधादिपरिवर्जनम्।
षण्णां जीवनिकायानामहिंसाद्यं महाव्रतम्॥

(ह.पु. 2/116-117)

काय, इन्द्रियां, गुणस्थान, जीवस्थान, कुल और आयु के भेद तथा योनियों के नाना विकल्पों-भेदों का आगमरूपी चक्षु के द्वारा अच्छी तरह अवलोकन कर बैठने-उठने आदि क्रियाओं में छह काय के जीवों के वध-बन्धनादिक का त्याग करना प्रथम 'अहिंसा महाव्रत' कहलाता है।

{885}

वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्त्तते।
चरस्थिरांगिनां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम्॥

(ज्ञा. 8/7/479)

जहां मन-वचन-काय से त्रस और स्थावर जीवों का घात स्वप्न में भी न हो, उसे आद्यव्रत (प्रथम महाव्रत-अहिंसा) कहते हैं।

{886}

तत्र प्राणवियोगकरणं प्राणिनः प्रमत्तयोगात्प्राणवधस्ततो विरतिरहिंसाव्रतम्।

(भग. आ. विजयो. 423)

प्रमादयुक्त मनो-भाव को रखते हुए किसी प्राणी के प्राणों का वियोग करना 'हिंसा' है और उससे विरति 'अहिंसा' व्रत है।

{887}

गंथं परिण्णाय इहऽज्ज वीरे, सोयं परिण्णाय चरेज्ज दंते।
उम्मुग्ग लद्धुं इह माणवेहिं, णो पाणिणं पाणे समारंभेज्जासि॥

(आचा. 1/3/2 सू. 121)

हे वीर! इस लोक में ग्रन्थ आंतरिक परिग्रह (कषायादि) को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से आज ही अविलम्ब छोड़ दे, इसी प्रकार (संसार के) स्रोत-विषयों को भी जान कर दान्त (इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला) बन कर संयम में विचरण कर। यह जान कर कि यहीं (मनुष्य-जन्म में) मनुष्यों के द्वारा ही उन्मज्जन (संसार-सिन्धु से तरने) या कर्मों से उन्मुक्त होने का अवसर मिलता है, मुनि प्राणियों के प्राणों का समारम्भ-संहार न करे।

{888}

पढमे भंते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं। सव्वं भंते! पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा, बायरं वा, तसं वा, थावरं वा, ...नेव सयं पाणे अइवाएज्जा, नेवऽन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा, पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंते पि अन्नं न समणुजाणामि।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि। पढमे भंते! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं॥

(दशवै. 4/42)

भंते! पहले महाव्रत में प्राणातिपात (जीवहिंसा) से विरमण (निवृत्ति) करना होता है। हे भदन्त! मैं सर्व प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूं। सूक्ष्म या बादर (स्थूल), त्रस या स्थावर, जो भी प्राणी हैं, उनके प्राणों का अतिपात (घात) न करना, दूसरों से प्राणातिपात न कराना, (और) प्राणातिपात करने वालों का अनुमोदन न करना, (इस प्रकार की प्रतिज्ञा मैं) यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से करता हूं। अर्थात् मैं मन से, वचन से और काया से, (प्राणातिपात) स्वयं नहीं करूंगा, न दूसरों से कराऊंगा और अन्य किसी करने वाले का अनुमोदन नहीं करूंगा।

भंते! मैं उस (अतीत में किये हुए प्राणातिपात) से निवृत्त (विरत) होता हूं, (आत्मसाक्षी से उसकी) निन्दा करता हूं, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूं और (प्राणातिपात से या पापकारी कर्म से युक्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं। भंते! मैं प्रथम महाव्रत (-पालन) के लिए उपस्थित (उद्यत) हुआ हूं। जिसमें सर्वप्रकार के प्राणातिपात से विरत होना होता है।

{889}

पढमं भंते! महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं पाणातिवातं। से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा णेव सयं पाणातिवातं करेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि।

(आचा. 2/15 सू. 777)

"भंते! मैं प्रथम महाव्रत में सम्पूर्ण प्राणातिपात (हिंसा) का प्रत्याख्यान- त्याग करता हूं। मैं सूक्ष्म-स्थूल (बादर) और त्रस-स्थावर समस्त जीवों का न तो स्वयं प्राणातिपात (हिंसा) करूंगा, न दूसरों से कराऊंगा और न प्राणातिपात करने वालों का अनुमोदन-समर्थन करूंगा, इस प्रकार मैं यावज्जीवन तीन करण से एवं मन-वचन काया से- तीन योगों से इस पाप से निवृत्त होता हूं। हे भगवान! मैं उस पूर्वकृत पाप (हिंसा) का प्रतिक्रमण करता, (पीछे हटता) हूं, (आत्म-साक्षी से-) निन्दा करता हूं और (गुरु साक्षी से-) गर्हा करता हूं, अपनी आत्मा से पाप का व्युत्सर्ग (पृथक्करण) करता हूं।"

{890}

व्यलीकभाषणेन दुःखं प्रतिपद्यन्ते जीवा इति मत्वा दयावतो यत्सत्याभिधानं तद्द्वितीयं व्रतम्।

(भग. आ. विजयो. 423)

झूठ बोलने से जीव दुःखी होते हैं- ऐसा मान कर दयालु पुरुष का सत्य बोलना दूसरा 'सत्य' व्रत है।

{891}

ममेदमितिसंकल्पोपनीतद्रव्यवियोगे दुःखिता भवन्ति इति तद्दयया अदत्तस्यादानाद्विरमणं तृतीयं व्रतम्।

(भग. आ. विजयो. 423)

जिसमें 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प है, उस द्रव्य के चले जाने पर जीव दुःखी होते हैं। इसलिए उस पर दया करके बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण से विरत होना तीसरा 'अचौर्य' व्रत है।

{892}

सर्षपपूर्णायां नाल्यां तप्तायसशलाकाप्रवेशनवद्योनिद्वारस्थानेकजीवपीडासाधनप्रवेशेनेति तद्बाधापरिहारार्थं तीव्रो रागाभिनिवेशः कर्मबन्धस्य महतो मूलम् इति ज्ञात्वा श्रद्धावतः मैथुनाद्विरमणं चतुर्थं व्रतम्।

(भग. आ. विजयो. 423)

[भावार्थ] जैसे तपायी हुई लोहे की छड़ सरसों से पूर्ण नली में जाकर उन सरसों को भून देती है, उसी तरह अब्रह्मचर्य-सेवन में अनेक जीवों का विनाश होता है। उन जीवों को पीड़ा न हो- इस दृष्टि से, राग के तीव्र अभिनिवेश के कारण महान् कर्मबन्ध होता है- यह जानते हुए श्रद्धापूर्वक अब्रह्मचर्य-सेवन से विरत होना चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत है।

{893}

परिग्रहः षड्जीवनिकायपीडाया मूलं मूर्च्छानिमित्तं चेति सकलग्रन्थत्यागो भवति इति पञ्चमं व्रतम्।

(भग. आ. विजयो. 423)

परिग्रह छहकाय के जीवों को पीड़ा पहुंचाने में मूल कारण है और ममत्वभाव की उत्पत्ति में निमित्त है- ऐसा जान कर समस्त परिग्रह का त्याग पांचवां 'अपरिग्रह' व्रत है।

(अहिंसा व्रत की पूरक और पोषकः समिति व गुप्ति)

['प्रश्न व्याकरण' सूत्र (2/1 सू. 107) में समिति व गुप्ति को 'अहिंसा' की पर्याय बताया गया है। अतः मुनि-चर्या में 'अहिंसा' को प्रतिष्ठापित करने की दृष्टि से 'समिति' व 'गुप्ति'-इन दोनों का विशेष महत्त्व है। इसी दृष्टि से कुछ शास्त्रीय वचन यहां संकलित किए गए हैं-]

○ हिंसादि दोषों से सुरक्षाः समिति व गुप्ति द्वारा

{894}

प्राणिपीड़ापरिहारार्थं सम्यगयनं समितिः।

(सर्वा. 9/2/789)

प्राणिपीड़ा का परिहार करने के उद्देश्य से भली प्रकार से आना-जाना, उठाना-धरना, ग्रहण करना व मोचन करना 'समिति' है।

{895}

जन्तुकृपार्दितमनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य।
प्राणेन्द्रियपरिहारं संयममाहुर्महामुनयः॥

(पद्म. पं. 1/96)

प्राणियों के प्रति कृपा-भाव से आर्द्र मन वाला 'मुनि' 'समिति' में प्रवृत्त होता है। प्राणियों की रक्षा हेतु उसके इन्द्रिय-निग्रह को ही महामुनियों ने 'संयम' बताया है।

{896}

वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा॥

(बा. अणु. 76)

मन, वचन, काय की प्रवृत्तिरूप दण्ड (हिंसा) को त्याग कर तथा इन्द्रियों को जीत कर जो व्रत व समितियों के पालनरूप प्रवृत्ति करता है, उसके नियम से 'संयम धर्म' होता है।

{897}

एदाहिं सया जुत्तो समिदीहिं महिं विहरमाणो दु।
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकाआउले साहू॥

(मूला. 4/326)

इन समितियों से युक्त साधु हमेशा ही जीव-समूह से भरे हुए भूतल पर विहार करते हुए भी हिंसादि पापों से लिप्त नहीं होते हैं।

{898}

समिदिदिढणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधिं तरदि।
छज्जीवणिकायवधादिपावमगरेहिं अच्छित्तो॥

(भग. आ. 1835)

प्रमादरहित साधु समितिरूपी दृढ़ नाव पर आरूढ़ होकर छह काय के जीवों के घात से होने वाले पापरूपी मगरमच्छों से अछूता रहकर संसार समुद्र को पार कर लेता है।

{899}

काएसु णिरारंभे फासुगभोजिम्मि णाणरइयम्मि।
मणवयणकायगुत्तिम्मि होइ सयला अहिंसा हु॥

(भग. आ. विजयो. 813)

जो आरम्भ का त्यागी है, प्रासुक भोजन करता है, ज्ञानभावना में मन को लगाता है और तीन गुप्तियों का धारी है, वही सम्पूर्ण अहिंसा का पालक है।

{900}

मनोगुप्त्येषणादानेर्याभिः समितिभिः सदा।
दृष्टान्न-पानग्रहणेनाहिंसां भावयेत् सुधीः॥

(है. योग. 1/26)

मनोगुप्ति, एषणासमिति, आदानभांड-निक्षेपण समिति, ईर्यासमिति तथा प्रेक्षित (देख कर) अन्न-जल ग्रहण करना, इन पांचों भावनाओं से बुद्धिमान् साधु को चाहिए कि वह अहिंसाव्रत को पुष्ट करे।

{901}

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञका: ।
सद्भिः समितयः पञ्च निर्दिष्टाः संयतात्मभिः॥

(ज्ञा. 18/3/888)

संयम-धारी सत्पुरुषों ने ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग नामों वाली पांच समितियां निर्दिष्ट की हैं।

{902}

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः॥

(पुरु. 7/7/203)

सावधानी से देख-भाल कर जाना-आना, उत्तम हित-मित वचन बोलना, योग्य आहार का ग्रहण करना, पदार्थ का यतना-पूर्वक ग्रहण करना तथा यतना-पूर्वक रखना और प्रासुक भूमि देखकर मल-मूत्रादि का त्याग करना-इस प्रकार ये पांच समितियां हैं।

{903}

ईर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्ग-संज्ञिकाः ।
पञ्चाहुः समितीस्तिस्रो गुप्तीस्त्रियोगनिग्रहात्॥

(है. योग. 1/35)

ईर्या-समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेप-समिति और उच्चार-प्रस्रवणखेलजल्लसिंघाणपरिष्ठापनिका (उत्सर्ग) समिति- ये पांच समितियां हैं; और तीन योगों का निग्रह करने वाली क्रिया 'गुप्ति' है जो मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति के भेद से तीन प्रकार की कही गई है।

{904}

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम्॥

(पुरु. 7/6/202)

(जीव-रक्षा को दृष्टि में रखते हुए) शरीर को भली प्रकार शास्त्रोक्त विधि से वश में करना, तथा वचन का भली प्रकार अवरोधन करना और मन का सम्यक्रूप से निरोध करना-इस प्रकार तीन गुप्तियों को जानना चाहिये।

{905}

वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकम्।
त्रियोगरोधकं वा स्याद्यत्तद् गुप्तित्रयं मतम्॥

(ज्ञा. 18/4/889)

जो वचन, काय और मन- इन तीनों योगों से उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की (हिंसादि) पाप-प्रवृत्ति को रोकती हैं उनको अथवा इन तीनों योगों का जो निरोध करती हैं, वे तीन गुप्तियां मानी गयी हैं।

{906}

एवं समितयः पञ्च गोप्यास्तिस्त्रस्तु गुप्तयः।
वाङ्मनःकाययोगानां शुद्धरूपाः प्रवृत्तयः॥

(ह. पु. 2/127)

इस प्रकार इन पांच समितियों का तथा मनोयोग, वचनयोग और काययोग की शुद्ध प्रवृत्तिरूप तीन गुप्तियों का पालन करना चाहिए।

{907}

संरम्भ-समारम्भे आरम्भे य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु नियतेज्ज जयं जई॥

(उत्त. 24/21)

यतना-संपन्न यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त मन का निवर्तन करे (मन को हटावे)।

{908}

संरम्भ-समारम्भे आरम्भे य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु नियतेज्ज जयं जई॥

(उत्त. 24/23)

यतना-संपन्न यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान वचन का निवर्तन (अर्थात् नियन्त्रण) करे।

{909}

एयाओ पंच समिईओ चरणस्य य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता असुभत्थेसु सव्वसो॥

(उत्त. 24/26)

उक्त पांच समितियां चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं। और तीन गुप्तियां सभी अशुभ विषयों से निवृत्ति के लिए हैं।

{910}

एताश्चारित्रकायस्य जननात् परिपालनात्।
संशोधनाच्च साधूनां मातरोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः॥

(है. योग. 1/45)

उपर्युक्त पांच समितियां और तीन गुप्तियां साधुओं के चारित्र-रूपी शरीर को माता की तरह जन्म देती हैं, उसका परिपालन करती हैं, उसकी (हिंसादि दोष-जनित) अशुद्धियों को दूर करती हैं एवं उसे स्वच्छ निर्मल रखती हैं, इसलिए वे 'आठ प्रवचन-माता' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

O अहिंसा व्रत की भावनाएं

{911}

महाणुव्रतयुक्तानां स्थिरीकरणहेतवः।
व्रतानामिह पञ्चानां प्रत्येकं पञ्च भावनाः॥

(ह. पु. 58/117)

महाव्रत और अणुव्रत से युक्त मनुष्यों को अपने व्रत में स्थिर रखने के लिए उक्त पांचों व्रतों में प्रत्येक की पांच-पांच भावनाएं कही गई हैं।

{912}

हिंसादिष्विह चामुष्मिन्नपायावद्यदर्शनम्।
व्रतस्थैर्यार्थमेवात्र भावनीयं मनीषिभिः॥

(ह. पु. 58/123)

बुद्धिमान् मनुष्यों को व्रतों की स्थिरता के लिए यह चिन्तवन भी करना चाहिए कि हिंसादि पाप करने से इस लोक तथा परलोक में नाना प्रकार के कष्ट होते हैं और पापबन्ध होता है।

{913}

हिंसादयो दुःखमेवेति भावयितव्याः। कथं हिंसादयो दुःखम्। दुःखकारणत्वात्। यथा "अन्नं वै प्राणाः" इति। कारणस्य कारणत्वाद्वा। यथा "धनं प्राणाः" इति। धनकारण- मन्नपानमन्नपानकारणाः प्राणा इति। तथा हिंसादयोऽसद्वेद्यकर्मकारणम्। असद्वेद्यकर्म च दुःखकारणमिति दुःखकारणे दुःखकारणकारणे वा दुःखोपचारः। तदेते दुःखमेवेति भावनं परात्मसाक्षिकमवगन्तव्यम्। ननु च तत्सर्वं न दुःखमेव; विषयरतिसुखसद्भावात्। न तत्सुखम्; वेदनाप्रतीकारत्वात्कच्छूकण्डूयनवत्।

(सर्वा.7/10/681)

हिंसादिक दुःख ही हैं- ऐसा चिन्तन करना चाहिए। शंका- हिंसादिक दुःख कैसे हैं? समाधान- दुःख के कारण होने से। यथा- 'अन्न ही प्राण है।' अन्न प्राणधारणका कारण है, पर कारण में कार्य का उपचार करके जिस प्रकार अन्न को ही प्राण कहते हैं। या कारण का कारण होने से हिंसादिक दुःख हैं। यथा-'धन ही प्राण हैं।' यहां अन्नपान का कारण धन है और प्राण का कारण अन्नपान है। इसलिए जिस प्रकार धन को प्राण कहते हैं उसी प्रकार हिंसादिक 'असाता वेदनीय' कर्म के कारण हैं और असाता वेदनीय दुःख का कारण है, इसलिए दुःख के कारण या दुःख के कारण के कारण हिंसादिक में दुःख का उपचार है। शंका- ये हिंसादिक सब के सब केवल दुःख ही हैं, यह बात नहीं है, क्योंकि विषयों के सेवन में सुख उपलब्ध होता है? समाधान- विषयों के सेवन से जो सुखाभास होता है वह सुख नहीं है, किन्तु दाद को खुजलाने के समान केवल वेदना का प्रतीकार मात्र है।

{914}

दु:खमेवेति चाभेदादसद्वेद्यादिहेतवः।
नित्यं हिंसादयो दोषा भावनीयाः मनीषिभिः॥

(ह. पु. 58/124)

नीति के जानकार पुरुषों को निरन्तर ऐसी भावना करनी चाहिए कि ये हिंसा आदि दोष दु:ख रूप ही हैं। यद्यपि ये दु:ख के कारण हैं, दु:ख रूप नहीं, परन्तु कारण और कार्य में अभेद विवक्षा से ऐसा चिन्तवन करना चाहिए। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य,- ये चार भावनाएं क्रम से प्राणी-मात्र, गुणाधिक, दु:खी और अविनेय जीवों में करनी चाहिएं।

[भावार्थ- किसी जीव को दु:ख न हो- ऐसा विचार करना 'मैत्री भावना' है। अपने से अधिक गुणी मनुष्यों को देख कर हर्ष प्रकट करना 'प्रमोद भावना' है। दु:खी मनुष्यों को देख कर ह्रदय में दयाभाव उत्पन्न होना 'करुणा भावना' है और अविनेय मिथ्यादृष्टि जीवों में मध्यस्थ भाव रखना 'माध्यस्थ्य भावना' है।]

{915}

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोयभोयणाए अहिंसए भावणा होंति॥

(चा.पा. 32)

1. वचनगुप्ति 2. मनोगुप्ति 3. ईर्यासमिति 4. सुदाननिक्षेप और 5. आलोकितभोजन- ये अहिंसा-व्रत की पांच भावनाएं हैं।

{916}

एसणणिक्खेवादाणिरियासामिदी तहा मणोगुत्ती।
आलोयभोयणंपि य अहिंसाए भावणा पंच॥

(मूला. 4/337)

एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति, ईर्या समिति तथा मनोगुप्ति और आलोकित भोजन (रात्रिभोजन-त्याग)- अहिंसाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं।

{917}

एसणणिक्खेवादाणिरियासमिदी तहा मणोगुत्ती।
आलोयभोयणं वि य अहिंसाए भावणा होंति॥

(भग. आ. 1200)

एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, ईर्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोक-भोजन (रात्रिभोजन-त्याग)- ये पांच अहिंसाव्रत की भावनाएं हैं।

{918}

तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति। तत्थिमा पढमा भावणा-इरियासमिते से णिग्गंथे, णो अणरियासमिते त्ति।

केवली बूया- इरियाअसमिते से णिग्गंथे पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणेज्ज वा वत्तेज्ज वा परियावेज्ज वा लेसेज्ज वा उद्दवेज्ज वा। इरियासमिते से णिग्गंथे, णो इरियाअसमिते त्ति पढमा भावणा।

(आचा. 2/15/ सू. 778)

उस प्रथम अहिंसा महाव्रत से सम्बन्धित पांच भावनाएं होती हैं- उसमें से पहली भावना यह है- निर्ग्रन्थ ईर्यासमिति से युक्त होता है, ईर्यासमिति से रहित नहीं।

केवली भगवान् कहते हैं- ईर्यासमिति से रहित निर्ग्रन्थ प्राणी, भूत, जीव, और सत्त्व का हनन करता है, उन्हें धूल आदि से ढकता है, दबा देता है, परिताप देता है, चिपका देता है, या पीड़ित करता है। इसलिए निर्ग्रन्थ ईर्यासमिति से युक्त होकर रहे, ईर्यासमिति से रहित हो कर नहीं। यह प्रथम भावना है।

{919}

अहावरा दोच्चा भावणा-मणं परिजाणति से णिग्गंथे, जे य मणे पावए सावज्जे सकिरिए अण्हयकरे छेदकरे भेदकरे अधिकरणिए पादोसिए पारिताविए पाणातिवाइए भूतोवघातिए तहप्पगारं मणं णो पधारेज्जा।

मणं परिजाणति से णिग्गंथे, जे य मणे अपावए त्ति दोच्चा भावणा।

(आचा. 2/15/ सू. 778)

अहिंसा महाव्रत से सम्बन्धित दूसरी भावना यह है-मन को जो अच्छी तरह जानता है, वह निर्ग्रन्थ है। जो मन पापकर्त्ता, सावद्य (पाप से युक्त) है, क्रियाओं से युक्त है, कर्मों

का आस्रवकारक है, छेदन-भेदनकारी है, क्लेश-द्वेषकारी है, परितापकारक है, प्राणियों के प्राणों का अतिपात करने वाला और जीवों का उपघातक है, इस प्रकार के मन (मानसिक विचारों) को (निर्ग्रन्थ) धारण (ग्रहण) न करे।

मन को जो भलीभांति जान कर पापमय विचारों से दूर रखता है, वही निर्ग्रन्थ है। जिसका मन पापों (पापमय विचारों) से रहित है (वह निर्ग्रन्थ है)। यह द्वितीय भावना है।

{920}

अहावरा तच्चा भावणा-वइं परिजाणति से णिग्गंथे, जा य वई पाविया सावज्जा सकिरिया जाव भूतोवघातिया तहप्पगारं वइं णो उच्चारेज्जा। जे वइं परिजाणति से णिग्गंथे जा य वइ अपाविय त्ति तच्चा भावणा।

(आचा. 2/15/ सू. 778)

अहिंसा महाव्रत से सम्बन्धित तृतीय भावना यह है- जो साधक वचन का स्वरूप भलीभांति जान कर सदोष वचनों का परित्याग करता है, वह निर्ग्रन्थ है। जो वचन पापकारी, सावद्य, क्रियाओं से युक्त, कर्मों का आस्रवजनक, छेदन-भेदनकर्ता, क्लेश-द्वेषकारी है, परितापकारक है, प्राणियों के प्राणों का अतिपात करने वाला और जीवों का उपघातक है, साधु इस प्रकार के वचन का उच्चारण न करे।

जो वाणी के दोषों को भलीभांति जान कर सदोष वाणी का परित्याग करता है, वही निर्ग्रन्थ है। उसकी वाणी पापदोष रहित हो, यह तृतीय भावना है।

{921}

अहावरा चउत्था भावणा-आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिते से णिग्गंथे, णो अणादाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिते। केवली बूया- आदाणभंडनिक्खेवणाअसमित्ते से णिग्गंथे पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइंअभिहणेज्ज वा जाव उद्दवेज्ज वा। तम्हा आयाणभंडणिक्खेवणासमिते से णिग्गंथे, णो अणादाणभंडणिक्खेवणासमिते त्ति चउत्था भावणा।

(आचा. 2/15/ सू. 778)

अहिंसा महाव्रत से सम्बन्धित चौथी भावना यह है- जो आदानभाण्डमात्र निक्षेपण समिति से युक्त है, वह निर्ग्रन्थ है। केवली भगवान् कहते हैं- जो निर्ग्रन्थ 'आदानभाण्डमात्र निक्षेपण' समिति से रहित है, वह प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का अभिघात करता है,

उन्हें आच्छादित कर देता है—दबा देता है, परिताप देता है, चिपका देता है या पीड़ा पहुंचाता है। इसलिए जो आदान-भाण्ड(मात्र)निक्षेपणा समिति से युक्त है, वही निर्ग्रन्थ है, जो आदानभाण्ड(मात्र)निक्षेपणा समिति से रहित है, वह नहीं। यह चतुर्थ भावना है।

{922}

अहावरा पंचमा भावणा-आलोइयपाण-भोयणभोई से णिग्गंथे, णो अणालोइयपाणभोयणभोई।

केवली बूया- अणालोइयपाण-भोयणाभोई से णिग्गंथे पाणाणि वा भूताणि वा जीवाणि वा सत्ताणि वा अभिहणेज्ज वा जाव उद्दवेज्ज वा। तम्हा आलोइयपाण-भोयणभोई से णिग्गंथे, णो अणालोइयपाण-भोयणभोई त्ति पंचमा भावणा।

(आचा. 2/15/ सू. 778)

अहिंसा महाव्रत से सम्बन्धित पांचवीं भावना यह है-

जो साधक 'आलोकित पान-भोजन-भोजी' होता है, वह निर्ग्रन्थ होता है, अनालोकित-पान-भोजन-भोजी नहीं।

केवली भगवान् कहते हैं- जो बिना देखे-भाले ही आहार-पानी सेवन करता है, वह निर्ग्रन्थ प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का हनन करता है, ...उन्हें पीड़ा पहुंचाता है। अत: जो देखभाल कर आहार-पानी का सेवन करता है, वही निर्ग्रन्थ है, बिना देखे-भाले आहार-पानी करने वाला नहीं। यह पंचम 'भावना' है।

○ जीव-रक्षा में सावधानीः ईर्या समिति

{923}

चक्षुर्गोचरजीवौघान् परिहृत्य यतेर्यतः।
ईर्यासमितिराद्या सा व्रतशुद्धकरी मता॥

(ह. पु. 2/122)

नेत्रगोचर जीवों के समूह को बचा कर (अर्थात् उनकी रक्षा करते हुए) गमन करने वाले मुनि के प्रथम 'ईर्यासमिति' होती है। यह ईर्यासमिति व्रतों में शुद्धता उत्पन्न करने वाली मानी गयी है।

{924}

दिवा सूर्यकरैः स्पृष्टं मार्गं लोकातिवाहितम्।
दयार्द्रसत्त्वरक्षार्थं शनैः संश्रयतो मुनेः॥

(ज्ञा. 18/6/891)

जब मुनि दिन में सूर्यकिरणों से स्पृष्ट व जन-समुदाय के आवागमन से संयुक्त मार्ग का आश्रय लेता है, तब वह प्राणि-रक्षा की दृष्टि से प्राणियों के रक्षणार्थ जुएं (चार हाथ के) प्रमाण वाले मार्ग को देखता हुआ, धीरे-धीरे, सावधानीपूर्वक चलता है, उस प्रमादरहित मुनि के 'ईर्यासमिति' होती है।

{925}

लोकातिवाहिते मार्गे चुम्बिते भास्वदंशुभिः।
जन्तुरक्षार्थमालोक्य गतिरीर्या मता सताम्॥

(है. योग. 1/36)

जिस मार्ग पर लोगों का आना-जाना होता हो तथा जिस मार्ग पर सूर्य की किरणें पड़ती हों, जीवों की रक्षा के लिए ऐसे मार्ग पर नीचे दृष्टि रख कर साधु पुरुषों द्वारा की जाने वाली जो गति है, उसे 'ईर्यासमिति' माना गया है।

{926}

दव्वओ खेत्तओ चेव कालओं भावओ तहा।
जयणा चउव्विहा वुत्ता तं मे कित्तयओ सुण॥
दव्वओ चक्खुसा पेहे जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीएज्जा उवउत्ते य भावओ॥

(उत्त. 24/6-7)

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'यतना' चार प्रकार की है। उसको मैं कहता हूं। सुनोः- द्रव्य से- आंखों से देखे। क्षेत्र से- युगमात्र भूमि को देखे। काल से- जब तक चलता रहे, तब तक देखे। भाव से- उपयोगपूर्वक गमन करे।

{927}

कहं चरे? कहं चिट्ठे? कहमासे? कहं सए?
कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥ (30)
जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे, जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥ (31)

(दशवै. 4/61-62)

[प्रश्न-] (साधु या साध्वी) कैसे चले? कैसे खड़ा हो? कैसे उठे? कैसे सोए? कैसे खाए और कैसे बोले?, जिससे कि पापकर्म का बन्ध न हो? (30)

[उत्तर-] (साधु या साध्वी) यतनापूर्वक चले, यतनापूर्वक खड़ा हो, यतनापूर्वक बैठे, यतना-पूर्वक सोए, यतनापूर्वक खाए और बोले, (तो वह) पापकर्म का बन्ध नहीं करता। (31)

{928}

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ ॥

(मूला. 10/1015)

यतनापूर्वक गमन करे, यतनापूर्वक खड़ा हो, यतनापूर्वक बैठे, यतनापूर्वक सोवे, यतनापूर्वक आहार करे और यतनापूर्वक बोले, इस तरह करने से पाप का बन्ध नहीं होगा।

{929}

जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥

(मूला. 10/1016)

यतनापूर्वक चलते हुए, दया से जीवों को देखने वाले साधु के नूतन कर्म नहीं बंधते हैं और पुराने कर्म झड़ जाते हैं।

{930}

आदाणे णिक्खेवे वोसरणे ठाणगमणसयणेसु।
सव्वत्थ अप्पमत्तो दयावरो होइ हु अहिंसो ॥

(भग. आ. 812)

उपकरणों को ग्रहण करने में, रखने में, उठने-बैठने, चलने और शयन में जो दयालु होकर सर्वत्र यतनाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है, वह अहिंसक होता है।

{931}

अजयं चरमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होई कडुयं फलं॥ (24)
अजयं चिट्ठमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होई कडुयं फलं॥ (25)
अजयं आसमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होई कडुयं फलं॥ (26)
अजयं सयमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥ (27)
अजयं भुंजमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥ (28)
अजयं भासमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥ (29)

(दशवै. 4/55-60)

अयतनापूर्वक गमन करने वाला साधु (या साध्वी) प्राणों (त्रस) और भूतों (स्थावर जीवों) की हिंसा करता है, (उससे) वह (ज्ञानावरणीय आदि) पापकर्म का बन्ध करता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है। (24)

अयतनापूर्वक खड़ा होने वाला साधु (या साध्वी) प्राणों और भूतों की हिंसा करता है, (उससे) पापकर्म का बन्ध होता है, जो उसके लिए कटु फल वाला होता है। (25)

अयतनापूर्वक बैठने वाला साधक (द्वीन्द्रियादि) त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, (उससे उसके) पापकर्म का बन्ध होता है, जो उसके लिए कटु फल वाला होता है। (26)

अयतना से सोने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, (उससे) वह पापकर्म का बन्ध करता है, जो उसके लिए कटु फल -प्रदायक होता है। (27)

अयतना से भोजन करने वाला व्यक्ति त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा करता है, (जिससे) वह पापकर्म का बन्ध करता है, जो उसके लिए कटु फल देने वाला होता है। (28)

यतनारहित बोलने वाला त्रस और स्थावर ज़ीवों की हिंसा करता है। (उससे उसके) पापकर्म का बन्ध होता है, जो उसके लिए कटु फल वाला होता है। (29)

{932}

ठाणे निसीयणे चेव तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघण-पल्लंघणे इन्दियाण य जुंजणे॥
संरम्भ-समारम्भे आरम्भम्मि तहेव य।
कायं पवत्तमाणं तु नियतेज्ज जयं जई॥

(उत्त. 24/24-25)

खड़े होने में, बैठने में, त्वग्वर्तन में-लेटने में, उल्लंघन में-गड्ढे आदि के लांघने में, प्रलंघन में-सामान्यतया चलने-फिरने में, शब्दादि विषयों में, इन्द्रियों के प्रयोग में, संरम्भ में , समारम्भ में और आरम्भ में प्रवृत्त काया का निवर्तन (नियन्त्रण) करे।

{933}

मरदु व जिवदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदीसु ॥

(प्रव. 3/17

दूसरा जीव मरे अथवा न मरे, परन्तु अयतना-पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले के हिंसा निश्चित है, अर्थात् वह नियम से हिंसा करने वाला है, तथा जो पांचों समितियों में यतना-पूर्वक प्रवृत्त रहता है, उसके बाह्य हिंसामात्र से बंध नहीं होता है।

[आत्मा में प्रमाद की उत्पत्ति होना भावहिंसा है और शरीर के द्वारा किसी प्राणी का विघात होना द्रव्यहिंसा है। भावहिंसा से मुनिपद का अन्तरङ्ग भङ्ग होता है और द्रव्यहिंसा से बहिरङ्ग भङ्ग होता है। बाह्य में जीव चाहे न मरे, चाहे न मरे; परन्तु जो मुनि अयतनाचार पूर्वक गमनागमनादि करता है उसके प्रमाद के कारण 'भावहिंसा' होने से मुनिपद का अन्तरङ्ग भङ्ग निश्चितरूप से होता है और जो मुनि प्रमादरहित प्रवृत्ति करता है, उसके बाह्य में जीवों का विघात होने पर भी प्रमाद के अभाव में 'भावहिंसा' न होने से हिंसाजन्य पापबन्ध नहीं होता है। भावहिंसा के साथ होने वाली द्रव्यहिंसा ही पाप-बन्ध की कारण है। केवल द्रव्यहिंसा से पाप-बन्ध नहीं होता, परन्तु भावहिंसा द्रव्य हिंसा की अपेक्षा नहीं रखती। द्रव्य-हिंसा हो अथवा न भी हो, परन्तु 'भावहिंसा' के होने पर नियम से पापबन्ध होता है। इसलिये निरन्तर प्रमादरहित ही होकर प्रवृत्ति करना चाहिये।]

{934}

जियदु व मरदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स॥

(मूला. फलटन संस्क., पंचम अधिकार)

-जीव मरे या न मरे, अयतनाचारी के निश्चित ही हिंसा होती है तथा समिति से युक्त सावधान मुनि के (द्रव्य) हिंसामात्र से बन्ध नहीं होता है।

{935}

जयं विहारी चित्तणिवाती पंथणिज्झाई पलिबाहिरे पासिय पाणे गच्छेज्जा।

(आचा. 1/5/4 सू. 162)

मुनि (प्रत्येक चर्या में) यतनापूर्वक विहार करे, चित्त को गति में एकाग्र कर, मार्ग का सतत अवलोकन करते हुए (दृष्टि टिका कर) चले। जीव-जन्तु को देख कर पैरों को आगे बढ़ने से रोक ले और मार्ग में आने वाले प्राणियों को देखकर गमन करे।

{936}

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकालं हिंसा सा संततत्ति मदा॥

(प्रव. 3/16

सोना, बैठना, खड़ा होना तथा विहार करना आदि क्रियाओं में साधु की जो यतना-रहित स्वच्छन्द प्रवृत्ति है, वह निरन्तर अखण्ड प्रवाह से चलने वाली हिंसा है- ऐसा माना गया है।

{937}

थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू।
तम्हा विऊ विरए आयगुत्ते दट्ठुं तसे य प्पडिसाहरेज्जा॥

(सू.कृ. 1/7/20)

अपने कर्मों से बंधे हुए नाना प्रकार के त्रस प्राणी (मनुष्य के पैर का स्पर्श होने पर) आवाज करते हैं, भयभीत और त्रस्त हो जते हैं, सिकुड़ और फैल जाते हैं-यह जानकर विद्वान् विरत और आत्मगुप्त भिक्षु त्रस जीवों को (सामने आते हुए) देखकर (अपने पैरों का) संयम करे।

{938}

तम्हा तेण न गच्छेज्जा, संजए सुसमाहिए।
सइ अन्नेण मग्गेण जयमेव परक्कमे॥ (6)

(दशवै. 5/88)

इसलिए सुसमाहित (सम्यक् समाधिमान्) संयमी साधु अन्य मार्ग के होते हुए उस मार्ग से न जाए। यदि दूसरा मार्ग न हो तो (निरुपायता की स्थिति में) यतनापूर्वक (उस मार्ग से) जाए। (6)

{939}

से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी।
चरे मंदमणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा॥ (2)

(दशवै. 5/84)

ग्राम या नगर में गोचराग्र के लिए प्रस्थित (निकला हुआ) मुनि अनुद्विग्न और अव्याक्षिप्त (एकाग्र=स्थिर) चित्त से धीमे-धीमे चले। (2)

{940}

पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, उसे अदुव थावरे॥ (5)

(दशवै. 5/87)

(साधु या साध्वी) उन गड्ढे आदि से गिरता हुआ या फिसलता (स्खलित होता) हुआ प्राणियों और भूतों- त्रस या स्थावर जीवों की हिंसा कर सकता है। (5)

{941}

अट्ठ सुहुमाइं पेहाए जाइं जाणित्तु संजए।
दयाहिगारी भूएसु आस चिट्ठ सए हि वा॥ (13)

(दशवै. 8/401)

संयमी (यतनावान् साधु) जिन्हें जान कर (ही वस्तुतः) समस्त जीवों के प्रति दया का अधिकारी बनता है, उन आठ प्रकार के सूक्ष्मों (सूक्ष्म शरीर वाले जीवों) को भलीभांति देखकर ही बैठे, खड़ा हो अथवा सोए।

{942}

से भिक्खू वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे पुरओ जुगमायं पेहमाणे दट्ठूण तसे पाणे उद्धट्टु पादं रीएज्जा, साहट्टु, पादं रीएज्जा, वितिरिच्छं वा कट्टु पादं रीएज्जा, सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा, ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

से भिक्खू वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे, अंतरा से पाणाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा उदए वा मट्टिया वा अविद्धत्था, सति परक्कमे जाव णो उज्जुयं गच्छेज्जा, ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

(आचा. 2/3/1 सू. 469-470)

साधु या साध्वी एक ग्राम से दूसरे ग्राम विहार करते हुए अपने सामने की युग-मात्र (गाड़ी के जुए के बराबर चार हाथ प्रमाण) भूमि को देखते हुए चले, और मार्ग में त्रस जीवों को देखें तो पैर के अग्रभाग को उठा कर चले। यदि दोनों और जीव हों तो पैरों को सिकोड़ कर चले अथवा पैरों को तिरछे-टेढे रख कर चले (यह विधि अन्य मार्ग के अभाव में बताई गई है)। यदि दूसरा कोई साफ मार्ग हो, तो उसी मार्ग से यतनापूर्वक जाए, किन्तु जीव-जन्तुओं से युक्त सरल (सीधे) मार्ग से न जाए। (निष्कर्ष यह है कि) उसी (जीव-जन्तु से रहित मार्ग से यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करना चाहिए।

साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए यह जाने कि मार्ग में बहुत से त्रस प्राणी हैं, बीज बिखरे हैं, हरियाली है, सचित्त पानी है या सचित्त मिट्टी है, जिसकी योनि विध्वस्त नहीं हुई है, ऐसी स्थिति में दूसरा निर्दोष मार्ग हो तो साधु या साध्वी उसी मार्ग से यतनापूर्वक जाएं, किन्तु उस (जीवजन्तु आदि से युक्त) सरल (सीधे) मार्ग से न जाए। (निष्कर्ष यह है कि) उसी (जीवजन्तु आदि से रहित) मार्ग से साधु-साध्वी को ग्रामानुग्राम विचरण करना चाहिए।

{943}

एगया गुणसमितस्स रीयतो कायसंफासमणुचिण्णा एगतिया पाणा उद्दायंति, इहलोगवेदणवेज्जावडियं। जं आउट्टिकयं कम्मं तं परिण्णाय विवेगमेति। एवं से अप्पमादेण विवेगं किट्टति वेदवी।

(आचा. 1/5/4 सू. 163)

किसी समय (यतनापूर्वक) प्रवृत्ति करते हुए गुणसमित (गुणयुक्त) अप्रमादी (सातवें से तेरहवें गुणस्थानवर्ती) मुनि के शरीर का संस्पर्श पाकर कुछ (सम्पातिम आदि) प्राणी परिताप पाते हैं। कुछ प्राणी ग्लानि पाते हैं अथवा कुछ प्राणी मर जाते हैं, (अथवा विधिपूर्वक प्रवृत्ति करते हुए प्रमत्त-षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनि के कायस्पर्श से न चाहते हुए भी कोई प्राणी परितप्त हो जाए या मर जाए) तो उसके इस जन्म में वेदन करने (भोगने) योग्य कर्म का बन्ध हो जाता है।

(किन्तु उस षष्ठगुणस्थानवर्ती प्रमत्त मुनि के द्वारा) आकुट्टि से -(आगमोक्त विधिरहित-) प्रवृत्ति करते हुए जो कर्मबन्ध होता है, उसका (क्षय) ज्ञपरिज्ञा से जानकर (-परिज्ञात कर) दस प्रकार के प्रायश्चित्त में से किसी प्रायश्चित्त से करे।

इस प्रकार उस (प्रमादवश किए हुए साम्परायिक कर्मबन्ध) का विलय (क्षय) अप्रमाद (से यथोचित्त प्रायश्चित्त) से होता है, ऐसा आगमवेत्ता शास्त्रकार कहते हैं।

{944}

से भिक्खू वा गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से विहं सिया, से ज्जं पुण विहं जाणेज्जा-एगाहेण वा दुयाहेण वा तियाहेण वा चउयाहेण वा पंचाहेण वा पाउणज्जा वा णो वा पाउणेज्जा। तहप्पगारं विहं अणेगाहगमणिज्जं सति लाढे जाव गमणाए। केवली बूया- आयाणमेतं। अंतरा से वासे सिया पाणेसु वा पणएसु वा बीएसु वा हरिएसु वा उदएसु वा मट्टियाए वा अविद्धत्थाए। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा जं तहप्पगारं विहं अणेगाहगमणिज्जं जाव णो गमणाए। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

(आचा. 2/3/1 सू. 473)

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु या साध्वी यह जाने कि आगे लम्बा अटवी-मार्ग है। यदि उस अटवी-मार्ग के विषय में वह यह जाने कि यह एक दिन में, दो दिनों में, तीन दिनों में, चार दिनों में या पांच दिनों में पार किया जा सकता है, अथवा पार नहीं किया जा सकता तो विहार के योग्य अन्य मार्ग होते हुए, उस अनेक दिनों में पार किये जा सकने वाले भयंकर अटवी-मार्ग से विहार करके जाने का विचार न करे। केवली भगवान् कहते हैं- ऐसा करना कर्म-बन्ध का कारण है, क्योंकि मार्ग में वर्षा हो जाने से द्वीन्द्रिय आदि जीवों की उत्पत्ति हो जाने पर, मार्ग में काई, लीलन-फूलन, बीज, हरियाली, सचित्त पानी और अविध्वस्त मिट्टी आदि के होने से संयम की विराधना होनी सम्भव है। इसीलिए भिक्षुओं के लिए तीर्थंकरादि ने पहले से इस प्रतिज्ञा हेतु, कारण और उपदेश का निर्देश किया है कि वह साधु अन्य साफ और एकाध दिन में ही पार किया जा सके ऐसे मार्ग के रहते, इस प्रकार के अनेक दिनों में पार किये जा सकने वाले भयंकर अटवी-मार्ग से विहार करके जाने का संकल्प न करे। अतः साधु को परिचित और साफ मार्ग से ही यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए।

{945}

तस्स इमा पंच भावणाओ पढमस्स वयस्स होंति-

पाणाइवायवेरमण-परिरक्खणट्ठयाए पढमं ठाण-गमण-गुणजोगजुंजणजुगंतरणिवाइयाए दिट्ठीए ईरियव्वं कीड-पयंग-तस-थावर-दयावरेण णिच्चं पुप्फ-फल-तय-पवाल-कंद-मूल-दग-मट्टिय-बीय-हरिय-परिवज्जिएण सम्मं। एवं खलु सव्वपाणा ण हीलियव्वा, ण णिंदियव्वा, ण गरहियव्वा, ण हिंसियव्वा, ण छिंदियव्वा, ण भिंदियव्वा, ण वहेयव्वा, ण भयं दुक्खं च किंचि लब्भा पावेउं, एवं

ईरियासमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू।

(प्रश्न. 2/1/सू.113)

पांच महाव्रतों-संवरों में से प्रथम महाव्रत की ये- आगे कही जाने वाली-पांच भावनाएं प्राणातिपातविरमण अर्थात् अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिए हैं।

खड़े होने, ठहरने और गमन करने में स्व-पर की पीड़ारहितता गुणयोग को जोड़ने वाली तथा गाड़ी के युग (जूवे) प्रमाण भूमि पर गिरने वाली दृष्टि से अर्थात् लगभग चार हाथ आगे की भूमि पर दृष्टि रख कर निरन्तर कीट, पतंग, त्रस, स्थावर जीवों की दया में तत्पर होकर फूल, फल छाल, प्रवाल-पत्ते-कोंपल-कंद, मूल, जल, मिट्टी, बीज एवं हरितकाय- दूब आदि को (कुचलने से) बचाते हुए, सम्यक् प्रकार से-यतना के साथ चलना चाहिए। इस प्रकार चलने वाले साधु को निश्चय की समस्त अर्थात् किसी भी प्राणी की हीलना- उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, निन्दा नहीं करनी चाहिए, गर्हा नहीं करनी चाहिए। उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिए, उनका छेदन नहीं करना चाहिए, भेदन नहीं करना चाहिए, उन्हें व्यथित नहीं करना चाहिए। इन पूर्वोक्त जीवों को लेश मात्र भी भय या दुःख नहीं पहुंचाना चाहिए। इस प्रकार (के आचरण)से साधु ईर्यासमिति में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से भावित होता है। तथा शबलता (मलिनता) से रहित, संक्लेश से रहित, अक्षत-निरतिचार चारित्र की भावना से युक्त साधक संयमशील व अहिंसक सुसाधु कहलाता है।

{946}

बिइयं च मणेण पावएणं पावगं अहम्मियं दारुणं णिस्संसं वह-बंध-परिकिलेसबहुलं भय-मरण-परिकिलेससंकिलिट्ठं ण कयावि मणेण पावएणं पावगं किंचि वि झायव्वं। एवं मणसमिइ-जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू।

(प्रश्न. 2/1/सू.114)

दूसरी भावना मनःसमिति है। पापमय, अधार्मिक-धर्मविरोधी, दारुण-भयानक, नृशंस- निर्दयतापूर्ण, वध, बन्ध और परिक्लेश की बहुलता वाले, भय, मृत्यु एवं क्लेश से संक्लिष्ट-मलिन ऐसे पापयुक्त मन से लेशमात्र भी विचार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार (के आचरण) से-मनःसमिति की प्रवृत्ति से अन्तरात्मा भावित-वासित होती है तथा निर्मल, संक्लेशरहित, अखण्ड निरतिचार चारित्र की भावना से युक्त साधक संयमशील व अहिंसक सुसाधु कहलाता है।

○ सत्य महाव्रत/भाषा समिति

{947}

यद्रागद्वेषमोहेभ्यः परतापकरं वचः।
निवृत्तिस्तु ततः सत्यं तद् द्वितीयं तु महाव्रतम्॥

(ह. पु. 2/118)

राग, द्वेष अथवा मोह के कारण दूसरों के सन्ताप उत्पन्न करने वाले जो वचन हैं, उनसे निवृत्त होना द्वितीय 'सत्य महाव्रत' है।

{948}

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो॥ (11)
तहेव काणं काणेत्ति, पंडगं 'पंडगे' त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए॥ (12)
एएणऽन्नेण अट्ठेण परो जेणुवहम्मई।
आयारभाव-दोसण्णू ण तं भासेज्ज पण्णवं॥ (13)

(दशवै. 7/342-344)

जो भाषा कठोर हो तथा बहुत (या महान्) प्राणियों का उपघात करने वाली हो, वह सत्य होने पर भी मुनि द्वारा बोलने योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसी भाषा से पापकर्म का बन्ध (या आस्रव) होता है। (11) इसी प्रकार, काने को काना, नपुंसक (पण्डक) को नपुंसक तथा रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे। (12) इस (पूर्वगाथा में उक्त) अर्थ (भाषा) से अथवा अन्य (इसी कोटि की दूसरे) जिस अर्थ (भाषा) से कोई प्राणी पीड़ित (उपहत) होता है, उस अर्थ (भाषा) को आचार (वचनसमिति तथा वाग्गुप्ति-गत आचरण) सम्बन्धी भावदोष (प्रद्वेष-प्रमाद-रूप वैचारिक दोष) को जानने वाला प्रज्ञावान् साधु (कदापि) न बोले। (13)

{949}

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स॥

(नि.सा. 62)

पैशुन्य- चुगली, हास्य, कर्कश, परनिन्दा और आत्म-प्रशंसारूप वचन को छोड़ कर स्वपर-हितकारी वचन को बोलने वाले साधु के 'भाषा समिति' होती है।

{950}

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं॥

(बा. अणु. 74)

दूसरों को संताप करने वाले वचन को छोड़ कर जो भिक्षु स्वपरहितकारी वचन बोलता है, उसके चौथा 'सत्यधर्म' होता है।

{951}

आसणं सयणं जाणं होज्जा वा किंचुवस्सए।
भूओवघाइणिं भासं, नेवं भासेज्ज पण्णवं॥ (29)

(दशवै. 7/360)

(इसी प्रकार अमुक वृक्ष में) आसन, शयन (सोने के लिए पट्टा), यान (रथ आदि) और उपाश्रय के (लिए) उपयुक्त कुछ (काष्ठ) हैं- इस प्रकार की भूतोपघातिनी (प्राणि-संहारकारिणी) भाषा प्रज्ञासम्पन्न साधु (या साध्वी) न बोले।

{952}

सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं।
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुद्धा॥

(भग. आ. विजयो. 1186)

वचन के चार प्रकार हैं- सत्य, असत्य, सत्यसहित असत्य और असत्यमृषा। सज्जनों के हितकारी वचन को सत्य कहते हैं। जो वचन न सत्य होता है और न असत्य, उसे असत्यमृषा कहते हैं। इस प्रकार सत्य और असत्यमृषा वचन को बोलना तथा असत्य, कठोरता, चुगली आदि दोषों से रहित और अनवद्य अर्थात् जिससे पाप का आस्रव न हो ऐसा वचन सूत्रानुसार बोलने वाले के शुद्ध 'भाषासमिति' होती है।

{953}

त्यक्त्वा कार्कश्यपारुष्यं यतेर्यत्नवतः सदा।
भाषणं धर्मकार्येषु भाषासमितिरिष्यते॥

(ह. पु. 2/123)

सदा कर्कश और कठोर वचन छोड़कर यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले यति का धर्म-कार्यों में बोलना 'भाषा समिति' कहलाती है।

{954}

कोहे माणे य मायाए लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए विगहासु तहेव य॥
एयाइं अट्ठ ठाणाइं परिवज्जित्तु संजए।
असावज्जं मियं काले भासं भासेज्ज पन्नवं॥

(उत्त. 24/9-10)

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा के प्रति सतत उपयोगयुक्त (वर्जना के लिए सावधान) रहे। प्रज्ञावान् संयती इन आठ उपर्युक्त क्रोधादि स्थानों को छोड़कर यथासमय निरवद्य- दोषरहित और परिमित भाषा बोले।

{955}

अवद्यत्यागतः सार्वजनीनं मितभाषणम्।
प्रिया वाचंयमानां सा भाषासमितिरुच्यते॥

(है. योग. 1/37)

वचन पर संयम रखने वाले या प्रायः मौनी साधकों द्वारा निर्दोष, सर्वहितकर एवं परिमित, प्रिय एवं सावधानी-पूर्वक बोलना 'भाषा समिति' कहलाता है।

{956}

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वदित्तए, जो णं निग्गंथो वा 2 परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ से णं अकप्पेणं अज्जो! वयसी,ति वत्तव्वे सिया, जो णं निग्गंथो वा 2 परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ से णं निज्जूहियव्वेसिया।

(कल्प. 285)

वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को पर्युषणा के पश्चात् अधिकरण वाली वाणी अर्थात् हिंसा, असत्य आदि दोष से दूषित वाणी बोलना नहीं कल्पता है। जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनी पर्युषणा के पश्चात् ऐसी अधिकरण वाली वाणी बोले, उसे इस प्रकार कहना चाहिए- हे आर्य! इस प्रकार की वाणी बोलने पर आचार नहीं है। जो आप बोल रहे हैं वह अकल्पनीय है, आपका ऐसा आचार नहीं है। जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनी पर्युषणा के पश्चात् अधिकरण वाली वाणी बोलता है, उसे गच्छ से बाहर कर देना चाहिए।

{957}

अप्पत्तियं जेण सिया, आसु कुप्पेज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासेज्जा भासं अहियगामिणिं॥ (47)
नक्खत्तं सुमिणं जोगं निमित्तं मंत भेसजं।
गिहिणो ते न आइक्खे भूयाहिगरणं पयं॥ (50)

(दशवै. 8/835, 838)

जिससे (जिस भाषा के बोलने से) अप्रीति (या अप्रतीति) उत्पन्न हो अथवा दूसरा (सुनने वाला व्यक्ति) शीघ्र ही कुपित होता हो, ऐसी अहित करने वाली भाषा सर्वथा न बोले। (47)

(आत्मार्थी साधु) नक्षत्र, स्वप्न (-फल), वशीकरणादि योग, निमित्त, मन्त्र (तन्त्र, यन्त्र), भेषज आदि से सम्बन्धित अयोग्य बातें गृहस्थों को न कहे, क्योंकि ये प्राणियों के अधिकरण- (हिंसा आदि अनिष्टकर) स्थान हैं। (50)

{958}

तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह-लोह-भयसा व माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा॥ (54)

(दशवै. 7/385)

इसी प्रकार जो भाषा सावद्य (पाप-कर्म) का अनुमोदन करने वाली हो, जो निश्चयकारिणी (और संशयकारिणी हो) एवं पर-उपघातकारिणी हो, उसे क्रोध, लोभ, भय, (मान), या हास्य के वश भी (साधु या साध्वी) न बोले। (54)

{959}

अवण्णवायं च परम्मुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया, स पुज्जो॥ (9)

(दशवै. 9/500)

जो मुनि पीठ पीछे कदापि किसी का अवर्णवाद (निन्दावचन) नहीं बोलता तथा प्रत्यक्ष में (सामने में) विरोधी (शत्रुताजनक) भाषा नहीं बोलता एवं जो निश्चयकारिणी और अप्रियकारिणी भाषा (भी) नहीं बोलता, वह पूज्य होता है। (9)

{960}

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया,
तीसे य दुट्ठाए विवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं॥ (56)

(दशवै. 7/387)

षड्जीवनिकाय के प्रति संयत (सम्यक् यतना करने वाले) तथा श्रामण्यभाव में सदा यत्नशील (सावधान) रहने वाले प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ) साधु को चाहिए कि वह भाषा के दोषों और गुणों को जान कर एवं उसमें से दोषयुक्त भाषा को सदा के लिए छोड़ दे और हितकारी तथा आनुलोमिक (सभी प्राणियों के लिए अनुकूल) वचन बोले। (56)

{961}

बहुं सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं भिक्खू अक्खाउमरिहइ॥ (20)
सुयं वा जइ वा दिट्ठं न लवेज्जो व घाइयं।
न य केणइ उवाएणं गिहिजोगं समायरे॥ (21)

(दशवै. 8/408-409)

भिक्षु कानों से बहुत कुछ सुनता है तथा आंखों से बहुत-से रूप (या दृश्य) देखता है, किन्तु सब देखे हुए और सुने हुए को कह देना साधु के लिए उचित नहीं है। (20)

यदि सुनी हुई या देखी हुई (घटना) औपघातिक (उपघात से उत्पन्न हुई या किसी का उपघात उत्पन्न करने वाली) हो तो (साधु को चाहिए कि वह किसी के समक्ष) नहीं कहे तथा किसी भी उपाय से गृहस्थोचित (कर्म का) आचरण नहीं करे। (21)

{962}

महुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया,
अओमया, ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि॥ (7)

(दशवै. 9/498)

लोहमय कांटे तो केवल मुहूर्त्तभर (अल्पकाल तक) दु:खदायी होते हैं, फिर वे भी (जिस अंग में लगे हैं) उस (अंग) में से सुखपूर्वक निकाले जा सकते हैं। किन्तु वाणी से निकले हुए दुर्वचनरूपी कांटें कठिनता से निकाले जा सकने वाले, वैर की परम्परा बढ़ाने वाले और महाभयकारी होते हैं। (7)

{963}

से भिक्खू वा इमाइं वइ-आयाराइं सोच्चा णिसम्म इमाइं अणायाराइं अणायरियपुव्वाइं जाणेज्जा- जे कोहा वा वायं विउंजंति, जे माणा वा वायं विउंजंति, जे मायाए वा वायं विउंजंति, जे लोभा वा वायं विउंजंति, जाणतो वा फरुसं वदंति, अजाणतो वा फरुसं वयंति। सव्वं चेयं सावज्जं वज्जेज्जा विवेगमायाए- धुवं चेयं जाणेज्जा, अधुवं चेयं जाणेज्जा, असणं वा लभिय, णो लभिय, भुंजिय, णो भुंजिय, अदुवा आगतो अदुवा णो आगतो, अदुवा एति, अदुवा णो एति, अदुवा एहिति, अदुवा णो एहिति, एत्थ वि आगते, एत्थ वि णो आगते, एत्थ वि एति, एत्थ वि णो एति, एत्थ वि एहिति, एत्थ वि णो एहिति।

(आचा. 2/4/1 सू. 520)

संयमशील साधु या साध्वी इन वचन (भाषा) के आचारों को सुन कर, हृदयंगम करके, पूर्व-मुनियों द्वारा अनाचरित भाषा-सम्बन्धी अनाचारों को जाने। (जैसे कि) जो क्रोध से वाणी का प्रयोग करते हैं, जो अभिमानपूर्वक वाणी का प्रयोग करते हैं, जो छल-कपट सहित भाषा बोलते हैं, अथवा जो लोभ से प्रेरित होकर वाणी का प्रयोग करते हैं, जानबूझ कर कठोर बोलते हैं, या अनजाने में कठोर वचन कह देते हैं- ये सब भाषाएं सावद्य (स-पाप) हैं, साधु के लिए वर्जनीय हैं। विवेक अपना कर साधु इस प्रकार की सावद्य एवं अनाचरणीय भाषाओं का त्याग करे। वह साधु या साध्वी ध्रुव (भविष्यत्कालीन वृष्टि आदि के विषय में निश्चयात्मक) भाषा को जान कर उसका त्याग करे, अध्रुव (अनिश्चयात्मक) भाषा को भी जान कर उसका त्याग करे। वह अशनादि चतुर्विध आहार

लेकर ही आएगा, या आहार लिए बिना ही आएगा, वह आहार करके ही आएगा, या आहार किये बिना ही आ जाएगा, अथवा वह अवश्य आया था, या नहीं आया था, वह आता है, अथवा नहीं आता है, वह अवश्य आएगा, अथवा नहीं आएगा, वह यहां भी आया था, अथवा वह यहां नहीं आया था, वह यहां अवश्य आता है, अथवा कभी नहीं आता, अथवा वह यहां अवश्य आएगा या कभी नहीं आएगा या कभी नहीं आएगा, (इस प्रकार की एकान्त निश्चयात्मक भाषा का प्रयोग साधु-साध्वी न करे)।

{964}

प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं, सूनृतव्रतमुच्यते।
तत् तथ्यमपि नो तथ्यम्, अप्रियं चाहितं च यत्॥

(है. योग. 1/21)

दूसरे को प्रिय, हितकारी या यथार्थ वचन बोलना सत्यव्रत कहलाता है। परंतु जो वचन अप्रिय या अहितकर है, वह तथ्य वचन होने पर भी सत्य वचन नहीं कहलाता।

{965}

से भिक्खू वा जा य भासा सच्चा, जा य भाषा मोसा, जा य भासा सच्चामोसा जा य भाषा असच्चामोसा तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं कक्कसं कडुयं णिट्ठुरं फरुसं अण्हयकरिं छेयणकरिं भेयणकरिं परितावणकरिं उद्दवणकरिं भूतोवघातियं अभिकंख णो भासेज्जा। (524)

से भिक्खू वा जा य भासा सच्चा सुहुमा जा य भासा असच्चामोसा तहप्पगारं भासं असावज्जं अकिरियं जाव अभूतोवघातियं अभिकंख भासेज्जा। (525)

से भिक्खू वा पुमं आमंतेमाणे आमंतिते वा अपडिसुणेमाणे णो एवं वदेज्जा होले ति वा, गोले ति वा, वसुले ति वा कुपक्खे ति वा, घडदासे ति वा, साणे ति वा तेणे ति वा, चारिए ति वा मायी ति वा, मुसावादी ति वा, इतियाइं तुमं, इतियाइं ते जणगा वा। एतप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं जाव अभिकंख णो भासेज्जा। (526)

से भिक्खू वा पुमं आमंतमाणे आमंतिते वा अपडिसुणेमाणे एवं वदेज्जा- अमुगे ति वा, आउसो ति वा, आउसंतारो ति वा, सावके ति वा, उवासगो ति वा। धम्मिए ति वा, धम्मप्पिए ति वा। एतप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभूतोवघातियं अभिकंख भासेज्जा। (527)

से भिक्खू वा इत्थी आमंतेमाणे आमंतिते य अपडिसुणेमाणे णो एवं वदेज्जा– होली ति वा, गोली ति वा, इत्थिगमेणं णेतव्वं। (528)

से भिक्खू वा इत्थी आमंतेमाणे आमंतिते य अपडिसुणेमाणे एवं वदेज्जा– आउसो ति वा भगिणी ति वा, भोई ति वा, भगवती ति वा, साविगे ति वा, उवासिए ति वा, धम्मिए ति वा, धम्मप्पिए ति वा। एतप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासेज्जा। (529)

(आचा. 2/4/1 सू. 524-529)

जो भाषा सत्या है, जो भाषा मृषा है, जो भाषा सत्यामृषा है, अथवा जो भाषा असत्यामृषा है, इन चारों भाषाओं में से जो मृषा-असत्या और मिश्रभाषा है, उसका व्यवहार साधु-साध्वी के लिए सर्वथा वर्जित है। केवल सत्या और असत्यामृषा- (व्यवहारभाषा का प्रयोग ही उसके लिए आचरणीय है।) उसमें भी यदि सत्यभाषा सावद्य, अनर्थदण्ड क्रिया युक्त, कर्कश, कटुक, निष्ठुर, कठोर, कर्मों की आस्रवकारिणी तथा छेदनकारिणी, भेदनकारिणी, परितापकारिणी, उपद्रवकारिणी एवं प्राणियों का विघात करने वाली हो तो विचारशील साधु को मन से विचार करके ऐसी सत्यभाषा का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। (524)

जो भाषा सूक्ष्म (कुशाग्रबुद्धि से पर्यालोचित होने पर) सत्य सिद्ध हो, तथा जो असत्यामृषा भाषा हो, साथ ही ऐसी दोनों भाषाएं असावद्य, अक्रिय, ... जीवों के लिए अघातक हों तो संयमशील साधु मन से पहले पर्यालोचन करके इन्ही दोनों भाषाओं का प्रयोग करे।(525)

साधु या साध्वी किसी पुरुष को आमंत्रित (सम्बोधित) कर रहे हों, और आमंत्रित करने पर भी वह न सुने तो उसे इस प्रकार न कहे– "अरे होल (मूर्ख), रे गोले! या हे गोल! ऐ वृषल (शूद्र)! हे कुपक्ष (दास, या निन्द्यकुलीन) अरे घटदास (दासीपुत्र)! या ओ कुत्ते! ओ चोर! अरे गुप्तचर! अरे झूठे, ऐसे (पूर्वोक्त प्रकार के) ही तुम हो, ऐसे (पूर्वोक्त प्रकार के) ही तुम्हारे माता-पिता हैं।" विचारशील साधु इस प्रकार की सावद्य, सक्रिय यावत् जीवोपघातिनी भाषा न बोले। (526)

संयमशील साधु या साध्वी किसी पुरुष को आमंत्रित कर रहे हों, और आमंत्रित करने पर भी वह न सुने तो उसे इस प्रकार सम्बोधित करे– हे आयुष्मन्! हे आयुष्मानों! ओ श्रावकजी! हे उपासक! धार्मिक! या हे धर्मप्रिय! – इस प्रकार की निरवद्य......भूतोपघातरहित भाषा विचारपूर्वक बोले। (527)

साधु या साध्वी किसी महिला को बुला रहे हों तो बहुत आवाज देने पर भी वह न सुने तो ऐसे नीच सम्बोधनों से सम्बोधित न करे- अरी होली (मूर्खे)! अरी गोली! अरी वृषली (शूद्रे)! हे कुपक्षे (निन्द्यजातीये)! अरी घटदासी! ऐ कुत्ती! अरी चोरटी! हे गुप्तचरी! अरी मायाविनी (धूर्ते), ऐसी ही तू है और ऐसे ही तेरे माता-पिता हैं! विचारशील साधु-साध्वी उक्त प्रकार की सावद्य, सक्रिय ... जीवोपघातिनी भाषा न बोलें। (528)

साधु या साध्वी किसी महिला को आमंत्रित कर रहे हों, बहुत बुलाने पर भी वह न सुने तो उसे इस प्रकार सम्बोधित करे- आयुष्मती! बहन (भगिनी)! भवती (अजी, आप या मुखियाइन), भगवति! श्राविके! उपासिके! धार्मिके! धर्मप्रिये!- इस प्रकार की निरवद्य ... जीवोपघात-रहित भाषा विचारपूर्वक बोले। (529)

{966}

चउण्हं खलु भासाणं परिसंखाय पन्नवं।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासेज्ज सव्वसो॥ (1)
जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा।
जा य बुद्धेहिंऽणाइन्ना, न तं भासेज्ज पण्णवं॥ (2)
असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासेज्ज पण्णवं॥ (3)
एयं च अट्ठमन्नं वा, जं तु नामेइ सासयं।
सभासं असच्चमोसं पि तं पि धीरो विवज्जए॥ (4)
वितहं पि तहामुत्तिं जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं किं पुणो जो मुसं वए?॥ (5)

(दशवै. 7/332-336)

प्रज्ञावान् साधु (या साध्वी) (सत्या आदि) चारों ही भाषाओं को सभी प्रकार से जान कर, दो उत्तम भाषाओं का शुद्ध प्रयोग (विनय) करना सीखे और (शेष) दो (अधम) भाषाओं को सर्वथा न बोले। (1)

तथा जो भाषा सत्य है, किन्तु (सावद्य या हिंसाजनक होने से) अवक्तव्य (बोलने योग्य नहीं) है, जो सत्या-मृषा (मिश्र) है, तथा मृषा है एवं जो (सावद्य) असत्यामृषा (व्यवहारभाषा) है, (किन्तु) तीर्थंकरदेवों (बुद्धों) के द्वारा अनाचीर्ण है, उसे भी प्रज्ञावान् साधु न बोले। (2)

प्रज्ञावान् साधु, जो असत्याऽमृषा (व्यवहारभाषा) और सत्यभाषा अनवद्य (पाप-रहित), अकर्कश (मृदु) और असंदिग्ध (सन्देहरहित) हो, उसे सम्यक् प्रकार से विचार कर बोले। (3)

धैर्यवान् साधु उस (पूर्वोक्त) सत्यामृषा (मिश्रभाषा)को भी न बोले, जिसका यह अर्थ है, या दूसरा है? (इस प्रकार से) अपने आशय को संदिग्ध (प्रतिकूल) बना देती हो। (4)

जो मनुष्य सत्य दीखने वाली असत्य (वितथ) वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है, उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है, तो फिर जो (साक्षात्) मृषा बोलता है, (उसके पाप का तो क्या कहना?)। (5)

{967}

अहिगरणकरस्स भिक्खुणो वयमाणस्स पसज्झ दारुणं।
अट्ठे परिहायई बहू अहिगरणं ण करेज्ज पंडिए॥

(सू.कृ. 1/2/2/41)

कलह करने वाले, तिरस्कारपूर्ण और कठोर वचन बोलने वाले, तिरस्कारपूर्ण और कठोर वचन बोलने वाले भिक्षु का परम अर्थ नष्ट हो जाता है, इसलिए पण्डित भिक्षु को कलह नहीं करना चाहिए।

{968}

तइयं च वईए पावियाए पावगं ण किंचि वि भासियव्वं। एवं वइ-समिति-जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू।

(प्रश्न. 2/1/सू.115)

अहिंसा महाव्रत की तीसरी भावना वचनसमिति है। पापमय वाणी से तनिक भी पापयुक्त-सावद्य वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार की वाक्समिति (भाषासमिति) के योग से युक्त अन्तरात्मा वाला निर्मल, संक्लेशरहित और अखण्ड चारित्र की भावना वाला अहिंसक साधु सुसाधु होता है-मोक्ष का साधक होता है।

{969}

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए॥ (11)
मुसावाओ अ लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ।
अविस्साओ य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए॥ (12)

(दशवै. 6/274-275)

(निर्ग्रन्थ साधु या साध्वी) अपने लिए या दूसरों के लिए, क्रोध से अथवा (मान, माया और क्रोध से) या भय से हिंसाकारक (परपीडाजनक सत्य) और असत्य (मृषावचन) न बोले, (और) न ही दूसरों से बुलवाए, (और न बोलने वालों का अनुमोदन करे)। (11)

(इस समग्र) लोक में समस्त साधुओं द्वारा मृषावाद (असत्य) गर्हित (निन्दित) है और वह प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है। अत: (निर्ग्रन्थ) मृषावाद का पूर्ण रूप से परित्याग कर दे। (12)

{970}

हास्य-लोभ-भय-क्रोध-प्रत्याख्यानैर्निरन्तरम्।
आलोच्य भाषणेनापि भावयेत् सूनृतव्रतम्॥

(है. योग. 1/27)

हास्य, लोभ, भय और क्रोध के त्याग (नियंत्रण) पूर्वक एवं विचार करके बोले; इस प्रकार (पांच भावनाओं द्वारा) सत्यव्रत को सुदृढ़ करे।

{971}

भासमाणो ण भासेज्जा णो य वम्फेज्ज मम्मयं।
माइट्ठाणं विवज्जेज्जा अणुवीइ वियागरे॥

(सू.कृ. 1/9/25)

बोलता हुआ भी न बोलता-सा रहे, मर्मवेधी वचन न बोले, (बोलने में) मायास्थान का वर्जन करे, सोच कर बोले।

{972}

संतिमा तहिया भासा जं वइत्ताणुतप्पई।
जं छणं तं ण वत्तव्वं एसा आणा णियंठिया॥

(सू.कृ. 1/9/26)

कुछ सत्य भाषाएं हैं जिन्हें बोल कर मनुष्य पछताता है। जो हिंसाकारी वचन है, उसे न बोले। यह निर्ग्रन्थ (महावीर) की आज्ञा है।

{973}

होलावायं सहीवायं गोयवायं च णो वए।
तुमं तुमं ति अमणुण्णं सव्वसो तं ण वत्तए॥

(सू.कृ. 1/9/27)

हे साथी! हे मित्र! हे अमुक-अमुक गोत्र वाले- इस प्रकार के वचन न बोले। (सामान्य व्यक्यिों के लिए) तू-तू- ऐसा अप्रिय वचन भी सर्वथा न कहे।

(सत्य व भाषा समिति में अन्तर)

{974}

सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यमित्युच्यते। ननु चैतद् भाषासमितावन्तर्भवति। नैष दोषः; समितौ प्रवर्तमानो मुनिः साधुष्वसाधुषु च भाषाव्यवहारं कुर्वन् हितं मितं च ब्रूयात् अन्यथा रागादनर्थदण्डदोषः स्यादिति वाक्समितिरित्यर्थः। इह पुनः सन्तः प्रव्रजितास्तद्भक्ता वा तेषु साधु सत्यं ज्ञानचारित्रशिक्षणादिषु बह्वपि कर्तव्यमित्यनुज्ञायते धर्मोपबृंहणार्थम्।

(सर्वा. 9/6/797)

अच्छे पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना 'सत्य' है। शंका- इसका भाषासमिति में अन्तर्भाव होता है? समाधान-यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि समिति के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला मुनि साधु और असाधु दोनों प्रकार के मनुष्यों में भाषाव्यवहार करता हुआ हितकारी परिमित वचन बोले, अन्यथा राग होने से अनर्थदण्ड का दोष लगता है, यह वचनसमिति का अभिप्राय है। किन्तु सत्य धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला मुनि सज्जन पुरुष, दीक्षित या उनके भक्तों में साधु सत्य वचन बोलता हुआ भी ज्ञान-चारित्र के शिक्षण आदि के निमित्त से बहुविध कर्तव्यों की सूचना देता है और यह सब धर्म की अभिवृद्धि के अभिप्राय से करता है, इसलिए सत्य धर्म का भाषासमिति में अन्तर्भाव नहीं होता।

○ हिंसा-दोषमुक्त आहार का ग्रहण (एषणा समिति)

{975}

द्विचत्वारिंशद्-भिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम्।
मुनिर्यदन्नमादत्ते, सैषणा-समितिर्मता॥

(है. योग. 1/38)

मुनि हमेशा भिक्षा के 42 दोषों से रहित जो आहार-पानी ग्रहण करता है, उसे 'एषणा-समिति' कहते हैं।

{976}

से भिक्खू वा जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा पुढविक्कायपतिट्ठितं। तहप्पगारं असणं वा अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

से भिक्खू वा से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा आउकायपतिट्ठितं तह चेव। एवं अगणकायपतिट्ठितं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

केवली बूया-आयाणमेयं।

अस्संजए भिक्खुपडियाए अगणिं उस्सिक्किय णिस्सिक्किय ओहरिय आहट्ट दलएज्जा। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा। जाव णो पडिगाहेज्जा।

(आचा. 2/1/7/सू. 368)

गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी यदि यह जाने कि यह अशनादि चतुर्विध आहार-पृथ्वीकाय (सचित्त मिट्टी आदि) पर रखा हुआ है; तो इस प्रकार के आहार को अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर साधु-साध्वी ग्रहण न करे। वह भिक्षु या भिक्षुणी आदि..... यह जाने कि अशनादि आहार अप्काय (सचित्त जल आदि) पर रखा हुआ है, तो इस प्रकार के आहार को अप्रासुक व अनेषणीय जान कर ग्रहण न करे।वह भिक्षु या भिक्षुणी.... यह जाने कि अशनादि आहार अग्निकाय (आग या आंच) पर रखा हुआ है, तो आहार को अप्रासुक तथा अनेषणीय जान कर ग्रहण न करे।

केवली भगवान् कहते हैं- यह कर्मों के उपादान का कारण है; क्योंकि असंयत गृहस्थ साधु के उद्देश्य से- अग्नि जला कर, हवा देकर, विशेष प्रज्वलित करके या प्रज्वलित आग में इंधन निकाल कर, आग पर रखे हुए बर्तन को उतार कर, आहार लाकर दे देगा, इसीलिए तीर्थंकर भगवान् ने साधु-साध्वी के लिए पहले से बताया है, यही उनकी प्रतिज्ञा है, यही हेतु है, यही कारण है और यही उपदेश है कि वे सचित्त-पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पर प्रतिष्ठित आहार को अप्रासुक और अनेषणीय मान कर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करें।

{977}

से भिक्खु वा जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा- असणं वा अच्चुसिणं अस्संजए भिक्खु पडियाएं सूवेण वा विहुवणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पेहुणेण वा पेहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा फुमेज्ज वा वीएज्जा वा। से पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसोत्ति वा भगिणि त्ति वा मा एतं तुमं असणं वा अच्चुसिणं सूवेण वा जाव फुमाहि वा वीयाहि वा, अभिकंखसि मे दाउं एमेव दलयाहि। से सेवं वदंतस्स परो सूवेण वा जाव वीइत्ता आहट्ट दलएज्जा, तहप्पगारं असणं वा अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

से भिक्खु वा जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा वणस्सतिकायपतिट्ठितं। तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वणस्सतिकायपतिट्ठितं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। एवं तसकाए वि।

(आचा. 2/1/7/सू. 368)

गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी को यह ज्ञात हो जाए कि साधु को देने के लिए यह अत्यन्त उष्ण आहार असंयत गृहस्थ सूप-(छाजने) से, पंखे से ताड़ पत्र, खजूर आदि के पत्ते, शाखा या शाखा-खंड से, मोर के पंख से अथवा उससे बने हुए पंख से, वस्त्र से, या वस्त्र के पल्ले से, हाथ से या मुंह से, फूंक मार कर पंखे आदि से हवा करके ठंडा करके देने वाला है। वह पहले (देखते ही) विचार करे और उक्त गृहस्थ से कहे-आयुष्मन् गृहस्थ! या आयुष्मती भगिनी! तुम इस अत्यंत गर्म आहार को सूप, पंखे....हाथ-मुंह आदि से फूंक मत मारो और न ही हवा करके ठंडा करो। अगर तुम्हारी इच्छा इस आहार को देने की हो तो, ऐसे ही दे दो। इस पर भी वह गृहस्थ न माने और उस अत्युष्ण आहार को सूप, पंखे आदि से हवा दे कर ठंडा करके देने लगे तो उस आहार को अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यह जाने कि यह अशनादि चतुर्विध आहार वनस्पतिकाय (हरि सब्जी, पत्ते आदि) पर रखा हुआ है तो उस प्रकार के वनस्पतिकाय-प्रतिष्ठित आहार (चतुर्विध) को अप्रासुक और अनेषणीय जान कर प्राप्त होने पर भी न ले। इसी प्रकार त्रसकाय से प्रतिष्ठित आहार हो तो..... उसे भी अप्रासुक एवं अनेषणीय मान कर ग्रहण न करे।

{978}

इमं च णं सव्वजगजीव-रक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चा-भावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं णेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाण वि उसमणं।

(प्रश्न. 2/1/सू.112)

(अहिंसा की आराधना के लिए शुद्ध-निर्दोष भिक्षा आदि के ग्रहण का प्रतिपादक) यह प्रवचन श्रमण भगवान् महावीर ने जगत् के समस्त जीवों की रक्षा-दया के लिए समीचीन रूप में कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकर है, परलोक-आगामी जन्मों में शुद्ध फल के रूप में परिणत होने से भाविक है तथा भविष्यत् काल में भी कल्याणकर है। यह भगवत्प्रवचन शुद्ध-निर्दोष है और दोषों से मुक्त रखने वाला है, न्याययुक्त है- तर्कसंगत है और किसी के प्रति अन्यायकारी नहीं है, अकुटिल है अर्थात् मुक्तिप्राप्ति का सरल-सीधा मार्ग है, यह अनुत्तर- सर्वोत्तम है तथा समस्त दुःखों और पापों को उपशान्त करने वाला है।

{979}

इमं च पुढविदग-अगणि-मारुय-तरुगण-तस-थावर-सव्वभूयसंजमदयट्ठयाए सुद्धं उञ्छं गवेसियव्वं अकयमकारियमणाहूयमणुद्दिट्ठं अकीयकडं णवहि य कोडिहिं सुपरिसुद्धं, दसहि य दोसेहिं विप्पमुक्कं, उग्गम-उप्पायणेसणासुद्धं ववगयचुयचावियत्तदेहं च फासुयं च... भिक्खं गवेसियव्वं।

(प्रश्न. 2/1/सू.110)

अहिंसा का पालन करने के लिए उद्यत साधु को पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय-इन स्थावर और (द्वीन्द्रिय आदि) त्रस, इस प्रकार सभी प्राणियों के प्रति संयमरूप दया के लिए शुद्ध-निर्दोष भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए। जो आहार साधु के लिए नहीं बनाया गया हो, दूसरे से नहीं बनवाया गया हो, जो अनाहूत हो अर्थात् गृहस्थ द्वारा निमंत्रण देकर या पुनः बुलाकर न दिया गया हो, जो अनुद्दिष्ट हो-साधु के निमित्त तैयार न किया गया हो, साधु के उद्देश्य से खरीदा नहीं गया हो, जो नव कोटियों से विशुद्ध हो, शंकित आदि दश दोषों से सर्वथा रहित हो, जो उद्गम के सोलह, उत्पादना के सोलह और एषणा के दस (कुल 42) दोषों से रहित हो, जिस देय वस्तु में से आगन्तुक जीव-जन्तु स्वतः पृथक् हो गए हों, वनस्पतिकायिक आदि जीव स्वतः या परतः-किसी के द्वारा च्युत-मृत हो गए हों, या दाता द्वारा दूर करा दिए गए हों अथवा दाता ने स्वयं दूर कर दिए हों, इस प्रकार जो भिक्षा अचित्त हो, जो शुद्ध अर्थात् भिक्षा-सम्बन्धी अन्य दोषों से रहित हो, ऐसी भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए।

{980}

पिण्डशुद्धिविधानेन शरीरस्थितये तु यत्।
आहारग्रहणं सा स्यादेषणासमितिर्यतेः॥

(ह. पु. 2/124)

शरीर की स्थिरता के लिए पिण्डशुद्धिपूर्वक मुनि का जो आहार ग्रहण करना है, वह 'एषणा समिति' कहलाती है। (10)

{981}

गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहि-सेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥

(उत्त. 24/11)

गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा से आहार, उपधि और शय्या (में सम्भावित दोषों) का परिशोधन करे।

{982}

उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयंमि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई॥

(उत्त. 24/12)

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला यति प्रथम एषणा (आहारादि की गवेषणा) में उद्गम और उत्पादन दोषों का शोधन करे। दूसरी एषणा (ग्रहणैषणा) में आहारादि ग्रहण करने से सम्बन्धित दोषों का शोधन करे। परिभोगैषणा में दोष-चतुष्क का शोधन करे।

{983}

आरंभे जीववहो अप्पासुगसेवणे य अणुमोदो।
आरंभादीसु मणो णाणरदीए विणा चरइ॥

(भग. आ. 814)

पृथिवी आदि के विषय में जो खोदना आदि व्यापार किया जाता है उसे 'आरम्भ' कहते हैं। उसके करने पर पृथिवी आदि में रहने वाले जीवों का घात होता है। उद्गम आदि दोषों-से युक्त आहार ग्रहण करने पर जीव-समूह के वध की अनुमोदना होती है, ज्ञान में लीनता न होने पर आरम्भ और कषाय में मन की प्रवृत्ति होती है।

{984}

से भिक्खू जं पुण जाणेज्जा असणं वा अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छेजं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टुद्देसिय चेतियं सिता तं णो सयं भुंजई, णो वऽन्नेणं भुंजावेति, अन्नं पि भुंजंतं ण समणुजाणई, इति से महता आदाणातो उवसंते उवट्ठिते पडिविरते से भिक्खू।

(सू.कृ. 2/1/ सू. 687)

यदि वह भिक्षु यह जान जाए कि अमुक श्रावक ने किसी निष्परिग्रह साधर्मिक साधु को दान देने के उद्देश्य से प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का आरम्भ करके आहार बनाया है, अथवा खरीदा है, या किसी से उधार लिया है, अथवा बलात् छीन कर (अपहरण करके) लिया है, अथवा उसके स्वामी से पूछे बिना ही ले लिया (उसके स्वामित्व का नहीं) है, अथवा साधु के सम्मुख लाया हुआ है, अथवा साधु के निमित्त से बनाया हुआ है, तो ऐसा सदोष आहार वह न ले। कदाचित् भूल से ऐसा सदोष आहार ले लिया हो तो स्वयं उसका सेवन न करे, दूसरे साधुओं को भी वह आहार न खिलाए, और न ऐसा सदोष आहार-सेवन करने वाले को अच्छा समझे। इस प्रकार के सदोष आहार के त्याग से वह भिक्षु महान् कर्मों के बंधन से दूर रहता है, वह शुद्ध संयम पालन में उद्यत और पाप कर्मों से विरत रहता है।

{985}

भूयाइं समारंभ साधू उद्दिस्स जं कडं।
तारिसं तु ण गेण्हेज्जा अण्णपाणं सुसंजए॥

(सू.कृ. 1/11/14)

जीवों का समारंभ कर साधु के उद्देश्य से जो बनाया गया हो, वैसे अन्न-पान को सुसंयमी मुनि ग्रहण न करे।

कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावती बूया- आउसंतो समणा! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेतेमि आवसहं वा समुस्सिणामि, से भुंजह वसह आउसंतो समणा!।

तं भिक्खू गाहावतिं समणसं सवयसं पडियाइक्खे- आउसंतो गाहावती! णो खलु ते वयणं आढामि, णो खलु ते वयणं परिजाणामि, जो तुमं मम अट्ठाए असणं वा वत्थं वा पाणाइं समारंभ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेतेसि आवसहं वा समुस्सिणासि। से विरतो आउसो गाहावती! एतस्स अकरणयाए।

(आचा. 1/8/2 सू. 204)

वह भिक्षु कहीं भी विहार कर रहा हो, उस समय कोई गृहपति उस भिक्षु के पास आकर कहे- आयुष्मान् श्रमण! मैं आपके लिए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पाद-प्रोंछन, प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ (उपमर्दन) करके उद्देश्य से बना रहा हूं या (आपके लिए) खरीद कर, उधार लेकर, किसी से छीन कर, दूसरे की वस्तु को उसकी बिना अनुमति के लाकर, या घर से लाकर आपको देता हूं अथवा आपके लिए उपाश्रय (आवसथ) बनवा देता हूं। हे आयुष्मान् श्रमण! आप इस (अशन आदि) का उपभोग करें और (उस उपाश्रय में) रहें।

भिक्षु उस सुमनस् (भद्रहृदय) एवं सुवयस (भद्र वचन वाले) गृहपति को निषेध के स्वर से कहे- आयुष्मान् गृहपति! मैं तुम्हारे इस वचन को आदर नहीं देता, न ही तुम्हारे वचन को स्वीकार करता हूं, जो तुम प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का समारम्भ करके मेरे लिए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पाद-प्रोंछन बना रहे हो, या मेरे ही उद्देश्य से उसे खरीद कर, उधार लेकर, दूसरों से छीन कर, दूसरे की वस्तु उसकी अनुमति के बिना ला कर अथवा अपने घर से यहां लाकर मुझे देना चाहते हो, मेरे लिए उपाश्रय बनवाना चाहते हो। हे आयुष्मान् गृहस्थ! मैं (इस प्रकार के सावद्य कार्य से सर्वथा) विरत हो चुका हूं। यह (तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत बात)(मेरे लिए)अकरणीय होने से, (मैं स्वीकार नहीं कर सकता)।

{987}

विवत्ती बंभचेरस्स पाणाणं च वहे वहो।
वणीमागपडिग्घाओ पडिकोहो य अगारिणं॥ (57)

(दशवै. 6/320)

(गृहस्थ के घर में बैठने से) ब्रह्मचर्य-व्रत के खंडित होने की सम्भावना रहती है और प्राणियों का वध होने से संयम का घात हो जाता है और भिक्षाचरों को अन्तराय और घर वालों को क्रोध उत्पन्न होता है। (अत: साधु को चाहिए की वह गृहस्थ के घर में अधिक न बैठे।) (57)

{988}

जो भुंजदि आधाकम्मं छज्जीवाणं घायणं किच्चा।
अबुहो लोल सजिब्भो ण वि समणो सावओ होज्ज॥

(मूला. 10/929)

जो षट्काय के जीवों का घात करके अध:कर्म से बना आहार लेता है वह अज्ञानी, लोभी, जिह्वेन्द्रिय का वशीभूत श्रमण 'श्रमण' नहीं रह जाता, वह तो श्रावक हो जाता है।

{989}

एक्को वावि तयो वा सीहो वग्घो मयो व खादिज्जो।
जदि खादेज्ज स णीचो जीवयरासिं णिहंतूण॥

(मूला. 10/922)

सिंह अथवा व्याघ्र एक, दो या तीन मृग को खावे तो हिंस्र है, और उसी प्रकार यदि साधु जीव-राशि का घात करके आहार लेवे, तो वह नीच है।

{990}

अपरिमियणाणदंसणधरेहिं सील-गुण-वियण-तव- संजमणायगेहिं तित्थयरेहिं सव्वजगज्जीव- बच्छलेहिं तिलोयमहिएहिं जिणवरिंदेहिं एस जोणी जंगमाणं दिट्ठा। ण कप्पइ जोणिसमुच्छेओ त्ति तेण वज्जंति समणसीहा।

(प्रश्न. 2/5/सू. 156)

अपरिमित-अनन्त ज्ञान और दर्शन के धारक, शील-चित्त की शान्ति, गुण-अहिंसा आदि, विनय, तप और संयम के नायक, जगत् के समस्त प्राणियों पर वात्सल्य धारण करने वाले, त्रिलोक-पूजनीय, तीर्थंकर जिनेन्द्र देवों ने अपने केवलज्ञान से देखा है कि ये पुष्प, फल आदि त्रस जीवों की योनि-उत्पत्तिस्थान हैं। योनि का उच्छेद-विनाश करना योग्य नहीं है। इसी कारण श्रमणसिंह-उत्तम मुनि पुष्प, फल आदि का परिवर्जन करते हैं।

{991}

पुत्तं पि ता समारंभ आहारट्ठं असंजए।
भुंजमाणो वि मेहावी कम्मुणा णोवलिप्पते॥
मणसा जे पउस्संति चित्तं तेसिं ण विज्जइ।
अणवज्जं अतहं तेसिं ण ते संवुडचारिणो॥
इच्चेयाहिं दिट्ठीहिं सायागारवणिस्सिया।
सरणं ति मण्णमाणा सेवंती पावगं जणा॥

(सू. कृ. 1/1/2/55-57)

(1) असंयमी गृहस्थ भिक्षु के भोजन के लिए पुत्र (सूअर या बकरे) को मार कर मांस पकाता है, मेधावी भिक्षु उसे खाता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता।

(2) जो मन से प्रद्वेष करते हैं- निर्घृण होते हैं उनके कुशल-चित्त नहीं होता। (केवल काय-व्यापार से) कर्मोपचय नहीं होता।

पूर्वोक्त दोनों सिद्धान्त तथ्यपूर्ण नहीं हैं। उक्त सिद्धांतों का प्रतिपादन करने वाले संवृतचारी नहीं होते- कर्म-बंध के हेतुओं में प्रवृत्त रहते हैं।

इन दृष्टियों (मतों) को स्वीकार कर वे वादी शारीरिक सुख में आसक्त हो जाते हैं। वे अपने मत को शरण मानते हुए सामान्य व्यक्ति की भांति पाप का ही सेवन करते हैं।

O जीव-रक्षा का ध्यान: आदान निक्षेपण व उत्सर्ग समिति

{992}

सुहुमा हु संति पाणा दुप्पेक्खा अक्खिणो अगेज्झा हु।
तह्मा जीवदयाए पडिलिहणं धारए भिक्खू॥

(मूला. 10/913)

बहुत से प्राणी सूक्ष्म होने से दिखते नहीं हैं क्योंकि वे चक्षु से भी ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। इसलिए भिक्षु को चाहिए कि वह जीवदया के लिए 'प्रतिलेखन' धारण करे।

{993}

उच्चारं पस्सवणं णिसि सुत्तो उट्ठिदो हु काऊण।
अप्पडिलिहिय सुवंतो जीववहं कुणदि णियदं तु॥

(मूला. 10/914)

जो रात में सोने से उठ कर मल-मूत्र विसर्जन करके प्रतिलेखन किये बिना सो जाता है, वह साधु निश्चित ही जीववध करता है।

{994}

आसनादीनि संवीक्ष्य, प्रतिलिख्य च यत्नतः।
गृह्णीयान् निक्षिपेद्वा यत् साऽदानसमितिः स्मृता॥

(है. योग. 1/39)

आसनादि को दृष्टि से भलीभांति देख कर और रजोहरण आदि से प्रमार्जन कर यतनापूर्वक लेना अथवा रखना-'आदान निक्षेपण' समिति कहलाती है।

{995}

ओहोवहोवग्गहियं भण्डगं दुविहं मुणी।
गिण्हन्तो निक्खिवन्तो य पउंजेज्ज इमं विहिं॥

(उत्त. 24/13)

मुनि ओघ-उपधि (सामान्य उपकरण) और औपग्रहिक उपधि (विशेष उपकरण)- दोनों प्रकार के उपकरणों को लेने और रखने में इस विधि (सावधानी) का प्रयोग करे।

{996}

चक्खुसा पडिलेहित्ता पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा दुहओ वि समिए सया॥

(उत्त. 24/14)

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला यति दोनों प्रकार के उपकरणों को आंखों से प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके ले और रखे।

{997}

पंचमं आयाणणिक्खेवणसमिई-पीढ-फलग-सिज्जा-संथारग-वत्थ-पत्त-कंबल-दंडग-रय-हरण-चोलपट्टग-मुहपोत्तिय-पायपुंछणाई एयं पि संजमस्स उवबूहणट्टयाए वायातव-दंसमसग-सीयपरिकखणट्टयार उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं संजमेणं णिच्चं पडिलेहण-पप्फोडण-पमज्जणयाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सययं णिक्खियव्वं च गिण्हियव्वं च भायणभंडोवहिउवगरणं एवं आयाणभंडणिक्खेवणासमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठणिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू।

(प्रश्न. 2/1/सू.117)

अहिंसा महाव्रत की पांचवीं भावना आदान-निक्षेपणसमिति है। इस का स्वरूप इस प्रकार है-संयम के उपकरण पीठ-पीढ़ा, चौकी, फलक पाट, शय्या-सोने का आसन, संस्तारक-घास का बिछौना, वस्त्र, पात्र, कम्बल, दण्ड, रजोहरण, चोलपट्ट, मुखवस्त्रिका, पादप्रोंछन-पैर पौंछने का वस्त्रखण्ड, इन्हें अथवा इनके अतिरिक्त उपकरणों को संयम की रक्षा या वृद्धि के उद्देश्य से तथा पवन, धूप, डांस, मच्छर और शीत आदि के शरीर की रक्षा के लिए धारण-ग्रहण करना चाहिए। (शोभावृद्धि आदि किसी अन्य प्रयोजन से नहीं)। साधु सदैव इन उपकरणों के प्रतिलेखन, प्रस्फोटन-झटकारने और प्रमार्जन करने में, दिन में और रात्रि में सतत अप्रमत्त रहे और भाजन-पात्र, भाण्ड-मिट्टी के बरतन, उपधि-वस्त्र तथा अन्य उपकरणों को यतनापूर्वक रक्खे या उठाए।

इस प्रकार आदान-निक्षेपणसमिति के योग से भावित अन्तरात्मा-अन्तःकरण वाला साधु निर्मल, असंक्लिष्ट तथा अखण्ड-निरतिचार चारित्र की भावना से युक्त अहिंसक संयमशील सुसाधु होता है अथवा ऐसा सुसाधु ही अहिंसक होता है।

{998}

कफ-मूत्र-मलप्रायं, निर्जन्तु-जगतीतले।
यत्नाद् यदुत्सृजेत् साधुः सोत्सर्गसमितिर्भवेत्॥

(है. योग. 1/40)

साधु कफ, मल, मूत्र आदि परिष्ठापन करने (डालने या फैंकने) योग्य पदार्थों को जीव-जंतु-रहित जमीन पर यतना विधि पूर्वक जो त्याग (परिष्ठापन) करते हैं, वह 'उत्सर्ग-समिति' है।

{999}

उच्चारं पासवणं खेलं सिंघाण-जल्लियं।
आहारं उवहिं देहं अन्नं वावि तहाविहं॥
अणावायमसंलोए अणावाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए आवाए चेय संलोए॥

(उत्त. 24/15-16)

उच्चार-मल, प्रस्रवण- मूत्र, श्लेष्म- कफ, सिंघानक-नाक का मैल, जल्ल-शरीर का मैल, आहार, उपधि-उपकरण, शरीर तथा अन्य कोई विसर्जन-योग्य वस्तु का विवेक-पूर्वक स्थण्डिल भूमि में उत्सर्ग करना चाहिए। (1) अनापात असंलोक -जहां लोगों का आवागमन न हो, और वे दूर से भी दीखते हों। (2)अनापात संलोक- लोगों का आवागमन न हो, किन्तु लोग दूर से दीखते हों। (3)आपात असंलोक- लोगों का आवागमन हो, किन्तु वे दीखते न हों। (4) आपात संलोक- लोगों का आवागमन हो और वे दिखाई भी देते हों। इस प्रकार स्थण्डिल भूमि चार प्रकार की होती है।

{1000}

निक्षेपणं यदादानमीक्षित्वा योग्यवस्तुनः।
समितिः सा तु विज्ञेया निक्षेपादाननामिका॥

(ह. पु. 2/125)

देखकर योग्य वस्तु का रखना और उठाना- 'आदाननिक्षेपण समिति' है।

{1001}

शरीरान्तर्मलत्यागः प्रगतासु सुभूमिषु।
यत्तत्समितिरेषा तु प्रतिष्ठापनिका मता॥

(ह. पु. 2/126)

प्रासुक भूमि पर शरीर का मल छोड़ना- 'प्रतिष्ठापन समिति' है।

{1002}

हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिरिति दृष्टा जिनागमे, प्राणिप्राणवियोजनं, अदत्तादानं, मिथुनकर्म शरीरेण, परिग्रहादानमित्यादिका या विशिष्टा क्रिया सेह कायशब्देनोच्यते। कायिकोपकृतेर्गुप्तिर्व्यावृत्तिः काय-गुप्तिरिति व्याख्यातं सूरिणा।

(भग. आ. विजयो. 1182)

हिंसा आदि से निवृत्ति को 'कायगुप्ति' कहा है। यहां 'काय' शब्द से प्राणियों के प्राणों का घात, बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण, शरीर से मैथुन कर्म और परिग्रह का ग्रहण इत्यादि विशिष्ट क्रिया कही गई है। कायिक क्रियाओं से गुप्ति अर्थात् व्यावृत्ति ही काय-गुप्ति है- ऐसा आचार्य ने व्याख्यान किया है।

{1003}

शयनासन-निक्षेपादान-चंक्रमणेषु यः।
स्थानेषु चेष्टानियमः कायगुप्तिस्तु साऽपरा॥

(है. योग. 1/44)

(जिनसे किसी जीव की हिंसा सम्भव हो, ऐसी) सोने, बैठने, रखने, लेने और चलने आदि की क्रियाओं या चेष्टाओं पर नियंत्रण (नियमन) रखना व स्वच्छंद प्रवृत्ति का त्याग करना, दूसरे प्रकार की 'कायगुप्ति' है।

{1004}

विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्माद्या व्यावृत्तिः सा वाग्गुप्तिः।

(भग. आ. विजयो. 1181)

विपरीत अर्थ की प्रतिपत्ति में कारण होने से दूसरों को दुःख की उत्पत्ति में निमित्त होने से जो वचन अधर्ममय है, उससे निवृत्ति ही 'वचन गुप्ति' है।

{1005}

संज्ञादि-परिहारेण यन्मौनस्यावलम्बनम्।
वाग्वृत्ते: संवृतिर्वा या सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते॥

(है. योग. 1/42)

संज्ञादि (इशारे आदि) का त्याग करके मौन का आलम्बन करना अथवा वचन की प्रवृत्तियों को रोकना या सम्यक् वचन की ही प्रवृत्ति करना 'वचनगुप्ति' कहलाती है।

{1006}

विमुक्तकल्पनाजालं समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।
आत्मारामं मनस्तज्ज्ञैर्मनोगुप्तिरुदाहृता॥

(है. योग. 1/41)

मन की कल्पना-जाल से मुक्ति, समभाव में स्थिरता और आत्मस्वरूप के चिन्तन में रमणता के रूप में रक्षा करना- इसे पंडित पुरुषों ने 'मनोगुप्ति' कहा है।

{1007}

जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्तिं।

(भग. आ. 1181)

मन की जो रागादि से निवृत्ति है, उसे 'मनोगुप्ति' जानो।

O वाग्गुप्ति और भाषा समिति में अन्तर

{1008}

व्यलीकात्परुषादात्मप्रशंसापरात् परनिन्दाप्रवृत्तात्परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथाभूतस्य वचसोऽप्रवर्तिका वाग्गुप्तिः। यां वाचं प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणं वाग्गुप्तिरित्यत्र तेन वाग्विशेषस्यानुत्पादकता वाचः परिहारो वाग्गुप्तिः। मौनं वा सकलाया वाचो या परिहृतिः सा वाग्गुप्तिः। अयोग्यवचनेऽप्रवृत्तिः प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति वा न वा। भाषासमितिस्तु योग्यवचसः कर्तृता, ततो महान्भेदो गुप्तिसमित्योः। मौनं वाग्गुप्तिरत्र स्फुटतरो वचोभेदः। योग्यस्य वचसः प्रवर्तकता। वाचः कस्याश्चित्तदनुत्पादकतेति॥

(भग. आ. विजयो. 1181)

मिथ्या, कठोर, अपनी प्रशंसा और पर की निन्दा करने वाले तथा दूसरों में उपद्रव कराने वाले वचन से आत्मघाती निवृत्ति, जो इस प्रकार के वचनों की प्रवृत्ति को रोकती है, वह 'वचन गुप्ति' है। 'वचन गुप्ति' में वचन शब्द से जिस वचन को सुन कर प्रवृत्ति करता हुआ आत्मा अशुभ कर्म करता है उस वचन का ग्रहण है। अत: वचन-विशेष को उत्पन्न न करना वचन का परिहार है और वही 'वचन गुप्ति' है। अथवा समस्त प्रकार के वचनों का परिहार रूप मौन 'वचन गुप्ति' है। अयोग्य वचन में अप्रवृत्ति वचनगुप्ति है। प्रेक्षापूर्वकारी होने से वह योग्य वचन बोले या न बोले। किन्तु योग्य वचन बोलना- उनका कर्ता होना 'भाषासमिति' है। अत: गुप्ति और समितियों में महान् अन्तर है। मौन 'वचन गुप्ति' है- ऐसा कहने पर गुप्ति और समिति का भेद स्पष्ट हो जाता है। 'समिति' योग्य वचन में प्रवृत्ति कराती है, और 'गुप्ति' किसी वचन की उत्पादक नहीं है।

{1009}

अनृतपरुषकर्कशमिथ्यात्वासंयमनिमित्तवचनानां अवक्तृता वाग्गुप्ति:।........ प्राणिपीडापरिहारादरवत: सम्यगयनं प्रवृत्ति: समिति:।

(भग. आ. विजयो. 114)

असत्य, कठोर और कर्कश वचनों को तथा मिथ्यात्व और असंयम में निमित्त होने वाले वचनों को न बोलना 'वचनगुप्ति' है।

प्राणियों को पीड़ा न हो, इस भाव से सम्यक् रूप से प्रवृत्ति करना 'समिति' है।

○ वाणीकृत हिंसा से बचने का प्रमुख उपाय: मौन

{1010}

से भिक्खू वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिपहिया आगच्छेज्जा, से णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा- आउसंतो समणा! अवियाइं एत्तो पडिपहे पासह मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा पसुं वा पक्खिं वा सरीसवं वा जलचरं वा, से त्तं मे आइक्खह, दंसेह। तं णो आइक्खेज्जा, णो दंसेज्जा, णो तस्स तं परिजाणेज्जा, तुसिणीए उवेहेज्जा, जाणं वा णो जाणं ति वदेज्जा। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा। (510)

(आचा. 2/3/3 सू. 510)

संयमशील साधु या साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करते हुए रास्ते में सामने से कुछ पथिक निकट आ जाएं और वे यों पूछें- "आयुष्मन् श्रमण! क्या आपने इस मार्ग में किसी

मनुष्य को, मृग को, भैंसे को , पशु या पक्षी को, सर्प को या किसी जलचर जन्तु को जाते हुए देखा है? यदि देखा हो तो हमें बतलाएं कि वे किस ओर गए हैं, हमें दिखाओ।" ऐसा कहने पर साधु न तो उन्हें कुछ बतलाए, न मार्गदर्शन करे, न ही उनकी बात को स्वीकार करे, बल्कि कोई उत्तर न देकर उदासीनता-पूर्वक मौन रहे। अथवा जानता हुआ भी (उपेक्षा भाव से) मैं नहीं जानता, ऐसा कहे। फिर यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करे। (510)

{1011}

ते णं आमोसगा सयं करणिज्जं ति कट्टु अक्कोसंति वा जाव उद्दवेंति वा, वत्थं वा अच्छिदेज्ज वा जाव परिट्ठवेज्ज वा, तं णो गामसंसारियं कुज्जा, णो रायसंसारियं कुज्जा, णो परं उवसंकमित्तु बूया- आउसंतो गाहावती! एते खलु आमोसगा उवकरण-पडियाए सयं करणिज्जं ति कट्टु अक्कोसंति वा जाव परिट्ठवेंति वा। एतप्पगारं मणं वा वइं वा णो पुरतो कट्टु विहरेज्जा।अप्पुस्सुए जाव समाहीए ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

(आचा. 2/3/3 सू. 518)

यदि चोर परिस्थिति-अनुसार तथा अपने स्वभावानुरूप अपना (चौर्य) कर्म करते हुए साधु को गाली-गलौज करें, अपशब्द कहें, मारें-पीटें, हैरान करें, यहां तक कि उसका वध करने का प्रयत्न करें, और उसके वस्त्रादि को फाड़ डालें, तोड़फोड़ कर दूर फेंक दें, तो भी वह साधु ग्राम में जाकर लोगों से उस बात को न कहे, न ही राजा या सरकार के आगे फरियाद करे, न ही किसी गृहस्थ के पास जाकर कहे कि 'आयुष्मान् गृहस्थ! इन चोरों (लुटेरों) ने हमारे उपकरण छीनने के लिए अथवा करणीय कृत्य जान कर हमें कोसा है, मारा-पीटा है, हमें हैरान किया है, हमारे उपकरणादि नष्ट करके दूर फेंक दिये हैं।' ऐसे कुविचारों को साधु मन में भी न लाए और न वचन से व्यक्त करे। किन्तु निर्भय, निर्द्वन्द्व और अनासक्त होकर आत्म-भाव में लीन होकर शरीर और उपकरणों का व्युत्सर्ग कर दे और राग-द्वेष रहित होकर समाधिभाव में विचरण करे।

{1012}

स्वपरहितमेव मुनिभिर्मितममृतसमं सदैव सत्यं च।
वक्तव्यं वचनमथ प्रविधेयं धीधनं मौनम्॥

(पद्म. पं. 1/91)

मुनियों को चाहिए कि वे स्वपरहितकारी, अमृत-तुल्य सत्य का ही सदा भाषण करें या फिर बुद्धि-रूपी धन को धारण कर 'मौन' ही रहें।

{1013}

मौनमेव हितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये।
वचो वाति प्रियं तथ्यं सर्वसत्त्वोपकारि यत्।।

(ज्ञा. 9/6/536)

पुरुषों के लिए प्रथम तो समस्त प्रयोजनों को सिद्ध करने वाले मौन का ही निरंतर अवलंबन करना हितकारी है, और यदि वचन कहना ही पड़े तो ऐसा कहना चाहिये कि जो सब को अत्यन्त प्यारा हो, सत्य हो और समस्त जनों का हित करने वाला हो।

{1014}

सोच्चाणं फरुसा भासा दारुणा गाम-कण्टगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा न ताओ मणसीकरे॥

(उत्त. 2/25)

दारुण (असह्य), ग्रामकण्टक-कांटे की तरह चुभने वाली कठोर भाषा को सुन कर भिक्षु मौन रहे, उपेक्षा करे, उसे मन में भी न लाए।

○ जीव-हिंसापूर्ण रात्रिभोजन से विरति

{1015}

अहो निच्चं तवोकम्मं सव्वबुद्धेहिं वण्णियं।
जा य लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोयणं॥ (22)
संतिमे सुहुमा पाणा तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे?॥ (23)
उदओल्लं बीअसंसत्तं पाणा निव्वडिया महिं।
दिया ताइं विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कहं चरे?॥ (24)
एयं च दोसं दट्ठूणं नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं॥ (25)

(दशवै. 6/285-288)

अहो! समस्त तीर्थंकरों (बुद्धों) ने (देह-पालन के लिए) संयम (लज्जा) के अनुकूल (सम) वृत्ति और एक बार भोजन (अथवा दिन में ही रागद्वेष रहित होकर आहार करना), इस नित्य (दैनिक) तप: कर्म का उपदेश दिया है। (22)

ये जो त्रस और स्थावर अतिसूक्ष्म प्राणी हैं, जिन्हें (साधुवर्ग) रात्रि में नहीं देख पाता, तब (आहार की) एषणा कैसे कर सकता है?। (23)

उदक से आर्द्र (सचित्त जल से भीगे हुए). बीजों से संसक्त (संस्पृष्ट) आहार को तथा पृथ्वी पर पड़े हुए प्राणियों को दिन में बचाया जा सकता है, (रात्रि में नहीं), तब फिर रात्रि में निर्ग्रन्थ भिक्षाचर्या कैसे कर सकता है?। (24)

ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने इसी (हिंसात्मक) दोष को देख कर कहा- निर्ग्रन्थ (साधु या साध्वी) रात्रिभोजन नहीं करते। (वे रात्रि में) सब (चारों) प्रकार के आहार का सेवन नहीं करते। (25)

O जीव-मात्र के रक्षकः जैन श्रमण

{1016}

उड्ढमहे तिरियं दिसासु जे पाणा तस थावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा संति णिव्वाणमाहितं॥

(सू.कृ. 1/8/19)

ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में जो कोई त्रस और स्थावर प्राणी हैं, सब अवस्थाओं में उनकी हिंसा से विरत रहे। (विरति ही) शांति है और शांति ही निर्वाण है।

{1017}

संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं पावाओ अप्पाण णिवट्टएज्जा।
हिंसप्पसूताणि दुहाणि मत्ता वेराणुबंधीणि महब्भयाणि॥

(सू.कृ. 1/10/21)

मतिमान् मनुष्य समाधि को समझ कर तथा यह जानकर कि 'दुःख हिंसा से उत्पन्न होते हैं, वैर की परंपरा को बढ़ाते हैं और महा भयंकर हैं', अपने आपको पाप से बचाए।

{1018}

उड्ढं अहे तिरियं च जे केइ तसथावरा।
सव्वत्थ विरंतिं कुज्जा संति णिव्वाणमाहियं॥

(सू.कृ. 1/11/11)

ऊंचे, नीचे और तिरछे लोक में जो कोई त्रस और स्थावर प्राणी हैं, सब अवस्थाओं में उनकी हिंसा से विरत रहे। (विरति ही शांति है और) शांति ही निर्वाण है।

{1019}

उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु तसा य जे थावर जे य पाणा।
सया जए तेसु परिव्वएज्जा मणप्पओसं अविकप्पमाणे॥

(सू.कृ. 1/14/14)

ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं उनके प्रति सदा संयम रखता हुआ परिव्रजन करे, मानसिक प्रद्वेष से सम्बन्धित विकल्प न करे।

{1020}

पुढवीजीवा पुढो सत्ता आउजीवा तहागणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता तण रुक्खा सबीयगा॥
अहावरे तसा पाणा एवं छक्काय आहिया।
इत्ताव एव जीवकाए णावरे विज्जती कए॥
सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं मइमं पडिलेहिया।
सव्वे अकंतदुक्खा य अतो सव्वे अहिंसया॥

(सू.कृ. 1/11/7-9)

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और बीज पर्यन्त तृण और वृक्ष- ये सब जीव पृथक् सत्त्व (स्वतंत्र अस्तित्व) वाले हैं। इनके अतिरिक्त त्रस जीव हैं। इस प्रकार छह जीवकाय बतलाए गए हैं। जीव-काय इतने ही हैं। इनसे अतिरिक्त कोई जीव-काय नहीं है। मतिमान् मनुष्य सभी अनुयुक्तियों से जीवों की पर्यालोचना करे। सब जीवों को दुःख अप्रिय हैं, इसलिए किसी की भी हिंसा न करे।

{1021}

पुढवि-दग-अगणि-मारुय-तण-रुक्ख सबीयगा।
तसा य पाणा जीव त्ति, इइ वुत्तं महेसिणा॥ (2)
तेसिं अच्छणजोएण निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा काय-वक्केण एवं भवइ संजए॥ (3)
पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिंदे, न संलिहे।
तिविहेण करण जोएण, संजए सुसमाहिए॥ (4)
सुद्धपुढवीए न निसिए ससरक्खम्मि य आसणे।
पमज्जित्तु निसीएज्जा जाइत्ता जस्स उग्गहं॥ (5)

(दशवै. 8/390-393)

पृथ्वी (-काय), अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय तथा तृण, वृक्ष और बीज (रूप वनस्पतिकाय) [अथवा बीजपर्यन्त तृण, वृक्ष] तथा त्रस प्राणी, ये जीव हैं, ऐसा महर्षि (महावीर) ने कहा है। (2)

(साधु या साध्वी को) उन (स्थावर-त्रस जीवों) के प्रति मन, वचन और काया से सदा अहिंसामय व्यापारपूर्वक ही रहना चाहिए। इस प्रकार (अहिंसक वृत्ति से रहने वाला ही) संयत (संयमी) होता है। (3)

सुसमाहित संयमी (साधु या साध्वी) तीन करण व तीन योग से (सचित्त) पृथ्वी, भित्ति (दरार), (सचित्त) शिला अथवा मिट्टी का, ढेले का स्वयं भेदन न करे और न उसे कुरेदे, (दूसरों से भेदन न कराए, न ही कुरेदाए तथा अन्य कोई इनका भेदन करता हो या कुरेदता हो तो उसका अनुमोदन मन-वचन-काया से न करे)। (4)

(साधु या साध्वी) शुद्ध (अशस्त्रपरिणत-सचित्त) पृथ्वी और सचित्त रज से संसृष्ट (भरे हुए) आसन पर न बैठे। (यदि बैठना हो तो) जिसकी वह भूमि हो, उससे आज्ञा (अवग्रह) मांग कर तथा उसका प्रमार्जन करके (उस अचित्त भूमि पर) बैठे। (5)

{1022}

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ तण रुक्ख बीया य तसा य पाणा। जे अंडया जे य जराउ पाणा संसेयया जे रसयाभिहाणा॥ एताइं कायाइं पवेइयाइं एतेसु जाणे पडिलेह सायं। एतेहि काएहि य आयदंडे पुणो-पुणो विप्परियासुवेति॥

(सू.कृ. 1/7/1-2)

पृथ्वी, जल, तेजस् (अग्नि), वायु, तृण, वृक्ष, बीज तथा त्रस प्राणी- जो अंडज, जरायुज, संस्वेदज और रसज- इन नाम वाले हैं। जीवों के ये निकाय कहे गए हैं। पुरुष! तू उनके विषय में जान और उनके सुख (दुःख) को देख। जो उन जीव-निकायों की हिंसा करता है, वह बार-बार विपर्यास (जन्म-मरण)को प्राप्त होता है।

{1023}

मेहावी णेव सयं छज्जीवणिकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं छज्जीवणिकायसत्थं सभारंभावेज्जा, णेवऽण्णे छज्जीवणिकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

जस्सेते छज्जीवणिकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

(आचा. 1/1/7 सू. 62)

मेधावी मनुष्य स्वयं षट्-जीवनिकाय का समारंभ न करे। दूसरों से उसका समारंभ न करवाए। उसका समारंभ करने वालों का अनुमोदन भी न करे।

जिसने 'षट्-जीव निकाय-शस्त्र' का प्रयोग भलीभांति समझ लिया, त्याग दिया है, वही परिज्ञातकर्मा मुनि कहलाता है। ऐसा मैं कहता हूं।

{1024}

तत्थ खलु भगवता छज्जीवणिकाया हेऊ पण्णत्ता, तंजहा-पुढविकाइया जाव तसकाइया, से जहानामए मम अस्सातं डंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आतोडिज्जमाणस्स वा जाव उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्कखणणमातमवि विहिंसक्कारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आतोडिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा तालिज्जमाणा वा जाव उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमातमवि विहिंसक्कारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति, एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा जाव ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासते समेच्च लोगं खेत्तण्णेहिं पवेदिते। एवं से भिक्खू विरते पाणातिवातातो जाव मिच्छादंसणसल्लातो।

(सू.कृ. 2/4/753, द्र. 2/1/सू. 679)

तीर्थंकर भगवान् ने षड् जीवनिकायों को (संयम-अनुष्ठान का) कारण बताया है। वे छह प्राणिसमूह इस प्रकार हैं- पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीव। जैसे कि किसी व्यक्ति द्वारा डंडे से, हड्डियों से, मुक्कों से, ढेले से या ठीकरे से मैं ताड़न किया जाऊं या पीड़ित (परेशान) किया जाऊं, यहां तक कि मेरा केवल एक रोम उखाड़ा जाए तो मैं हिंसाजनित दुःख, भय और असाता का अनुभव करता हूं, इसी तरह जानना चाहिए कि समस्त प्राणी यावत् सभी सत्त्व डंडे आदि से लेकर ठीकरे तक से मारे जाने पर एवं पीड़ित किए जाने पर, यहां तक कि एक रोम भी उखाड़े जाने पर हिंसाजनित दुःख और भय का अनुभव करते हैं। ऐसा जान कर समस्त प्राणियों यावत् सभी सत्त्वों को नहीं मारना चाहिए, यहां तक कि उन्हें पीड़ित (उपद्रवित) नहीं करना चाहिए। यह (अहिंसा) धर्म ही ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, तथा लोक के स्वभाव को सम्यक् जान कर खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ तीर्थंकर देवों द्वारा प्रतिपादित है। यह जान कर साधु प्राणातिपात से लकर मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह ही पापस्थानों से विरत होता है।

{1025}

पुढविकायं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया॥ (26)
पुढविकायं विहिंसंतो हिंसई तु तदस्सिए।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे॥ (27)
तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दोग्गइवड्ढणं।
पुढविकाय-समारंभं जावज्जीवाए वज्जए॥ (28)

(दशवै. 6/289-291)

श्रेष्ठ समाधि वाले संयमी (साधु-साध्वी) मन, वचन और काय- इस त्रिविध योग से और कृत, कारित एवं अनुमोदन- इस त्रिविध करण से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते। (26)

पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ (साधक) उसके आश्रित रहे हुए विविध प्रकार के चाक्षुष (नेत्रों से दिखाई देने वाले) और अचाक्षुष (नहीं दिखाई देने वाले) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है। (27)

इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर यावज्जीवन पृथ्वीकाय के समारम्भ का त्याग करे। (28)

{1026}

कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो हि चारित्रम्। रागादयश्च कर्मादाननिमित्तक्रियास्तथा अशुमनोवाक्कायक्रियाश्च कर्मादाननिमित्ताः। तथा षड्जीवनिकायबाधापरिहारमन्तरेण गमनम्। मिथ्यात्वेऽसंयमे वा प्रवर्तकं वचनं साक्षात्पारंपर्येण वा जीवबाधा-करणं भोजनं अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादाननिक्षेपौ शरीरमलोत्सर्गो जीवपीडाहेतुरेताः कर्मपरिग्रहनिमित्ताः क्रियाः। आसां परिवर्जनं चारित्रविनयः।

(भग. आ. विजयो. 302)

कर्मों के ग्रहण में निमित्त क्रियाओं के रोकने को 'चारित्र' कहते हैं। रागादि कर्मों को ग्रहण में निमित्त 'क्रिया' है। अशुभ मन, वचन और काय की क्रिया भी कर्मों के ग्रहण में निमित्त होती है। छहकाय के जीवसमूह को बाधा न पहुंचाये बिना गमन करना, मिथ्यात्व और असंयम में प्रवर्तक वचन बोलना, साक्षात् या परम्परा से जीवों को बाधा करने वाला भोजन करना, बिना देखे और बिना साफ किये वस्तुओं को ग्रहण करना और रखना, बिना देखी और बिना साफ की गई भूमि में मलमूत्र त्यागना- ये सब क्रियाएं जीवों को कष्ट पहुंचाने वाली हैं, अतः कर्मों के ग्रहण में निमित्त हैं। इनको त्यागना 'चारित्र विनय' है।

{1027}

उड्ढं अधं तिरियं दिसासु सव्वतो सव्वावंति च णं पाडियक्कं जीवेहिं कम्मसमारंभे णं। तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं एतेहिं काएहिं दंडं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं एतेहिं काएहिं दंडं समारभावेज्जा, णेवण्णे एतेहिं काएहिं दंडं समारभंते वि समणुजाणेज्जा। जे चऽण्णे एतेहिं काएहिं दंडं समारभंति तेसिं पि वयं लज्जामो।

तं परिण्णाय मेहावी तं वा दंडं अण्णं वा दंडं णो दंडभी दंडं समारभेज्जासि त्ति बेमि।

(आचा. 1/8/1 सू. 203)

ऊंची, नीची एवं तिरछी, सब दिशाओं (और विदिशाओं) में सब प्रकार से एकेन्द्रियादि जीवों में से प्रत्येक को लेकर (उपमर्दनरूप) कर्म-समारम्भ किया जाता है। मेधावी साधक उस (कर्मसमारम्भ) का परिज्ञान (विवेक) करके, स्वयं इन षट्जीवनिकायों के प्रति दण्ड समारम्भ न करे, न दूसरों से इन जीवनिकायों के प्रति दण्ड समारम्भ करवाए और न ही जीवनिकायों के प्रति दण्डसमारम्भ करने वालों का अनुमोदन करे। जो अन्य दूसरे (भिक्षु) इन जीवनिकायों के प्रति दण्डसमारम्भ करते हैं, उनके (उस जघन्य) कार्य से भी हम लज्जित होते हैं।

(दण्ड/हिंसा महान् अनर्थकारक है)- इसे दण्डभीरु मेधावी मुनि परिज्ञात करके उस (पूर्वोक्त जीव-हिंसा रूप) दण्ड का अथवा मृषावाद आदि किसी अन्य दण्ड का समारम्भ न करे। - ऐसा मैं कहता हूं।

{1028}

पुढवी-आउक्काए तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं।
पडिलेहणआउत्तो छण्हं आराहओ होइ॥

(उत्त. 27/31)

प्रतिलेखन में अप्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, तथा त्रसकाय-इन छहों कायों का आराधक-रक्षक होता है।

{1029}

पाणे य णाइवाएज्जा अदिण्णं पि य णातिए।
सातियं ण मुसं बूया एस धम्मे वुसीमओ॥

(सू.कृ. 1/8/20)

प्राणियों का अतिपात (वध) न करे, अदत्त भी न ले (चोरी न करें), कपट-सहित झूठ न बोले। यह मुनि का धर्म है।

{1030}

पुढवी आऊ अगणी वाऊ तण रुक्ख सबीयगा।
अंडया पोय जराऊ रस संसेय उब्भिया॥
एतेहिं छहिं काएहिं तं विज्जं! परिजाणिया।
मणसा कायवक्केणं णारंभी ण परिग्गही॥

(सू.कृ. 1/9/8-9)

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा तृण, वृक्ष और मूल से बीज तक वनस्पति के दस प्रकार तथा अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज और उद्भिज्ज- इन छहों जीव-निकायों को विद्वान् जाने और इनकी हिंसा न करे। मनसा, वाचा, कर्मणा आरम्भी (हिंसक) और परिग्रही न बने।

{1031}

छज्जीव सडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं।
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्त॥

(भा.पा. 132)

हे उत्कृष्ट धैर्य के धारक मुनिवर! तू मन, वचन, काय रूप भोगों से निरन्तर छह काय के जीवों पर दया कर, छह अनायतनों का परित्याग कर और अपूर्व आत्मभावना का चिन्तन कर।

{1032}

पडिलेहणं कुणन्तो मिहोकहं कुणइ जणवयकहं वा।
देइ वे पच्चक्खाणं वाएइ सयं पडिच्छइ वा॥
पुढवीआउक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाण।
पडिलेहणापमत्तो छण्हं पि विराहओ होइ॥

(उत्त. 27/29-30)

प्रतिलेखन करते समय जो मुनि परस्पर वार्तालाप करता है, जनपद की कथा करता है, प्रत्याख्यान करता है, दूसरों को पढ़ाता है अथवा स्वयं पढ़ता है, वह प्रतिलेखना में प्रमत्त मुनि पृथ्वी- काय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय-इन छहों कायों का विराधक-हिंसक होता है।

{1033}

पुढविं न खणे, न खणावए,
सीओदगं न पिए, न पियावए।
अगणिसत्थं जहा सुनिसियं,
तं न जले,न जलावए जे, स भिक्खू॥ (2)

(दशवै. 10/522)

जो (सचित्त) पृथ्वी को नहीं खोदता तथा दूसरों से नहीं खुदवाता, शीत (सचित्त) जल नहीं पीता और न पिलाता है, (खड्ग आदि) शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है, वह भिक्षु है। (2)

{1034}

पुढवी वि जीवा आऊ वि जीवा पाणा य संपातिम संपयंति।
संसेदया कट्ठसमस्सिता य एते दहे अगणि समारभंते॥

(सू.कृ. 1/7/7)

पृथ्वी भी जीव हैं। पानी भी जीव है। उड़ने वाले जीव आकर गिरते हैं। संस्वेदज भी जीव हैं। अग्नि का समारंभ करने वाला इन सब जीवों को जलाता है।

लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेण उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति।

तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता-इमस्स चेव जीवितस्स परिवंदण-माणण- पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव उदयसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा उदयसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा उदयसत्थं समरंभंते समणुजाणति।

तं से अहिताए तं से अबोधीए।

से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं इहमेगेसिं णातं भवति- एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए।

इच्चत्थं गढिए, लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहंसति।

से बेमि-संति पाणा उदयणिस्सिया जीवा अणेगा।

इहं च खलु भो अणगाराणं उदय-जीवा वियाहिया। सत्थं चेत्थ अणुवीयि पास। पुढो सत्थं पवेदितं। अदुवा अदिण्णादाणं।

(आचा. 1/1/2/सू. 23-26)

तू देख! सच्चे साधक हिंसा (अप्काय की) करने में लज्जा अनुभव करते हैं। और उनको भी देख, जो अपने आपको 'अनगार' घोषित करते हैं, वे विविध प्रकार के शस्त्रों (उपकरणों) द्वारा जल-सम्बन्धी आरंभ-समारंभ करते हुए जल-काय के जीवों की हिंसा करते हैं। और साथ ही तदाश्रित अन्य अनेक जीवों की भी हिंसा करते हैं।

इस विषय में भगवान ने परिज्ञा अर्थात् विवेक का निरूपण किया है। अपने इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण और मोक्ष के लिए, दुःखों का प्रतीकार करने के लिए (इन कारणों से) कोई स्वयं अप्काय की हिंसा करता है, दूसरों से भी अप्काय की हिंसा करवाता है और अप्काय की हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है। यह हिंसा, उसके अहित के लिए होती है तथा अबोधि का कारण बनती है।

वह साधक यह समझते हुए संयम-साधना में तत्पर हो जाता है। भगवान् से या अनगार मुनियों से सुनकर कुछ मनुष्यों को यह परिज्ञात हो जाता है, जैसे-यह अप्कायिक जीवों की हिंसा 'ग्रन्थि' है, मोह है, साक्षात् मृत्यु है, नरक है।

फिर भी मनुष्य (जीवन, प्रशंसा, सन्तान आदि के लिए) इस में आसक्त होता है। जो कि तरह-तरह के शस्त्रों से उदक-काय की हिंसा-क्रिया में संलग्न होकर अप्कायिक

जीवों की हिंसा करता है। वह केवल अप्कायिक जीवों की ही नहीं, किन्तु उसके आश्रित अन्य अनेक प्रकार के (त्रस एवं स्थावर) जीवों की भी हिंसा करता है।

मैं कहता हूं- जल के आश्रित अनेक प्रकार के जीव रहते हैं।

हे मनुष्य! इस अनगार-धर्म में, अर्थात् अर्हत्‌दर्शन में जल को 'जीव' (सचेतन) कहा गया है। जलकाय के जो (घातक तत्त्व) शस्त्र हैं, उन पर चिन्तन करके देख! भगवान ने जलकाय के अनेक शस्त्र बताये हैं।

जलकाय की हिंसा, सिर्फ हिंसा ही नहीं, वह अदत्तादान-चोरी भी है।

{1036}

तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता। इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण- पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघातहेउं से सयमेव पुढविसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणति।

तं से अहिआए, तं से अबोहीए।

(आचा. 1/1/2/सू. 13)

इस विषय में भगवान महावीर स्वामी ने परिज्ञा/ विवेक का उपदेश किया है। कोई व्यक्ति इस जीवन के लिए, प्रशंसा-सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मुक्ति के लिए, दुःख का प्रतीकार करने के लिए, स्वयं पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है, तथा हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है, वह (हिंसावृत्ति) उसके अहित के लिए होती है। वह उसकी अबोधि अर्थात् ज्ञान-बोधि, दर्शन-बोधि, और चारित्र-बोधि की अनुपलब्धि के लिए कारणभूत होती है।

{1037}

लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारं-भमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

(आचा. 1/1/2/सू. 12)

तू देख! आत्म-साधक लज्जमान है-(हिंसा से स्वयं का संकोच करता हुआ अर्थात् हिंसा करने में लज्जा का अनुभव करता हुआ संयममय जीवन जीता है।)

कुछ साधु-वेषधारी 'हम गृहत्यागी हैं' ऐसा कथन करते हुए भी वे नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वीसम्बन्धी हिंसा-क्रिया में लग कर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते हैं। पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा के साथ तदाश्रित अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करते हैं।

से बेमि-

अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पादमब्भे, अप्पेगे पादमच्छे, अप्पेगे गुप्फमब्भे, अप्पेगे गुप्फमच्छे, अप्पेगे जंघमब्भे, अप्पेगे जंघमच्छे, अप्पेगे जाणुमब्भे, अप्पेगे जाणुमच्छे, अप्पेगे ऊरुमब्भे, अप्पेगे ऊरुमच्छे, अप्पेगे कडिमब्भे, अप्पेगे कडिमच्छे, अप्पेगे णाभिमब्भे, अप्पेगे णाभिमच्छे, अप्पेगे उदरमब्भे, अप्पेगे उदरमच्छे, अप्पेगे पासमब्भे, अप्पेगे पासमच्छे, अप्पेगे पिट्ठिमब्भे, अप्पेगे पिट्ठिमच्छे, अप्पेगे उरमब्भे, अप्पेगे उरमच्छे, अप्पेगे हिययमब्भे, अप्पेगे हिययमच्छे, अप्पेगे थणमब्भे, अप्पेगे थणमच्छे, अप्पेगे खंधमब्भे, अप्पेगे खंधमच्छे, अप्पेगे बाहुमब्भे, अप्पेगे बाहुमच्छे, अप्पेगे हत्थमब्भे, अप्पेगे हत्थमच्छे, अप्पेगे अंगुलिमब्भे, अप्पेगे अंगुलिमच्छे, अप्पेगे णहमब्भे, अप्पेगे णहमच्छे, अप्पेगे गीवमब्भे, अप्पेगे गीवमच्छे, अप्पेगे हणुयमब्भे, अप्पेगे हणुयमच्छे, अप्पेगे होट्ठमब्भे, अप्पेगे होट्ठमच्छे, अप्पेगे दंतमब्भे, अप्पेगे दंतमच्छे, अप्पेगे जिब्भमब्भे, अप्पेगे जिब्भमच्छे, अप्पेगे तालुमब्भे, अप्पेगे तालुमच्छे, अप्पेगे गलमब्भे, अप्पेगे गलमच्छे, अप्पेगे गंडमब्भे, अप्पेगे गंडमच्छे, अप्पेगे कण्णमब्भे, अप्पेगे कण्णमच्छे, अप्पेगे णासमब्भे, अप्पेगे णासमच्छे, अप्पेगे अच्छिमब्भे, अप्पेगे अच्छिमच्छे, अप्पेगे भमुहमब्भे, अप्पेगे भमुहमच्छे, अप्पेगे णिडालमब्भे, अप्पेगे णिडालमच्छे, अप्पेगे सीसमब्भे, अप्पेगे सीसमच्छे।

अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।

(आचा. 1/1/2/सू. 15)

मै कहता हूं-

(जैसे कोई किसी जन्मान्ध व्यक्ति को (मूसल-भाला आदि से) भेदे, चोट करे या तलवार आदि से छेदन करे, उसे जैसी पीड़ा की अनुभूति होती है, वैसे ही पीड़ा पृथ्वीकायिक जीवों को होती है।)

जैसे कोई किसी के पैर में, टखने पर जंघा, घुटने, ऊरु, कटि, नाभि, उदर, पार्श्व-पसली पर, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कन्धे, भुजा, हाथ, अंगुली, नख, ग्रीवा (गर्दन), ठुड्डी, होठ, दांत, जीभ, तालु, गले, कपोल, कान, नाक, आंख, भौंह, ललाट, और शिर का (शस्त्र से) भेदन-छेदन करे, (तब उसे जैसी पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा पृथ्वीकायिक जीवों को होती है।)

जैसे कोई किसी को गहरी चोट पहुंचा कर, मूर्च्छित कर दे, या प्राण-वियोजन ही कर दे, उसे जैसी कष्टानुभूति होती है, वैसी ही पृथ्वीकायिक जीवों की वेदना समझना चाहिए।

{1039}

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा इहमेगेसिं णातं भवति-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए। इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

(आचा. 1/1/2/सू. 14)

वह साधक (संयमी) हिंसा के उक्त दुष्परिणामों को अच्छी तरह समझता हुआ, आदानीय-संयम-साधना में तत्पर हो जाता है। कुछ मनुष्यों को भगवान के या अनगार मुनियों के समीप धर्म सुनकर यह ज्ञात होता है कि-यह जीव-हिंसा 'ग्रन्थि' है, यह मोह, यह मृत्यु है और यही नरक है।

(फिर भी) जो मनुष्य सुख आदि के लिए जीवहिंसा में आसक्त होता है, वह नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी-सम्बन्धी हिंसा-क्रिया में संलग्न होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है। और तब वह न केवल पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, अपितु अन्य नानाप्रकार के जीवों की भी हिंसा करता है।

{1040}

छज्जीवकाए असमारभन्ता मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थिओ माण-मायं एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता॥

(उत्त. 12/41)

मन और इन्द्रियों को संयमित रखने वाले मुनि पृथिवी आदि छह जीवनिकाय की हिंसा नहीं करते हैं, असत्य नहीं बोलते हैं, चोरी नहीं करते हैं, परिग्रह, स्त्री, मान और माया को स्वरूपतः जान कर एवं उन्हें छोड़ कर विचरण करते हैं।

{1041}

तहेव भत्तपाणेसु पयण-पयावणेसु य।
पाण-भूयदयट्ठाए न पये न पयावए॥

(उत्त. 35/10)

इसी प्रकार भक्त-पान (खाद्य व पेय) को पकाने और पकवाने में हिंसा होती है। अतः प्राणियों-जीवों की दया के लिए न स्वयं पकाए न और दूसरे से पकवाए।

{1042}

उज्जालओ पाणऽतिवातएज्जा णिव्वावओ अगणिऽतिवातएज्जा।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं ण पंडिते अगणि समारभिज्जा॥

(सू.कृ. 1/7/6)

अग्नि को जलाने वाला प्राणियों का वध करता है और बुझाने वाला भी उनका वध करता है। इसलिए मेधावी पंडित मुनि-धर्म को समझ कर अग्नि का समारंभ न करे।

{1043}

जायतेयं न इच्छंति पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं सव्वओ वि दुरासयं॥ (32)
पाईणं पडिणं वा वि उड्ढं अणुदिसामवि।
अहे दाहिणओ वावि दहे उत्तरओ वि य॥ (33)
भूयाणमेसमाघाओ हव्ववाहो, न संसओ।
तं पईव-पयावट्ठा संजया किंचि नाऽऽरभे॥ (34)
तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दोग्गइवड्ढणं।
तेउकायसमारंभं जावज्जीवाए वज्जए॥ (35)

(दशवै. 6/295-298)

(साधु-साध्वी) जाततेज-अग्नि को जलाने की इच्छा नहीं करते, क्योंकि वह (अन्य प्राणियों के लिए) दूसरे शस्त्रों की अपेक्षा तीक्ष्ण शस्त्र तथा सब ओर से दुराश्रय है। (32)

वह (अग्नि) पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और ऊर्ध्वदिशा या अधोदिशा और विदिशाओं में (सभी जीवों का) दहन करती है। (33)

निःसन्देह यह हव्यवाह (अग्नि) प्राणियों के लिए आघातजनक है। अतः संयमी (साधु-साध्वी) प्रकाश (प्रदीपन)और तप (प्रतापन) के लिए उस (अग्नि) का किंचिन्मात्र भी आरम्भ न करें। (34)

(अग्नि जीवों के लिए विघातक है), इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जानकर (साधुवर्ग) जीवन-पर्यन्त अग्निकाय के समारम्भ का त्याग करे। (35)

{1044}

आउकायं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया॥ (29)
आउकायं विहिंसंतो हिंसई उ तदस्सिए।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे॥ (30)
तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दोग्गइवड्ढणं।
आउकाय-समारंभं जावज्जीवाए वज्जए॥ (31)

(दशवै. 6/292-294)

सुसमाधिमान् संयमी मन, वचन और काय- इस त्रिविध योग से तथा कृत, कारित और अनुमोदन- इस त्रिविध करण से अप्काय की हिंसा नहीं करते। (29)

अप्कायिक जीवों की हिंसा करता हुआ (साधक) उनके आश्रित रहे हुए विविध चाक्षुष (दृश्यमान) और अचाक्षुष (अदृश्यमान) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है। (30)

इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर (साधुवर्ग) यावज्जीवन अप्काय के समारम्भ का त्याग करे। (31)

{1045}

वाहिओ वा अरोगी वा सिणाणं जो उ पत्थए।
वोक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संजमो॥ (60)
संतिमे सुहुमा पाणा घसासु भिलुगासु य।
जे उ भिक्खू सिणायंतो, वियडेणुप्पिलावए॥ (61)
तम्हा ते न सिणायंति सीएणं उसिणेण वा।
जावज्जीवं वयं घोरं असिणाणमहिट्ठगा॥ (62)

(दशवै. 6/323-325)

रोगी हो या नीरोगी, जो साधु (या साध्वी) स्नान करने की इच्छा करता है, उसके आचार का अतिक्रमण (उल्लंघन) हो जाता है, उसका संयम भी त्यक्त (शून्यरूप) हो जाता है। (60)

यह तो प्रत्यक्ष है कि पोली भूमि में और भूमि की दरारों में सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से भी स्नान करता हुआ भिक्षु उन्हें (जल से) प्लावित कर (बहा) देता है। (61)

इसलिए वे (संयमी साधु-साध्वी)शीतल या उष्ण जल से स्नान नहीं करते। वे जीवन भर घोर अस्नान व्रत पर दृढ़ता से टिके रहते हैं। (62)

लज्जमाणा पुढो पास।

'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति।

तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता-इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जातीमरणमोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव अगणिसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारभावेति, अण्णे वा अगणिसत्थं समारभमाणे समणुजाणति।

तं से अहिताए, तं से अबोधीए।

से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए।

सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति- एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति।

से बेमि-संति पाणा पुढविणिस्सिता तणणिस्सिता पत्तणिस्सिता कट्ठणिस्सिता गोमयणिस्सिता कयवरणिस्सिता।

संति संपातिमा पाणा आहच्च संपयंति य।

अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघातमावज्जंति। जे तत्थ संघातमावज्जंति ते तत्थ परिवायावज्जंति। जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति।

(आचा. 1/1/4/सू. 34-37)

तू देख! संयमी पुरुष जीव-हिंसा में लज्जा/ग्लानि/संकोच का अनुभव करते हैं, और उनको भी देख, जो 'हम अणगार-गृह त्यागी साधु हैं'-यह कहते हुए भी अनेक प्रकार के शस्त्रों/उपकरणों से अग्निकाय की हिंसा करते हैं। अग्निकाय के जीवों की हिंसा करते हुए अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करते हैं।

इस विषय में भगवान ने परिज्ञा/विवेक-ज्ञान का निरूपण किया है। कुछ मनुष्य, इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सन्मान, पूजा के लिए, जन्म-मरण और मोक्ष के निमित्त, तथा दुःखों का प्रतीकार करने के लिए, स्वयं अग्निकाय का समारंभ करते हैं। दूसरों से अग्निकाय का समारंभ करवाते हैं। अग्निकाय का समारंभ करने वालों (दूसरों) का अनुमोदन भी करते हैं।

यह (हिंसा) उनके अहित के लिए होती है। यह उनकी अबोधि के लिए होती है।

वह (साधक) उस (हिंसा के परिणाम) को भली प्रकार समझे और संयम-साधना

में तत्पर हो जाये।

तीर्थंकर आदि प्रत्यक्षज्ञानी अथवा श्रुतज्ञानी मुनियों के निकट से सुन कर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है कि यह जीव-हिंसा-'ग्रन्थि' है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

फिर भी जीवन, मान, वंदना आदि हेतुओं में आसक्त हुए मनुष्य विविध प्रकार के शस्त्रों से अग्निकाय का समारंभ करते हैं, और अग्निकाय का समारंभ करते हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणों/जीवों की भी हिंसा करते हैं।

मैं कहता हूं- बहुत से प्राणी-पृथ्वी, तृण, पत्र, काष्ठ, गोबर और कूड़ा-कचड़ा आदि के आश्रित रहते हैं।

कुछ संपातिम/उड़ने वाले प्राणी (कीट, पतंगे, पक्षी आदि)होते हैं जो उड़ते-उड़ते नीचे गिर जाते हैं।

ये प्राणी अग्नि का स्पर्श पाकर संघात (शरीर के संकोच)को प्राप्त होते हैं। शरीर का संघात होने पर अग्नि की ऊष्मा से मूर्च्छित हो जाते हैं। मूर्च्छित हो जाने के बाद मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते हैं।

{1047}

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सतिसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णे वणस्सतिसत्थं समणुजाणेज्जा।

जस्सेते वणस्सतिसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

(आचा. 1/1/5/सू. 46-48)

जो वनस्पतिकायिक जीवों पर शस्त्र का समारंभ करता है, वह उन आरंभों/आरंभजन्य कटुफलों से अनजान रहता है। (जानता हुआ भी अनजान है।)

जो वनस्पतिकायिक जीवों पर शस्त्र-प्रयोग नहीं करता, उसके लिए आरंभ परिज्ञात है।

यह जान कर मेधावी स्वयं वनस्पति का समारंभ न करे, न दूसरों से समारंभ करवाए और न समारंभ करने वालों का अनुमोदन करे।

जिसको यह वनस्पति-सम्बन्धी समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात-कर्मा (हिंसा-त्यागी) मुनि होता है।

लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता-इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव वाउसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारभावेति, अण्णे वा वाउसत्थं समारभंते समणुजाणति।

तं से अहियाए, तं से अबोधीए।

से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोगे, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

से बेमि-संति संपाइमा पाणा आहच्च संपतंति य।

फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति। जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियाविज्जंति। जे तत्थ परियाविज्जंति ते तत्थ उद्दायंति। एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति। एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउसत्थं समारभेज्जा, णेवऽण्णेहिं वाउसत्थं समारभावेज्जा, णेवऽण्णे वाउसत्थं समारभंते समणुजाणेज्जा। जस्सेते वाउसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिणायकम्मे त्ति बेमि।

(आचा. 1/1/7 सू. 57-61)

तू देख! प्रत्येक संयमी पुरुष हिंसा में लज्जा/ग्लानि का अनुभव करता है। उन्हें भी देख, जो 'हम गृहत्यागी हैं' यह कहते हुए विविध प्रकार के शस्त्रों/साधनों से वायुकाय का समारंभ करते हैं। वायुकाय-शस्त्र का समारंभ करते हुए अन्य अनेक प्राणियों की हिंसा करते हैं।

इस विषय में भगवान ने परिज्ञा/विवेक का निरूपण किया है। कोई मनुष्य, इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सन्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोक्ष के लिए, दुःख का प्रतीकार करने के लिए स्वयं वायुकाय-शस्त्र का समारंभ करता है, दूसरों से वायुकाय का समारंभ करवाता है तथा समारंभ करने वालों का अनुमोदन करता है।

वह हिंसा, उसके अहित के लिए होती है। वह हिंसा, उसकी अबोधि के लिए होती है। वह अहिंसा-साधक, हिंसा को भली प्रकार से समझता हुआ संयम में सुस्थिर हो जाता है।

भगवान के या गृहत्यागी श्रमणों के समीप सुन कर उन्हें यह ज्ञात होता है कि यह हिंसा ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, नरक है।

फिर भी मनुष्य हिंसा में आसक्त हुआ, विविध प्रकार के शस्त्रों से वायुकाय की हिंसा करता है। वायुकाय की हिंसा करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के जीवों की हिंसा करता है।

मैं कहता हूं:-संपातिम-उड़ने वाले प्राणी होते हैं, वे वायु से प्रताड़ित होकर नीचे गिर जाते हैं।

वे प्राणी वायु का स्पर्श/आघात होने से सिकुड़ जाते हैं। जब वे वायु-स्पर्श से संघातित होते/सिकुड़ जाते हैं, तब वे मूर्च्छित हो जाते हैं। जब वे जीव मूर्च्छा को प्राप्त होते हैं तो वहां मर भी जाते हैं। जो यहां वायुकायिक जीवों का समारंभ करता है, वह इन आरंभों से वास्तव में अनजान है। जो वायुकायिक जीवों पर शस्त्र-समारंभ नहीं करता, वास्तव में उसने आरंभ (के स्वरूप) को जान लिया है। यह जानकर बुद्धिमान मनुष्य स्वयं वायुकाय का समारंभ न करे। दूसरों से वायुकाय का समारंभ न क़रवाए। वायुकाय का समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे। जिसने वायुकाय के शस्त्र-समारंभ को जान लिया है, वही मुनि परिज्ञातकर्मा (हिंसा का त्यागी) है। ऐसा मैं कहता हूं।

{1049}

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति।

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

जस्स एते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

(आचा. 1/1/4/सू. 38-39)

जो अग्निकाय के जीवों पर शस्त्र-प्रयोग करता है, वह इन आरंभ-समारंभ क्रियाओं के कटु परिणामों से अपरिज्ञात होता है, अर्थात् वह हिंसा के दुःखद परिणामों से छूट नहीं सकता है।

जो अग्निकाय पर शस्त्र-समारंभ नहीं करता है, वास्तव में वह आरंभ का ज्ञाता अर्थात् हिंसा से मुक्त हो जाता है।

जिसने यह अग्नि-कर्म-समारंभ भली प्रकार समझ लिया है, वही मुनि है, वही परिज्ञात-कर्मा (कर्म का ज्ञाता और त्यागी)है।

ऐसा मैं कहता हूं।

{1050}

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे-पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

जस्सेते पुढविकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

(आचा. 1/1/2/सू. 16-18)

जो यहां (लोक में) पृथ्वीकायिक जीवों पर शस्त्र का समारंभ-प्रयोग करता है, वह वास्तव में इन आरंभों (हिंसा सम्बन्धी प्रवृत्तियों के कटु परिणामों व जीवों की वेदना) से अनजान है।

जो पृथ्वीकायिक जीवों पर शस्त्र का समारंभ/ प्रयोग नहीं करता, वह वास्तव में इन आरभों/हिंसा-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का ज्ञाता है,(वही इनसे मुक्त होता है)-

इस (पृथ्वीकायिक जीवों की अव्यक्त वेदना) को जानकर बुद्धिमान् मनुष्य न स्वयं पृथ्वीकाय का समारंभ करे, न दूसरों से पृथ्वीकाय का समारंभ करवाए और न उसका समारंभ करने वाले का अनुमोदन करे।

जिसने पृथ्वीकाय-सम्बन्धी समारंभ को जान लिया अर्थात् हिंसा के कटु परिणाम को जान लिया, वही परिज्ञातकर्मा (हिंसा का त्यागी) मुनि होता है। ऐसा मैं कहता हूं।

{1051}

कप्पइ णे, कप्पइ णे पातुं, अदुवा विभूसाए। पुढो सत्थेहिं विउट्टंति। एत्थ वि तेसिं णो णिकरणाए। एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति। तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदयसत्थं समारभेज्जा, णेवण्णेहिं उदयसत्थं समारभावेज्जा, उदयसत्थं समारभंते वि अण्णे ण समणुजाणेज्जा। जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णातकम्मे त्ति बेमि।

(आचा. 1/1/3/सू. 27-31)

''हमें कल्पता है। अपने सिद्धान्त के अनुसार हम पीने के लिए जल ले सकते हैं।''(यह आजीवकों एवं शैवों का कथन है)।

''हम पीने तथा नहाने (विभूषा) के लिए भी जल का प्रयोग कर सकते हैं'' (यह बौद्ध श्रमणों का मत है)।

इस तरह अपने शास्त्र का प्रमाण देकर या नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा जलकाय के जीवों की हिंसा करते हैं। अपने शास्त्र का प्रमाण देकर जलकाय की हिंसा करने वाले साधु, हिंसा के पाप से विरत नहीं हो सकते। अर्थात् उनका हिंसा न करने का संकल्प परिपूर्ण नहीं हो सकता।

जो यहां, शस्त्र-प्रयोग कर जलकाय जीवों का समारम्भ करता है, वह इन आरंभों (जीवों की वेदना व हिंसा के कुपरिणाम) से अनभिज्ञ है। अर्थात् हिंसा करने वाला कितने ही शास्त्रों का प्रमाण दे, वास्तव में वह अज्ञानी ही है।

जो जलकायिक जीवों पर शस्त्र-प्रयोग नहीं करता, वह आरंभों का ज्ञाता है, वह हिंसा-दोष से मुक्त होता है। अर्थात् वह ज्ञ-परिज्ञा से हिंसा को जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसे त्याग देता है।

बुद्धिमान मनुष्य यह (उक्त कथन) जान कर स्वयं जलकाय का समारंभ न करे, दूसरों से न करवाए, और उसका समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे।

जिसको जल-सम्बन्धी समारंभ का ज्ञान होता है, वही परिज्ञातकर्मा (मुनि) होता है। ऐसा मैं कहता हूं।

{1052}

से बेमि- इमं पि जातिधम्मयं, एयं पि जातिधम्मयं; इमं पि बुड्ढिधम्मयं, एयं पि बुड्ढिधम्मयं; इमं पि चित्तमंतयं, एयं पि चित्तमंतयं; इमं पि छिण्णं मिलाति, एयं पि छिण्णं मिलाति; इमं पि आहारगं, एयं पि आहारगं; इमं पि अणितियं, एयं पि अणितियं; इमं पि असासयं, एयं पि असासयं; इमं पि चयोवचइयं, एयं पि चयोवचइयं, इमं पि विप्परिणामधम्मयं, एयं पि विप्परिणामधम्मयं।

(आचा. 1/1/5/सू. 45)

मैं कहता हूं- यह मनुष्य भी जन्म लेता है, यह वनस्पति भी जन्म लेती है। यह मनुष्य भी बढ़ता है, यह वनस्पति भी बढ़ती है। यह मनुष्य भी चेतना-युक्त है, यह वनस्पति भी चेतना-युक्त है। यह मनुष्य-शरीर छिन्न होने पर म्लान हो जाता है, यह वनस्पति भी छिन्न होने पर म्लान होती है। यह मनुष्य भी आहार करता है, यह वनस्पति भी आहार करती है। यह मनुष्य-शरीर भी अनित्य है, यह वनस्पति का शरीर भी अनित्य है। यह मनुष्य-शरीर भी अशाश्वत है, यह वनस्पति-शरीर भी अशाश्वत है। यह मनुष्य-शरीर भी आहार से उपचित होता है, आहार के अभाव में अपचित/क्षीण/दुर्बल होता है। यह वनस्पति का शरीर भी इसी प्रकार उपचित-अपचित होता है। यह मनुष्य-शरीर भी अनेक प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होता है। यह वनस्पति-शरीर भी अनेक प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होता है।

से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए।

सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति–एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायकम्मसमारंभेणं तसकाय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

से बेमि–अप्पेगे अच्चाए वधेंति, अप्पेगे अजिणाए वधेंति, अप्पेगे मंसाए वधेंति; अप्पेगे सोणिताए वधेंति, अप्पेगे हिययाए वधेंति, एवं पित्ताए वसाए पिच्छाए बालाए सिंगाए विसाणाए दंताए, दाढाए नहाए ण्हारुणीए अट्ठिए अट्ठिमिंजाए अट्ठाए अणट्ठाए।

अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति वा, अप्पेगे हिंसंति वा, अप्पेगे हिंसिस्संति वा णे वधेंति।

(आचा. 1/1/6 सू. 52)

वह संयमी, उस हिंसा को/हिंसा के कुपरिणामों को सम्यक्प्रकार से समझते हुए संयम में तत्पर हो जावे।

भगवान से या गृहत्यागी श्रमणों के समीप सुन कर कुछ मनुष्य यह जान लेते हैं कि यह हिंसा ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

फिर भी मनुष्य इस हिंसा में आसक्त होता है। वह नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रसकायिक जीवों का समारंभ करता है। त्रसकाय का समारंभ करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के जीवों का भी समारंभ/हिंसा करता है।

मैं कहता हूं– कुछ मनुष्य अर्चा(देवता की बलि या शरीर के शृंगार) के लिए जीव हिंसा करते हैं। कुछ मनुष्य चर्म के लिए, मांस, रक्त, हृदय (कलेजा), पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, केश, सींग, विषाण (सुअर का दांत,)दांत,दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि (हड्डी) और अस्थिमज्जा के लिए प्राणियों की हिंसा करते हैं। कुछ किसी प्रयोजन-वश, कुछ निष्प्रयोजन/व्यर्थ ही जीवों का वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति (इन्होंने मेरे स्वजनादि की) हिंसा की, इस कारण (प्रतिशोध की भावना से) हिंसा करते हैं।

कुछ व्यक्ति (यह मेरे स्वजन आदि की) हिंसा करता है, इस कारण (प्रतीकार की भावना से) हिंसा करते हैं।

कुछ व्यक्ति (यह मेरे स्वजनादि की हिंसा करेगा) इस कारण (भावी आतंक/भय की संभावना से) हिंसा करते हैं।

{1054}

स्नानेन उष्णोदकेन शीतजलेन सौवीरकादिना वा बिलस्था धात्रीक्षुद्रविवरस्थाः इतरेऽपि स्वल्पकायाः कुन्थुपिपीलिकादयो वा नश्यन्ति। तथा चोक्तम्-

सुहुमा संति पाणा खु पासेसु अ बिलेसु अ।
सिण्हायंतो यतो भिक्खू विकट्ठेणोपपीडए॥
ण सिण्हायंति तम्हा ते सीदुसणोदगेण वि।
जावज्जीवं वदं घोरं अण्हाणममधिट्ठिदं॥

(भग. आ. विजयो. 611)

गर्म जल, ठंडे जल अथवा सौवीरक आदि से स्नान करने से पृथ्वी के बिलों में स्थित प्राणी अथवा अन्य कुन्थु, चींटी आदि क्षुद्र जीव मर जाते हैं। कहा है-

'बिलों में तथा आस-पास में सूक्ष्म जन्तु रहते हैं। यदि भिक्षु स्नान करे तो वे पीड़ित होते हैं। इसलिए वे भिक्षु ठंडे या गर्म जल से या कांजी से स्नान नहीं करते। वे जीवन-पर्यन्त घोर अस्नानव्रत को धारण करते हैं।'

{1055}

सीओदगं न सेवेज्जा सिला वुट्ठं हिमाणि य।
उसिणोदगं तत्तफासुयं पडिगाहेज्ज संजए॥ (6)
उदओल्लं अप्पणो कायं नेव पुंछे न संलिहे।
समुप्पेह तहाभूयं नो णं संघट्टए मुणी॥ (7)

(दशवै. 8/394-395)

संयमी (साधु या साध्वी) शीत (सचित्त) उदक (जल), ओले, वर्षा के जल और हिम (बर्फ) का सेवन न करे। (आवश्यकता पड़ने पर अच्छी तरह) तपा हुआ (तप्त) गर्म जल तथा प्रासुक (वर्णादिपरिणत) जल ही ग्रहण करे (और सेवन करे)। (6)

मुनि सचित्त जल से भीगे हुए अपने शरीर को न तो पोंछे और न ही (हाथों से) मले। तथाभूत (सचित्त जल से भीगे) शरीर को देखकर, उसका (जरा भी) स्पर्श (संघट्टा) न करे। (7)

{1056}

सीओदगसमारंभे मत्तधोयणछड्डणे।
जाइं छण्णंति भूयाइं, तत्थ दिट्ठो असंजमो॥ (51)

(दशवै. 6/314)

(गृहस्थ के द्वारा) उन बर्तनों को सचित्त (शीत) जल से धोने में और बर्तनों के धोए हुए पानी को डालने में जो प्राणी निहत (हताहत) होते हैं, उसमें (तीर्थंकरों ने) असंयम देखा है।

{1057}

जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं मणसा वयसा कायसा चेव॥

(उत्त. 8/10)

जगत् के आश्रित-अर्थात् संसार में जो भी त्रस और स्थावर नाम के प्राणी हैं, उनके प्रति मन, वचन, काय- रूप किसी भी प्रकार के दण्ड (घातक उपकरण) का प्रयोग न करे।

{1058}

अनिलस्स समारंभं बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेव, नेयं ताईहिं सेवियं॥ (36)
तालियंटेण पत्तेण साहाविहुयणेण वा।
न ते वीइउमिच्छंति, वीयावेऊण वा परं॥ (37)
जं पि वत्थं वा पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
न ते वायमुईरंति जयं परिहरंति य॥ (38)
तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दोग्गइवड्ढणं।
वाउकाय-समारंभं जावज्जीवाए वज्जए॥ (39)

(दशवै. 6/299-302)

बुद्ध (तीर्थंकरदेव) वायु (अनिल) के समारम्भ को अग्निसमारम्भ के सदृश ही मानते हैं। यह सावद्य-बहुल (प्रचुर पापयुक्त) है। अतः यह षट्काय के त्राता साधुओं के द्वारा आसेवित नहीं है। (36)

(इसलिए) वे (साधु-साध्वी) ताड़ के पंखे से, पत्र (पत्ते) से, वृक्ष की शाखा से, अथवा पंखे से (स्वयं) हवा करना तथा दूसरों से हवा करवाना नहीं चाहते (और उपलक्षण से अनुमोदन भी नहीं करते हैं।)। (37)

जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल या रजोहरण हैं, उनके द्वारा (भी) वे वायु की उदीरणा नहीं करते, किन्तु यतनापूर्वक वस्त्र पात्रादि उपकरण को धारण करते हैं। (38)

(वायुकाय सावद्य-बहुल है) इसलिए इस दुर्गतिवर्द्धक दोष को जान कर (साधुवर्ग) जीवनपर्यन्त वायुकाय-समारम्भ का त्याग करे। (39)

लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सतिकम्मसमारंभेणं वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता–इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव वणस्सतिसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा वणस्सतिसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणति।

तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति–एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सतिकम्मसमारंभेणं वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

(आचा. 1/1/5/सू. 42-44)

तू देख! ज्ञानी हिंसा से लज्जित/विरत रहते हैं। 'हम गृह-त्यागी हैं,' यह कहते हुए भी कुछ लोग नाना प्रकार के शस्त्रों से, वनस्पतिकायिक जीवों का समारंभ करते हैं। वनस्पतिकाय की हिंसा करते हुए वे अन्य अनेक प्रकार की जीवों की भी हिंसा करते हैं।

इस विषय में भगवान ने परिज्ञा/विवेक का उपदेश किया है–इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म, मरण और मुक्ति के लिए, दुःख का प्रतीकार करने के लिए, वह (तथाकथित साधु) स्वयं वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है; दूसरों से हिंसा करवाता है, हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

यह (हिंसा-करना, कराना, अनुमोदन करना) उसके अहित के लिए होता है। यह उसकी अबोधि के लिए होता है।

यह समझता हुआ साधक संयम में स्थिर हो जाए। भगवान से या त्यागी अनगारों के समीप सुनकर उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है–यह (हिंसा) ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

फिर भी मनुष्य इसमें आसक्त हुआ, नाना प्रकार के शस्त्रों से वनस्पतिकाय का समारंभ करता है और वनस्पतिकाय का समारंभ करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करता है।

{1060}

वणस्सइं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया॥ (40)
वणस्सइं विहिंसंतो हिंसई उ तदस्सिए।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे॥ (41)
तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दोग्गइ-वड्ढणं।
वणस्सइ-समारंभं जावज्जीवाए वज्जए॥ (42)

(दशवै. 6/303-305)

सुसमाहित संयमी (साधु-साध्वी) मन, वचन और काय- इस त्रिविध योग से तथा कृत, कारित और अनुमोदन-इस त्रिविध करण से वनस्पतिकाय की हिंसा नहीं करते। (40)

वनस्पतिकाय की हिंसा करता हुआ (साधु) उसके आश्रित विविध चाक्षुष (दृश्यमान) और अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है। (41)

इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर (साधुवर्ग) जीवन भर वनस्पतिकाय के समारम्भ का त्याग करे। (42)

{1061}

से भिक्खू वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो मट्टियागतेहिं पाएहिं हरियाणि छिंदिय छिंदिय विकुज्जिय विकुज्जिय विफालिय विफालिय उम्मग्गेण हरियवधाए गच्छेज्जा 'जहेयं पाएहिं मट्टियं खिप्पामेव हरियाणि अवहरंतु'। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा। से पुव्वामेव अप्पहरियं मग्गं पडिलेहेज्जा, [पडिलेहेत्ता] ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

(आचा. 3/2 सू. 498)

ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए साधु या साध्वी गीली मिट्टी एवं कीचड़ से भरे हुए अपने पैरों से हरितकाय (हरे घास आदि) का बार-बार छेदन न करे तथा हरे पत्तों को बहुत मोड़-तोड़ कर या दबा कर एवं उन्हें चीर-चीर कर मसलता हुआ मिट्टी न उतारे और न हरितकाय की हिंसा करने के लिए उन्मार्ग में इस अभिप्राय से जाए कि 'पैरों पर लगी हुई इस कीचड़ और गीली मिट्टी को यह हरियाली अपने आप हटा देगी', क्योंकि ऐसा करने वाला साधु मायास्थान का स्पर्श करता है। साधु को इस प्रकार नहीं करना चाहिए। वह पहले ही हरियाली से रहित मार्ग का प्रतिलेखन करे (देखे), और तब उसी मार्ग से यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करे।

{1062}

से बेमि–संतिमे तसा पाणा, तं जहा–अंडया पोतया जराउया रसया संसेयया सम्मुच्छिमा उब्भिया उववातिया। एस संसारे त्ति पवुच्चति। मंदस्स अवियाणओ।

णिज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिणिव्वाणं। सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अस्सातं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि।

तसंति पाणा पदिसो दिसासु य।

तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति।

(आचा. 1/1/6/सू. 49)

मैं कहता हूं–

ये सब त्रस प्राणी हैं, जैसे–अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज और औपपातिक। यह (त्रस जीवों का समन्वित क्षेत्र) संसार कहा जाता है। मंद तथा अज्ञानी जीव को यह संसार (प्राप्त) होता है।

मैं चिन्तन कर, सम्यक् प्रकार देख कर कहता हूं– प्रत्येक प्राणी परिनिर्वाण (शान्ति और सुख) चाहता है।

सब प्राणियों, सब भूतों, सब जीवों और सब सत्त्वों को असाता (वेदना) और अपरिनिर्वाण (अशान्ति)-ये महाभयंकर और दुःखदायी हैं। मैं ऐसा कहता हूं।

ये प्राणी दिशा और विदिशाओं में, सब ओर से भयभीत/त्रस्त रहते हैं।

तू देख, विषय-सुखाभिलाषी आतुर मनुष्य स्थान-स्थान पर इन जीवों को परिताप देते रहते हैं।

{1063}

तणरुक्खं न छिंदेज्जा फलं मूलं व कस्सइ।
आमगं विविहं बीयं मणसा वि न पत्थए॥ (10)
गहणेसु न चिट्ठेज्जा बीएसु हरिएसु वा।
उदगम्मि तहा निच्चं उत्तिंग-पणगेसु वा॥ (11)

(दशवै. 8/398-399)

(अहिंसामहाव्रती मुनि) तृण (हरी घास आदि), वृक्ष, (किसी भी वृक्ष के) फल, तथा (किसी भी वनस्पति के) मूल का छेदन न करे, (यही नहीं,) विविध प्रकार के सचित्त बीजों (तथा कच्ची अशस्त्रपरिणत वनस्पतियों के सेवन) की मन से भी इच्छा न करे। (10)

(मुनि) वनकुंजों में, बीजों पर, हरित (दूब आदि हरी वनस्पति) पर, तथा उदक, उत्तिंग और पनक (काई) पर खड़ा न रहे। (11)

{1064}

लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

(आचा. 1/1/6 सू. 50)

तू देख! संयमी साधक जीव-हिंसा में लज्जा/ग्लानि/संकोच का अनुभव करते हैं। और उनको भी देख, जो 'हम गृहत्यागी है' यह कहते हुए भी अनेक प्रकार के उपकरणों से त्रसकाय का समारंभ करते हैं। त्रसकाय की हिंसा करते हुए वे अन्य अनेक प्राणों की भी हिंसा करते हैं।

{1065}

पुढविदगागणिपवणे य बीयपत्तेयणंतकाए य।
विगतिगचदुपंचिंदियसत्तारंभे अणेयविहे॥

(भग. आ. 610)

'पुढविदगागणिपवणे य' पृथिव्यामुदकेऽग्नौ पवने च। 'बीजपत्तेयणंतकाए य' बीजे प्रत्येककाये च वनस्पतौ। 'विगतिगचदुपंचेंदियसत्तारंभे' द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसत्त्वविषये चारम्भे। 'अणेगविधे' अनेकप्रकारे। पृथिव्या मृत्तिकोपलशर्करासिकतालवणावज्रमित्यादिकायाः खननं, विलेखनं, दहनं, कुट्टनं, भञ्जनम् इत्यादिकयाऽऽरम्भः। उदककरकावश्यायतुषारादीनां अम्भेदानां पानं, स्नानमवगाहनं, तरणं हस्तेन, पादेन, गात्रेण वा मर्दनम्- इत्यादिकम्। अग्निज्वाला, प्रदीपः उल्मुकम् इत्यादिकस्य तेजसः उपर्युदकस्य, पाषाणस्य, मृत्तिकायाः सिकताया वा प्रक्षेपणं, पाषाणकाष्ठादिभिर्हननम् इत्यादिकम्। झंझामण्डलिकादौ वायौ वातिव्यंजनेन, तालवृन्तेन, शूर्पेण, चेलादिना वा समीरणोत्थापनादिकः वाते वाभिगमनम्। बीजानां प्रत्येककायानाम् अनन्तकायानां च वृक्षवल्लीगुल्मलतातृणपुष्पफलादीनां दहनं, छेदनं मर्दनं, भञ्जनं, स्पर्शनं, भक्षणमित्यादिकम्। द्वीन्द्रियादीनां मारणं, छेदनं, ताडनं, बन्धनं, रोधनमित्यादिकम्॥

(भग. आ. विजयो. 610)

(गाथा का अर्थ-) पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येककायिक वनस्पति, साधारणकायिक वनस्पति, दो इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवसम्बन्धी अनेक प्रकार के आरम्भ की आलोचना मुनि करता है।

[टीका- मिट्टी, पत्थर, शर्करा, रेत, नमक इत्यादि का खोदना, हल से जोतना, जलाना, कूटना, तोड़ना आदि पृथिवी-सम्बन्धी आरम्भ हैं। जल, बर्फ, ओस, तुषार आदि विविध प्रकार के पानी को पीना, स्नान, अवगाहन, तैरना, हाथ पैर या शरीर से मर्दन करना आदि जल-सम्बन्धी आरम्भ हैं। आग, ज्वाला, दीपक, उल्मुक इत्यादि आग के ऊपर पानी, पत्थर, मिट्टी अथवा रेत फेंकना या पत्थर या लकड़ी आदि से आग को पीटना आग-सम्बन्धी आरम्भ हैं। झंझा और माण्डलिका आदि वायु को ताड़ के पत्र से, सूप से, लकड़ी आदि से रोकना, या पंखे आदि से हवा करना, वायु के सन्मुख गमन करना- ये सब वायुकायसम्बन्धी आरम्भ हैं। बीज, प्रत्येककाय और अनन्तकाय वृक्ष, लता, बेल, झाड़ी, तृण, पुष्पफल आदि को जलाना, छेदना, मसलना, तोड़ना, छूना, खाना आदि वनस्पतिकाय सम्बन्धी आरम्भ हैं। दो इन्द्रिय आदि जीवों को मारना, छेदना, पीटना, बांधना, रोकना आदि बे- इन्द्रिय आदि सम्बन्धी आरम्भ हैं।

{1066}

तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता-इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव तसकायसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा तसकायसत्थं समारंभमाणे समणुजाणति।

तं से अहिताए, तं से अबोधीए।

(आचा. 1/1/6 सू. 51)

इस विषय में भगवान ने परिज्ञा/विवेक का निरूपण किया है:-

कोई मनुष्य इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म-मरण और मुक्ति के लिए, दु:ख का प्रतीकार करने के लिए, स्वयं भी त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है तथा हिंसा करते हुए का अनुमोदन भी करता है। यह हिंसा उसके अहित के लिए होती है, अबोधि के लिए होती है।

{1067}

जल-धन्ननिस्सिया जीवा पुढवी-कट्ठनिस्सिया।
हम्मन्ति भत्तपाणेसु तम्हा भिक्खू न पायए॥

(उत्त. 35/11)

भक्त और पान के पकाने में जल, धान्य, पृथ्वी और काष्ठ के आश्रित जीवों का वध होता है,-अत: भिक्षु न पकवाए।

{1068}

विसप्पे सव्वओ धारे बहुपाणविणासणे।
नत्थि जोइसमे सत्थे तम्हा जोइं न दीवए॥

(उत्त. 35/12)

अग्नि के समान दूसरा शस्त्र नहीं है, वह सभी ओर से प्राणिनाशक तीक्ष्ण धार से युक्त है, बहुत अधिक प्राणियों की विनाशक है, अत: भिक्षु अग्नि न जलाए।

{1069}

इंगालं अगणिं अच्चिं अलायं वा सजोइयं।
न उंजेज्जा, न घट्टेज्जा नो णं निव्वावए मुणी॥ (8)

(दशवै. 8/396)

मुनि जलते हुए अंगारे, अग्नि, त्रुटित की ज्वाला (चिनगारी), ज्योति-सहित अलात (जलती हुई लकड़ी) को न प्रदीप्त करे (सुलगाए), न हिलाए (न परस्पर घर्षण करे या स्पर्श करे) और न उसे बुझाए। (8)

{1070}

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति।

एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

तं परिण्णाय मेधावी णेव सयं तसकायसत्थं समारभेज्जा, णेवऽण्णेहिं तसकाय-सत्थं समारभावेज्जा, णेवऽण्णे तसकायसत्थं समारभंते समणुजाणेज्जा।

जस्सेते तसकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मे त्ति बेमि।

(आचा. 1/1/6 सू. 53-55)

जो त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है, वह इन आरंभ (आरंभ जनित कुपरिणामों) से अनजान ही रहता है।

जो त्रसकायिक जीवों की हिंसा नहीं करता है, वह इन आरंभों से सुपरिचित/मुक्त रहता है। यह जानकर बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं त्रसकाय-शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से समारंभ न करवाए, समारंभ करने वालों का अनुमोदन भी न करे। जिसने त्रसकाय-सम्बन्धी समारंभों (हिंसा के हेतुओं/उपकरणों/ कुपरिणामों) को जान लिया, वही परिज्ञातकर्मा (हिंसा-त्यागी) मुनि होता है।

{1071}

तसकायं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया॥ (43)
तसकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तदस्सिए।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे॥ (44)
तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दोग्गइ-वड्ढणं।
तसकाय-समारंभं जावज्जीवाए वज्जए॥ (45)

(दशवै. 6/306-308)

सुसमाधियुक्त संयमी (साधु-साध्वी) मन, वचन, काया- इस त्रिविध योग तथा कृत, कारित और अनुमोदन- इस त्रिविध करण से त्रसकायिक जीवों की हिंसा नहीं करते। (43)

त्रसकाय की हिंसा करता हुआ (साधु) उसके आश्रित रहे हुए अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्यमान) और अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है। (44)

इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर (साधुवर्ग) जीवनपर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का त्याग करे। (45)

{1072}

कम्मं परिण्णाय दगंसि धीरे वियडेण जीवेज्ज य आदिमोक्खं।
से बीयकंदाइ अभुंजमाणे विरए सिणाणाइसु इत्थियासु॥

(सू.कृ. 1/7/22)

'जल के समारंभ से कर्म-बंध होता है'- ऐसा जान कर धीर मुनि मृत्यु-पर्यन्त निर्जीव जल से जीवन बिताए। वह बीज, कंद आदि न खाए, स्नान आदि तथा स्त्रियों से विरत रहे।

{1073}

वहणं तस-थावराण होइ, पुढवि-तण-कट्ठ-निस्सियाणं।
तम्हा उद्देसियं न भुंजे, नो वि पए, न पयावए जे, स भिक्खू॥ (4)

(दशवै. 10/524)

(भोजन बनाने में) पृथ्वी, तृण और काष्ठ के आश्रित रहे हुए त्रस और स्थावर जीवों का वध होता है। इसलिए जो औद्देशिक (आदि दोषों से युक्त आहार) का उपभोग नहीं करता तथा जो (अन्नादि) स्वयं नहीं पकाता और न दूसरों से पकवाता है, वह सद्भिक्षु है। (4)

{1074}

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से॥

(प्रव. 3/50)

यदि वैयावृत्त्य के लिए उद्यत हुआ साधु षट्कायिक जीवों की हिंसा करता है तो वह मुनि नहीं है। यह तो श्रावकों का धर्म है।

[यद्यपि वैयावृत्त्य अन्तरङ्ग तप है और शुभोपयोगी मुनियों के कर्तव्यों में से एक कर्तव्य है तथापि वे उस प्रकार की वैयावृत्त्य नहीं करते जिसमें कि षट्कायिक जीवों की विराधना हो। विराधना-पूर्वक वैयावृत्त्य करना श्रावकों का धर्म है, न कि मुनियों का।]

{1075}

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभेज्जा, नेवऽन्नेहिं दंडं समारंभावेज्जा, दंडं समारंभंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा।

(दशवै. 4/41)

(समस्त प्राणी सुख के अभिलाषी हैं) इसलिए इन छह जीविनिकायों के प्रति स्वयं दण्ड-समारम्भ न करे, दूसरों से दण्ड-समारम्भ न करावे और दण्डसमारम्भ करने वाले अन्य का अनुमोदन भी न करे।

{1076}

हरियाणि भूयाणि विलंबगाणि आहार-देहाइं पुढो सियाइं।
जे छिंदई आतसुहं पडुच्च पागब्भि-पण्णो बहुणं तिवाती॥

(सू.कृ. 1/7/8)

वनस्पति जीव हैं। वे जन्म से मृत्यु पर्यन्त नाना अवस्थाओं को धारण करते हैं। वे आहार से उपचित होते हैं। वे (वनस्पति-जीव) मूल, स्कंध आदि में पृथक्-पृथक् होते हैं। जो अपने सुख के लिए उनका छेदन करता है, यह ढीठ प्रज्ञा वाला बहुत जीवों का वध करता है।

{1077}

तालियंटेण पत्तेण साहाविहुयणेण वा।
न वीएज्ज अप्पणो कायं, बाहिरं वा वि पोग्गलं॥ (9)

(दशवै. 8/397)

(साधु या साध्वी) ताड़ के पंखे से, पत्ते से, वृक्ष की शाखा से, अथवा सामान्य पंखे (व्यजन) से अपने शरीर को अथवा बाह्य (गर्म दूध आदि) पुद्गल (पदार्थ) को भी हवा न करे। (9)

{1078}

जाइं च वुड्ढिं च विणासयंते बीयाइ अस्संजय आयदंडे।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे बीयाइ जे हिंसइ आयसाते॥

(सू.कृ. 1/7/9)

जो वनस्पति के जीवों की उत्पत्ति, वृद्धि और और बीजों का विनाश करता है, वह असंयमी मनुष्य अपने आपको दंडित करता है। जो अपने सुख के लिए बीजों का विनाश करता है, उसे अनार्य-धर्मा कहा गया है।

{1079}

रात्रौ भ्रमणे षड्जीवनिकायवधः।

(भग. आ. विजयो. 611)

रात्रि में साधु भ्रमण करे तो छह काय के प्राणियों का घात होता है।

{1080}

गब्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा णरा परे पंचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य चयंति ते आउखए पलीणा॥

(सू.कृ. 1/7/10)

(वनस्पति की हिंसा करने वाले) कुछ गर्भ में ही मर जाते हैं। कुछ बोलने और न बोलने की स्थिति में पंचशिख कुमार होकर, कुछ युवा, अधेड़ और बूढे होकर मर जाते हैं। ये आयु के क्षीण होने पर किसी भी अवस्था में जीवन से च्युत होकर प्रलीन हो जाते हैं।

{1081}

पभू दोसे णिराकिच्चा ण विरुज्झेज्ज केणइ।
मणसा वयसा चेव कायसा चेव अंतसो॥

(सू.कृ. 1/11/12)

जितेन्द्रिय पुरुष दोषों (क्रोध आदि) का निराकरण कर मनसा, वाचा, कर्मणा आजीवन किसी के साथ विरोध न करे।

{1082}

आहत्तहीयं समुपेहमाणे सव्वेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं।
णो जीवियं णो मरणाहिकंखे परिव्वएज्जा वलया विमुक्के॥

(सू.कृ. 1/13/23)

याथातथ्य (हिंसा के कुफल आदि) को भली भांति-देखता हुआ (भिक्षु) सब प्राणियों की हिंसा का परित्याग करे। जो जीवन और मरण की अभिलाषा नहीं करता हुआ परिव्रजन करता है वह वलय (संसार-चक्र) से मुक्त हो जाता है।

{1083}

भूतेसु ण विरुज्झेज्जा एस धम्मे वुसीमओ।
वुसीमं जगं परिण्णाय अस्सिं जीवियभावणा॥

(सू.कृ. 1/15/4)

जीवों के साथ विरोध न करे- यह संयमी का धर्म है। संयमी पुरुष परिज्ञा (विवेक) से जगत् को जान कर इस धर्म में जीवित-भावना करें।

{1084}

से भिक्खू जे इमे तस थावरा पाणा भवंति ते णो सयं समारभति, णो वऽण्णेहिं समारभावेति, अण्णे सभारभंते वि न समणुजाणइ, इति से महता आदाणातो उवसंते उवट्ठिते पडिविरते।

(सू.कृ. 2/1/सू. 684)

जो ये त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनका वह भिक्षु स्वयं समारम्भ (हिंसाजनक व्यापार

या प्रवृत्ति) नहीं करता, न वह दूसरों से समारम्भ कराता है, और न ही समारम्भ करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन करता है। इस कारण से वह साधु महान् कर्मों के आदान (बंधन) से मुक्त हो जाता है, शुद्ध संयम में उद्यत रहता है तथा पापकर्मों से निवृत्त हो जाता है।

{1085}

धम्मस्स य पारगे मुणी आरंभस्स य अंतए ठिए।

(सू.कृ. 1/2/2/31)

धर्म का पारगामी मुनि आरंभ (हिंसा) के अन्त (दूर) में स्थित होता है।

{1086}

सदा सच्चेण संपण्णे मेत्तिं भूतेसु कप्पए॥

(सू.कृ. 1/15/3)

सदा सत्य से संपन्न हो जीवों के साथ मैत्री करे।

{1087}

तिविहेण वि पाण मा हणे आयहिएं अणियाण संवुडे।
एवं सिद्धा अणंतगा संपइ जे य अणागयावरे॥

(सू.कृ. 1/2/3/75)

साधक मन, वचन और काया, कृत, कारित और अनुमति- इन तीनों प्रकारों से किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, आत्मा में लीन रहे, सुखों की अभिलाषा न करे, इन्द्रिय और मन का संयम करे। इन गुणों का अनुसरण कर अनन्त मनुष्य (अतीत में) सिद्ध हुए है, कुछ (वर्तमान में) हो रहे हैं और (भविष्य में) होंगे।

{1088}

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो॥ (8)

(दशवै. 6/271)

(तीर्थंकर) महावीर ने उन (अठारह आचारस्थानों) में प्रथम स्थान अहिंसा का कहा है, (क्योंकि) अहिंसा को (उन्होंने) सूक्ष्मरूप से (अथवा अनेक प्रकार से सुखावहा) देखा है। सर्व जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है। (9)

{1089}

एयं खु णाणिणो सारं जं ण हिंसइ कंचणं।
अहिंसा समयं चेव एयावंतं वियाणिया॥

(सू.कृ. 1/1/4/85;1/11/10)

ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता। समता ही अहिंसा है, इतना ही उसे जानना है।

{1090}

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि, एत्तियगं जिणसासणयं॥

(बृह. भा. 4584)

जो अपने लिए चाहते हो उसे दूसरों के लिए भी चाहना चाहिए, जो अपने लिए नहीं चाहते हो उसे दूसरों के लिए भी नहीं चाहना चाहिए– बस इतना मात्र जिन-शासन है, तीर्थंकरों का उपदेश है।

{1091}

आरंभे पाणिवहो पाणिवहे होदि अप्पणो हु वहो।
अप्पा ण हु हंतव्वो पाणिवहो तेण मोत्तव्वो॥

(मूला. 10/923)

आरम्भ (हिंसा आदि) में प्राणियों का घात है और प्राणियों के घात में निश्चय से आत्मा का घात होता है। आत्मा का घात नहीं करना चाहिए, इसलिए प्राणियों की हिंसा छोड़ देनी चाहिए।

{1092}

जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ।

(भक्त. 93)

किसी भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुत: अपनी ही हत्या है, और अन्य जीव की दया अपने ऊपर ही दया है।

{1093}

अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताणं आसादेज्जा णो परं आसादेज्जा णो अण्णाइं पाणाइं जीवाइं सत्ताइं आसादेज्जा।

से अणासादए अणासादमाणे वज्झमाणाणं पाणाणं भूताणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवति सरणं महामुणी।

(आचा. 1/6/5 सू. 197)

भिक्षु विवेकपूर्वक धर्म का व्याख्यान करता हुआ अपने आपको बाधा (आशातना) न पहुंचाए, न दूसरे को बाधा पहुंचाए और न ही अन्य प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को बाधा पहुंचाए।

किसी भी प्राणी को बाधा न पहुंचाने वाला, तथा जिससे प्राण, भूत, जीव और सत्त्व का वध हो, (ऐसा धर्म व्याख्यान न देने वाला) तथा आहारादि की प्राप्ति के निमित्त भी (धर्मोपदेश न करने वाला) वह महामुनि संसार-प्रवाह में डूबते हुए प्राणों, भूतों, जीवों और सत्वों के लिए असंदीन द्वीप की तरह शरण होता है।

{1094}

जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
तं जाणमजाणं वा, न हणे, न हणावए॥ (9)

(दशवै. 6/272)

लोक में जितने भी त्रस अथवा स्थावर प्राणी हैं, साधु या साध्वी, जानते या अजानते, उनका (स्वयं) हनन न करे और न ही (दूसरों से) हनन कराए, (तथा हनन करने वालों की अनुमोदना भी न करें। (9)

{1095}

तसे पाणे न हिंसेज्जा वाया अदुव कम्मुणा।
उवरओ सव्वभूएसु पासेज्ज विविहं जगं॥ (12)

(दशवै. 8/400)

(मुनि) वचन अथवा कर्म (कार्य) से त्रस प्राणियों की हिंसा न करे। समस्त जीवों की हिंसा से उपरत (साधु या साध्वी) विविध स्वरूप वाले जगत् (प्राणिजगत्) को (विवेक पूर्वक) देखे। (12)

{1096}

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए॥

(उत्त. 6/7)

'सबको सब तरह से अध्यात्म-सुख प्रिय है, सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है'-यह जानकर भय और वैर से उपरत साधक किसी भी प्राणी के प्राणों की हिंसा न करे।

{1097}

कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उव-संकमित्तु गाहावती आतगताए आतगताए पहाए असणं वा वत्थं वा पाणाइं समारंभ जाव आहट्टु चेतेति आवसहं वा समुस्सिणाति तं भिक्खुं परिघासेतुं।

तं च भिक्खू जाणेज्जा सह- सम्मुतियाए परवागरणेणं अण्णेसिं वा सोच्चा- अयं खलु गाहावती मम अट्ठाए असणं वा वत्थं वा पाणाइं समारंभ चेतेति आवसहं वा समुस्सिणाति। तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि।

(आचा. 1/8/2 सू. 205)

वह भिक्षु कहीं भी विचरण कर रहा है, उस समय उस भिक्षु के पास आ कर कोई गृहपति अपने आत्म-गत भावों को प्रकट किये बिना (मैं साधु को अवश्य ही दान दूंगा, इस अभिप्राय को मन में संजोए हुए) प्राणों, भूतों जीवों और सत्त्वों के समारम्भपूर्वक अशन, पान आदि बनवाता है, साधु के उद्देश्य से मोल लेकर, उधार ला कर, दूसरों से छीन कर, दूसरे के अधिकार की वस्तु उसकी बिना अनुमति के लाकर, अथवा घर से ला कर देना चाहता है या उपाश्रय का निर्माण या जीर्णोद्धार कराता है, वह (यह सब) उस भिक्षु के उपभोग के या निवास के लिए (करता है)।

(साधु के लिए किए गए) उस (आरम्भ) को वह भिक्षु अपनी सद्बुद्धि से, दूसरों (अतिशयज्ञानियों) के उपदेश से या तीर्थंकरों की वाणी से अथवा अन्य किसी उसके परिजनादि से सुन कर यह जान जाए कि यह गृहपति मेरे लिए, प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के समारम्भ से अशनादि या वस्त्रादि बनावा कर या मेरे निमित्त मोल लेकर, उधार लेकर, दूसरों से छीन कर, दूसरे की वस्तु उसके स्वामी से अनुमति प्राप्त किए बिना ला कर अथवा अपने धन से उपाश्रय बनवा रहा है, भिक्षु उसकी सम्यक् प्रकार से पर्यालोचना (छान-बीन) करके, आगम में कथित आदेश से या पूरी तरह से जान कर उस गृहस्थ को साफ-साफ बता दे कि ये सब पदार्थ मेरे लिए सेवन करने योग्य नहीं हैं, (इसलिए मैं इन्हें स्वीकार नहीं कर सकता)। इस प्रकार मैं कहता हूं।

{1098}

न सयं गिहाइं कुज्जा णेव अन्नेहिं कारए।
गिहकम्मसमारम्भे भूयाणं दीसई वहो॥

(उत्त. 35/8)

भिक्षु न स्वयं घर बनाए, और न दूसरों से बनवाए। चूंकि गृह-कर्म के समारंभ में प्राणियों का वध देखा जाता है।

{1099}

तसाणं थावराणं च सुहुमाण बायराण य।
तम्हा गिहसमारम्भं संजओ परिवज्जए॥

(उत्त. 35/9)

चूंकि गृह-कर्म के सभारंभ में त्रस व स्थावर तथा सूक्ष्म व बादर (स्थूल)-जीवों का वध होता है, अत: संयत भिक्षु गृह-कर्म के समारंभ का परित्याग करे।

{1100}

न बाहिरं परिभवे अत्ताणं न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा, जच्चा तवसि बुद्धिए॥ (30)

(दशवै. 8/418)

साधु अपने से भिन्न किसी जीव का तिरस्कार न करे। अपना उत्कर्ष भी प्रकट न करे। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि से (उत्कृष्ट होने पर भी) मद भी न करे। (30)

6 अहिंसा-साधना और ध्यान-योग

[जो ध्यान शुभ परिणामों से किया जाता है उसे प्रशस्त ध्यान कहते हैं और जो अशुभ परिणामों से किया जाता है उसे अप्रशस्त ध्यान कहते हैं। प्रशस्त ध्यान के धर्म्य और शुक्ल ऐसे दो भेद हैं तथा अप्रशस्त ध्यान के आर्त और रौद्र ऐसे दो भेद हैं। इस प्रकार जैन शास्त्रों में वह ध्यान आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल के भेद से चार प्रकार का वर्णित किया गया है। इन चारों ध्यानों में से पहले के दो अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यान छोड़ने के योग्य हैं क्योंकि वे खोटे ध्यान हैं, हिंसात्मक हैं और संसार को बढ़ाने वाले हैं किन्तु आगे के दो अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ध्यान साधक के लिए ग्रहण करने योग्य हैं। क्योंकि वे साधक को अहिंसा की पूर्णता की ओर ले जाने वाले होते हैं।]

○ हिंसात्मक अप्रशस्त ध्यान: योगी/साधु के लिए हेय

{1101}

रोद्दे झाणे चउव्विधे पन्नत्ते, तं जहा-- हिंसाणुबंधी, मोसाबंधी, तेयाणुबंधी, सारक्खणाणुबंधी।

(व्या. प्र. 25/7/240)

रौद्रध्यान चार प्रकार का कहा गया है। यथा- (1) हिंसानुबन्धी, (2) मृषानुबन्धी, (3) स्तेयानुबन्धी, और (4) संरक्षणाऽनुबन्धी।

*[**रौद्रध्यानः स्वरूप और प्रकार-** हिंसा, असत्य चोरी तथा धन आदि की रक्षा में अहर्निश चित्त को जोड़ना 'रौद्रध्यान' है। रौद्रध्यान में हिंसा आदि के अति क्रूर परिणाम होते हैं। अथवा हिंसा में प्रवृत्त आत्मा द्वारा दूसरों को रुलाने या पीड़ित करने वाले व्यापार का चिन्तन करना भी रौद्रध्यान है। अथवा छेदन, भेदन, काटना, मारना, पीटना, वध करना, प्रहार करना, दमन करना इत्यादि क्रूर कार्यों में जो राग रखता है, जिसमें अनुकम्पाभाव नहीं है, उस व्यक्ति का ध्यान भी रौद्रध्यान कहलाता है। रौद्रध्यान के हिंसानुबन्धी आदि चार भेद हैं।*

हिंसानुबन्धी- प्राणियों पर चाबुक आदि से प्रहार करना, नाक-कान आदि को कील से बींध देना, रस्सी, लोहे की श्रृंखला (सांकल) आदि से बांधना, आग में झोंक देना, शस्त्रादि से प्राणवध करना, अंगभंग कर देना आदि तथा इनके जैसे क्रूर कर्म करते हुए अथवा न करते हुए भी क्रोधवश होकर निर्दयतापूर्वक ऐसे हिंसाजनक कुकृत्यों का सतत चिन्तन करना तथा हिंसाकारी योजनाएं मन में बनाते रहना हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है।

मृषानुबन्धी- दूसरों को छलने, ठगने, धोखा एवं चकमा देने तथा छिप कर पापाचरण करने, झूठा प्रचार करने, झूठी अफवाहें फैलाने, मिथ्या-दोषारोपण करने की योजना बनाते रहना, ऐसे पापाचरण के अनिष्टसूचक वचन, असभ्य वचन, असत् अर्थ के प्रकाशन, सत्य अर्थ के अपलाप, एक के बदले दूसरे पदार्थ आदि के कथनरूप असत्य वचन बोलने तथा प्राणियों का उपघात करने वाले वचन कहने का निरन्तर चिन्तन करना मृषानुबन्धी रौद्रध्यान है।

स्तेयानुबन्धी (चौर्यानुबन्धी)– तीव्र लोभ एवं तीव्र काम व क्रोध से व्याप्त चित्त वाले पुरुष की चित्तवृत्ति का प्राणियों के उपघातक, परनारीहरण तथा परद्रव्यहरण आदि कुकृत्यों में निरन्तर होना, स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान है।

संरक्षणानुबन्धी– शब्दादि पांच विषयों के साधनभूत धन की रक्षा करने की चिन्ता करना और 'न मालूम दूसरा क्या करेगा?' इस आशंका से दूसरे का उपघात करने की कषाययुक्त चित्त-वृत्ति रखना संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है।]

{1102}

प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः क्रूरः सत्त्वेषु निर्घृणः।
पुमांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम्॥
हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयसंरक्षणात्मकम् ।

(आ. पु. 21/42-43)

जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है, वह रुद्र, क्रूर अथवा सब जीवों में निर्दय कहलाता है, ऐसे पुरुष का जो ध्यान होता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं। यह रौद्रध्यान भी चार प्रकार का होता है। हिंसानन्द अर्थात् हिंसा में आनन्द मानना, मृषानन्द अर्थात् झूठ बोलने में आनन्द मानना, स्तेयानन्द अर्थात् चोरी करने में आनन्द मानना और संरक्षणानन्द अर्थात् परिग्रह की रक्षा में ही रात-दिन लगा रह कर आनन्द मानना- ये रौद्रध्यान के चार भेद हैं।

{1103}

प्रकष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपोद्वलबृंहितम् ।
अन्तर्मुहूर्तकालोत्थं पूर्ववद्भाव इष्यते॥
वधबन्धाभिसंधानमङ्गच्छेदोपतापने ।
दण्डपारुष्यमित्यादि हिंसानन्दः स्मृतो बुधैः॥

(आ. पु. 21/44-45)

यह रौद्रध्यान अत्यन्त अशुभ, कृष्ण आदि तीन खोटी लेश्याओं के बल से उत्पन्न होता है, अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है और पहले आर्तध्यान के समान इसका क्षायोपशमिक भाव होता है। किसी मारने और बांधने आदि की इच्छा रखना, अंग-उपांगों को छेदना, सन्ताप देना तथा कठोर दण्ड देना आदि को विद्वान् लोग हिंसानन्द नाम का आर्तध्यान कहते हैं।

{1104}

रोद्दे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा- हिंसाणुबंधि, मोसाणुबंधि, तेणाणुबंधि, सारक्खणाणुबंधि।

(ठा. 4/1/63)

रौद्रध्यान चार प्रकार का कहा गया है, जैसे-

1. हिंसानुबन्धी- निरन्तर हिंसक प्रवृत्ति में तन्मयता कराने वाली चित्त की एकाग्रता।
2. मृषानुबन्धी- असत्य भाषण सम्बन्धी एकाग्रता।
3. स्तेनानुबन्धी- निरन्तर चोरी करने-कराने की प्रवृत्ति सम्बन्धी एकाग्रता।
4. संरक्षणानुबन्धी- परिग्रह के अर्जन और संरक्षण सम्बन्धी तन्मयता।

{1105}

हिंसानन्दान्मृषानन्दाच्चौर्यात् संरक्षणात्तथा।
प्रभवत्यङ्गिनां शश्वदपि रौद्रं चतुर्विधम्॥

(ज्ञा. 24/2/1224)

(1) हिंसा में आनन्द मानने से, (2) असत्य भाषण में आनन्द मानने से, (3) चोरी के अभिप्राय से तथा (4) विषयों के संरक्षण की भावना के कारण प्राणियों के निरन्तर चार प्रकार का 'रौद्र ध्यान' उत्पन्न होता है।

{1106}

हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते।
स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसारौद्रमुच्यते॥

(ज्ञा. 24/4/1226)

स्वयं अपने द्वारा अथवा अन्य के द्वारा प्राणि-समूह के मारे जाने पर, दबाये जाने पर, नष्ट किये जाने पर, अथवा पीड़ित किये जाने पर जो हर्ष हुआ करता है, उसे भी 'रौद्रध्यान' कहते हैं।

{1107}

रुद्दस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा- ओसण्णदोसे, बहुदोसे, अण्णाणदोसे, आमरणंतदोसे।

(ठा. 4/1/64)

रौद्रध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं, जैसे-

1. उत्सन्नदोष- हिंसादि किसी एक पाप में निरन्तर प्रवृत्ति करना।
2. बहुदोष- हिंसादि सभी पापों के करने में संलग्न रहना।
3. अज्ञानदोष- कुशास्त्रों के संस्कार से हिंसादि अधार्मिक कार्यों को धर्म मानना।
4. आमरणान्त दोष- मरणकाल तक भी हिंसादि करने का अनुताप न होना।

{1108}

गगनवनधरित्रीचारिणां देहभाजाम्,
दलनदहनबन्धच्छेदघातेषु यत्नम्।
दृतिनखकरनेत्रोत्पाटने कौतुकं यत्,
तदिह गदितमुच्चैश्चेतसां रौद्रमित्थम्॥

(ज्ञा. 24/8/1230)

आकाश, जल और पृथिवी के ऊपर संचार करने वाले प्राणियों के पीसने, जलाने, बांधने, काटने और प्राणघात करने में जो प्रयत्न होता है तथा उनका चमड़ा, नख, हाथ और नेत्रों के उखाड़ने में जो कुतूहल होता है, उसे यहां मनस्वी जनों ने 'रौद्रध्यान' कहा है।

{1109}

सिक्थमत्स्यः किलैकोऽसौ स्वयम्भूरमणाम्बुधौ।
महामत्स्यसमान्दोषानवाप स्मृतिदोषतः॥
पुरा किलारविन्दाख्यः प्रख्यातः खचराधिपः।
रुधिरस्नानरौद्राभिसंधिः श्वाभ्रीं विवेश सः॥

(आ. पु. 21/47-48)

स्वयंभूरमण समुद्र में जो तन्दुल नाम का छोटा मत्स्य रहता है, वह केवल स्मृति/ध्यान सम्बन्धी दोष से ही महामत्स्य के समान दोषों को प्राप्त होता है। इसी प्रकार पूर्वकाल में अरविन्द नाम का प्रसिद्ध विद्याधर केवल रुधिर में स्नान करने रूप रौद्र ध्यान से ही नरक गया था।

[भावार्थ- राघव मत्स्य के कान में जो तन्दुल मत्स्य रहता है, वह यद्यपि जीवों की हिंसा नहीं कर पाता है, केवल बड़े मत्स्य के मुख विवर में आये हुए जीवों को देखकर उसके मन में उन्हें मारने का भाव उत्पन्न होता है तथापि वह उस भाव-हिंसा के कारण मर कर राघव मत्स्य के समान ही सातवें नरक में जाता है।]

{1110}

हिंसाकर्मणि कौशलं निपुणता पापोपदेशे भृशम्,
दाक्ष्यं नास्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रतिः।
संवासः सह निर्दयैरविरतं नैसर्गिकी क्रूरता,
यत्स्याद्देहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयैः॥

(ज्ञा. 24/6/1228)

प्राणियों के हिंसा करने में जो कुशलता, पाप के उपदेश में अतिशय प्रवीणता, नास्तिक मत के प्रतिपादन में चतुरता, प्रतिदिन प्राणघात में अनुराग, दुष्ट जनों के साथ सहवास, तथा निरन्तर जो स्वाभाविक दुष्टता रहती है, उसे यहां वीतराग महात्माओं ने 'रौद्रध्यान' कहा है।

{1111}

केनोपायेन घातो भवति तनुमतां कः प्रवीणोऽत्र हन्ता,
हन्तुं कस्यानुरागः कतिभिरिह दिनैर्हन्यते जन्तुजातम्।
हत्वा पूजां करिष्ये द्विजगुरुमरुतां कीर्तिशान्त्यर्थमित्थम्,
यः स्याद्धिंसाभिनन्दो जगति तनुभृतां तद्धि रौद्रं प्रणीतम्॥

(ज्ञा. 24/7/1229)

प्राणियों का घात किस उपाय से हो सकता है, यहां कौन सा घातक चतुर है, प्राण-घात में अनुराग किसे रहता है, यह प्राणियों का समूह यहां कितने दिन में मारा जा सकता है, मैं उसे मार कर कीर्ति और शान्ति के लिए ब्राह्मण, गुरु और वायुदेव की पूजा करूंगा, इस प्रकार चिन्तन के साथ संसार में प्राणियों को जो हिंसाकर्म में आनन्द हुआ करता है, उसे 'रौद्रध्यान' कहा जाता है।

{1112}

हिंसानन्दं समाधाय हिंस्त्रः प्राणिषु निर्घृणः।
हिनस्त्यात्मानमेव प्राक् पश्चाद् हन्यान्न वा परान्॥

(आ. पु. 21/46)

जीवों पर दया न करने वला हिंसक पुरुष हिंसानन्द नाम के रौद्रध्यान को धारण कर पहले अपने-आपका घात करता है, पीछे अन्य जीवों का घात करे अथवा न भी करे।

[भावार्थ- अन्य जीवों का मारा जाना उनके आयु कर्म के अधीन है, परन्तु मारने का संकल्प करने वाला हिंसक पुरुष तीव्र कषाय उत्पन्न होने से अपने आत्मा की हिंसा अवश्य कर लेता है अर्थात् अपने क्षमा आदि गुणों को नष्ट कर भाव-हिंसा का अपराधी अवश्य हो जाता है।]

{1113}

हिंसाणंदेण जुदो असच्च-वयणेण परिणदो जो हु।
तत्थेव अथिर-चित्तो रुद्दं झाणं हवे तस्स॥

(स्वा. कार्ति. 12/475)

जो मनुष्य हिंसा में आनन्द मानता है और असत्य बोलने में भी आनन्द मानता है तथा उसी में जिसका अस्थिर चित्त संलग्न रहता है, उसके रौद्र ध्यान होता है।

{1114}

हिंसादीन्युक्तलक्षणानि। तानि रौद्रध्यानोत्पत्तेर्निमित्तीभवन्तीति।

(सर्वा. 9/35/888)

हिंसादिक के लक्षण यथास्थान कहे गए हैं। वे (हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य व परिग्रह) रौद्रध्यान की उत्पत्ति में निमित्त होते हैं।

{1115}

तेणिक्कमोससारक्खणेसु तध चेव छव्विहारंभे।
रुद्दं कसायसहिदं झाणं भणियं समासेण॥

(मूला. 4/396)

चोरी, असत्य, परिग्रहसंरक्षण और छह प्रकार की जीव-हिंसा के आरम्भ में कषाय सहित होना- संक्षेप में यह रौद्र ध्यान है।

{1116}

अस्य घातो जयोऽन्यस्य समरे जायतामिति।

स्मरत्यङ्गी तदप्याहू रौद्रमध्यात्मवेदिन:॥

(ज्ञा. 24/9/1231)

युद्ध में अमुक प्राणी का घात हो तथा दूसरे की जीत हो, इस प्रकार से जो स्मरण (चिन्तन) किया जाता है उसको भी अध्यात्म के वेत्ता जन 'रौद्र ध्यान' कहते हैं।

{1117}

अनानृशंस्यं हिंसोपकरणादानतत्कथा:।

निसर्गहिंस्रता चेति लिङ्गान्यस्य स्मृतानि वै॥

मृषानन्दो मृषावादैरतिसन्धानचिन्तनम्।

वाक्पारुष्यादिलिङ्गं तद् द्वितीयं रौद्रमिष्यते॥

(आ. पु. 21/49-50)

क्रूर होना, हिंसा के उपकरण तलवार आदि को धारण करना, हिंसा की ही कथा करना और स्वभाव से ही हिंसक होना- ये हिंसानन्द रौद्रध्यान के चिह्न माने गये हैं। झूठ बोल कर लोगों को धोखा देने का चिन्तवन करना- यह मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्रध्यान है तथा कठोर वचन बोलना आदि इसके बाह्य चिह्न हैं।

{1118}

अनारतं निष्करुणस्वभाव: स्वभावत: क्रोधकषायदीप्त:।

मदोद्धत: पापमति: कुशील: स्यान्नास्तिको य: स हि रौद्रधामा॥

(ज्ञा. 24/5/1227)

जो जीव निरन्तर क्रूर स्वभाव से संयुक्त, स्वभावत: क्रोधकषाय से सन्तप्त, अभिमान में चूर रहने वाला, पापबुद्धि, दुराचारी और नास्तिक (लोक-परलोक को न मानने वाला) होता है, उसे रौद्रध्यान का स्थान (रौद्रध्यानी) समझना चाहिए।

{1119}

श्रुते दृष्टे स्मृते जन्तुवधाद्युरुपराभवे।
या मुदस्तद्धि विज्ञेयं रौद्रं दुःखानलेन्धनम्॥

(ज्ञा. 24/10/1232)

जीवों के वध आदि तथा उनके अत्यन्त पराजय के सुनने , देखने अथवा स्मरण होने पर जो हर्ष हुआ करता है उसे 'रौद्रध्यान' जानना चाहिए। वह 'रौद्रध्यान' दुःखरूप अग्नि के बढ़ाने में इन्धन के समान काम करता है।

{1120}

क्रूरता दण्डपारुष्यं वञ्चकत्वं कठोरता।
निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः॥

(ज्ञा. 24/35/1259)

दुष्टता, दण्ड की कठोरता, धूर्तता, कठोरता और स्वभाव में निर्दयता-ये आचार्यों के द्वारा उस रौद्रध्यान के आभ्यन्तर चिन्ह कहे गये हैं।

{1121}

हिंसोपकरणादानं क्रूरसत्त्वेष्वनुग्रहम्।
निस्त्रिंशतादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम्॥

(ज्ञा. 24/13/1237)

हिंसा के उपकरणभूत विष-शस्त्रादि का ग्रहण करना, दुष्ट जीवों के विषय में उपकार का भाव रखना तथा निर्दयतापूर्ण व्यवहार आदि- ये भी प्राणियों के 'रौद्रध्यान' के बाह्य चिन्ह हैं।

O अहिंसात्मक वीतरागताः योग-साधक का परम लक्ष्य

[रागादि की उत्पत्ति ही हिंसा है और वीतरागता ही अहिंसा है (देखें-सूक्ति संख्या 1 व 3, इस ग्रन्थ में पृष्ठ संख्या 1)। साधु ध्यान-योग साधना के क्रम में वीतराग को ध्यान-विषय बनाता है और वीतरागता रूपी लक्ष्य को प्राप्त करने का यत्न करता है। उसका सम्बल होता है-साम्य भाव जो वीतरागता का ही एक पर्याय है। इस प्रकार उसका साधन व साध्य, दोनों ही वीतरागता/अहिंसा रूप लिए होते हैं। इस सन्दर्भ में उपयोगी कुछ विशिष्ट शास्त्रीय वचन यहां प्रस्तुत हैं:-]

{1122}

मनःशुद्ध्यैव कर्त्तव्यो राग-द्वेष-विनिर्जयः।
कालुष्यं येन हित्वाऽऽत्मा स्वस्वरूपेऽवतिष्ठते॥
अस्ततन्द्रैरतः पुम्भिर्निर्वाणपदकांक्षिभिः।
विधातव्यः समत्वेन रागद्वेषद्विषज्जयः॥

(है. योग. 4/45,49)

आत्मस्वरूप भावमन की शुद्धि के लिए प्रीति-अप्रीतिस्वरूप राग-द्वेष का निरोध करना चाहिए। अगर राग-द्वेष उदय में आ जाएं तो उन्हें निष्फल कर देना चाहिए। ऐसा करने से आत्मा मलिनता (कालुष्य) का त्याग करके अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। अतः निर्वाणपद पाने के अभिलाषी योगी पुरुषों को तन्द्रा (प्रमाद) छोड़ कर सावधानी के साथ समत्त्व के द्वारा रागद्वेषरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

{1123}

वीतरागो विमुच्येत, वीतरागं विचिन्तयन्।
रागिणं तु समालम्ब्य, रागी स्यात् क्षोभणादिकृत्॥

(है. योग. 9/13)

श्री वीतरागदेव का ध्यान करने वाला स्वयं वीतराग हो कर कर्मों या वासनाओं से मुक्त हो जाता है। इसके विपरीत रागी देवों का आलम्बन लेने वाला या ध्यान करने वाला काम, क्रोध, हर्ष, विषाद, राग-द्वेषादि दोष प्राप्त करके स्वयं सरागी बन जाता है।

{1124}

साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः॥

(ज्ञा. 22/13/1159)

समस्त लोक के ज्ञाता-द्रष्टा सर्वज्ञ देव ने एक साम्यभाव को ही उत्कृष्ट ध्यान के रूप में निरूपित किया है। मेरा तो यह विचार है कि सभी शास्त्रों का विस्तार (भी) उसी 'साम्य' को स्पष्ट करने के लिए ही हुआ है।

{1125}

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥

(प्रव. 1/7)

निश्चय से चारित्र धर्म को कहते हैं, शम अथवा साम्यभाव को धर्म कहा है, और मोह- मिथ्या दर्शन तथा क्षोभ- राग द्वेष से रहित आत्मा का परिणाम ही शम अथवा साम्यभाव कहलाता है।

O अहिंसा-यम आदि का अनुष्ठानः ध्यान-योग का अंग

{1126}

इहाहिंसादयः पञ्च सुप्रसिद्धा यमाः सताम्।
अपरिग्रहपर्यन्तास्तथेच्छादिचतुर्विधाः ॥

(यो.दृ.स. 214)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह- ये पांच यम साधकों में सुप्रसिद्ध-सुप्रचलित हैं। इनमें अहिंसा से अपरिग्रह तक प्रत्येक के इच्छायम, प्रवृत्तियम, स्थिरयम तथा सिद्धियम के रूप में चार-चार भेद हैं। *ये चारों भेद अहिंसा आदि यमों की तरतमता या विकासकोटि की दृष्टि से हैं, उनके क्रमिक अभिवर्धन के सूचक हैं।*

इन भेदों के आधार पर निम्नांकित रूप में यम बीस प्रकार के होते हैं।

अहिंसाः-

1. इच्छा-अहिंसा, 2. प्रवृत्ति-अहिंसा, 3. स्थिर-अहिंसा, 4. सिद्धि-अहिंसा।

सत्यः-

5. इच्छा-सत्य, 6. प्रवृत्ति-सत्य, 7. स्थिर-सत्य, 8. सिद्धि-सत्य।

अस्तेयः-

9. इच्छा-अस्तेय,10. प्रवृत्ति-अस्तेय, 11. स्थिर-अस्तेय, 12. सिद्धि-अस्तेय।

ब्रह्मचर्यः-

13. इच्छा-ब्रह्मचर्य, 14. प्रवृत्ति-ब्रह्मचर्य, 15. स्थिर-ब्रह्मचर्य, 16. सिद्धि-ब्रह्मचर्य।

अपरिग्रहः-

17. इच्छा-अपरिग्रह, 18. प्रवृत्ति-अपरिग्रह, 19. स्थिर-अपरिग्रह, 20. सिद्धि-अपरिग्रह।

{1127}

तद्वत्कथाप्रीतियुता तथाऽविपरिणामिनी।
यमेष्विच्छावसेयेह प्रथमो यम एव तु॥

(यो.दृ.स. 215)

यमों के प्रति आन्तरिक इच्छा, अभिरुचि, स्पृहा, आकांक्षा, जो यमाराधक सत्पुरुषों की कथा में प्रीति लिए रहती हैं, जिसमें इतनी स्थिरता होती है कि जो कभी विपरिणत नहीं होती-अनिच्छारूप में परिणत नहीं होती-पहला 'इच्छायम' है।

{1128}

सर्वत्र शमसारं तु यमपालनमेव यत्।
प्रवृत्तिरिह विज्ञेया द्वितीयो यम एव तत्॥

(यो.दृ.स. 216)

इच्छायम द्वारा अहिंसा आदि में उत्कण्ठा जागरित होती है, अंतरात्मा में उन्हें स्वायत्त करने की तीव्र भावना उत्पन्न होती है। फलतः साधक जीवन में उन्हें (अहिंसा आदि यमों को) क्रियान्वित करता है, प्रवृत्ति में स्वीकार करता है-उनमें प्रवृत्त होता है, वह 'प्रवृत्ति-यम' है।

{1129}

विपक्षचिन्तारहितं यमपालनमेव तत् ।
तत्स्थैर्यमिह विज्ञेयं तृतीयो यम एव हि ॥

(यो.दृ.स. 217)

प्रवृत्तियम के अंतर्गत साधक अहिंसा आदि के परिपालन में प्रवृत्त तो हो जाता है, किंतु अतिचार, दोष, विघ्न आदि का भय बना रहता है। स्थिरयम में वैसा नहीं होता। साधक के अन्तर्मन में इतनी स्थिरता व्याप्त हो जाती है कि वह विपक्ष-अतिचाररूप कण्टक-विघ्न, हिंसादिरूप ज्वर, विघ्न तथा मतिमोह या मिथ्यात्वरूप दिङ्मोह-विघ्न आदि की चिंता से रहित हो जाता है। ये तथा दूसरे विघ्न, दोष आदि उसके मार्ग में अवरोध उत्पन्न नहीं कर पाते।

O अहिंसक वातावरण का निर्माता: ध्यानयोगी श्रमण

{1130}

परार्थसाधकं त्वेतत्सिद्धिः शुद्धान्तरात्मनः।
अचिन्त्यशक्तियोगेन चतुर्थो यम एव तु ॥

(यो.दृ.स. 218)

शुद्ध अंतरात्मा की अचिन्त्य शक्ति के योग से परार्थ-साधक-दूसरों का उपकार साधने वाला यम 'सिद्धियम' है।

[जीवन में क्रमशः उत्तरोत्तर विकास पाते अहिंसा आदि यम इतनी उत्कृष्ट कोटि में पहुंच जाते हैं कि साधक में अपने आप एक दिव्य शक्ति का उद्रेक हो जाता है। उसके कुछ बोले बिना किए बिना, केवल उसकी सन्निधिमात्र से, उपस्थित प्राणियों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे स्वयं बदल जाते हैं, उनकी दुर्वृत्ति छूट जाती है। यमों के सिद्ध हो जाने से दृष्ट फलित क्या-क्या होते हैं, महर्षि पंतजलि ने इस सम्बन्ध में अपने योगसूत्र में विशद चर्चा की है। उदाहरणार्थ, अहिंसा यम के सिद्ध हो जाने पर उनके अनुसार अहिंसक योगी के समीप के वातावरण में अहिंसा इतनी व्याप्त हो जाती है कि जन्म से परस्पर वैर रखने वाले प्राणी भी वहां स्वयं आपस का वैर छोड़ देते हैं।]

{1131}

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम्।
अपि स्वार्थप्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः॥

(ज्ञा. 22/20/1166)

अपने आत्मप्रयोजन की सिद्धि में प्रवृत्त हुए मुनि के साम्यभाव के प्रभाव से परस्पर में वैरभाव को रखने वाले दुष्ट जीव भी शान्ति को प्राप्त होते हैं- जातिगत दुष्ट स्वभाव को छोड़ देते हैं।

{1132}

भजन्ति जन्तवो मैत्र्यमन्योन्यं त्यक्तमत्सराः।
समत्वालम्बिनां प्राप्य पादपद्मार्चितां क्षितिम्॥

(ज्ञा. 22/21/1167)

साम्यभाव का आश्रय लेने वाले मुनियों के चरण-कमलों से पूजित (अधिष्ठित) पृथ्वी को पाकर प्राणी परस्पर में मत्सरता (द्वेष व ईर्ष्या) छोड़ कर मित्रता को प्राप्त होते हैं।

{1133}

शाम्यन्ति योगिभिः क्रूरा जन्तवो नेति शंक्यते।
दावदीप्तमिवारण्यं यथा वृष्टैर्बलाहकैः॥

(ज्ञा. 22/22/1168)

दावानल से प्रज्वलित वन जिस प्रकार वर्षा को प्राप्त हुए मेघों के प्रभाव से शान्त हो जाता है, उसी प्रकार साम्यभाव को प्राप्त हुए योगियों के प्रभाव से दुष्ट जीव अपनी क्रूरता को छोड़कर शान्त हो जाते हैं, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

{1134}

भवन्त्यतिप्रसन्नानि कश्मलान्यपि देहिनाम्।
चेतांसि योगिसंसर्गेऽगस्त्ययोगे जलं यथा॥

(ज्ञा. 22/23/1169)

जिस प्रकार अगस्त्य तारे के संयोग से बरसात का मलिन जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार योगियों के संसर्ग से प्राणियों के मलिन मन भी अत्यन्त निर्मल हो जाते हैं।

{1135}

स्निह्यन्ति जन्तवो नित्यं, वैरिणोऽपि परस्परम्।
अपि स्वार्थकृते साम्यभाजः साधोः प्रभावतः॥

(है. योग. 4/54)

यद्यपि साधु अपने स्वार्थ के लिए समत्व का सेवन करते हैं; फिर भी समभाव की महिमा ऐसी अद्भुत है कि उसके प्रभाव से नित्य वैर रखने वाले सर्प-नकुल जैसे जीव भी परस्पर प्रेम-भाव धारण कर लेते हैं।

{1136}

जन्मानुबन्धवैरो यः सर्वोऽहिनकुलादिकः।
तस्यापि जायतेऽजर्यं संगतं सुगताज्ञया॥

(ह. पु. 59/86)

(भ. ऋषभदेव तीर्थंकर के विहार -क्षेत्र में) जो सांप, नेवला आदि समस्त जीव जन्म से ही वैर रखते थे, उन सभी में भगवान् की आज्ञा से अखण्ड मित्रता हो गयी थी।

{1137}

सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतम्,
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम्।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति,
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्॥

(ज्ञा. 22/26/1172)

जिस योगी ने मोह से रहित होकर पाप को शान्त कर दिया है और असाधारण साम्य भाव को प्राप्त कर लिया है, उसका आश्रय पाकर मृगी भी सिंह के बच्चे को पुत्र के समान स्नेह से स्पर्श करती है, गाय व्याघ्र के बच्चे से बछड़े के समान प्रेम करती है, बिल्ली हंस के बच्चे से स्नेह करती है, तथा मयूरी स्नेह के वशीभूत होकर सर्प का स्पर्श करती है। इसी प्रकार, अन्य प्राणी भी अभिमान से रहित होकर उक्त योगी के प्रभाव से अपने जन्मजात वैरभाव को भी छोड़ देते हैं।

{1138}

तत्पदोपान्तविश्रान्ता विस्रब्धा मृगजातयः।
बबाधिरे मृगैर्नान्यैः क्रूरैरक्रूरतां श्रितैः॥
विरोधिनोऽप्यमी मुक्तविरोधस्वैरमासिताः।
तस्योपाङ्घ्रीभसिंहाद्याः शशंसुर्वैभवं मुनेः॥

(आ. पु. 36/164-165)

उन (भगवान् बाहुबलि) के चरणों के समीप विश्राम करने वाले मृग आदि पशु सदा विश्वस्त अर्थात् निर्भय रहते थे, उन्हें सिंह आदि दुष्ट जीव कभी बाधा नहीं पहुंचाते थे क्योंकि वे स्वयं वहां आकर अक्रूर अर्थात् शान्त हो जाते थे। उनके चरणों के समीप हाथी, सिंह आदि विरोधी जीव भी परस्पर का वैर-भाव छोड़ कर इच्छानुसार उठते-बैठते थे और इस प्रकार वे मुनिराज के ऐश्वर्य को सूचित करते थे।

{1139}

जरज्जम्बूकमाघ्राय मस्तके व्याघ्रधेनुका।
स्वशावनिर्विशेषं तामपीप्यत् स्तन्यमात्मन:॥
करिणो हरिणारातीनन्वीयु: सह यूथपै:।
स्तनपानोत्सुका भेजु: करिणी: सिंहपोतका:॥
कलभान् कलभाङ्कारमुखरान् नखरै: खरै:।
कण्ठीरव: स्पृशन् कण्ठे नाभ्यनन्दि न यूथपै:॥
करिण्यो विसिनीपत्रपुटै: पानीयमानयत्।
तद्योगपीठपर्यन्तभुव: सम्मार्जनेच्छया॥

(आ. पु. 36/166-169)

हाल की ब्यायी हुई सिंही भैंसे के बच्चे का मस्तक सूंघ कर उसे अपने बच्चे के समान अपना दूध पिला रही थी। हाथी अपने झुण्ड के मुखियों के साथ-साथ सिंहों के पीछे-पीछे जा रहे थे और स्तन के पीने में उत्सुक हुए सिंह के बच्चे हथिनियों के समीप पहुंच रहे थे। बालकपन के कारण मधुर शब्द करते हुए हाथियों के बच्चों को सिंह अपने पैने नाखूनों से उनकी गरदन पर स्पर्श कर रहा था और ऐसा करते हुए उस सिंह को हाथियों के सरदार बहुत ही अच्छा समझ रहे थे- उनका अभिनन्दन कर रहे थे। उन मुनिराज के ध्यान करने के आसन के समीप की भूमि को साफ करने की इच्छा से हथिनियां कमलिनी के पत्तों का दोना बनाकर उसमें भर-भरकर पानी ला रही थीं।

{1140}

पुष्करै: पुष्करोदस्तैर्न्यस्तैरधिपदद्वयम्।
स्तम्बेरमा मुनिं भेजुरहो शमकरं तप:॥
उपाङ्घ्रि भोगिनां भोगैर्विनीलैर्व्यरुचन्मुनि:।
विन्यस्तैरर्चनायेव नीलैरुत्पलदामकै:॥

(आ. पु. 36/170-171)

हाथी अपने सूंड़ के अग्रभाग से उठा कर लाये हुए कमल उनके दोनों चरणों पर रख देते थे और इस तरह वे उनकी उपासना करते थे। अहा! तपश्चरण कैसी शांति उत्पन्न करने वाला है! वे मुनिराज चरणों के समीप आये हुए सर्पों के काले फणाओं से ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो पूजा के लिए नीलकमलों की मालाएं ही बना कर रखी हों।

{1141}

फणमात्रोद्गता रन्ध्रात् फणिनः शितयोऽद्युतन्।
कृताः कुवलयैरर्घा मुनेरिव पदान्तिके॥
रेजुर्वनलता नम्रैः शाखाग्रैः कुसुमोज्ज्वलैः।
मुनिं भजन्त्यो भक्त्येव पुष्पार्घैर्नतिपूर्वकम्॥

(आ. पु. 36/172-173)

बामी के छिद्रों से जिन्होंने केवल फण ही बाहर निकाले हैं, ऐसे काले सर्प उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो मुनिराज के चरणों के समीप किसी ने नील-कमलों का अर्घ ही बना कर रखा हो। वन की लताएं फूलों से उज्ज्वल तथा नीचे से झुकी हुई छोटी-छोटी डालियों से ऐसी अच्छी सुशोभित हो रहीं थीं, मानो फूलों का अर्घ लेकर भक्ति से नमस्कार करती हुई वे मुनिराज की सेवा ही कर रही हों।

{1142}

शश्वद्विकासिकुसुमैः शाखाग्रैरनिलाहतैः।
बभुर्वनद्रुमास्तोषान्निनृत्सव इवासकृत्॥
कलैरलिरुतोद्गानैः फणिनो ननृतुः किल।
उत्फणाः फणरत्नांशुदीप्रैर्भोगैर्विवर्तितैः॥

(आ. पु. 36/174-175)

वन के वृक्ष, जिन पर सदा फूल खिले रहते हैं और जो वायु से हिल रहे हैं, ऐसे शाखाओं के अग्रभागों से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सन्तोष से बार-बार नृत्य ही करना चाहते हों। जिनके फण ऊंचे उठ रहे हैं ऐसे सर्प, भ्रमरों के शब्दरूपी सुन्दर गाने के साथ-साथ फणाओं पर लगे हुए रत्नों की किरणों से देदीप्यमान अपने फणाओं को घुमा-घुमाकर नृत्य कर रहे थे।

{1143}

पुंस्कोकिलकलालापडिण्डिमानुगतैर्लयैः ।
चक्षुःश्रवस्सु पश्यत्सु तद्द्विषोऽनटिषुर्मुहुः॥
महिम्ना शमिनः शान्तमित्यभूत्तच्च काननम्।
धत्ते हि महतां योगः शममप्यशमात्मसु॥

(आ. पु. 36/176-177)

मोर, कोकिलों के सुन्दर शब्दरूपी डिण्डिम बाजे के अनुसार होने वाले लय के साथ-साथ सर्पों के देखते रहते भी बार-बार नृत्य कर रहे थे। इस प्रकार अतिशय शान्त रहने वाले उन मुनिराज के माहात्म्य से वह वन भी शान्त हो गया था, वह ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषों का संयोग क्रूर जीवों में भी शान्ति उत्पन्न कर देता है।

{1144}

शान्तस्वनैर्नदन्ति स्म वनान्तेऽस्मिन् शकुन्तयः।
घोषयन्त इवात्यन्तं शान्तमेतत्तपोवनम्॥
तपोनुभावादस्यैवं प्रशान्तेऽस्मिन् वनाश्रये।
विनिपातः कुतोऽप्यासीत् कस्यापि न कथञ्चन॥

(आ. पु. 36/178-179)

इस वन में अनेक पक्षी शान्त शब्दों से चहक रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो इस बात की घोषणा ही कर रहे हों कि यह तपोवन अत्यन्त शान्त है। उन मुनिराज के तप के प्रभाव से यह वन का आश्रय ऐसा शान्त हो गया था कि यहां के किसी भी जीव को किसी के भी द्वारा कुछ भी उपद्रव/कष्ट नहीं हो रहा था।

○ अहिंसात्मक मैत्री आदि भावनाएं: ध्यान-योग की अंग

{1145}

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यं च यथाक्रमम्।
सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे ह्यविनेये च भाव्यते॥

(ह. पु. 58/125)

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य,- ये चार भावनाएं क्रम से प्राणी-मात्र, गुणाधिक, दुःखी और अविनेय जीवों में करनी चाहिएं।

[भावार्थ- किसी जीव को दुःख न हो ऐसा विचार करना 'मैत्री भावना' है। अपने से अधिक गुणी मनुष्यों को देख कर हर्ष प्रकट करना 'प्रमोद भावना' है। दुःखी मनुष्यों को देख कर हृदय में दयाभाव उत्पन्न होना 'करुणा भावना' है और अविनेय मिथ्यादृष्टि जीवों में मध्यस्थ भाव रखना 'माध्यस्थ्य भावना' है।]

{1146}

कायेन मनसा वाचाऽपरे सर्वत्र देहिनि।
अदु:खजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदां मता॥
तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भर:।
जायमानो मनोराग: प्रमोदो विदुषां मत:॥
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धि: कारुण्यं करुणात्मनाम्।
हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं निर्गुणात्मनि॥
इत्थं प्रयतमानस्य गृहस्थस्यापि देहिन:।
करस्थो जायते स्वर्गो नास्य दूरे च तत्पदम्॥

(उपासका. 26/334-338)

सब जीवों से मैत्री भाव रखना चाहिए। जो गुणों में अधिक हों उनके प्रति प्रमोद भाव रखना चाहिए। दु:खी जीवों के प्रति करुणा भाव रखना चाहिए। और जो निर्गुण हों, असभ्य और उद्धत हों उनके प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए। 'अन्य सब जीवों को दु:ख न हो' मन, वचन और काय से इस प्रकार का बर्ताव करने को 'मैत्री' कहते हैं। तप आदि गुणों से विशिष्ट पुरुष को देखकर जो विनयपूर्ण हार्दिक प्रेम उमड़ता है उसे 'प्रमोद' कहते हैं। दयालु पुरुषों की 'गरीबों के उद्धार करने की' भावना को 'कारुण्य' कहते हैं। उद्धत तथा असभ्य पुरुषों के प्रति राग और द्वेष के न होने को 'माध्यस्थ्य' कहते हैं। जो प्राणी गृहस्थ होकर भी इस प्रकार का प्रयत्न करता है, स्वर्ग तो उसके हाथ में है और मोक्ष भी दूर नहीं है।

{1147}

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि यथाक्रमम्।
सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत्॥

परेषां दु:खानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री। वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भवितराग: प्रमोद:। दीनानुग्रहभाव: कारुण्यम्। रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यम्। दुष्कर्मविपाकवशान्नानायोनिषु सीदन्तीति सत्त्वा जीवा:। सम्यग्ज्ञानादिभि: प्रकृष्टा गुणाधिका:। असद्वेद्योदयापादितक्लेशा: क्लिश्यमाना:। तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसंपादितगुणा अविनेया:। एतेषु सत्त्वादिषु यथासंख्यं मैत्र्यादीनि भावयितव्यानि। सर्वसत्त्वेषु मैत्री, गुणाधिकेषु प्रमोद:, क्लिश्यमानेषु कारुण्यम्, अविनेयेषु माध्यस्थ्यमिति। एवं भावयत: पूर्णान्यहिंसादीनि व्रतानि भवन्ति।

(सर्वा. 7/11/683)

दूसरों को दुःख न हो- ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है। मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा भीतर भक्ति और अनुराग का व्यक्त होना प्रमोद है। दोनों पर दयाभाव रखना कारुण्य है। रागद्वेषपूर्वक पक्षपात का न करना माध्यस्थ्य है। बुरे कर्मों के फल से जो नाना योनियों में जन्मते और मरते हैं, वे सत्त्व हैं। सत्त्व यह जीव का पर्यायवाची नाम है। जो सम्यग्ज्ञानादि गुणों में बढ़े-चढ़े हैं, वे गुणाधिक कहलाते हैं। असातावेदनीय के उदय से जो दुःखी हैं वे क्लिश्यमान कहलाते हैं। जिनमें जीवादि पदार्थों को सुनने और ग्रहण करने का गुण नहीं है, वे अविनेय कहलाते हैं। इन सत्त्व आदिक के प्रति क्रम से मैत्री आदि की भावना करनी चाहिए। जो सब जीवों में मैत्री, गुणाधिकों में प्रमोद, क्लिश्यमानों में कारुण्य और अविनेयों में माध्यस्थ भाव की भावना करता है, उसके अहिंसा आदि व्रत पूर्णता को प्राप्त होते हैं।

{1148}

चतस्रो भावना धन्याः पुराणपुरुषाश्रिताः।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते विधेया धर्मसिद्धये॥

(ज्ञा. 25/4/1270)

जिन मैत्री आदि चार भावनाओं का प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने आश्रय लिया है, (अहिंसा) धर्म की सिद्धि के लिए उन प्रशंसनीय भावनाओं का मन में चिरकाल तक चिन्तन करना चाहिए।

{1149}

जीवेसु मित्तचिंता मेत्ती करुणा य होइ अणुकंपा।
मुदिदा जदिगुणचिंता सुहदुक्खधियासमणमुवेक्खा॥

(भग. आ. 1691)

अनन्तकालं चतसृषु गतिषु परिभ्रमतो घटीयन्त्रवत्सर्वे प्राणभृतोऽपि बहुशः कृत-महोपकारा इति तेषु मित्रताचिन्ता मैत्री। 'करुणा य होइ अणुकंपा' शारीरं, आगन्तुकं मानसं स्वाभाविकं च दुःखमसह्यमाप्नुवतो दृष्ट्वा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाशुभेन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्म- पर्यायपुद्गलस्कन्धतदुदयोद्भवा विपदो विवशाः प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुकम्पा। मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता, यतयो हि विनीताः, विरागाः, विभयाः, विमानाः, विरोषाः, विलोभाः इत्यादिकाः। सुखे अरागा दुःखे वा अद्वेषा उपेक्षेत्युच्यते।

(भग. आ. विजयो. 1691)

अनन्तकाल चारों गतियों में भ्रमण करते हुए घटीयंत्र की तरह सभी प्राणियों ने मेरा बहुत उपकार किया है, अतः उनमें मित्रताकी भावना होना 'मैत्री' है। असह्य शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक, और स्वाभाविक दुःख को भोगते हुए प्राणियों को देख कर, अरे बेचारे मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और अशुभ कर्मरूप पुद्गल स्कन्धों के उदय से उत्पन्न हुई विपदाओं को विवश होकर भोगते हैं। इस प्रकार के भाव को 'करुणा' या 'अनुकंपा' कहते हैं। यतियों के गुणों का चिन्तन करना 'मुदिता' है। यतिगण विनयी, रागरहित, भयरहित, मानरहित, रोषरहित और लोभरहित होते हैं, इत्यादि चिन्तन 'मुदिता' है। सुख में राग और दुःख में द्वेष न करना 'उपेक्षा' है।

{1150}

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यपरिचिन्तनम्।
सत्त्व-गुणाधिकक्लिश्यमानाप्रज्ञाप्यगोचरम् ॥

(यो.बि. 402)

साधक को चाहिए, वह संसार के सभी प्राणियों के प्रति मैत्री, अधिक गुणसम्पन्न पुरुषों को देख मन में प्रसन्नता, कष्ट-पीड़ित लोगों के प्रति करुणा तथा अज्ञानी जनों के प्रति माध्यस्थ्य-तटस्थता की भावना से अनुभावित-अपने दैनन्दिन चिंतन में अनुप्राणित रहे।

{1151}

सत्तेसु ताव मेत्तिं तहा पमोयं गुणाहिएसुं ति।
करुणामज्झत्थत्ते किलिस्समाणाविणीएसु ॥

(यो.श. 79)

सभी प्राणियों के प्रति मैत्री-भाव, गुणाधिक-गुणों के कारण विशिष्ट-सद्गुणसम्पन्न पुरुषों के प्रति प्रमोद-भाव अर्थात् उन्हें देख कर मन में प्रसन्नता का अनुभव करना, दुःखियों के लिए करुणा-भाव, अविनीत-उद्धत जनों के प्रति उदासीन भाव रखना चाहिए।

{1152}

सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विशुद्धचित्तः मैत्रीं करुणां मुदितामुपेक्षां च पश्चादुपैति क्षपकः।

(भग. आ. विजयो. 1690)

सब वस्तुओं में समताभाव धारण करके वह क्षपक निर्मल चित्त हो जाता है। फिर मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावना को अपनाता है।

{1153}

मैत्र्यादिवासितं चेतः कर्म सूते शुभात्मकम्।
कषाय-विषयाक्रान्तं वितनोत्यशुभं मनः॥

(है. योग. 4/75)

मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा (माध्यस्थ्य) लक्षण से युक्त चार भावनाओं से भावित मन पुण्यरूप शुभकर्म उपार्जित करता है। (इससे सातावेदनीय, सम्यक्त्व, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभायु, शुभनाम, और शुभगोत्र प्राप्त करता है) जब कि वही मन क्रोधादि-कषायों और इन्द्रिय-विषयों से आक्रान्त (अभिभूत) होने पर अशुभकर्म उपार्जित करता है। (इससे असातावेदनीय आदि प्राप्त करता है।)

{1154}

आत्मानं भावयन्नाभिर्भावनाभिर्महामतिः।
त्रुटितामपि संधत्ते विशुद्धां ध्यानसन्ततिम्॥

(है. योग. 4/122)

मैत्री आदि चार भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करने वाला महा-बुद्धिशाली योगी टूटी हुई विशुद्ध ध्यान-श्रेणी को फिर से जोड़ लेता है।

{1155}

एता मुनिजनानन्दसुधास्यन्दैकचन्द्रिकाः।
ध्वस्तरागाद्युरुक्लेशा लोकाग्रपथदीपिकाः॥

(ज्ञा. 25/15/1281)

उपर्युक्त मैत्री आदि चार भावनाएं मुनिजन के हृदय में आनन्दरूप अमृत के रूप में प्रवाहित होने वाली अनुपम चांदनी के समान, रागादिरूप महाक्लेश को नष्ट करने वाली है और लोकशिखर (सिद्ध-क्षेत्र) के मार्ग को- रत्नत्रय को-प्रकट करने के लिए दीपक के समान है।

{1156}

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम्॥

(है. योग. 4/117)

धर्मध्यान टूट जाता हो तो मैत्री, प्रमोद, कारुण्य आर माध्यस्थ्य भावना में मन को जोड़ देना चाहिए। क्योंकि जरा से जर्जरित शरीर वाले के लिए जैसे रसायन उपकारी होता है, वैसे ही धर्मध्यान के लिए मैत्री आदि भावना पुष्टरूप रसायन हैं।

(मैत्री-भावना)

{1157}

क्षुद्रेतरविकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु।
सुखदु:खाद्यवस्थासु संस्थितेषु यथायथम्॥
नानायोनिगतेष्वेषु समत्वेनाविराधिका।
साध्वी महत्त्वमापन्ना मतिर्मैत्रीति पठ्यते॥

(ज्ञा. 25/5-6/1271-72)

मैत्रीभावना- यथायोग्य सुख व दु:ख अवस्थाओं में वर्तमान सूक्ष्म व स्थूल भेदरूप तथा चलते हुए व स्थिर शरीर से संयुक्त (त्रस-स्थावर) ऐसे अनेक योनियों में अवस्थित प्राणियों के विषय में जो समभावस्वरूप से, विराधनारहित उत्तम महती बुद्धि होती है, उसे 'मैत्रीभावना' कहा जाता है। [अभिप्राय है कि सभी संसारी जीवों में समानता का भाव रखते हुए उनके लिए दु:ख उत्पन्न न हो, इस प्रकार की अभिलाषा का नाम 'मैत्रीभावना' है।]

{1158}

जीवन्तु जन्तव: सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिता:।
प्राप्नुवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम्॥

(ज्ञा. 25/7/1273)

सभी प्राणी संक्लेश व आपत्ति से रहित होकर जीवित रहें तथा वैर, पाप एवं अपमान को छोड़कर सुख को प्राप्त हों; ऐसा विचार करना, इसका नाम 'मैत्री भावना' है।

{1159}

जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्तीं पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे॥

(मूला. 4/268)

जिस से जीव राग से विरक्त (रहित) होता है, जिससे जीव मोक्ष के प्रति राग/रुचि करता है, और जिससे मैत्री भावित/वर्द्धित होती है, वही जिन-शासन में 'ज्ञान' है।

{1160}

मा कार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत् कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते॥

(है. योग. 4/118)

जगत् का कोई भी जीव पाप न करे, तथा कोई भी जीव दुःखी न हो, समस्त जीव दुःख से मुक्त हो कर सुखी हों, इस प्रकार का चिन्तन करना 'मैत्रीभावना' है।

(करुणा-भावना)

{1161}

दैन्यशोकसमुत्त्रासरोगपीडार्दितात्मसु ।
वधबन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम्॥
क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु च।
अवरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्घात्यमानेषु निर्दयैः॥
मरणार्तेषु भूतेषु यत्प्रतीकारवाञ्छया।
अनुग्रहमतिः सेयं करुणेति प्रकीर्तिता॥

(ज्ञा. 25/8-10/1274-76)

करुणाभावना-दीनता, शोक, त्रास व रोग की वेदना से पीड़ित; वध व बन्धन से रोके गये; जीवित की याचना करने वाले; भूख, प्यास व परिश्रम से पराजित; शीत आदि की बाधा से संयुक्त, दुष्ट जीवों के द्वारा रोक कर निर्दयता से पीड़ित किये जाने वाले; तथा मरण की वेदना से व्यथित प्राणियों के विषय में उनकी पीड़ा के प्रतीकार की इच्छा से जो अनुग्रहरूप बुद्धि हुआ करती है वह 'करुणा' कही जाती है।

{1162}

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते॥

(है. योग. 4/120)

दीन, पीड़ित, भयभीत और जीवन की याचना करने वाले प्राणियों के दुःख को दूर करने की बुद्धि 'करुणा-भावना' कहलाती है।

(मुदिता-भावना)

{1163}

तपः-श्रुत-यमोद्युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुषाम्।
विजिताक्षकषायाणां स्वतत्त्वाभ्यासशालिनाम्॥
जगत्त्रयचमत्कारि-चरणाधिष्ठितात्मनाम्।
तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सा मुदिता मता॥

(ज्ञा. 25/11-12/1277-78)

मुदिता (प्रमोद) भावना- जिनका चित्त तप, शास्त्रपरिशीलन और व्रत में उद्यत हैं; जो ज्ञानरूप नेत्र से संयुक्त हैं, जिन्होंने इन्द्रियों व कषायों को वश में कर लिया है, जो आत्म-तत्त्व के अभ्यास से शोभायमान हैं, तथा जिनकी आत्मा तीनों लोकों को आश्चर्यान्वित करने वाले चारित्र से अधिष्ठित है; उन महापुरुषों के गुणों को देखकर जो हर्ष होता है, वह सत्पुरुषों के द्वारा 'मुदिता भावना' मानी गयी है।

{1164}

अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्तितः॥

(है. योग. 4/119)

जिन्होंने सभी दोषों का त्याग किया है, और जो वस्तु के यथार्थस्वरूप को देखते हैं, उन साधु पुरुषों के गुणों के प्रति आदरभाव होना, उनकी प्रशंसा करना, 'प्रमोद भावना' है।

{1165}

क्रोधविद्धेषु सत्त्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु।
मधुमांससुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु॥
देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु।
नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्तिता॥

(ज्ञा. 25/14/1280)

उपेक्षा भावना– जो प्राणी क्रोध से संयुक्त, निर्दयतापूर्वक दुष्ट कर्म करने वाले; मधु, मांस, मद्य एवं पर-स्त्री में आसक्त; अतिशय पापी; देव, शास्त्र व मुनि संघ के निन्दक, अपनी प्रशंसा करने वाले तथा नास्तिक (आत्मा व परलोक के न मानने वाले) हैं, उनके विषय में क्षोभ को प्राप्त न होकर जो मध्यस्थता का भाव रखा जाता है, वह 'उपेक्षा भावना' कहलाती है।

{1166}

क्रूरकर्मसु निःशंकं, देवता-गुरु-निन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्॥

(है. योग. 4/121)

निःशंकता से क्रूर कार्य करने वाले, देव-गुरु की निन्दा करने वाले और आत्म-प्रशंसा करने वाले जीवों पर उपेक्षा रखना 'माध्यस्थ्यभावना' है।

अहिंसा विश्वकोश

卐

- राजा वसु की कथा (हरिवंश पुराण)
- राजा वसु की कथा (उत्तर पुराण)

परिशिष्ट
(1-2)

◆ परिशिष्ट (1)

○ राजा वसु की कथा (आचार्य जिनसेन-कृत हरिवंश पुराण से उद्धृत)

एकदा नारदश्छात्रैर्बहुभिश्छत्रिभिर्वृतः।
गुरुवद्गुरुपुत्रेच्छः पर्वतं द्रष्टुमागतः॥
कृतेऽभिवादने तेन कृतप्रत्यभिवादनः।
सोऽभिवाद्य गुरोः पत्नीं गुरुसंकथया स्थितः॥
अथ व्याख्यामसौ कुर्वन् वेदार्थस्यापि गर्वितः।
पर्वतः सर्वतश्छात्रैर्वृतो नारदसंनिधौ॥
अजैर्यष्टव्यमित्यत्र वेदवाक्ये विसंशयम्।
अजशब्दः किलाम्नातः पश्वर्थस्याभिधायकः॥
तैरजैः खलु यष्टव्यं स्वर्गकामैरिह द्विजैः।
पदवाक्यपुराणार्थपरमार्थविशारदैः॥
प्रतिबन्धमिहान्धस्य तस्य चक्रे स नारदः।
युक्त्यागमबलालोकध्वस्ताज्ञानतमस्तरः॥
भट्टपुत्र! किमित्येवमपव्याख्यामुपाश्रितः।
कुतोऽयं संप्रदायस्ते सहाध्यायिन्नुपागतः॥
एकोपाध्यायशिष्याणां नित्यमव्यभिचारिणाम्।
गुरुशुश्रूषताऽत्यागे संप्रदायभिदा कुतः॥
न स्मरत्यजशब्दस्य यथेहार्थो गुरूदितः।
त्रिवर्षा व्रीहयोऽबीजा अजा इति सनातनः॥

(ह. पु. 17/61-69)

एक दिन बहुत से छत्रधारी शिष्यों से घिरा नारद, गुरुपुत्र को गुरु के समान मानता हुआ पर्वत से मिलने के लिए आया। पर्वत ने नारद का अभिवादन किया और नारद ने पर्वत का प्रत्यभिवादन किया। तदनन्तर गुरुपत्नी को नमस्कार कर नारद गुरुजी की चर्या करता हुआ बैठ गया। उस समय पर्वत सब ओर से छात्रों से घिरा वेद-वाक्य की व्याख्या कर रहा था। वह नारद के सम्मुख भी उसी तरह गर्व से युक्त हो व्याख्या करने लगा। वह कह रहा था कि 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेद वाक्यों में जो अज शब्द आया है वह निःसन्देह पशु अर्थ का ही वाचक माना गया है। इसलिए पद वाक्य और पुराण के अर्थ के वास्तविक जानने वाले एवं स्वर्ग के इच्छुक जो द्विज हैं, उन्हें बकरे से ही यज्ञ करना चाहिए। युक्ति, बल और आगम बलरूपी प्रकाश से जिसका अज्ञानरूपी अन्धकार का पटल नष्ट हो गया था, ऐसे नारद ने अज्ञानी पर्वत के उक्त अर्थ पर आपत्ति की। नारद ने पर्वत को सम्बोधते हुए कहा कि हे गुरुपुत्र! तुम इस प्रकार की निन्दनीय व्याख्या क्यों कर रहे हो? हे मेरे सहाध्यायी! यह सम्प्रदाय तुम्हें कहां से प्राप्त हुआ है? जो निरन्तर साथ ही साथ रहे हैं तथा जिन्होंने कभी गुरु की शुश्रूषा का त्याग नहीं किया ऐसे एक ही उपाध्याय के शिष्यों में सम्प्रदाय-भेद कैसे हो सकता है? यहां 'अज' शब्द का जैसा गुरुजी ने बताया था, वह क्या तुम्हें स्मरण नहीं है? गुरुजी ने तो कहा था जिसमें अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति नहीं है, ऐसा पुराना धान्य 'अज' कहलाता है, यही सनातन अर्थ है।

इत्युक्तोऽपि स दुर्मोचग्राहग्रहगृहीतधीः।
सोऽनादृत्य वचस्तस्य प्रतिज्ञामकरोत्पुनः॥
किमत्र बहुनोक्तेन शृणु नारद! वस्तुनि।
पराजितोऽस्मि यद्यत्र जिह्वाच्छेदं करोम्यहम्॥
नारदेन ततोऽवाचि किं दुःखाग्निशिखाततौ।
पतङ्ग इव दुःपक्षः पर्वत! पतसि स्वयम्॥
पर्वतोऽपि ततोऽवोचद् यात किं बहुजल्पितैः।
श्वोऽस्तु नौ वसुराजस्य सभायां जल्पविस्तरः॥
नष्टस्त्वं दृष्ट इत्युक्त्वा स्वावासं नारदोऽगमत्।
पर्वतोऽपि च तां वार्तां मातुरार्त्तमतिर्जगौ॥
सा निशम्य हतास्मीति वदन्ती तान्तमानसा।
निनिन्द नन्दनं मिथ्या त्वदुक्तमिति वादिनी॥

(ह. पु. 17/70-75)

दुःख से छूटने योग्य हठरूपी पिशाच से जिसकी बुद्धि ग्रस्त थी, ऐसे पर्वत ने नारद के इस प्रकार कहने पर भी अपना झूठ नहीं छोड़ा, प्रत्युत नारद के वचनों का तिरस्कार कर उसने यह प्रतिज्ञा कर ली कि हे नारद! अधिक कहने से क्या? यदि इस विषय में पराजित हो जाऊं तो अपनी जीभ कटा लूं। पश्चात् नारद ने कहा कि हे पर्वत! खोटा पक्ष लेकर, खोटे पंखों से युक्त पक्षी के समान दुःख रूपी अग्नि की ज्वालाओं में स्वयं क्यों पड़ रहे हो? इसके उत्तर में पर्वत ने भी कहा कि जाओ, बहुत कहने से क्या? कल हम दोनों का राजा वसु की सभा में शास्त्रार्थ हो जावे। वितण्डावाद बढ़ते देख, नारद यह कह कर अपने घर चला गया कि पर्वत! मैं तुम्हें देखने आया था सो देख लिया, तुम भ्रष्ट हो गये। नारद को चले जाने पर पर्वत ने भी दुःखी होकर यह वृत्तान्त अपनी माता से कहा। पर्वत की बात सुनकर उसकी माता का हृदय बहुत दुःखी हुआ। 'हाय मैं मरी' यह कहती हुई उसने पर्वत की निन्दा की, उसके मुख से बार-बार यही निकल रहा था कि तेरा कहना झूठ है।

नारदस्य वचः सत्यं परमार्थनिवेदनात्।
वचस्तवान्यथा पुत्र! विपरीतपरिग्रहात्॥
समस्तशास्त्रसंदर्भगर्भनिर्भेदशुद्धधीः।
पिता ते पुत्र! यत्प्राह तदेवाख्याति नारदः॥
एवमुक्त्वा निशान्ते सा निशान्तमगमद्वसोः।
आदरेणेक्षिता तेन पृष्टा चागमकारणम्॥
निगद्य वसवे सर्वं ययाचे गुरुदक्षिणाम्।
हस्तन्यासकृतां पूर्वं स्मरयित्वा गुरोर्गृहे॥
जानताऽपि त्वया पुत्र! तत्त्वातत्त्वमशेषतः।
पर्वतस्य वचः स्थाप्यं दूष्यं नारदभाषितम्॥
सत्येन श्रावितेनास्या वचनं वसुना ततः।
प्रतिपन्नमतः सापि कृतार्थेव ययौ गृहम्॥

(ह. पु. 17/76-81)

हे पुत्र! परमार्थ का प्ररूपक होने से नारद का कहना सत्य है और विपरीत अर्थ का आश्रय लेने से तेरा

कहना मिथ्या है। समस्त शास्त्रों में पूर्वापर- सन्दर्भ के ज्ञान से जिनकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल थी, ऐसे तेरे पिता ने जो कहा था, हे पुत्र! वही नारद कह रहा है। इस प्रकार पर्वत से कह कर वह प्रातःकाल होते ही राजा वसु के घर गयी। राजा वसु ने उसे बड़े आदर से देखा और उससे आने का कारण पूछा। स्वस्तिमती ने वसु के लिए सब वृत्तान्त सुना कर पहले पढ़ते समय गुरुगृह में उसके हाथ में घरोहर रूपी रखी हुई गुरुदक्षिणा का स्मरण दिलाते हुए याचना की कि हे पुत्र! यद्यपि तू सब तत्त्व और अतत्त्व को जानता है तथापि तुझे पर्वत के ही वचन का समर्थन करना चाहिए और नारद के वचन को दूषित ठहराना चाहिए। स्वस्तिमती ने चूंकि वसु को गुरुदक्षिणाविषयक सत्य का स्मरण कराया था, इसलिए उसने उसके वचन स्वीकृत कर लिये और वह भी कृतकृत्य के समान निश्चिन्त हो घर वापस गयी।

आस्थानीसमये तस्थौ दिनादौ वसुरासने।
तमिन्द्रमिव देवौघाः क्षत्रियौघाः सिषेविरे॥
प्रविष्टौ च नृपास्थानीं विप्रौ पर्वतनारदौ।
सर्वशास्त्रविशेषज्ञैः प्राश्निकैः परिवारितौ॥

(ह. पु. 17/82-83)

सिंहासनस्थमाशीभिर्दृष्टोपरिचरं वसुम्।
पीठमर्दैः सहासीनौ विप्रौ नारदपर्वतौ॥

(ह. पु. 17/89)

पण्डितेषु यथास्थानं निविष्टेषु यथासनम्।
भूपं ज्ञानवयोवृद्धाः केचिदेवं व्यजिज्ञपन्॥
राजन् वस्तुविसंवादादिमौ नारदपर्वतौ।
विद्वांसावागतौ पार्श्वं न्यायमार्गविदस्तव॥
वैदिकार्थविचारोऽयं त्वदन्येषामगोचरः।
विच्छिन्नसंप्रदायानामिदानीमिह भूतले॥

(ह. पु. 17/93-95)

तदनन्तर जब प्रातःकाल के समय सभा का अवसर आया तब राजा वसु सिंहासन पर आरूढ हुआ और जिस प्रकार देवों के समूह इन्द्र की सेवा करते हैं उसी प्रकार क्षत्रियों के समूह उसकी सेवा में बैठे थे। उसी समय सर्व शास्त्रों के विशेषज्ञ प्रश्नकर्ताओं से घिरे हुए पर्वत और नारद ने राजसभा में प्रवेश किया। अन्तरिक्ष सिंहासन पर स्थित राजा वसु को आशीर्वाद देकर नारद और पर्वत अपने-अपने सहायकों के साथ यथायोग्य स्थानों पर बैठ गये। जब सब विद्वान यथास्थान यथायोग्य आसनों पर बैठ गये, तब जो ज्ञान और अवस्था में वृद्ध थे, ऐसे कितने ही लोगों ने राजा वसु से इस प्रकार निवेदन किया:- हे राजन्! ये नारद और पर्वत विद्वान् किसी एक वस्तु में विसंवाद (सन्देह) होने से आपके पास आये हैं क्योंकि आप न्यायमार्ग के वेत्ता हैं। इस वैदिक अर्थ का विचार इस समय पृथिवी-तल पर आपके सिवाय अन्य लोगों का विषय नहीं है क्योंकि उन सब का सम्प्रदाय छिन्न-भिन्न हो चुका है।

तदत्र भवतोऽध्यक्षममीषां विदुषां पुरः।
लभेतां निश्चयादेतौ न्याय्यौ जयपराजयौ॥
न्यायेनावसिते ह्यत्र वादे वेदानुसारिणाम्।
स्यात्प्रवृत्तिरसंदिग्धा सर्वलोकोपकारिणी॥
इत्युर्वीन्द्रः स विज्ञप्तः पूर्वपक्षमदापयत्।
पर्वताय सदस्यैस्तैः सगर्वः पक्षमग्रहीत्॥
अजैर्यज्ञविधिः कार्यः स्वर्गार्थिभिरिति श्रुतिः।
अजाश्चात्र चतुष्पादाः प्रणीताः प्राणिनः स्फुटम्॥
न केवलमयं वेदे लोकेऽपि पशुवाचकः।
आवृद्धादङ्गनाबालादजशब्दः प्रतीयते॥
नरोऽजपोतगन्धोऽयमजायाः क्षीरमित्यपि।
नापनेतुमियं शक्या प्रसिद्धिस्त्रिदशैरपि॥

(ह. पु. 17/96-101)

इसलिए आपकी अध्यक्षता में इन सब विद्वानों के आगे ये दोनों निश्चय कर न्यायपूर्ण जय और पराजय को प्राप्त करें। न्याय द्वारा इस वाद के समाप्त होने पर वेदानुसारी मनुष्यों की प्रवृत्ति सन्देहरहित एवं सब लोगों का उपकार करने वाली हो जायेगी। इस प्रकार वृद्धजनों के कहने पर राजा वसु ने पर्वत के लिए पूर्व पक्ष दिलवाया अर्थात् पूर्वपक्ष रखने का उसे अवसर दिया और अपने साथी सदस्यों के कारण गर्व से भरे पर्वत ने पूर्व पक्ष ग्रहण किया। पूर्व पक्ष रखते हुए उसने कहा कि 'स्वर्ग के इच्छुक मनुष्यों को अजों द्वारा यज्ञ की विधि करनी चाहिए' यह एक श्रुति है। इसमें जो 'अज' शब्द है उसका अर्थ चार पावों.वाला जन्तु-विशेष-बकरा है। 'अज' शब्द न केवल वेद में ही पशुवाचक है, किन्तु लोक में भी स्त्रियों और बालकों से लेकर वृद्धों तक पशुवाचक ही प्रसिद्ध है। यह मनुष्य अज के बालक के समान गन्ध वाला है, और 'यह अजा-बकरी का दूध है' इत्यादि स्थलों में अज शब्द की जिस अर्थ में प्रसिद्धि है, वह देवों के द्वारा भी दूर नहीं की जा सकती।

सिद्धशब्दार्थसंबन्धे नियते तस्य बाधने।
व्यवहारविलोपः स्यादन्धधूकमिदं जगत्॥
अबाधितः पुनर्न्याये शब्दे शब्दः प्रवर्त्तते।
शास्त्रीयो लौकिकश्चात्र व्यवहारः सुगोचरे॥
यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ।
अग्निप्रभृतिशब्दानां प्रसिद्धार्थपरिग्रहः॥
तथैवात्राजशब्दस्य पशुरर्थः स्फुटः स्थितः।
कुत्र यागादिशब्दार्थः पशुपातश्च निश्चितः॥
अतोऽनुष्ठानमास्थेयमजपोतनिपातनम्।
यजैर्यष्टव्यमित्यत्र वाक्यैर्निष्ठितसंशयैः॥
आशङ्का च न कर्तव्या पशोरिह निपातने।
दुःखं स्यादिति मन्त्रेण सुखमृत्योर्न दुःखिता॥

(ह. पु. 11/102-107)

सिद्ध शब्द और उसके अर्थ का जो सम्बन्ध पहले से निश्चित चला आ रहा है, यदि उसमें बाधा डाली जावेगी तो व्यवहार का ही लोप हो जावेगा, क्योंकि यह जगत् अन्ध उलूकों से सहित है- निर्विचार मनुष्यों से भरा हुआ है। शब्द योग्य अर्थ में अवांछित रूप से प्रवृत्त होता है और ऐसा होने पर ही शास्त्रीय अथवा लौकिक व्यवहार चलता है। जिस प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' स्वर्ग का इच्छुक मनुष्य अग्निहोत्र यज्ञ करे, इस श्रुति में अग्नि आदि शब्दों का प्रसिद्ध ही अर्थ लिया जाता है, उसी प्रकार 'अजैर्यष्टव्यं स्वर्गकामैः' स्वर्ग के इच्छुक मनुष्यों को अजों से होम करना चाहिए- इस श्रुति में भी अज का पशु अर्थ ही स्पष्ट है और यागादि शब्दों का अर्थ तो पशुघात निश्चित ही है। इसलिए 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादि वाक्यों द्वारा निःसन्देह, जिसमें अज के बालका का घात होता है- ऐसा अनुष्ठान करना चाहिए। यहां यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि घात करते समय पशु को दुःख होता होगा, क्योंकि मन्त्र के प्रभाव से उसकी सुख से मृत्यु होती है, उसे दुःख तो नाम मात्र का भी नहीं होता।

मन्त्राणां वाहने साक्षाद् दीक्षान्तेऽतिसुखासिका।
मणिमन्त्रौषधीनां हि प्रभावोऽचिन्त्यतां गतः॥
निपातनं च कस्यात्र यत्रात्मा सूक्ष्मतां श्रितः।
अबध्योऽग्निविषास्त्राद्यैः किं पुनर्मन्त्रवाहनैः॥
सूर्यं चक्षुर्दिशं श्रोत्रं वायुं प्राणानसृक्पयः।
गमयन्ति वपुः पृथ्वीं शमितारोऽस्य याज्ञिकाः॥
स्वमन्त्रेणेष्टमात्रेण स्वर्लोकं गमितः सुखम्।
याजकादिवदाकल्पमनल्पं पशुरश्नुते॥
अभिसंधिकृतौ बन्धः स्वर्गाप्त्यै सोऽस्य नेत्यपि।
न बलाद्धाव्यमानस्य शिशोर्वृद्धिर्घृतादिभिः॥

(ह. पु. 17/108-112)

दीक्षा के अन्त में मन्त्रों का उच्चारण होते ही पशु को सुखमय स्थान साक्षात् दिखाई देने लगता है, वह ठीक ही है क्योंकि मणि, मन्त्र और ओषधियों का प्रभाव अचिन्त्य होता है। जब कि आत्मा अत्यन्त सूक्ष्मता को प्राप्त है तब यहां घात किसका होता है? यह आत्मा तो अग्नि, विष तथा अस्त्र आदि के द्वारा भी घात करने योग्य नहीं है, फिर मन्त्र-पाठों के द्वारा तो इसका घात होगा ही किस तरह? याज्ञिक लोग यज्ञ में पशु का घात कर उसके चक्षु को सूर्य के पास, क्षेत्र को दिशाओं के पास, प्राणों को वायु के पास, खून को जल के पास और शरीर- को पृथ्वी के पास भेज देते हैं। इस तरह याज्ञिक उसे शान्ति ही पहुंचाते हैं न कि कष्ट। मन्त्र द्वारा होम करने मात्र से ही पशु सीधा स्वर्ग भेज दिया जाता है और वहां यज्ञ कराने वाले आदि के समान वह कल्पकाल तक बहुत भारी सुख भोगता रहता है। अभिप्रायपूर्वक किया हुआ पुण्यबन्ध ही स्वर्ग की प्राप्ति का कारण है और बलपूर्वक होमे गये पशु के वह सम्भव नहीं है, इसलिए उसे स्वर्ग की प्राप्ति होना असम्भव है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार बच्चे को उसको उसकी इच्छा के विरुद्ध जबर्दस्ती दिये हुए घृतादिक से उसकी वृद्धि देखी जाती है, उसी प्रकार यज्ञ में जबर्दस्ती होमे जाने वाले पशु के भी स्वर्ग की प्राप्ति सिद्ध है।

स्वपक्षमित्युपन्यस्य विरराम स पर्वतः।
नारदस्तमपाकर्त्तुमित्युवाच विचक्षणः॥
शृण्वन्तु मद्वचः सन्तः सावधानधियोऽधुना।
पर्वतस्य वचः सर्वं शतखण्डं करोम्यहम्॥
अजैरित्यादिके वाक्ये यन्मृषा पर्वतोऽब्रवीत्।
अजाः पशव इत्येवमस्यैषा स्वमनीषिका॥
स्वाभिप्रायवशाद् वेदे न शब्दार्थगतिर्यतः।
वेदाध्ययनवत्साप्तादुपदेशमुपेक्षते॥
गुरुपूर्वक्रमादर्थात् दृश्यः शब्दार्थनिश्चितिः।
सान्यथा यदि जायेत जायेताध्ययनं तथा॥

(ह. पु. 17/113-117)

इस प्रकार वह पर्वत अपना पूर्व पक्ष स्थापित कर चुप हो गया, तब बुद्धिमान् नारद ने उसका निराकरण करने के लिए इस तरह बोलना शुरू किया। उसने कहा कि हे सज्जनों! सावधान होकर मेरे वचन सुनिए। मैं अब पर्वत के सब वचनों के सौ टुकड़े करता हूं। 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादि का अर्थ पर्वत ने जो कहा है, वह झूठ है। क्योंकि अज का अर्थ पशु है, वह इसकी स्वयं की कल्पना है। वेद में शब्दार्थ की व्यवस्था अपने अभिप्राय से नहीं होती, किन्तु वह वेदाध्ययन के समान आप्त से उपदेश की अपेक्षा रखती है। कहने का तात्पर्य यह है कि गुरुओं की पूर्व- परम्परा से शब्दों के अर्थ का निश्चय करना चाहिए। यदि शब्दार्थ का निश्चय अन्यथा होता है, तो अध्ययन भी अन्यथा हो जाएगा।

तेन पूर्वोक्तदोषोऽपि नैवास्माकं प्रसज्यते।
व्यवहारोपयोगित्वाद् वाचां स्वोचितगोचरे॥
सत्यां क्षित्यादिसामग्र्यामप्ररोहादिपर्ययाः।
व्रीहयोऽजाः पदार्थोऽयं वाक्यार्थो यजनं तु तैः॥
देवपूजा यजेरर्थस्तैरजैर्यजनं द्विजैः।
नैवेद्यादिविधानेन यागः स्वर्गफलप्रदः॥

(ह. पु. 17/127-129)

पर्वत ने जो पहले यह दोष दिया था कि यदि शब्दों का स्वभाव- सिद्ध अर्थ न किया जायेगा तो व्यवहार का ही लोप हो जायेगा- उसका हमारे ऊपर प्रसंग ही नहीं आता, क्योंकि शब्दों का अपने-अपने योग्य स्थलों पर व्यवहार की सिद्धि के लिए ही उपयोग किया जाता है। इसलिए पृथ्वी आदि सामग्री के रहते हुए भी जिसमें अंकुरादि रूप पर्याय प्रकट न हो सके- ऐसा तीन वर्ष का पुराना धान 'अज' कहलाता है। यह तो अज शब्द का अर्थ है, और ऐसे धान्य से यज्ञ करना चाहिए- यह 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्य का अर्थ है। यज धातु का अर्थ देव-पूजा है, इसलिए द्विजों को पूर्वोक्त धान से ही पूजा करनी चाहिए- क्योंकि नैवेद्य आदि से की हुई पूजा ही स्वर्ग रूप फल को देने वाली होती है।

ततः स्वर्गसुखं पुंसां ततो मोक्षसुखं ध्रुवम्।
ततः कीर्त्तिस्ततः कान्तिस्ततो दीप्तिस्ततो धृतिः॥
पिष्टेनापि न यष्टव्यं पशुत्वेन विकल्पितात्।
संकल्पादशुभात्पापं पुण्यं तु शुभतो यतः॥
यो नामस्थापनाद्रव्यैर्भावेन च विभेदनात्।
चतुर्धा हि पशुः प्रोक्तस्तस्य चिन्त्यं न हिंसनम्॥
यदुक्तं मन्त्रतो मृत्योर्न दुःखमिति तन्मृषा।
न चेद् दुःखं न मृत्युः स्यात् स्वस्थावस्थस्य पूर्ववत्॥
पादनासाधिरोधेन विना चेन्निपतेत्पशुः।
मन्त्रेण मरणं तथ्यमसंभाव्यमिदं पुनः॥
सुखासिकापि नैकान्तान्मर्त्तुर्मन्त्रप्रभावतः।
दुःखिताप्यारटज्जन्तोर्ग्रहार्त्तस्य निरीक्ष्यते॥

(ह. पु. 17/133-138)

उसी पूजा से पुरुषों को स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है, उसी से मोक्ष का अविनाशी सुख मिलता है, उसी से कीर्ति, उसी से कान्ति, उसी से दीप्ति और उसी से धृति की प्राप्ति होती है। साक्षात् पशु की बात तो दूर रही, पशु रूप से कल्पित चून (आटे)के पिण्ड से भी पूजा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अशुभ संकल्प से पाप होता है और शुभ संकल्प से पुण्य होता है। जो नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप के भेद से चार प्रकार का पशु कहा गया है, उसकी हिंसा का कभी मन से भी विचार नहीं करना चाहिए। यह जो कहा है कि मन्त्र द्वारा होने वाली मृत्यु से दुःख नहीं होता है- वह मिथ्या है, क्योंकि यदि दुःख नहीं होता तो जिस प्रकार पहले स्वस्थ अवस्था में मृत्यु नहीं हुई थी उसी प्रकार अब भी मृत्यु नहीं होनी चाहिए। यदि पैर बांधे बिना और नाक मूंदे बिना अपने आप पशु मर जावे तब तो मन्त्र से मरना सत्य हो जाये, परन्तु यह असम्भव बात है। मन्त्र के प्रभाव से मरने वाले पशु को सुखासिका प्राप्त होती है- यह भी एकान्त नहीं है, क्योंकि जो पशु मारा जाता है वह ग्रह से पीड़ित की तरह जोर-जोर से चिल्लाता है, इसलिए उसका दुःख स्पष्ट दिखाई देता है।

प्राणिघातकृतः स्वर्गः कुतः स्याद्याजकादयः।
याज्यंस्य स्वर्गगामित्वे दृष्टान्तत्वं गता गतः॥
धर्म्यमेव हि शर्माप्त्यै कर्म याज्यस्य जायते।
नह्यपथ्यं शिशोर्दत्तं मात्राऽपि स्यात्सुखाप्तये॥
परिषत्प्रावृषि स्फूर्जद्वचोवज्रमुखैरिति।
भित्त्वा पर्वतदुःपक्षं स्थिते नारदनीरदे॥
साधुकारो मुहुर्दत्तस्तस्मै धर्मपरीक्षकैः।
सलौकिकैः शिरःकम्पस्वाङ्गुलिस्फोटनिस्वनैः॥

(ह. पु. 17/144-147)

प्राणियों का घात करने वाले को स्वर्ग कैसे हो सकता है? जिससे कि याजक आदि को याज्य (पशु आदि के) स्वर्ग जाने में दृष्टान्त माना जा सके। [भावार्थ- पर्वत ने कहा था कि मन्त्र द्वारा होम करते ही पशु को स्वर्ग भेज दिया जाता है और वहां वह याजकादि के समान कल्प-काल तक अत्यधिक सुख भोगता रहता है, किन्तु प्राणियों का घात करने वाले याजक आदि को स्वर्ग कैसे मिल सकता है? उन्हें तो इस पाप के कारण नरक मिलना चाहिए। अत: जब याजक आदि स्वर्ग नहीं जाते, तब उन्हें पशु के स्वर्ग जाने में दृष्टान्त कैसे बनाया जा सकता है?

धर्म-सहित कार्य ही पशु को सुख प्राप्ति में सहायक हो सकता है, अधर्म-सहित कार्य नहीं, क्योंकि बच्चे के लिए माता के द्वारा भी दिया हुआ अपथ्य पदार्थ सुख-प्राप्ति का कारण नहीं होता।

इस प्रकार सभारूपी वर्षाकाल में अपने तीक्ष्ण वचन रूपी वज्र के अग्रभाग से पर्वत के मिथ्या पक्षरूपी पर्वत-पहाड़ के भद्दे किनारे को तोड़ कर जब नारदरूपी मेघ चुप हो रहा, तब सभा में बैठे हुए धर्म के परीक्षक लोगों ने एवं साधारण मनुष्यों ने सिर हिला-हिला कर तथा अपनी-अपनी अंगुलियां चटका कर नारद को बार-बार धन्यवाद दिया।

राजोपरिचर: पृष्टस्तत: शिष्टैर्बहुश्रुतै:।
राजन् यथाश्रुतं ब्रूहि त्वं सत्यं गुरुभाषितम्॥
मूढसत्यविमूढेन वसुना दृढबुद्धिना।
स्मरताऽपि गुरोर्वाक्यमिति वाक्यमुदीरितम्॥
युक्तियुक्तमुपन्यस्तं नारदेन सभाजना:।
पर्वतेन यदत्रोक्तं तदुपाध्यायभाषितम्॥
वाङ्मात्रेण ततो भूमौ निमग्न: स्फटिकासन:।
वसु: पपात पाताले पातकात् पतनं ध्रुवम्॥
पातालस्थितकायोऽसौ सप्तमीं पृथ्वीं गत:।
नरके नारको जातो महारौरवनामनि॥
हिंसानन्दमृषानन्दरौद्रध्यानाविलो वसु:।
जगाम नरकं रौद्रं रौद्रध्यानं हि दु:खदम्॥

(ह. पु. 17/148-153)

तदनन्तर, अनेक शास्त्रों के ज्ञाता शिष्ट जनों ने अन्तरिक्षचारी राजा वसु से पूछा कि हे राजन्! आपने गुरु के द्वारा कहा हुआ जो सत्य अर्थ सुना हो, वह कहिए। यद्यपि राजा वसु दृढ- बुद्धि था और गुरु के वचनों का उसे अच्छी तरह स्मरण था, तथापि मोहवश सत्य के विषय में अविवेकी हो वह निम्न प्रकार वचन कहने लगा- हे सभाजनों! यद्यपि नारद ने युक्ति- युक्त कहा है तथापि पर्वत ने जो कहा है वह उपाध्याय के द्वारा कहा हुआ कहा है। इतना कहते ही वसु का स्फटिकमणिमय आसन पृथिवी में धंस गया और वह पाताल में जा गिरा, यह उचित ही है क्योंकि पाप से पतन होता ही है। जिसका शरीर पाताल में स्थित था, ऐसा वसु मरकर सातवीं पृथिवी गया और वहां महारौरव नामक नरक में नारकी हुआ। हिंसानन्द और मृषानन्द रौद्र ध्यान से कलुषित हो वसु भयंकर नरक में गया, वह उचित ही है, क्योंकि रौद्रध्यान दु:खदायक होता ही है।

लब्धासत्यफलं सद्यो निनिन्दुर्नृपतिं जनाः।
पर्वतं च निराचक्रुः खलीकृत्य खलं पुरात्॥
तत्त्ववादिनमक्षुद्रं नारदं जितवादिनम्।
कृत्वा ब्रह्मरथारूढं पूजयित्वा जना ययुः॥
पर्वतोऽपि खलीकारं प्राप्य देशान् परिभ्रमन्।
दुष्टं द्विष्टं निरैक्षिष्ट महाकालमहासुरम्॥
ततस्तस्मै पराभूतिं पराभूतिजुषे पुरा।
निवेद्य तेन संयुक्तः कृत्वा हिंसागमं कुधीः॥
लोके प्रतारको भूत्वा हिंसायज्ञं प्रदर्शयन्।
अरञ्जयज्जनं मूढं प्राणिहिंसनतत्परम्॥

(ह. पु. 17/155-159)

जिसे तत्काल ही असत्य बोलने का फल मिल गया था, ऐसे राजा वसु की सब लोगों ने निन्दा की और दुष्ट पर्वत का तिरस्कार कर उसे नगर से बाहर निकाल दिया। तत्त्ववादी, गम्भीर एवं वादियों को परास्त करने वाले नारद को लोगों ने ब्रह्म रथ पर सवार किया तथा उसका सम्मान कर सब यथास्थान चले गये।

इधर तिरस्कार पाकर पर्वत भी अनेक देशों में परिभ्रमण करता रहा अन्त में उसने द्वेषपूर्ण दुष्ट महाकाल नामक असुर को देखा। पूर्व भव में जिसका तिरस्कार हुआ था, ऐसे महाकाल असुर के लिए अपने परभव का समाचार सुना कर पर्वत उसके साथ मिल गया और दुर्बुद्धि के कारण हिंसापूर्ण शास्त्र की रचना कर, लोक में ठगिया बन हिंसापूर्ण यज्ञ का प्रदर्शन करता हुआ प्राणिहिंसा में तत्पर मूर्खजनों को प्रसन्न करने लगा।

◆ परिशिष्ट (2)

○ राजा वसु की कथा (उत्तर पुराण के आधार पर)

[आचार्य गुणभद्र-कृत 'उत्तरपुराण' में (पर्व 67 के 157 से 473 श्लोकों में) विस्तृत कथा वर्णित है जिससे यह ज्ञात होता है कि महाकाल असुर ने छल-कपट-पूर्वक हिंसक यज्ञ की परम्परा का प्रवर्तन कराया था। धर्म-सम्मत वैदिक व्याख्यान अहिंसक यज्ञ का ही समर्थन करता है। पाठकों की सुविधा के लिए पूरी कथा यहां प्रस्तुत की जा रही है:-)]

काले गतवति प्राभूत् सगराख्यो महीपतिः॥ (157)
निःखण्डमण्डलश्चण्डः सुलसायाः स्वयंवरे।
मधुपिङ्गलनामानं कुमारवरमागतम्॥ (158)
दूष्यलक्ष्माऽयमित्युक्त्वा निरास्थन्नृपमध्यगम्।
सागरे बद्धवैरः सन् निष्क्रम्य मधुपिङ्गलः॥ (159)
सलज्जः संयमी भूत्वा महाकालासुरोऽभवत्।
सोऽसुरः सगराधीशवंशनिर्मूलनोद्यतः॥ (160)

(उ. पु. 67/157-160)

बहुत समय व्यतीत हुआ, सगर नाम का एक राजा हुआ था। वह अखंड राष्ट्र का स्वामी था तथा बड़ा ही क्रोधी था। एक बार उसने सुलसा के स्वयंवर में आए हुए एवं राजाओं के बीच में बैठे हुए मधुपिंगल नाम के श्रेष्ठ राजकुमार को 'यह दुष्ट लक्षणों से युक्त है' ऐसा कह कर सभा-भूमि से निकाल दिया। राजा मधुपिंगल सगर राजा के साथ वैर बांध कर लजाता हुआ स्वयंवर-मण्डप से बाहर निकल पड़ा। अंत में संयम धारण कर वह महाकाल नाम का असुर हुआ। वह असुर राजा सगर के वंश को निर्मूल करने के लिए तत्पर था।

द्विजवेषं समादाय संप्राप्य सगराह्वयम्।
अथर्ववेदविहितं प्राणिहिंसापरायणम्॥ (161)
कुरु यागं श्रियो वृद्ध्यै शत्रुविच्छेदनेच्छया।
इति तं दुर्मतिं भूपं पापाभीरुर्व्यमोहयत्॥ (162)

वह ब्राह्मण का वेष रख कर राजा सगर के पास पहुंचा और कहने लगा कि तू लक्ष्मी की वृद्धि के लिए, शत्रुओं का उच्छेद करने के लिए अथर्ववेद में कहा हुआ प्राणियों की हिंसा करने वाला यज्ञ कर। इस प्रकार पाप से नहीं डरने वाले उस महाकाल नामक असुर ने उस दुर्बुद्धि राजा को मोहित कर दिया।

अनुष्ठाय तथा सोऽपि प्राविशत्पापिनां क्षितिम्।
निर्मूलं कुलमप्यस्य नष्टं दुर्मार्गवर्तनात्॥ (163)
श्रुत्वा तत्सात्मजो रामपिताऽस्माकं क्रमागतम्।
साकेतपुरमित्येत्य तदध्यास्यान्वपालयत्॥ (164)

वह राजा भी उसके कहे अनुसार यज्ञ करके पापियों की भूमि अर्थात् नरक में प्रविष्ट हुआ। इस प्रकार कुमार्ग में प्रवृत्ति करने से इस राजा का समस्त कुल नष्ट हो गया। वाराणसी में राज्य कर रहे राजा दशरथ ने जब यह समाचार सुना तब उन्होंने सोचा कि अयोध्या नगर तो हमारी वंश-परम्परा से चला आया है। ऐसा विचार कर वे (वाराणसी से) अपने पुत्रों के साथ अयोध्या नगर में गए और वहीं रह कर उसका पालन करने लगे।

तत्रास्य देव्यां कस्यांचिदभवद्भरताह्वयः।
शत्रुघ्नश्चान्यदप्येकं दशाननवधाद्यशः॥ (165)
कारणं प्रकृतं भावि रामलक्ष्मणयोरिदम्।
मिथिलानगराधीशो जनकस्तस्य वल्लभा॥ (166)
सुरूपा वसुधा देवी विनयादिविभूषिता।
सुता सीतेत्यभूत्तस्याः संप्राप्तनवयौवना॥ (167)
तां वरीतुं समायातनृपदूतान् महीपतिः।
ददामि तस्मै दैवानुकूल्यं यस्येति सोऽमुचत्॥ (168)

वहीं इनकी किसी अन्य रानी से भरत तथा शत्रुघ्न नाम के दो पुत्र और हुए थे। रावण को मारने से राम और लक्ष्मण का जो यश होने वाला था उसका एक कारण था-वह यह कि उसी समय मिथिला नगरी में राजा जनक राज्य करते थे। उनकी अत्यन्त रूपवती तथा विनय आदि गुणों से विभूषित वसुधा नामकी रानी थी। राजा जनक की वसुधा नामकी रानी से सीता नाम की पुत्री उत्पन्न हुई थी। जब वह नवयौवन को प्राप्त हुई तो उसे वरने के लिए अनेक राजाओं ने अपने-अपने दूत भेजे। परंतु राजा ने यह कह कर कि मैं यह पुत्री उसी को दूंगा जिसका कि दैव अनुकूल होगा, उन आए हुए दूतों को बिदा कर दिया।

नृपः कदाचिदास्थानीं विद्वज्जनविराजिनीम्।
आस्थाय कार्यकुशलं कुशलादिमतिं हितम्॥ (169)
सेनापतिं समप्राक्षीत् प्राक्प्रवृत्तं कथान्तरम्।
पुरा किलात्र सगरः सुलसा चाहुतीकृता॥ (170)
परे चाश्वादयः प्रापन् सशरीराः सुरालयम्।
इतीदं श्रूयतेऽद्यापि यागेन यदि गम्यते॥ (171)
स्वर्लोकः क्रियतेऽस्माभिरपि याज्ञो यथोचितम्।
इति तद्वचनं श्रुत्वा स सेनापतिरब्रवीत्॥ (172)
नागासुरैः सदा क्रुद्धैर्मात्सर्येण परस्परम्।
अन्योन्यारब्धकार्याणां प्रतिघातो विधीयते॥ (173)

किसी समय राजा जनक विद्वज्जनों से सुशोभित सभा में बैठे हुए थे। वहीं पर कार्य करने में कुशल तथा हित करने वाला कुशलमति नाम का सेनापति बैठा था। राजा जनक ने उससे एक प्राचीन कथा पूछी। वह कहने लगा कि, ''पहले राजा सगर, रानी सुलसा तथा घोड़ा आदि अन्य कितने ही जीव यज्ञ में होमे गए थे। वे सब शरीर-सहित स्वर्ग गए थे, यह बात सुनी जाती है। यदि आज कल भी यज्ञ करने से स्वर्ग प्राप्त होता हो तो हम लोग भी यथायोग्य रीति से यज्ञ करें। राजा के इस प्रकार वचन सुन कर सेनापति कहने लगा कि सदा क्रोधित हुए नागकुमार और असुरकुमार परस्पर की मत्सरता से एक-दूसरे के प्रारम्भ किए हुए कार्यों में विघ्न करते हैं।

अयं चाद्य महाकालेनासुरेण नवो विधिः।
याज्ञो विनिर्मितस्तस्य विघातः शङ्क्यतेऽरिभिः॥ (174)
नागराडुपकर्ताऽभून्नमेश्च विनमेरपि।
ततो यागस्य हन्तारः खगास्तत्पक्षपातिनः॥ (175)

चूंकि यज्ञ की यह नई रीति महाकाल नामक असुर ने चलाई है, अतः प्रतिपक्षियों द्वारा इसमें विघ्न किए जाने की आशंका है। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि नागकुमारों के राजा धरणेन्द्र ने नमि तथा विनमि का उपकार किया था, इसलिए उसका पक्षपात करने वाले विद्याधर अवश्य ही यज्ञ का विघात करेंगे।

यागः सिद्ध्यति शक्तानां तद्विकारव्यपोहने।
यद्यप्येतन्न बुध्येरन् रूप्यशैलनिवासिनः॥ (176)
निश्चितो रावणः शौर्यशाली मानग्रहाहितः।
तस्मात्प्रागपि शङ्काऽस्ति स कदाचित् विघातकृत्॥ (177)
स्यात्तद्रामाय शक्ताय दास्यामः कन्यकामिमाम्।
इति तद्वचनं सर्वे तुष्टुवुस्तत्सभासिनः॥ (178)

यज्ञ उन्हीं का सिद्ध हो पाता है, जो कि उसके विघ्न दूर करने में समर्थ होते हैं। यद्यपि विजयार्ध पर्वत पर रहने वाले विद्याधरों को इसका पता नहीं चलेगा, यह ठीक है, तथापि यह निश्चित है कि उनमें रावण बड़ा पराक्रमी और मानरूपी ग्रह से अधिष्ठित है, उससे इस बात का भय पहले से ही है कि कदाचित् वह यज्ञ में विघ्न उपस्थित करे। हां, एक उपाय हो सकता है कि इस समय रामचंद्रजी सब प्रकार से समर्थ हैं। उनके लिए यदि हम यह कन्या प्रदान कर देंगे तो वे सब विघ्न दूर कर देंगे। इस प्रकार सेनापति के वचनों की सभा में बैठे हुए सब लोगों ने प्रशंसा की।

निरचिन्वंश्च भूपेन साकं तत्कार्यमेव ते।
तदैव जनको दूतं प्राहिणोद्रामलक्ष्मणौ॥ (179)
मदीययागरक्षार्थं प्रहेतव्यौ कृतत्वरम्।
रामाय दास्यते सीता चेति शासनहारिणम्॥ (180)
सलेखोपायनं सन्तं नृपं दशरथं प्रति।
तथाऽन्यांश्च महीट्सूनून् दूतानानेतुमादिशत्॥ (181)

राजा जनक के साथ-ही-साथ सब लोगों ने इस कार्य का निश्चय कर लिया और राजा जनक ने उसी समय सत्पुरुष राजा दशरथ के पास पत्र तथा भेंट के साथ एक दूत भेजा तथा उससे निम्न संदेश कहलाया कि आप मेरे यज्ञ की रक्षा के लिए शीघ्र ही राम तथा लक्ष्मण को भेजिए। यहां राम के लिए सीता नामक कन्या दी जाएगी। राम-लक्ष्मण के सिवाय अन्य राजपुत्रों को बुलाने के लिए अन्य-अन्य दूत भेजे।

अयोध्येशोऽपि लेखार्थं दूतोक्तं चावधारयन्।
तत्प्रयोजननिश्चित्यै मंत्रिणं पृच्छति स्म सः॥ (182)
जनकोक्तं निवेद्यात्र किं कार्यं क्रियतामिति।
इदमागमसाराख्यो मंत्र्यवोचद् वचोऽशुभम्॥ (183)
निरन्तरायसंसिद्धौ यागस्योभयलोकजम्।
हितं कृतं भवेत्तस्माद् गतिरस्त्वनयोरिति॥ (184)

अयोध्या के स्वामी राजा दशरथ ने भी पत्र में लिखे अर्थ को समझा, दूत का कहा समाचार सुना और इस सबका प्रयोजन निश्चित करने के लिए मन्त्री से पूछा। उन्होंने राजा जनक का कहा हुआ सब मंत्रियों को सुनाया और पूछा कि क्या कार्य करना चाहिए? इसके उत्तर में आगमसार मंत्री निम्नांकित अशुभ वचन कहने लगा कि यज्ञ के निर्विघ्न समाप्त होने पर दोनों लोकों का हित होगा और उससे इन दोनों कुमारों की उत्तम गति होगी।

वचस्यवसिते तस्य तदुक्तमवधार्य सः।
प्रजल्पति स्मातिशयमत्याख्यो मंत्रिणां मतः॥ (185)
धर्मो यागोऽयमित्येतत्प्रमाणपदवीं वचः।
न प्राप्नोत्यत एवात्र न वर्तन्ते मनीषिणः॥ (186)

आगमसार के वचन समाप्त होने पर उसके कहे हुए का निश्चय कर अतिशयमति नामक श्रेष्ठ मंत्री कहने लगा कि यज्ञ करना धर्म है, यह वचन प्रमाणकोटि को प्राप्त नहीं है, इसीलिए बुद्धिमान् पुरुष इस कार्य में प्रवृत्त नहीं होते हैं।

प्रमाणभूतं वाक्यस्य वक्तृप्रामाण्यतो भवेत्।
सर्वप्राणिवधाशंसियज्ञागमविधायिनः ॥ (187)
कथमुन्मत्तकस्येव प्रामाण्यं विप्रवादिनः।
विरुद्धालपितासिद्धानेति चेद्वेदवादिनः ॥ (188)
सिद्धे वैकत्र घातोक्तेरन्यत्रैतन्निषेधनात्।
स्वयंभूत्वाददोषोऽस्य विरोधे सत्यपीत्यसत् ॥ (189)
प्रष्टव्योऽसि स्वयंभूत्वं कीदृशं तु तदुच्यताम्।
बुद्धिमत्कारणस्पन्दसंबन्धनिरपेक्षणम् ॥ (190)
स्वयंभूत्वं भवेन्मेघभेकादीनां च सा गतिः।
ततः सर्वज्ञनिर्दिष्टं सर्वप्राणिहितात्मकम्॥ (191)
ज्ञेयमागमशब्दाख्यं सर्वदोषविवर्जितम्।
वर्तते यज्ञशब्दश्च दानदेवर्षिपूजयोः॥ (192)
यागो यज्ञः क्रतुः पूजा सपर्येज्याऽध्वरो मखः।
मह इत्यपि पर्यायवचनान्यर्चनाविधेः ॥ (193)

वचन की प्रमाणता वक्ता की प्रमाणता से होती है। जिनमें समस्त प्राणियों की हिंसा का निरूपण है-ऐसे यज्ञप्रवर्तक आगम का उपदेश करने वाले विरुद्धवादी मनुष्य के वचन पागल पुरुष के वचन के समान प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं? यदि वेद का निरूपण करने वाले परस्पर-विरुद्धभाषी न हों तो उसमें एक जगह हिंसा का विधान और दूसरी जगह उसका निषेध-ऐसे दोनों प्रकार के वाक्य क्यों मिलते? कदाचित् यह कहो कि वेद स्वयम्भू है, अपने-आप बना हुआ है, अतः परस्पर-विरोध होने पर भी दोष नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आपसे यह पूछा जा सकता है कि स्वयम्भूपना क्या होता है? इसका क्या अर्थ है? यह तो कहिए। यदि बुद्धिमान मनुष्यरूपी कारण के हलन-चलन रूपी सम्बन्ध से निरपेक्ष रहना अर्थात् किसी भी बुद्धिमान मनुष्य के हलन-चलन रूपी व्यापार के बिना ही वेद रचा गया है, अतः स्वयंभू है। स्वयंभूपन का उक्त अर्थ यदि आप लेते हैं तो मेघों की गर्जना और मेंढकों की टर्र-टर्र-इनमें भी स्वयंभूपन आ जावेगा, क्योंकि ये सब भी तो अपने-आप ही उत्पन्न होते हैं- इसलिए आगम वही है-शास्त्र वही है, जो सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ हो, समस्त प्राणियों का हित करने वाला हो और सब दोषों से रहित हो। यज्ञ शब्द, दान देना तथा देव व ऋषियों की पूजा करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह-ये सब पूजाविधि के पर्यायवाचक शब्द हैं।

यज्ञशब्दाभिधेयोरुदानपूजास्वरूपकात्
धर्मात्पुण्यं समावर्ज्य तत्पाकाद्दिविजेश्वराः॥ (194)
शतक्र तुः शतमखः शताध्वर इति श्रुताः।
प्रादुर्भूताः प्रसिद्धास्ते लोकेषु समयेषु च॥ (195)

यज्ञ' शब्द का वाच्यार्थ जो बहुत भारी दान देना और पूजा करना है, तत्स्वरूप धर्म से ही लोग पुण्य का संचय करते हैं और उसी के फल से देवेन्द्र होते हैं। इसलिए ही लोक और शास्त्रों में इन्द्र के शतक्रतु, शतमख और शताध्वर आदि नाम प्रसिद्ध हुए हैं तथा सब जगह सुनाई देते हैं।

हिंसार्थो यज्ञशब्दश्चेत्तत्कर्तुर्नारकी गतिः।
प्रयाति सोऽपि चेत्स्वर्गं विहिंसानामधोगतिः॥ (196)
तव स्यादित्यभिप्रायो हिंस्यमानाङ्गिदानतः।
तद्वधेन च देवानां पूज्यत्वाद्यज्ञ इत्ययम्॥ (197)
वर्तते देवपूजायां दाने चान्वर्थतां गतः।
एतत्स्वगृहमान्यं ते यद्यस्मिन्नेष इत्यपि॥ (198)
हिंसायामिति धात्वर्थपाठे किं न विधीयते।
न हिंसा यज्ञशब्दार्थो यदि प्राणवधात्मकम्॥ (199)
यज्ञं कथं चरन्त्यार्या इत्यशिक्षितलक्षणम्।
आर्षानार्षविकल्पेन यागो द्विविध इष्यते॥ (200)

यदि 'यज्ञ' शब्द का अर्थ हिंसा करना ही होता है तो इसके करने वाले की नरक गति होनी चाहिए। यदि ऐसा हिंसक भी स्वर्ग चला जाता है तो फिर जो हिंसा नहीं करते हैं, उनकी अधोगति होनी चाहिए-उन्हें नरक जाना चाहिए। कदाचित् आपका यह अभिप्राय हो कि यज्ञ में जिसकी हिंसा की जाती है, उसके शरीर का दान किया जता है, अर्थात् सबको वितरण किया जाता है और उसे मार कर देवों की पूजा की जाती है। इस तरह यज्ञ शब्द का अर्थ जो दान देना और पूजा करना है, उसकी सार्थकता हो जाती है। तो आपका यह अभिप्राय ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह दान और पूजा का जो अर्थ आपने किया है, वह आपके ही घर मान्य होगा, सर्वत्र नहीं। यदि यज्ञ शब्द का अर्थ हिंसा ही है तो फिर धातु पाठ में जहां धातुओं के अर्थ बतलाए हैं, वहां यज्‌धातु का अर्थ हिंसा क्यों नहीं बतलाया? वहां तो मात्र 'यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु' अर्थात् यज् धातु, देवपूजा, संगतिकरण और दान देना-इतने अर्थों में आती है, यही बतलाया है। इसलिए यज् धातु से बने 'यज्ञ' शब्द का अर्थ हिंसा करना कभी नहीं हो सकता। कदाचित् आप यह कहें कि यदि हिंसा करना यज्ञ शब्द का अर्थ नहीं है तो आर्य पुरुष प्राणिहिंसा से भरा हुआ यज्ञ क्यों करते हैं? तो आपका यह कहना अशिक्षित अथवा मूर्ख का लक्षण है- चिह्न है। क्योंकि आर्ष और अनार्ष के भेद से यज्ञ दो प्रकार का माना जाता है।

तीर्थेशो जगदाद्येन परमब्रह्मणोदिते।
वेदे जीवादिषड्द्रव्यभेदे याथात्म्यदेशने॥ (201)
त्रयोऽग्नयः समुद्दिष्टाः क्रोधकामोदराग्नयः।
तेषु क्षमाविरागत्वानशनाहुतिभिर्वने॥ (202)
स्थित्वर्षियतिमुन्यस्तशरणाः परमद्विजाः।
इत्यात्मयज्ञमिष्टार्थामष्टमीमवनीं ययुः॥ (203)

इस कर्मभूमिरूपी जगत् के आदि में होने वाले परमब्रह्म श्रीवृषभदेव तीर्थंकर के द्वारा कहे हुए वेद में जिसमें कि जीवादि छह द्रव्यों के भेद का यथार्थ उपदेश दिया गया है-क्रोधाग्नि, कामाग्नि और उदराग्नि- ये तीन अग्नियां बतलाई गई हैं। इनमें क्षमा, वैराग्य और अनशन की आहुतयां देने वाले जो ऋषि, यति, मुनि और अनगार रूपी श्रेष्ठ द्विज वन में निवास करते हैं, वे आत्मयज्ञ कर इष्ट अर्थ को देने वाली अष्टम पृथिवी-मोक्ष स्थान को प्राप्त होते हैं।

तथा तीर्थगणाधीशशेषके वलिसद्वपु:।
संस्कारमहिताग्नीन्द्रमुकुटोत्थाग्निषु त्रिषु॥(204)
परमात्मपदं प्राप्तान्निजान् पितृपितामहान्।
उद्दिश्य भाक्तिका: पुष्पगंधाक्षतफलादिभि:॥(205)
आर्षोपासकवेदोक्तमंत्रोच्चारणपूर्वकम्।
दानादिसत्क्रियोपेता गेहा श्रमतपस्विन:॥(206)
नित्यमिष्ट्वेन्द्रसामानिकादिमान्यपदोदिता:।
लौकान्तिकाश्च भूत्वाऽमरद्विजा ध्वस्तकल्मषा:॥(207)

इसके सिवाय तीर्थंकर, गणधर तथा अन्य केवलियों के उत्तम शरीर के संस्कार से पूज्य एवं अग्निकुमार इंद्र के मुकुट से उत्पन्न हुई तीन अग्नियां हैं। उनमें अत्यन्त भक्त तथा दान आदि उत्तमोत्तम क्रियाओं को करने वाले तपस्वी, गृहस्थ, परमात्मपद को प्राप्त हुए अपने पिता तथा प्रपितामह को उद्देश्य कर ऋषिप्रणीत वेद में कहे मंत्रों का उच्चारण करते हुए जो अक्षत, गंध, फल आदि के द्वारा आहुति देते हैं, वह दूसरा आर्ष यज्ञ कहलाता है। जो निरंतर यह यज्ञ करते हैं, वे इंद्र, सामानिक आदि माननीय पदों पर अधिष्ठित होकर लौकान्तिक नामक देव-ब्राह्मण होते हैं और अन्त में समस्त पापों को नष्ट कर, मोक्ष प्राप्त करते हैं।

द्वितीयज्ञानवेदस्य सामान्येन सत: सदा।
द्रव्यक्षेत्रादिभेदेन कर्तृणां तीर्थदेशिनाम्॥(208)
पञ्चकल्याणभेदेषु देवयज्ञविधानत:।
चितपुण्यफलं भुक्त्वा क्रमेणाप्स्यंति सिद्धताम्॥(209)

दूसरा श्रुतज्ञानरूपी वेद सामान्य की अपेक्षा सदा विद्यमान रहता है, उसके द्रव्य, क्षेत्र आदि के भेद से अथवा तीर्थंकरों के पंच कल्याणकों के भेद से अनेक भेद हैं, उन सबके समय जो श्री जिनेन्द्र देव का यज्ञ अर्थात् पूजन करते हैं, वे पुण्य का संचय करते हैं और उसका फल भोग कर क्रम-क्रम से सिद्ध अवस्था-मोक्ष प्राप्त करते हैं।

यागोऽयमृषिभि: प्रोक्तो यत्यगारिद्वयाश्रय:।
आद्यो मोक्षाय साक्षात्स्यात्स्यात्परंपरया पर:॥(210)
एवं परंपरायातदेवयज्ञविधिष्विह।
द्विलोकहितकृत्येषु वर्तमानेषु संततम्॥(211)
मुनिसुव्रततीर्थेशसंताने सगरद्विष:।
महाकालासुरो हिंसायज्ञमज्ञोऽन्वशादमुम्॥(212)
कथं तदिति चेदस्मिन् भारते चारणादिके।
युगले नगरे राजाऽजनि नाम्ना सुयोधन:॥(213)

इस प्रकार ऋषियों ने यह यज्ञ मुनि और गृहस्थ के आश्रय से दो प्रकार का निरूपण किया है। इनमें-से पहला मोक्ष का साक्षात् कारण है और दूसरा परम्परा से मोक्ष का कारण है। इस प्रकार इस देवयज्ञ की विधि परम्परा से चली आई है, यही दोनों लोकों का हित करने वाली है और यही निरन्तर विद्यमान रहती है। किंतु श्री मुनिसुव्रतनाथ

तीर्थंकर के तीर्थ में सगर राजा से द्वेष रखने वाला एक महाकाल नामक असुर हुआ। उसी अज्ञानी ने इस हिंसा-यज्ञ का उपदेश दिया है। महाकाल ने ऐसा क्यों किया? यदि यह जानने की इच्छा है तो सुन लीजिए। इसी भरत क्षेत्र में चारण-युगल नाम का नगर है। उसमें सुयोधन नाम का राजा राज्य करता था।

देवी तस्यातिथिख्यातिस्तनूजा सुलसाऽनयोः।
तस्याः स्वयंवरार्थेन दूतोक्त्या पुरमागते॥ (214)
महीशमण्डले साकेतेशिनं सगराह्वयम्।
तत्रागन्तुं समुद्युक्तमन्यदा स्वशिरोरुहाम्॥ (215)
कलापे पलितं प्राच्यं ज्ञात्वा तैलोपलेपिना।
निर्विद्य विमुखं याते विलोक्य कुशला तदा॥ (216)
धात्री मंदोदरी नाम तमित्वा पलितं नवम्।
पवित्रं द्रव्यलाभं ते वदतीत्यत्यबूबुधत्॥ (217)
तत्रेव सचिवो विश्वभूरप्येत्यान्यभूभृताम्।
पराङ्मुखी सा त्वामेव सुलसाऽभिलषत्यलम्॥ (218)
यथा तथाऽहं कर्ताऽस्मि कौशलेनेत्यभाषत।
तद्वचःश्रवणात्प्रीतः साकेतनगराधिपः॥ (219)

उसकी पट्टरानी का नाम 'अतिथि' था, इन दोनों के सुलसा नाम की पुत्री थी। उसके स्वयंवर के लिए दूतों के कहने से अनेक राजाओं का समूह चारणयुगल नगर में आया था। अयोध्या का राजा सगर भी उस स्वयंवर में जाने के लिए उद्यत था। परंतु उसके बालों के समूह में एक बाल सफेद था। तेल लगाने वाले सेवक से उसे विदित हुआ कि यह बहुत पुराना है। यह जानकर वह स्वयंवर में जाने से विमुख हो गया, उसे निर्वेद-वैराग्य हुआ। राजा सगर की एक मंदोदरी नाम की धाय थी जो बहुत ही चतुर थी। उसने सगर के पास जाकर कहा कि यह सफेद बाल नया है और तुम्हें किसी पवित्र वस्तु का लाभ होगा-यह कह रहा है। उसी समय विश्वभू नाम का मंत्री वहां आ गया और कहने लगा कि यह सुलसा अन्य राजाओं से विमुख होकर जिस तरह आपको ही चाहेगी उसी तरह मैं कुशलता से सब व्यवस्था कर दूंगा। मंत्री के वचन सुनने से राजा सगर बहुत ही प्रसन्न हुआ।

चतुरङ्गबलेनामा सुयोधनपुरं ययौ।
दिनेषु केषुचित्तत्र यातेषु सुलसान्तिके॥ (220)
मन्दोदर्याः कुलं रूपं सौन्दर्यं विक्रमो नयः।
विनयो विभवो बंधुः संपदन्ये च ये स्तुताः॥ (221)
गुणा वरस्य तेऽयोध्यापुरेशे राजपुत्रिका।
तत्सर्वमवगम्यासीत्तस्मिन्नासंजिताशया॥ (222)

वह चतुरंग सेना के साथ राजा सुयोधन के नगर की ओर चल दिया और कुछ दिनों में वहां पहुंच भी गया। सगर की मंदोदरी धाय उसके साथ आई थी। उसने सुलसा के पास जाकर राजा सगर के कुल, रूप, सौंदर्य, पराक्रम, नय, विनय, विभव, बंधु, संपत्ति तथा योग्य वर में अन्य प्रशंसनीय गुण होते हैं, उन सब का व्याख्यान किया। यह सब जान कर राजकुमारी सुलसा राजा सगर में आसक्त हो गई।

तद्विदित्वाऽतिथिर्युक्तिमद्वचोभिः प्रदूष्य तम्।
सुरम्यविषये पोदनाधीड् बाहुबलीशिनः॥ (223)
कुले महीभुजां ज्येष्ठो मद्भ्राता तृणपिङ्गलः।
तस्य सर्वयशा देवी तयोस्तुग्मधुपिङ्गलः॥ (224)
सर्वैर्वरगुणैर्गण्यो नवे वयसि वर्तते।
स त्वया मालया माननीयोऽद्य मदपेक्षया॥ (225)
साकेतपतिना किं ते सपत्नीदुःखदायिना।
इत्याहै तद्वचः सापि सोपराधाऽभ्युपागमत्॥ (226)

जब सुलसा की माता अतिथि को इस बात का पता चला तब उसने युक्तिपूर्ण वचनों से राजा सगर की बहुत निंदा की और कहा कि सुरम्य देश के पोदनपुर नगर का राजा बाहुबली के वंश में होने वाले राजाओं में श्रेष्ठ तृणपिंगल नामक मेरा भाई है। उसकी रानी का नाम सर्वयशा है, उन दोनों के मधुपिंगल नामक पुत्र है जो वर के योग्य समस्त गुणों से गणनीय है- प्रशंसनीय है और नई अवस्था में विद्यमान है। आज तुझे मेरे विचार से उसे वरमाला डाल कर सम्मानित करना चाहिए। सौत का दुःख देने वाले अयोध्यापति-राजा सगर से तुझे क्या प्रयोजन है? माता अतिथि ने यह वचन कहे, जिन्हें सुलसा ने भी उसके आग्रहवश स्वीकृत कर लिया।

तदा प्रभृति कन्यायाः समीपगमनादिकम्।
उपायेनातिथिर्देवी मंदोदर्या न्यवारयत्॥ (227)
धात्री च प्रस्तुतार्थस्य विघातमवदद् विभोः।
नृपोऽपि मंत्रिणं प्राह यदस्माभिरभीप्सितम्॥ (228)
तत्त्वया सर्वथा साध्यमिति सोऽप्यभ्युपेत्य तत्।
वरस्य लक्षणं शस्तमप्रशस्तं च वर्ण्यते॥ (229)
येन तादृग्विधं ग्रन्थं समुत्पाद्य विचक्षणः।
स्वयंवरविधानाख्यं विधायारोप्य पुस्तके॥ (230)
मञ्जूषायां विनिक्षिप्य तदुद्यानवनान्तरे।
धरातिरोहितं कृत्वा न्यधादविदितं परैः॥ (231)

उसी समय से अतिथि देवी ने किसी उपाय से कन्या के समीप मंदोदरी का आना-जाना आदि बिलकुल रोक दिया। मंदोदरी ने अपने प्रकृत कार्य की रुकावट राजा सगर से कही और राजा सगर ने अपने मंत्री से कहा कि हमारा जो मनोरथ है, वह तुम्हें सब प्रकार से सिद्ध करना चाहिए। बुद्धिमान् मंत्री ने राजा की बात स्वीकार कर 'स्वयंवर विधान' नाम का एक ऐसा ग्रंथ बनवाया कि जिसमें वर के अच्छे और बुरे लक्षण बताए गए थे। उसने वह ग्रंथ पुस्तक के रूप में निबद्ध कर एक संदूकची में रखा और वह संदूकची उसी नगर-स्थित उद्यान के किसी वन में जमीन में छिपा कर रख दी। यह कार्य इतनी सावधानी से किया कि किसी को इसका पता भी नहीं चला।

दिनेषु केषुचिद्यातेषूद्यानावनिशोधने।
हलाग्रेणोद्धृतं मंत्री मया दृष्टं यदृच्छया॥ (232)
पुरातनमिदं शास्त्रमित्यजानन्निव स्वयम्।
विस्मितो राजपुत्राणां समाजे तदवाचयत्॥ (233)
संभावयतु पिङ्गाक्षं कन्यां वरकदम्बके।
न मालया मृतिस्तस्याः सा तं चेत्समबीभवत्॥ (234)
तेनापि न प्रवेष्टव्या सभां ह्री भीत्रपावता।
प्रविष्टोऽप्यत्र यः पापी ततो निर्घात्यतामिति॥ (235)

कितने ही दिन बीत जाने पर वन की पृथिवी खोदते समय उसने हल के अग्रभाग से वह पुस्तक निकाली और कहा कि इच्छानुसार खोदते हुए मुझे यह संदूकची मिली है। यह कोई प्राचीन शास्त्र है। इस प्रकार कहता हुआ वह आश्चर्य प्रकट करने लगा, मानो कुछ जानता ही नहीं हो। उसने वह पुस्तक राजकुमारों के समूह में बचवायी। उसमें लिखा था कि कन्या और वर समुदाय में जिसकी आंख सफेद और पीली हो, माला के द्वारा उसका सत्कार नहीं करना चाहिए। अन्यथा कन्या की मृत्यु हो जाती है या वर मर जाता है। इसलिए डर और लज्जा वाले पुरुष को सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिए। यदि कोई पापी प्रविष्ट भी हो जाए तो उसे निकाल देना चाहिए।

तदाऽसौ सर्वमाकर्ण्य लज्जया मधुपिङ्गलः।
तद्गुणत्वात्ततो गत्वा हरिषेणगुरोस्तपः॥ (236)
प्रपन्नस्तद्विदित्वाऽगुर्मुदं सगरभूपतिः।
विश्वभूश्चेष्टसंसिद्धावन्ये च कुटिलाशयाः॥ (237)
सन्तस्तद्बान्धवाश्चान्ये विषादमगमंस्तदा।
न पश्यन्त्यर्थिनः पापं वञ्चनासंचितं महत्॥ (238)

मधुपिंगल में यह सब गुण विद्यमान थे, अतः वह यह सब सुन लज्जावश वहां से बाहर चला गया और हरिषेण गुरु के पास जाकर उसने तप धारण कर लिया। यह जान कर अपनी इष्टसिद्धि होने से राजा सगर, विश्वभू मंत्री तथा कुटिल अभिप्राय वाले अन्य मनुष्य हर्ष को प्राप्त हुए। मधुपिंगल के भाई-बंधुओं को तथा अन्य सज्जन मनुष्यों को उस समय दुःख हुआ। देखो स्वार्थी मनुष्य दूसरों को ठगने से उत्पन्न हुए बड़े भारी पाप को नहीं देखते हैं।

अथ कृत्वा महापूजां दिनान्यष्टौ जिनेशिनाम्।
तदन्तेऽभिषवं चैनां सुलसां कन्यकोत्तमाम्॥ (239)
स्नातामलंकृतां शुद्धतिथिवारादिसंनिधौ।
पुरोधा रथमारोप्य नीत्वा चारुभटावृताम्॥ (240)

इधर राजा सुयोधन ने आठ दिन तक जिनेन्द्र भगवान् की महा पूजा की, और उसके अंत में अभिषेक किया। तदनन्तर उत्तम कन्या सुलसा को स्नान कराया, आभूषण पहनाए और शुद्ध तिथि, वार आदि के दिन अनेक उत्तम योद्धाओं से घिरी हुई उस कन्या को पुरोहित रथ में बैठा कर स्वयंवर-मंडप ले गया।

नृपान् भद्रासनारूढान् स स्वयंवरमण्डपे।
यथाक्रमं विनिर्दिश्य कुलजात्यादिभिः पृथक्॥ (241)
व्यरमत् सा समासक्ता साकेतपुरनायकम्।
अकरोत् कण्ठदेशे तं मालालंकृतविग्रहम्॥ (242)
अनयोरनुरूपोऽयं संगमो वेधसा कृतः।
इत्युक्त्वा मत्सरापेतमतुष्यद् भूपमंडलम्॥ (243)
कल्याणविधिपर्याप्तौ स्थित्वा तत्रैव कानिचित्।
दिनानि सगरः श्रीमान् सुखेन सुलसान्वितः॥ (244)

वहां अनेक राजा उत्तम-उत्तम आसनों पर समारूढ़ थे। पुरोहित उनके कुल, जाति आदि का पृथक्-पृथक् क्रमपूर्वक निर्देश करने लगा, परंतु सुलसा अयोध्या के राजा सगर में आसक्त थी, अतः उन सब राजाओं को छोड़ती हुई आगे बढ़ती गई और सगर के गले में ही माला डाल कर उसका शरीर माला से अलंकृत किया। 'इन दोनों का समागम विधाता ने ठीक ही किया है' यह कह कर वहां जो राजा ईर्ष्यारहित थे, वे बहुत ही संतुष्ट हुए। विवाह की विधि समाप्त होने पर लक्ष्मीसम्पन्न राजा सगर सुलसा के साथ वहीं पर कुछ दिन तक सुख से रहा।

साकेतनगरं गत्वा भोगाननुभवन् स्थितः।
मधुपिङ्गलसाधोश्च वर्तमानस्य संयमे॥ (245)
पुरमेकं तनुस्थित्यै विशतो वीक्ष्य लक्षणम्।
कश्चिन्नैमित्तको यूनः पृथ्वीराज्यार्हदेहजैः॥ (246)
लक्षणैरेष भिक्षाशी किल किं लक्षणागमैः।
इत्यनिन्दत्तदाकर्ण्य परोऽप्येवमभाषत॥ (247)
एष राज्यश्रियं भुञ्जन् मृषा सगरमंत्रिणा।
कृत्रिमागममादर्श्य दूषितः सन् ह्रिया तपः॥ (248)
प्रपन्नवान् गते चास्मिन् सुलसां सगरोऽग्रहीत्।
इति तद्वचनं श्रुत्वा मुनिः क्रोधाग्निदीपितः॥ (249)

तदनन्तर अयोध्या नगरी में जाकर भोगों का अनुभव करता हुआ राजा सगर सुख से रहने लगा। इधर मधु-पिंगल साधु संयम धारण कर रहे थे। एक दिन वे आहार के लिए किसी नगर में गए थे। वहां कोई निमित्तज्ञानी उनके लक्षण देख कर कहने लगा कि 'इस युवा के चिह्न तो पृथिवी का राज्य करने के योग्य हैं, परंतु यह भिक्षा-भोजन करने वाला है, इससे जान पड़ता है कि इन सामुद्रिक शास्त्रों से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? ये सब व्यर्थ हैं।' इस प्रकार उस निमित्तज्ञानी ने लक्षण शास्त्र-सामुद्रिक शास्त्र की निंदा की। उसके साथ ही दूसरा निमित्तज्ञानी था। वह कहने लगा कि 'यह तो राज्यलक्ष्मी का ही उपभोग करता था, परंतु सगर राजा के मंत्री ने झूठ-झूठ ही कृत्रिमशास्त्र दिखला कर इसे दूषित ठहरा दिया और इसीलिए इसने लज्जावश तप धारण कर लिया। इसके चले जाने पर सगर ने सुलसा को स्वीकृत कर लिया।' उस निमित्तज्ञानी के वचन सुनकर मधुपिंगल मुनि क्रोधाग्नि से प्रज्ज्वलित हो गए।

जन्मान्तरे फलेनास्य तपसः सगरान्वयम्।
सर्वं निर्मूलयामीति विधीः कृतनिदानकः॥ (250)
मृत्वाऽसावसुरेन्द्रस्य महिषानीक आदिमे।
कक्षाभेदे चतुःषष्टिसहस्रासुरनायकः॥ (251)
महाकालोऽभवत्तत्र देवैरावेष्टितो निजैः।
देवलोकमिमं केन प्राप्तोऽहमिति संस्मरन्॥ (252)
ज्ञात्वा विभङ्गज्ञानोपयोगेन प्राक्तने भवे।
प्रवृत्तमखिलं पापो कोपाविष्कृतचेतसा॥ (253)
तस्मिन् मंत्रिणि भूपे च रूढवैरोऽपि तौ तदा।
अनिच्छन् हन्तुमत्युग्रं सुचिकीर्षुरहं तयोः॥ (254)

'मैं इस तप के फल से दूसरे जन्म में राजा सगर के समस्त वंश को निर्मूल करूंगा।' ऐसा उन बुद्धिहीन मधुपिंगल मुनि ने निदान कर लिया। अंत में मर कर वे असुरेन्द्र की महिष जाति की सेना की पहली कक्षा में चौंसठ हजार असुरों का नायक महाकाल नाम का असुर हुआ। वहां उत्पन्न होते ही उसे अनेक आत्मीय देवों ने घेर लिया। मैं इस देव लोक में किस कारण से उत्पन्न हुआ हूं, जब वह इस बात का स्मरण करने लगा तो उसे विभंगावधिज्ञान के द्वारा अपने पूर्वभव का सब समाचार याद आ गया। याद आते ही उस पापी का चित्त क्रोध से भर गया। मंत्री और राजा के ऊपर उसका वैर जम गया। यद्यपि उन दोनों पर उसका वैर जमा हुआ था। यथापि वह उन्हें जान से नहीं मारना चाहता था, उसके बदले वह उनसे कोई भयंकर पाप करवाना चाहता था।

तदुपायसहायांश्च संचिन्त्य समुपस्थितः।
नाचिन्तयन् महत्पापमात्मनो धिग्विमूढताम्॥ (255)
इदं प्रकृतमात्रान्यत्तदभिप्रायसाधनम्।
द्वीपेऽत्र भरते देशे धवले स्वस्तिकावती॥ (256)
पुरं विश्वावसुस्तस्य पालको हरिवंशजः।
देव्यस्य श्रीमती नाम्ना वसुरासीत् सुतोऽनयोः॥ (257)

वह असुर इसके योग्य उपाय तथा सहायकों का विचार करता हुआ पृथ्वी पर आया, परंतु उसने इस बात का विचार नहीं किया कि इससे मुझे बहुत भारी पाप का संचय होता है। आचार्य कहते हैं कि ऐसी मूढ़ता के लिए धिक्कार हो। उधर वह अपने कार्य के योग्य उपाय और सहायकों की चिंता कर रहा था। इधर उसके अभिप्राय को सिद्ध करने वाली दूसरी घटना घटित हुई, जो इस प्रकार है:- इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्र के धवल देश में एक स्वस्तिकावती नाम का नगर है। हरिवंश में उत्पन्न हुआ राजा विश्वावसु उसका पालन करता था। इसकी स्त्री का नाम श्रीमती था। उन दोनों के वसु नाम का पुत्र था।

तत्रैव ब्राह्मणः पूज्यः सर्वशास्त्रविशारदः।
अभूत् क्षीरकदम्बाख्यो विख्यातोऽध्यापकोत्तमः॥ (258)
समीपे तस्य तत्सूनुः पर्वतोऽन्यश्च नारदः।
देशान्तरगतच्छात्रस्तुग्वसुश्च महीपतेः॥ (259)

उसी नगर में एक क्षीरकदम्ब नामक पूज्य ब्राह्मण रहता था। वह समस्त शास्त्रों का विद्वान् था और प्रसिद्ध श्रेष्ठ अध्यापक था। उसके पास उसका लड़का पर्वत, दूसरे देश से आया हुआ नारद और राजा का पुत्र वसु– ये तीन छात्र एक साथ पढ़ते थे।

एते त्रयोऽपि विद्यानां पारमापत् स पर्वतः।
तेष्वधीर्विपरीतार्थग्राही मोहविपाकतः॥ (260)
शेषौ यथोपदिष्टार्थग्राहिणौ ते त्रयोऽप्यगुः।
वनं दर्भादिकं चेतुं सोपाध्यायाः कदाचन॥ (261)

ये तीनों ही छात्र विद्याओं में पारंगत थे, परंतु उन तीनों में पर्वत निर्बुद्धि था, वह मोह के उदय से सदा विपरीत अर्थ ग्रहण करता था। बाकी दो छात्र पदार्थ का स्वरूप जैसा गुरु बताते थे वैसा ही ग्रहण करते थे। किसी एक दिन ये तीनों अपने गुरु के साथ कुशा आदि लाने के लिए वन में गए थे।

गुरुः श्रुतधरो नाम तत्राचलशिलातले।
स्थितो मुनित्रयं तस्मात्कृत्वाऽष्टाङ्गनिमित्तकम्॥ (262)
तत्समाप्तौ स्तुतिं कृत्वा सुस्थितं तन्निरीक्ष्य सः।
तत्र पुण्यपरीक्षार्थं समपृच्छन्मुनीश्वरः॥ (263)
पठच्छात्रत्रयस्यास्य नाम किं कस्य किं कुलम्।
को भावः का गतिः प्रान्ते भवद्भिः कथ्यतामिति॥ (264)

वहां एक पर्वत की शिला पर श्रुतधर नाम के गुरु विराजमान थे। अन्य तीन मुनि उन श्रुतधर गुरु से अष्टांग निमित्तज्ञान का अध्ययन कर रहे थे। जब अष्टांगनिमित्त ज्ञान का अध्ययन पूर्ण हो गया, तब वे तीनों मुनि उन गुरु की स्तुति कर बैठ गए। उन्हें बैठा देख कर श्रुतधर मुनिराज ने उनकी चतुराई की परीक्षा करने के लिए पूछा कि 'जो ये तीन छात्र बैठे हैं, इनमें किसका क्या नाम है? क्या कुल है? क्या अभिप्राय है? और अन्त में किसी क्या गति होगी? यह आप लोग कहें॥'

तेष्वेकोऽभाषतात्मज्ञः शृण्वित्यस्मत्समीपगः।
वसुः क्षितिपतेः सूनुः तीव्ररागादिदूषितः॥ (265)
हिंसाधर्मं विनिश्चित्य नरकावासमेष्यति।
परोऽब्रवीदयं मध्यस्थितो ब्राह्मणपुत्रकः॥ (266)
पर्वताख्यो विधीः क्रूरो महाकालोपदेशनात्।
पठित्वाऽऽथर्वणं पापशास्त्रं दुर्मार्गदेशकः॥ (267)
हिंसैव धर्म इत्यज्ञो रौद्रध्यानपरायणः।
बहूंस्तत्र प्रवर्त्यास्मिन् नरकं यास्यतीत्यतः॥ (268)

उन तीनों मुनियों में एक आत्मज्ञानी मुनि थे। वे कहने लगे कि सुनिए, यह जो राजा का पुत्र वसु हमारे पास बैठा हुआ है वह तीव्र रागादिदूषित है, अतः हिंसारूप धर्म का निश्चय कर नरक जावेगा। तदनन्तर बीच में बैठे हुए दूसरे मुनि कहने लगे कि यह जो ब्राह्मण लड़का है, इसका पर्वत नाम है, यह निर्बुद्धि है, क्रूर है, यह महाकाल के उपदेश से अथर्ववेद नामक पापप्रवर्तक शास्त्र का अध्ययन कर खोटे मार्ग का उपदेश देगा। यह अज्ञानी हिंसा को ही धर्म समझता है। निरन्तर रौद्रध्यान में तत्पर रहता है और बहुत लोगों को उसी मिथ्यामार्ग में प्रवृत्त करता है, अतः नरक जाएगा।

तृतीयोऽपि ततोऽवादीदेष पश्चादवस्थितः।
नारदाख्यो द्विजो धीमान् धर्मध्यानपरायणः॥ (269)
अहिंसालक्षणं धर्ममाश्रितानामुदाहरन्।
पतिर्गिरितटाख्यायाः पुरो भूत्वा परिग्रहम्॥ (270)
परित्यज्य तपः प्राप्य प्रान्तानुत्तरमेष्यति।
इत्येवं तैस्त्रिभिः प्रोक्तं श्रुत्वा सम्यग्मयोदितम्॥ (271)
सोपदेशं धृतं सर्वैरित्यस्तावीन्मुनिश्च तान्।
सर्वमेतदुपाध्यायः प्रत्यासन्नद्रुमाश्रयः॥ (272)
प्रणिधानात्तदाकर्ण्य तदेतद्विधिचेष्टितम्।
एतयोरशुभं धिग्धिक् किं मयाऽत्र विधीयते॥ (273)

तदनन्तर तीसरे मुनि कहने लगे कि यह जो पीछे बैठा है, इसका नारद नाम है। यह जाति का ब्राह्मण है, बुद्धिमान् है, धर्मध्यान में तत्पर रहता है, अपने आश्रित लोगों को अहिंसारूप धर्म का उपदेश देता है, यह आगे चल कर गिरितट नामक नगर का राजा होगा और अन्त में परिग्रह छोड़कर तपस्वी होगा तथा अंतिम अनुत्तरविमान में उत्पन्न होगा। इस प्रकार उन तीनों मुनियों का कहा सुन कर श्रुतधर मुनिराज ने कहा कि तुम लोगों ने मेरा कहा उपदेश ठीक-ठीक ग्रहण किया है, ऐसा कह कर उन्होंने उन तीनों मुनियों की स्तुति की। इधर एक वृक्ष के आश्रय में बैठा हुआ क्षीरकदम्ब उपाध्याय, यह सब बड़ी सावधानी से सुन रहा था। सुन कर वह विचारने लगा कि विधि की लीला बड़ी विचित्र है, देखो, इन दोनों की- पर्वत और वसु की अशुभ गति होने वाली है। इनके अशुभ कर्म को धिक्कार हो, मैं इस विषय में कर ही क्या सकता हूं?

विचिन्त्येति यतीन् भक्त्या तत्स्थ एवाभिवन्द्य तान्।
वैमनस्येन तैश्छात्रैर्नगरं प्राविशत् समम्॥ (274)
शास्त्रबालत्वयोरेकवत्सरे परिपूरणे।
वसोः पिता स्वयं पट्टं बध्वा प्रायात्तपोवनम्॥ (275)
वसुः निष्कण्टकं पृथ्वीं पालयन् हेलयाऽन्यदा।
वनं विहर्तुमभ्येत्य पयोधरपथाद् द्विजान्॥ (276)
प्रस्खल्य पतितान् वीक्ष्य विस्मयादिति खाद् द्रुतम्।
पततां हेतुनाऽवश्यं भवितव्यमिति स्फुटम्॥ (277)

ऐसा विचार कर उसने उन मुनियों को वहीं वृक्ष के नीचे बैठे-बैठे भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और फिर बड़ी उदासीनता से उन तीनों छात्रों के साथ वह अपने नगर में आ गया। एक वर्ष के बाद शास्त्राध्ययन तथा बाल्यावस्था पूर्ण होने पर वसु के पिता विश्वावसु, वसु को राज्यपट्ट बांध कर स्वयं तपोवन के लिए चले गए। इधर वसु पृथिवी का अनायास ही निष्कण्टन पालन करने लगा। किसी एक दिन वह विहार करने के लिए वन में गया था। वहीं क्या देखता है कि बहुत-से पक्षी आकाश में जाते-जाते टकरा कर नीचे गिर रहे हैं। वह सोचने लगा कि इसमें कुछ कारण अवश्य होना चाहिए।

मत्वाऽऽकृष्य धनुर्बाणममुञ्चत्तत्प्रदेशवित्।
स्खलित्वा पतितं तस्मात्तं समीक्ष्य महीपतिः॥ (278)
तत्प्रदेशं स्वयं गत्वा रथिके न सहास्पृशत्।
आकाशस्फटिकस्तम्भं विज्ञायाविदितं परैः॥ (279)

यह विचार, उसने उस स्थान का ज्ञान प्राप्त करने के लिए धनुष खींच कर एक बाण छोड़ा। वह बाण भी वहां टकरा कर नीचे गिर पड़ा। यह देख, राजा वसु वहां स्वयं गया और सारथि के साथ उसने उस स्थान का स्पर्श किया। स्पर्श करते ही उसे मालूम हुआ कि यह आकाशस्फटिक स्तम्भ है, वह स्तम्भ आकाश के रंग से इतना मिलता-जुलता था कि किसी दूसरे को आज तक उसका बोध नहीं हुआ था।

आनाय्य तेन निर्माप्य पृथुपादचतुष्टयम्।
तत्सिंहासनमारुह्य सेव्यमानो नृपादिभिः॥ (280)
वसुः सत्यस्य माहात्म्यात्स्थितः खे सिंहविष्टरे।
इति विस्मयमानेन जनेनाघोषितोन्नतिः॥ (281)

राजा वसु ने उस स्तम्भ को घर ला कर उसके चार बड़े-बड़े पाये बनवाये और उनका सिंहासन बनवा कर वह उस पर आरूढ़ हुआ। उस समय अनेक राजा आदि उसकी सेवा करते थे। लोग बड़े आश्चर्य से उसकी उन्नति की घोषणा करते हुए कहते थे कि देखो, राजा वसु सत्य के माहात्म्य से सिंहासन पर अधर आकाश में बैठता है।

तस्थावेवं प्रयात्यस्य काले पर्वतनारदौ।
समित्पुष्पार्थमभ्येत्य वनं नद्याः प्रवाहजम्॥ (282)
जलं पीत्वा मयूराणां गतानां मार्गदर्शनात्।
बभाषे नारदस्तत्र हे पर्वत शिखावलः॥ (283)
तेष्वेकोऽस्ति स्त्रियः सप्तैवेति तच्छ्रवणादसौ।
मृषेत्यसोढा चित्ते स व्यधात् पणितबंधनम्॥ (284)

इस प्रकार, इधर राजा वसु का समय बीत रहा था, उधर एक दिन पर्वत और नारद, समिधा तथा पुष्प लाने के लिए वन में गए थे। वहां वे क्या देखते हैं कि कुछ मयूर नदी के प्रवाह का पानी पी कर गए हुए हैं। उनका मार्ग देख कर नारद ने पर्वत से कहा कि हे पर्वत! ये जो मयूर गए हुए हैं, उनमें एक तो पुरुष है और बाकी सात स्त्रियां हैं। नारद की बात सुन कर पर्वत ने कहा कि तुम्हारा कहना झूठ है। उसे मन में यह बात सह्य नहीं हुई, अत: उसने कोई शर्त बांध ली।

गत्वा ततोऽन्तरं किंचित् सद्भूतं नारदोदितम्।
विदित्वा विस्मयं सोऽगमन्नागस्मात्पुरोगतः॥ (285)
करेणुमार्गमालोक्य सस्मितं नारदोऽवदत्।
अन्धवामेक्षणा हस्तिवशैकाऽत्राधुना गता॥ (286)

तदनन्तंर कुछ आगे जाकर जब उसे इस बात का पता चला कि नारद का कहा सच है तो वह आश्चर्य को प्राप्त हुआ। वे दोनों वहां से कुछ और आगे बढे तो नारद हाथियों का मार्ग देख कर मुसकराता हुआ बोला कि यहां से जो अभी हस्तिनी गई है उसका बायां नेत्र अंधा है।

अन्धसर्पविलायानमिव ते पूर्वभाषितम्।
आसीद्यादृच्छिकं सत्यमिदं तु परिहास्यताम्॥ (287)
प्रयाति तव विज्ञानं मया विदिंतमस्ति किम्।
इति स्मितं स सासूयं चित्ते विस्मयमाप्तवान्॥ (288)
तमसत्यं पुनः कर्तुं करिणीगमनानुगः।
पुराऽन्तर्नारदोद्दिष्टमुपलभ्य तथैव तत्॥ (289)

पर्वत ने कहा कि तुम्हारा पहला कहना अंधे सांप के बिल में पहुंच जाने के समान यों ही सच निकल आया। यह ठीक है, परंतु तुम्हारा यह विज्ञान हास्यापद है। मैं क्या समझूं? इस तरह हंसते हुए ईर्ष्या के साथ उसने कहा और चित्त में आश्चर्य प्राप्त किया। तदनन्तर नारद को झूठा सिद्ध करने के लिए वह हस्तिनी के मार्ग का अनुसरण करता हुआ आगे बढ़ा और नगर तक पहुंचने के पहले ही उसे इस बात का पता चल गया कि नारद ने जो कहा था, वह सच है।

सशोको गृहमागत्य नारदोक्तं सविस्मयः।
मातरं बोधयित्वाऽऽह नारदस्येव मे पिता॥ (290)
नावोचच्छास्त्र-याथात्म्यमस्ति मय्यस्य नादरः।
इति पुत्रवचस्तस्या हृदयं निशितास्त्रवत्॥ (291)
विदार्य प्राविशत्पापाद् विपरीतावमर्शनात्।
ब्राह्मणी तद्वचश्चित्तेनावधार्य शुचं गता॥ (292)

अब तो पर्वत के शोक का पार नहीं रहा। वह शोक करता हुआ बड़े आश्चर्य से घर आया और नारद की कही हुई सब बात माता से कह कर कहने लगा कि पिताजी जिस प्रकार नारद को शास्त्र की यथार्थ बात बतलाते हैं, उस प्रकार मुझे नहीं बतलाते। ये सदा मेरा अनादर करते हैं। इस तरह पापोदय से विपरीत विचार करने के कारण पुत्र के वचन, तीक्ष्णशस्त्र के समान उसके हृदय को चीर कर भीतर घुस गए। ब्राह्मणी अपने पुत्र के वचनों का विचार कर हृदय से शोक करने लगी।

कृत्वा स्नानाग्निहोत्रादि भुक्त्वा स्वब्राह्मणे स्थिते।
अब्रवीत् पर्वतप्रोक्तं तन्निशम्य विदां वरः॥ (293)
निर्विशेषोपदेशोऽहं सर्वेषां पुरुषं प्रति।
विभिन्ना बुद्धयस्तस्मान्नारदः कुशलोऽभवत्॥ (294)
प्रकृत्या त्वत्सुतो मन्दो नासूयाऽस्मिन् विधीयताम्।
इति तत्प्रत्ययं कर्तुं नारदं सुतसंनिधौ॥ (295)
वद केन वने भ्राम्यन् पर्वतस्योदयादयः।
विस्मयं बह्विति प्राह सोऽपि सप्रश्रयोऽभ्यधात्॥ (296)
वनेऽहं पर्वतेनामा गच्छन्नर्मकथारतः।
शिखिनां पीतवारीणां सद्यो नद्या निवर्तने॥ (297)

जब ब्राह्मण क्षीरकदम्ब स्नान, अग्निहोत्र तथा भोजन करके बैठा तब ब्राह्मणी ने पर्वत के द्वारा कही हुई सब बात कह सुनाई। उसे सुन कर ज्ञानियों में श्रेष्ठ ब्राह्मण कहने लगा कि मैं तो सब को एक-सा उपदेश देता हूं, परंतु प्रत्येक पुरुष की बुद्धि भिन्न-भिन्न हुआ करती है। यही कारण है कि नारद कुशल हो गया। तुम्हारा पुत्र स्वभाव से ही मंद है, इसलिए नारद पर व्यर्थ ही ईर्ष्या न करो। यह कह कर उसने विश्वास दिलाने के लिए पुत्र के समीप ही नारद से कहा कि कहो, आज वन में घूमते हुए तुमने पर्वत का क्या उपद्रव किया था? गुरु की बात सुन कर वह कहने लगा कि बड़ा आश्चर्य है? यह कहते हुए उसने बड़ी विनय से कहा कि मैं पर्वत के साथ विनोद-वार्ता करता हुआ वन में जा रहा था। वहां मैंने देखा कि कुछ मयूर पानी पीकर नदी से अभी लौट रहे हैं।

स्वचन्द्रककलापाम्भोमध्यमज्जनगौरवात् ।
भीत्वा व्यावृत्य विमुखं कृतपश्चात्पदस्थितिः॥ (298)
कलापी मतवानेकः शेषाश्च तज्जलार्दिताः।
पत्रभागं विधूयामुत्तं दृष्ट्वा समभाषिषि॥ (299)
पुमामेकः स्त्रियश्चान्या इति मत्वाऽनुमानतः।
ततो वनान्तरात् किंचिदागत्य पुरसंनिधौ॥ (300)
तथा करिण्याः पादाभ्यां पश्चिमाभ्यां प्रयाणके।
स्वमूत्रघट्टनाद्भागे दक्षिणे तरुवीरुधाम्॥ (301)
भग्नेन मार्गात् प्रच्युत्य श्रमादारूढयोषितः।
शीतच्छायाभिलाषेण सुप्तायाः पुलिनंस्थले॥ (302)
उदरस्पर्शमार्गेण दशया गुल्मशक्तया।
करिणीश्रितगेहाग्रसितोद्यत्केतनेन च॥ (303)
मया तदुक्तमित्येतद्वचनाद् द्विजसत्तमः।
निजापराधभावस्याभावमाविरभावयत् ॥ (304)

उनमें जो मयूर था वह अपनी पूंछ के चंद्रक पानी में भीग कर भारी हो जाने के भय से अपने पैर पीछे की ओर रख फिर मुंह फिरा कर लौटा था और बाकी जल से भीगे हुए अपने पंख फटकार कर जा रहे थे। यह देख मैंने अनुमान-द्वारा पर्वत से कहा था कि इनमें एक पुरुष है और बाकी स्त्रियां हैं। इसके बाद वन के मध्य से चल कर किसी नगर के समीप देखा कि चलते समय किसी हस्तिनी के पिछले पैर उसी के मूत्र से भीगे हुए है, इससे मैंने जाना कि यह हस्तिनी है। उसके दाहिनी ओर के वृक्ष और लताएं टूटी हुई थीं, इससे मैंने जाना कि यह हथिनी बांयी आंख से कानी है। वह बैठी हुई स्त्री मार्ग की थकावट से उतर कर शीतल छाया की इच्छा से नदी के किनारे सोयी थी, वहां उसके उदर के स्पर्श से जो चिह्न बन गए थे, उन्हें देख कर मैंने जाना था कि यह स्त्री गर्भिणी है। उसकी साड़ी का एक छोर किसी झाड़ी में उलझ कर लग गया था, इससे जाना था कि वह सफेद साड़ी पहने थी। जहां हस्तिनी ठहरी थी, उस घर के अग्रभाग पर सफेद ध्वजा फहरा रही थी, इससे अनुमान किया था कि इसके पुत्र होगा। इस प्रकार अनुमान से मैंने ऊपर की सब बातें कही थीं। नारद की ये सब बातें सुन कर उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने ब्राह्मणी के समक्ष प्रकट कर दिया कि इसमें मेरा अपराध कुछ भी नहीं है- मैंने दोनों को एक समान उपदेश दिया है।

तदा पर्वतमाताऽपि प्रसन्नाऽभूत् पुनश्च सः।
तस्यास्तन्मुनिवाक्यार्थसंप्रत्ययविधित्सुकः ॥ (305)
स्वपुत्रछात्रयोर्भावपरीक्षायै द्विजाग्रणीः।
स्थित्वा सजानिरेकांते कृत्वा पिष्टेन वस्तकौ॥ (306)
देशेऽर्चित्वा परादृश्ये गन्धमाल्यादिमङ्गलैः।
कर्णच्छेदं विधायैतावद्यैवानयतं युवाम्॥ (307)

उस समय पर्वत की माता भी यह सब सुन कर बहुत प्रसन्न हुई थी। तदनन्तर उस ब्राह्मण ने पर्वत की माता को उन मुनियों के वचनों का विश्वास दिलाने की इच्छा की। वह अपने पुत्र, पर्वत और विद्यार्थी नारद के भावों की परीक्षा करने के लिए स्त्री-सहित एकांत में बैठा। उसने आटे के दो बकरे बना कर पर्वत और नारद को सौंपते हुए कहा कि जहां कोई देख न सके- ऐसे स्थान में जाकर चंदन व माला आदि मांगलिक पदार्थों से इनकी पूजा करो और कान काट कर इन्हें आज ही यहां ले आओ।

इत्यवादीत्ततः पापी पर्वतोऽस्ति न कश्चन।
वनेऽस्मिन्निति विच्छिद्य कर्णौ पितरमागतः॥ (308)
त्वया पूज्य यथोद्दिष्टं तत्तथैव मया कृतम्।
इति वीतघृणो हर्षात् स्वप्रेषणमबूबुधत् ॥ (309)

तदनन्तर पापी पर्वत ने सोचा कि इस वन में कोई नहीं है, इसलिए वह एक बकरे के दोनों कान काट कर पिता के पास वापस आ गया और कहने लगा कि हे पूज्य! आपने जैसा कहा था मैंने वैसा ही किया है। इस प्रकार दयाहीन पर्वत ने बड़े हर्ष से अपना कार्य पूर्ण करने की सूचना पिता को दी।

नारदोऽपि वनं यातोऽदृश्यदेशेऽस्य कर्णयोः।
कर्त्तव्यश्छेद इत्युक्तं गुरुणा चंद्रभास्करौ॥ (310)
नक्षत्राणि ग्रहास्तारकाश्च पश्यन्ति देवताः।
सदा संनिहिताः संति पक्षिणो मृगजातयः॥ (311)
नैते शक्त्या निराकर्तुमित्येत्य गुरुसंनिधिम्।
भव्यात्माऽदृष्टदेशस्य वने केनाप्यसम्भवात्॥ (312)
नामादिचतुरर्थेषु पापापख्यातिकारण-।
क्रियाया अविधेयत्वाच्चाहमानीतवानिमम्॥ (313)

नारद भी वन में गया और सोचने लगा कि 'अदृश्य स्थान में जाकर इसके कान काटना है' ऐसा गुरुजी ने कहा था, परंतु यहां अदृश्य स्थान है ही कहां? देखो न, चंद्रमा, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह और तारे आदि देवता सब ओर से देख रहे हैं। पक्षी तथा हरिण आदि अनेक जंगली जीव सदा पास ही रह रहे हैं। ये किसी भी तरह यहां से दूर नहीं किए जा सकते। ऐसा विचार कर वह भव्यात्मा गुरु के पास वापस आ गया और कहने लगा कि वन में ऐसा स्थान मिलना असम्भव है, जिसे किसी ने नहीं देखा हो। इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव-इन चारों पदार्थों में पाप व निन्दा उत्पन्न करने वाली क्रियाएं करने का विधान नहीं है, इसलिए मैं इस बकरे को ऐसा ही लेता आया हूं।

इत्याह तद्वचः श्रुत्वा स्वसुतस्य जडात्मताम्।
विचिन्त्यैकान्तवाद्युक्तं सर्वथा कारणानुगम् ॥ (314)
कार्यमित्येतदेकान्तमतं कुमतमेव तत्।
कारणानुमतं कार्यं क्वचित्तत्क्वचिदन्यथा॥ (315)
इति स्याद्वादसंदृष्टं सत्यमित्यभितुष्टवान्।
शिष्यस्य योग्यतां चित्ते निधाय बुधसत्तमः॥ (316)
हे नारद त्वमेवात्र सूक्ष्मप्रज्ञो यथार्थवित्।
इतः प्रभृत्युपाध्यायपदे त्वं स्थापितो मया॥ (317)
व्याख्येयानि त्वया सर्वशास्त्राणीति प्रपूज्य तम्।
प्रावर्द्धयद् गणैरेव प्रीतिः सर्वत्र धीमताम्॥ (318)

नारद के वचन सुन कर उस ब्राह्मण ने अपने पुत्र की मूर्खता का विचार किया और कहा कि जो एकान्तवादी कारण के अनुसार कार्य मानते हैं वह एकान्तवाद है और मिथ्यामत है, कहीं तो कारण के अनुसार कार्य होता है और कहीं इसके विपरीत भी होता है। ऐसा जो स्याद्वाद का कहना है, वही सत्य है। देखो, मेरे परिणाम सदा दया से आर्द्र रहते हैं, परंतु मुझसे जो पुत्र हुआ उसके परिणाम अत्यन्त निर्दय हैं। यहां कारण के अनुसार कार्य कहां हुआ? इस प्रकार वह श्रेष्ठ विद्वान् बहुत ही संतुष्ट हुआ और शिष्य की योग्यता का हृदय में विचार कर कहने लगा कि हे नारद! तू ही सूक्ष्मबुद्धिवाला और पदार्थ को यथार्थ जानने वाला है, इसलिए आज से मैं तुझे उपाध्याय पद पर नियुक्त करता हूं। आज से तू ही समस्त शास्त्रों का व्याख्यान करना। इस प्रकार उसी का सत्कार कर उसे बढ़ावा दिया, सो ठीक ही है, क्योंकि जब जगह विद्वानों की प्रीति गुणों पर ही होती है।

निजाभिमुखमासीनं तनूजं चैवमब्रवीत्।
विनाङ्गत्वं विवेकेन व्यधाह्येतद्विरूपकम्॥ (319)
कार्याकार्यविवेकस्ते न श्रुतादपि विद्यते।
कथं जीवसि मच्चक्षुः परोक्षे गतधीरिति॥ (320)
एवं पित्रा सशोकेन कृतशिक्षोऽविचक्षणः।
नारदे बद्धवैरोऽभूत् कुधियामीदृशी गतिः॥ (321)

नारद से इतना कहने के बाद उसने सामने बैठे हुए पुत्र से इस प्रकार कहा-हे पुत्र! तूने विवेक के बिना ही यह विरुद्ध कार्य किया है। देख, शास्त्र पढ़ने पर भी तुझे कार्य और अकार्य विवेक नहीं हुआ। तू निर्बुद्धि है, अतः मेरी आंखों के ओझल होने पर कैसे जीवित रह सकेगा? इस प्रकार शोक से भरे हुए पिता ने पर्वत को शिक्षा दी, परंतु उस मूर्ख पर उसका कुछ भी असर नहीं हुआ। वह उसके विपरीत नारद से वैर रखने लगा। ऐसा होना ठीक ही है, क्योंकि दुर्बुद्धि मनुष्यों की ऐसी ही दशा होती है।

स कदाचिदुपाध्यायः सर्वसंगान् परित्यजन्।
पर्वतस्तस्य माता च मंदबुद्धी तथापि तौ॥ (322)
पालनीयौ त्वया भद्र मत्परोक्षेऽपि सर्वथा।
इत्यवोचद् वसुं सोऽपि प्रीतोऽस्मि त्वदनुग्रहात्॥ (323)
अनुक्तसिद्धमेतत्तु वक्तव्यं किमिदं मम।
विधेयः संशयो नात्र पूज्यपाद यथोचितम्॥ (324)
परलोकमनुष्ठातुमर्हसीति द्विजोत्तमम्।
मनोहरकथाम्लानमालयाऽभ्यर्चयन्नृपः ॥ (325)

किसी दिन क्षीरकदम्ब ने समस्त परिग्रहों के त्याग करने का विचार किया, इसलिए उसने राजा वसु से कहा कि यह पर्वत और उसकी माता यद्यपि मंदबुद्धि हैं, तथापि हे भद्र! मेरे पीछे भी तुम्हें इनका सब प्रकार से पालन करना चाहिए। उत्तर में राजा वसु ने कहा कि मैं आपके अनुग्रह से प्रसन्न हूं। यह कार्य तो बिना कहे ही करने योग्य है, इसके लिए आप क्यों कहते हैं? हे पूज्यपाद! इसमें थोड़ा भी संशय नहीं कीजिए, आप यथायोग्य परलोक-योग्य अपेक्षित कार्य कीजिए। इस प्रकार मनोहर कथारूपी अम्लान (मुरझाई नहीं हुई) माला के द्वारा राजा वसु ने उस उत्तम ब्राह्मण का खूब ही सत्कार किया।

ततः क्षीरकदम्बे च सम्यक् संप्राप्य संयमम्।
प्रांते सन्यस्य संप्राप्ते नाकिनां लोकमुत्तमम्॥ (326)
पर्वतोऽपि पितृस्थानमध्यास्याशेषशास्त्रवित्।
शिक्षाणां विश्वदिक्कानां व्याख्यातुं रतिमातनोत्॥ (327)
तस्मिन्नेव पुरे नारदोऽपि विद्वज्जनान्वितः।
सूक्ष्मधीर्विहितस्थानो बभार व्याख्यया यशः॥ (328)

तदनन्तर क्षीरकदम्ब ने उत्तम संयम धारण कर लिया और अंत में संन्यासमरण कर उत्तम स्वर्ग-लोक में जन्म प्राप्त किया। इधर समस्त शास्त्रों का जानने वाला पर्वत भी पिता के स्थान- पद पर बैठ कर सब प्रकार की शिक्षाओं की व्याख्या करने में रुचि-पूर्वक कार्य करने लगा। उसी नगर में सूक्ष्म बुद्धिवाला नारद भी अनेक विद्वानों के साथ निवास करता था और शास्त्रों की व्याख्या के द्वारा यश प्राप्त करता था।

गच्छत्येवं तयोः काले कदाचित्साधुसंसदि।
अजैर्होतव्यमित्यस्य वाक्यस्यार्थप्ररूपणे॥ (329)
विवादोऽभून्महांस्तत्र विगताङ्कुरशक्तिकम्।
यवबीजं त्रिवर्षस्थमजमित्यभिधीयते॥ (330)
तद्विकारेण सप्तार्चिर्मुखे देवार्चनं विदः।
वदन्ति यज्ञमित्याख्यदनुपद्धति नारदः॥ (331)
पर्वतोऽप्यजशब्देन पशुभेदः प्रकीर्तितः।
यज्ञोऽग्नौ तद्विकारेण होत्रमित्यवदद्विधीः॥ (332)

इस प्रकार उन दोनों का समय बीत रहा था। किसी एक दिन साधुओं की सभा में 'अजैर्होतव्यम्' इस वाक्य का अर्थ निरूपण करने में बड़ा भारी विवाद चल पड़ा। नारद कहता था कि जिसमें अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई है, ऐसा तीन वर्ष का पुराना जौ 'अज' कहलाता है और उससे बनी हुई वस्तुओं के द्वारा अग्नि के मुख में देवता की पूजा करना-आहुति देना 'यज्ञ' कहलाता है। नारद का यह व्याख्यान यद्यपि गुरु-पद्धति के अनुसार था, परंतु निर्बुद्धि पर्वत कहता था कि 'अज' शब्द एक पशु-विशेष का वाचक है, अतः उससे बनी हुई वस्तुओं के द्वारा अग्नि में होम करना 'यज्ञ' कहलाता है।

द्वयोर्वचनमाकर्ण्य द्विजप्रमुखसाधवः।
मात्सर्यान्नारदेनैष धर्मः प्राणवधादिति॥ (333)
प्रतिष्ठापयितुं धात्र्यां दुरात्मा पर्वतोऽब्रवीत्।
पतितोऽयमयोग्योऽतः सह संभाषणादिभिः॥ (334)

उन दोनों के वचन सुनकर उत्तम प्रकृति वाले साधु पुरुष कहने लगे कि इस दुष्ट पर्वत की नारद के साथ ईर्ष्या है, इसीलिए यह 'प्राणवध से धर्म होता है', यह बात पृथ्वी पर प्रतिष्ठापित करने के लिए कह रहा है। यह पर्वत बड़ा ही दुष्ट है, पतित है, अतः हम सब लोगों के साथ वार्तालाप आदि करने हेतु अयोग्य है।

इति हस्ततलास्फालनेन निर्भत्स्य तं क्रुधा।
घोषयामासुरत्रैव दुर्बुद्धेरीदृशं फलम् ॥ (335)
एवं बहिः कृतः सर्वैर्मानभङ्गादगाद्वनम्।
तत्र ब्राह्मणवेषेण वयसा परिणामिना ॥ (336)
कृतान्तारोहणासन्नसोपानपदवीरिव । (337)
महाकालेन दृष्टः सन् पर्वतः पर्वते भ्रमन्।
प्रतिगम्य तमानम्य सोऽभ्यधादभिवादनम् ॥ (343)

इस प्रकार सब ने क्रोधवश हाथ की हथेलियों के ताड़न से उस पर्वत का तिरस्कार किया और घोषणा की कि दुर्बुद्धि को दुष्परिणाम इसी लोक में मिल जाता है। इस प्रकार, सबके द्वारा तिरस्कृत कर निकाला हुआ पर्वत मान-भंग होने से वन में चला गया। वहां महाकाल नाम का असुर ब्राह्मण का वेष रख कर भ्रमण कर रहा था। उस समय वह वृद्ध अवस्था के रूप में था।

ऐसे महाकाल ने पर्वत पर घूमते हुए क्षीरकदम्ब के पुत्र पर्वत को देखा। ब्राह्मण-वेषधारी महाकाल ने पर्वत के सम्मुख जा कर उसे नमस्कार किया और पर्वत ने भी उसका अभिवादन किया।

महाकालः समाश्वास्य स्वस्ति तेऽस्त्विति सादरम्।
तमविज्ञातपूर्वत्वात्कुतस्त्यस्त्वं वनान्तरे ॥ (344)
परिभ्रमणमेतत्ते ब्रूहि मे केन हेतुना।
इत्यपृच्छदसौ चाह निजवृत्तान्तमादितः ॥ (345)
तं निशम्य महाकालः सगरं मम वैरिणम्।
निर्वंशीकर्तुमेव स्यात्समर्थो मे प्रतिष्कसः ॥ (346)
इति निश्चित्य पापात्मा विप्रलम्भनपंडितः।
त्वत्पिता स्थण्डिलो विष्णुरुपमन्युरहं च भोः ॥ (347)
भौमोपाध्यायसांनिध्ये शास्त्राभ्यासमकुर्वहि।
त्वत्पिता मे ततो विद्धि धर्मभ्राता तमीक्षितुम् ॥ (348)
ममागमनमेतच्च वैफल्यं समपद्यत।
मा भैषीः शत्रुविध्वंसे सहायस्ते भवाम्यहम् ॥ (349)

मकाकाल ने आश्वासन देते हुए आदर के साथ कहा कि तुम्हारा भला हो। तदनन्तर अजान बन कर महाकाल ने पर्वत से पूंछा कि तुम कहां से आए हो और इस वन के मध्य में तुम्हारा भ्रमण किस कारण से हो रहा है? पर्वत ने भी प्रारम्भ से लेकर अपना सब वृत्तान्त कह दिया। उसे सुन कर महाकाल ने सोचा कि यह मेरे वैरी राजा को निर्वंश करने के लिए समर्थ है, यह मेरा साधर्मी है। ऐसा विचार कर ठगने में चतुर पापी महाकाल पर्वत से कहने लगा कि हे पर्वत! तुम्हारे पिता ने, स्थण्डिल ने, विष्णु ने, उपमन्यु ने और मैंने भौम नामक उपाध्याय के पास शास्त्राभ्यास किया था, इसलिए तुम्हारे पिता मेरे धर्म-भाई हैं। उनके दर्शन करने के लिए ही मेरा यहां आना हुआ था, परंतु खेद है कि वह निष्फल हो गया। तुम डरो मत, शत्रु का का नाश करने में मैं तुम्हारा सहायक हूं।

इति क्षीरकदम्बात्मजेष्टार्थानुगताः स्वयम्।
आथर्वणगताषष्टिसहस्रप्रमिताः पृथक्॥ (350)
ऋचो वेदरहस्यानीत्युत्पाद्याध्याप्य पर्वतम्।
शांतिपुष्ट्यभिचारात्मक्रियाः पूर्वोक्तमन्त्रणैः॥ (351)
निशिताः पवनोपेतवह्निज्वालासमाः फलम्।
इष्टेरुत्पादयिष्यन्ति प्रयुक्ताः पशुहिंसनात्॥ (352)
ततः साकेतमध्यास्य शान्तिकादिफलप्रदम्।
हिंसायागं समारभ्य प्रभावं विदधामहे॥ (353)

इस प्रकार, उस महाकाल ने क्षीरकदम्ब के पुत्र पर्वत के इष्ट अर्थ का अनुसरण करने वाली अथर्ववेद सम्बन्धी साठ हजार ऋचाएं पृथक्-पृथक् स्वयं बनाईं। ये ऋचाएं वेद का रहस्य बतलाने वाली थीं, उसने पर्वत के लिए इनका अध्ययन कराया और कहा कि पूर्वोक्त मंत्रों से वायु के द्वारा बढ़ी हुई अग्नि की ज्वाला में शांति-पुष्टि और अभिचारात्मक क्रियाएं की जाएं तो पशुओं की हिंसा से इष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है। तदनन्तर उन दोनों ने विचार किया कि हम दोनों अयोध्या जाकर रहें और शांति आदि फल प्रदान करने वाला हिंसात्मक यज्ञ प्रारम्भ कर अपना प्रभाव उत्पन्न करें।

इत्युक्त्वा वैरिनाशार्थमात्मीयान् दितिपुत्रकान्।
तीव्रान् सगरराष्ट्रस्य बाधां तीव्रज्वरादिभिः॥ (354)
कुरुध्वमिति संप्रेष्य सद्विजस्तत्पुरं गतः।
सगरं मंत्रगर्भाशीर्वादेनालोक्य पर्वतः॥ (355)
स्वप्रभावं प्रकाश्यास्य त्वद्देशविषमाशिवम्।
शमयिष्यामि यज्ञेन समन्त्रेणाविलम्बितम्॥ (356)

ऐसा कह कर महाकाल ने वैरियों का नाश करने के लिए अपने क्रूर असुरों को बुलाया और आदेश दिया कि तुम लोग राजा सगर के देश में तीव्र ज्वर आदि के द्वारा पीड़ा उत्पन्न करो। यह कह कर असुरों को भेजा और स्वयं पर्वत को साथ लेकर राजा सगर के नगर में गया। वहां मंत्र-मिश्रित आशीर्वाद के द्वारा सगर के दर्शन कर पर्वत ने अपना प्रभाव दिखलाते हुए कहा कि तुम्हारे राज्य में जो अमंगल हो रहा है, मैं उसे मंत्रसहित यज्ञ के द्वारा शीघ्र ही शांत कर दूंगा।

यज्ञाय वेधसा सृष्टा पशवस्तद्विहिंसनात्।
न पापं पुण्यमेव स्यात्स्वर्गोरुसुखसाधनम्॥ (357)
इति प्रत्याय्य तं पापः पुनरप्येवमब्रवीत्।
त्वं पशूनां सहस्राणि षष्टिं यागस्य सिद्धये॥ (358)
कुरु संग्रहमन्यच्च द्रव्यं तद्योग्यमित्यसौ।
राजाऽपि सर्ववस्तूनि तथैवास्मै समर्पयत्॥ (359)

विधाता ने पशुओं की सृष्टि यज्ञ के लिए ही की है, अतः उनकी हिंसा से पाप नहीं होता, किंतु स्वर्ग के विशाल सुख को प्रदान करने वाला पुण्य ही होता है। इस प्रकार विश्वास दिला कर वह पापी फिर कहने लगा कि तुम यज्ञ की सिद्धि के लिए साठ हजार पशुओं का तथा यज्ञ के योग्य अन्य पदार्थों का संग्रह करो। राजा सगर ने भी उसके कहे अनुसार सब वस्तुएं उसके लिए सौंप दीं।

प्रारभ्य पर्वतो यागं प्राणिनोऽमन्त्रयत्तदा।
महाकालः शरीरेण सह स्वर्गमुपागतः॥ (360)
इत्याकाशे विमानैस्तान्नीयमानानदर्शयत्।
देशाशिवोपसर्गं च तदैवासौ निरस्तवान्॥ (361)

इधर पर्वत ने यज्ञ आरम्भ कर प्राणियों को मंत्रित करना शुरू किया- मंत्रोच्चारण पूर्वक उन्हें यज्ञ-कुंड में डालना शुरू किया। उधर महाकाल ने उन प्राणियों को विमानों में बैठा कर शरीर-सहित आकाश में जाते हुए दिखलाया और विश्वास दिला दिया कि ये सब पशु स्वर्ग गए हैं। उसी समय उसने देश के सब अमंगल और उपसर्ग दूर कर दिए।

तद्दृष्ट्वा देहिनो मुग्धास्तत्प्रलम्भेन मोहिताः।
तां गतिं प्रेप्सवो यागमृतिमाकांक्षयन्नलम्॥ (362)
तद्यज्ञावसितौ जात्यं हयमेकं विधानतः।
इयाज सुलसां देवीमपि राजाज्ञया खलः॥ (363)
प्रियकान्तावियोगोत्थशोकदावानलर्चिषा ।
परिप्लुष्टतनू राजा राजधानीं प्रविष्टवान्॥ (364)

यह देख बहुत-से भोले प्राणी उसकी प्रतारणा-माया से मोहित हो गए और स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से यज्ञ में मरने की इच्छा करने लगे। यज्ञ के समाप्त होने पर उस दुष्ट पर्वत ने विधि-पूर्वक एक उत्तम जाति का घोड़ा तथा राजा की आज्ञा से उसकी सुलसा नाम की रानी को भी होम दिया। प्रिय स्त्री के वियोग से उत्पन्न हुए शोक रूपी दावानल की ज्वाला से जिसका शरीर जल गया है, ऐसा राजा सगर राजधानी में प्रविष्ट हुआ।

शय्यातले विनिक्षिप्य शरीरं प्राणिहिंसनम्।
वृत्तं महदिदं धर्मः किमधर्मोऽयमित्यसौ॥ (365)
संशयानस्तथान्येद्युर्मुनिं यतिवराभिधम्।
अभिवन्द्य मयाऽऽरब्धं भट्टारक यथास्थितम्॥ (366)
ब्रूहि किं कर्म पुण्यं मे पापं चेदं विचार्य तत्।
इत्यवोचदसौ चाह धर्मशास्त्रबहिष्कृतम्॥ (367)
एतदेव विधातारं सप्तमीं प्रापयेत्क्षितिम्।
तस्याभिज्ञानमप्यस्ति दिनेऽस्मिन् सप्तमेऽशनिः॥ (368)
पतिष्यति ततो विद्धि सप्तमी धरणीति ते।
तदुक्तं भूपतिर्मत्वा ब्राह्मणं तं न्यवेदयत्॥ (369)
तन्मृषा किमसौ वेत्ति नग्नः क्षपणकस्ततः।
शङ्काऽस्ति चेत्तवैतस्याः शांतिरत्र विधीयते॥ (370)

वहां शय्यातल पर अपना शरीर डाल कर अर्थात् लेट कर वह संशय करने लगा कि यह जो बहुत भारी प्राणियों की हिंसा हुई है, वह धर्म है या अधर्म? ऐसा संशय करता हुआ वह यतिवर नामक मुनि के पास गया और

नमस्कार कर पूछने लगा कि हे स्वामिन्! मैंने जो कार्य प्रारम्भ किया है, वह आपको ठीक-ठीक विदित है। विचार कर आप यह कहिए कि मेरा यह कार्य पुण्य रूप है अथवा पाप रूप? उत्तर में मुनिराज ने कहा कि यह कार्य धर्मशास्त्र से बहिष्कृत है, यह कार्य ही अपने करने वाले को सप्तम नरक भेजेगा। उसकी पहचान यह है कि आज से सातवें दिन वज्र गिरेगा, उससे जान लेना कि तुझे सातवीं पृथ्वी प्राप्त होने वाली है। मुनिराज का कहा ठीक मान कर राजा ने उस ब्राह्मण पर्वत से यह सब बात कही। राजा की यह बात सुन कर पर्वत कहने लगा कि वह झूठ है, वह नंगा साधु क्या जानता है? फिर भी तुझे यदि शंका है तो इसकी भी शांति कर डालते हैं।

इत्युक्तिभिर्मनस्तस्य संधार्य शिथिलीकृतम्।
यज्ञं पुनस्तमारब्धं स ततः सप्तमे दिने॥ (371)
माययाऽसुरपापस्य सुलसा नभसि स्थिता।
देवभावं गता प्राच्यपशुभेदपरिष्कृता॥ (372)
यागमृत्युफलेनैषा लब्धा देवगतिर्मया।
तं प्रमोदं तवाख्यातुं विमानेऽहमिहागता॥ (373)
यज्ञेन प्रीणिता देवाः पितरश्चेत्यभाषत।
तद्वचःश्रवणाद् दृष्टं प्रत्यक्षं यागमृत्युजम्॥ (374)
फलं जैनमुनेर्वाक्यमसत्यमिति भूपतिः।
तीव्रहिंसानुरागेण सद्धर्मद्वेषिणोदयात्॥ (375)
संभूतपरिणामेन मूलोत्तरविकल्पितात्।
तत्प्रायोग्यसमुत्कृष्टदुष्टसंक्लेशसाधनात्॥ (376)
नरकायुः प्रभृत्यष्टकर्मणां स्वोचितस्थितेः।
अनुभागस्य बंधस्य निकाचितनिबन्धने॥ (377)

इस तरह के वचनों से राजा का मन स्थिर किया और जो यज्ञ शिथिल कर दिया था उसे फिर से प्रारम्भ कर दिया। तदनन्तर सातवें दिन उस पापी असुर ने दिखलाया कि सुलसा देव-पर्याय प्राप्त कर आकाश में खड़ी है, पहले जो पशु होमे गए थे, वे भी उसके साथ हैं। वह राजा सगर से कह रही है कि यज्ञ में मरने के फल से ही मैंने यह देवगति पायी है, मैं यह सब हर्ष की बात आपको कहने के लिए ही विमान में बैठ कर यहां आई हूं। यज्ञ से सब देवता प्रसन्न हुए हैं और सब पितर तृप्त हुए हैं। उसके यह वचन सुन कर सगर ने विचार किया कि यज्ञ में मरने का फल प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, अतः जैन मुनि के वचन असत्य हैं। उसी समय तीव्र हिंसा से अनुराग रखने वाले एवं सद्धर्म के साथ द्वेष करने वाले कर्म की मूल-प्रकृति तथा उत्तर प्रकृतियों के भेद से उत्पन्न हुए परिणामों से नरकायु को आदि लेकर आठों कर्मों का न छूटने वाला अपने योग्य उत्कृष्ट स्थितिबंध एवं उत्कृष्ट अनुभागबंध पड़ गया।

विभीषणाशनित्वेन तत्काले पतिते रिपौ।
तत्कर्मणि प्रसक्ताखिलाङ्गिभिः सगरः सह॥ (378)
रौरवेऽजनि दुष्टात्मा महाकालोऽपि तत्क्षणे।
स्ववैरपवनापूरणेन गत्वा रसातलम्॥ (379)
तं दण्डयितुमुत्क्रोधस्तृतीयनरकावधौ।
अन्विष्यानवलोक्यैनं विश्वभूप्रभृतिद्विषम्॥ (380)

मृतिप्रयोगसंपादी ततो निर्गत्य निर्घृण:।
पर्वतस्य प्रसादेन सुलसासहित: सुखम्॥ (381)
प्राप्तोऽहमिति शंसन्तं विमानेऽरिमदर्शयत्।
तं दृष्ट्वा तत्परोक्षेऽत्र विश्वभू: सचिव: स्वयम्॥ (382)
विषयाधिपतिर्भूत्वा महामेधे कृतोद्यम:।
विमानान्तर्गता देवा पितरश्च नभोऽङ्गणे॥ (383)
सर्वेषां दर्शिता व्यक्तं महाकालस्य मायया।
महामेधस्त्वया यागो मंत्रिन् पुण्यवतां कृत:॥ (384)
इति विश्वभुवं भूप: संभूयास्ताविषुस्तदा।
नारदस्तापसाश्चैतदाकर्ण्यैष दुरात्मना॥ (385)
दुर्मार्गो द्विषताऽनेन धिक् लोकस्य प्रकाशित:।
निवार्योऽयमुपायेन केनचित्पापपण्डित:॥ (386)
इति सर्वेऽपि संगत्य साकेतपुरमागता:।
यथाविधि समालोक्य सचिवं पापिनो नरा:॥ (387)
नितान्तमर्थकामार्थं कुर्वन्ति प्राणिनां वधम्।
न केऽपि क्वापि धर्मार्थं प्राणिनां सन्ति घातका:॥ (388)
वेदविद्भिरहिंसोक्ता वेदे ब्रह्मनिरूपिते।
कल्पवल्लीव मातेव सखीव जगते हिता॥ (389)
इति पूर्वर्षिवाक्यस्य त्वया प्रामाण्यमिच्छता।
त्याज्यमेतद्वधप्रायं कर्म कर्मनिबन्धनम्॥ (390)

उसी समय भयंकर वज्रपात होने से शत्रु का पतन हो गया और उस कार्य में लगे हुए सब जीवों के साथ राजा सगर मर कर रौरव नरक (सातवें नरक) में उत्पन्न हुआ। अत्यन्त दुष्ट महाकाल भी तीव्र क्रोध करता हुआ अपने वैररूपी वायु के झंकोरे से उसे दंड देने के लिए नरक गया, परंतु उसके नीचे जाने की अवधि तीसरे नरक तक ही थी। वहां तब उसने उसे खोजा, परन्तु जब पता नहीं चला तब वह निर्दय वहां से निकला और विश्वभू मंत्री आदि शत्रुओं को मारने का उपाय करने लगा। उसने माया से दिखाया कि राजा सगर सुलासा के साथ विमान में बैठा हुआ कह रहा है कि मैं पर्वत के प्रसाद से ही सुख को प्राप्त हुआ हूं। यह देख, विश्वभू मंत्री जो कि सगर राजा के पीछे स्वयं उसके देश का स्वामी बन गया था, महामेध यज्ञ करने का उद्यम करने लगा। महाकाल की माया से सब लोगों को साफ-साफ दिखाया गया था कि आकाशांगण में बहुत-से देव तथा पितर लोग अपने-अपने विमानों में बैठे हुए हैं। राजा सगर तथा अन्य लोग एकत्रित होकर विश्वभू मंत्री की स्तुति कर रहे हैं कि मंत्रिन्! तुम बड़े पुण्यशाली हो, तुमने यह महामेध यज्ञ प्रारम्भ कर बहुत अच्छा कार्य किया। इधर यह सब हो रहा था, उधर नारद तथा तपस्वियों ने जब यह समाचार सुना तो वे कहने लगे कि इस दुष्ट शत्रु ने लोगों के लिए यह मिथ्या मार्ग बतलाया है, अत: इसे धिक्कार है। पाप करने में अत्यन्त चतुर इस पर्वत का किसी उपाय से प्रतिकार करना चाहिए। ऐसा विचार कर सब लोग एकत्रित हो अयोध्या नगर में आए। वहां उन्होंने पाप करते हुए विश्वभू मंत्री को देखा और देखा कि बहुत-से पापी मनुष्य अर्थ और काम के लिए बहुत से प्राणियों का वध कर रहे हैं। तपस्वियों ने विश्वभू मंत्री से कहा कि पापी मनुष्य अर्थ और काम के लिए तो प्राणियों का विघात करते हैं, परंतु धर्म के लिए कहीं भी कोई भी मनुष्य प्राणियों का घात नहीं करते। वेद के जानने वालों ने ब्रह्मनिरूपित वेद में अहिंसा को कल्पलता के समान अथवा सखी के समान जगत् हित करने वाली बतलाया है। हे मंत्रिन्! यदि तुम पूर्व ऋषियों के इस वाक्य को प्रमाण मानते हो तो तुम्हें हिंसा से भरा हुआ यह कार्य जो कि कर्मबंध का कारण है अवश्य ही छोड़ देना चाहिए।

तापसैरभ्यधायीति सर्वप्राणिहितैषिभिः।
विश्वभूरिदमाकर्ण्य तापसा भोः कथं मया॥ (391)
दृष्टं शक्यमपह्नोतुं साक्षात्स्वर्गस्य साधनम्।
इति ब्रुवन् पुनर्नारदेनोक्तः पापभीरुणा॥ (392)
अमात्योत्तम विद्वांस्त्वं किमिति स्वर्गसाधनम्।
सगरं सपरीवारं निर्मूलयितुमिच्छता॥ (393)
उपायोऽयं व्यधाय्येवं प्रत्यक्षफलदर्शनात्।
केनचित्कुहुकज्ञेन मुग्धानां मोहकारणम्॥ (394)

सब प्राणियों का हित चाहने वाले तपस्वियों ने इस प्रकार कहा, परन्तु विश्वभू मंत्री ने इसे सुन कर कहा कि हे तपस्वियों! जो यह प्रत्यक्ष ही स्वर्ग का साधन दिखाई दे रहा है, उसका अपलाप किस प्रकार किया जा सकता है? तदनन्तर इस प्रकार कहने वाले विश्वभू मंत्री से पापभीरु नारद ने कहा कि हे उत्तम मंत्रिन्! तू तो विद्वान् है, क्या यह सब स्वर्ग-साधन है? अरे, राजा सगर को परिवार-सहित निर्मूल नष्ट करने की इच्छा करने वाले किसी मायावी ने इस तरह प्रत्यक्ष फल दिखा कर यह उपाय रचा है, यह उपाय केवल मूर्ख मनुष्यों को ही मोहित करने का कारण है।

ततः शीलोपवासादिविधिमार्षागमोदितम्।
आचरेति स तं प्राह पर्वतं नारदोदितम् ॥ (395)
श्रुतं त्वयेत्यसौ शास्त्रेणासुरोक्तेन दुर्मतिः।
मोहितो नारदेनापि प्रागिदं किं न वा श्रुतम्॥ (396)
ममास्य च गुरुर्नान्यो मत्पितैवातिगर्वितः।
समत्सरतयाऽप्येष मय्यद्य किमिवोच्यते ॥ (397)
स श्रुतो मद्गुरोर्धर्मभ्राता जगति विश्रुतः।
स्थविरस्तेन च श्रौतं रहस्यं प्रतिपादितम्॥ (398)
यागमृत्युफलं साक्षान्मयाऽपि प्रकटीकृतम्।
न चेत् ते प्रत्ययो विश्ववेदाम्भोनिधिपारगम्॥ (399)
वसुं प्रसिद्धं सत्येन पृच्छेरित्यन्वभाषत।
तच्छ्रुत्वा नारदोऽवादीत्को दोषः पृच्छ्यतामसौ॥ (400)

इसलिए तू ऋषिप्रणीत आगम में कही हुई शील तथा उपवास आदि की विधि का आचरण कर। इस प्रकार नारद के वचन सुन कर विश्वभू ने पर्वत से कहा कि तुमने नारद का कहा सुना? महाकाल असुर के द्वारा कहे शास्त्र से मोहित हुआ दुर्बुद्धि पर्वत कहने लगा कि यह शास्त्र क्या नारद ने भी पहले कभी नहीं सुना? इसके और मेरे गुरु पृथक् नहीं थे, मेरे पिता ही तो दोनों के गुरु थे, फिर भी यह अधिक गर्व करता है। मुझ पर ईर्ष्या रखता है, अतः चाहे जो कह बैठता है। विद्वान् स्थविर मेरे गुरु के धर्म भाई तथा जगत् में प्रसिद्ध थे, उन्होंने मुझे यह श्रुतियों का रहस्य बतलाया है। यज्ञ में मरने से जो फल होता है, उसे मैंने भी आज प्रत्यक्ष दिखला दिया है, फिर भी यदि तुझे विश्वास नहीं होता है तो समस्त वेदरूपी समुद्र के पारगामी राजा वसु से जो कि सत्य के कारण प्रसिद्ध हैं, पूछ सकते हो। यह सुनकर नारद ने कहा कि क्या दोष है, वसु से पूछ लिया जाए।

इदं तावद्विचारार्हं वधश्चेद्धर्मसाधनम्।
अहिंसादानशीलादि भवेत्पापप्रसाधनम्॥ (401)
अस्तु चेन्मत्स्यबंधादिपापिनां परमा गतिः।
सत्यधर्मतपोब्रह्मचारिणो यान्त्वधोगतिम् ॥ (402)
यज्ञे पशुवधाद्धर्मो नेतरत्रेति चेन्न तत्।
वधस्य दुःखहेतुत्वे सादृश्यादुभयत्र वा॥ (403)
फलेनापि समानेन भाव्यं कस्तन्निषेधकः।
अथ त्वमेवं मन्येथाः पशुसृष्टेः स्वयंभुवः॥ (404)

परन्तु यह बात विचार करने के योग्य है कि यदि हिंसा, धर्म का साधन मानी जाएगी तो अहिंसा, दान, शील आदि पाप के कारण हो जाएंगें। हो जावें, यदि यह आपका कहना है तो मछलियां पकड़ने वाले आदि पापी जीवों की शुभ गति होनी चाहिए, और सत्य, धर्म, तपश्चरण व ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को अधोगति में जाना चाहिए। कदाचित् आप यह कहें कि यज्ञ में पशु-वध करने से धर्म होता है, अन्यत्र नहीं होता, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वध दोनों ही स्थानों में एक समान दुःख का कारण है। अतः यज्ञ में पशु-हिंसा करने वाले के लिए पाप-बंध नहीं होता तो यह मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यह मूर्ख जन की अभिलाषा है , तथा साधुजनों के द्वारा निन्दित है।

यज्ञार्थत्वान्न तस्यातिविनियोक्तुरघागमः।
इत्येवं चातिमुग्धाभिलाषः साधुविगर्हितः॥ (405)
तथाऽन्यथा प्रयुक्तं तन्महादोषाय कल्पते ।
दुर्बलं वादिनं दृष्ट्वा ब्रूमस्त्वामभ्युपेत्य च॥ (406)
यथा शस्त्रादिभिः प्राणिव्यापादी वध्यतेंऽहसा।
मन्त्रैरपि पशून् हन्ता वध्यते निर्विशेषतः॥ (407)

यज्ञ के लिए ही ब्रह्मा ने पशुओं की सृष्टि की है। यदि यह आप ठीक मानते हैं तो फिर उनका अन्यत्र उपयोग करना उचित नहीं है, क्योंकि जो वस्तु जिस कार्य के लिए बनाई जाती है, उसका अन्यथा उपयोग करना कार्यकारी नहीं होता। जैसे कि श्लेष्म आदि को शमन करने वाली औषध का यदि अन्यथा उपयोग किया जाता है तो वह विपरीत फलदायी होता है। ऐसे ही यज्ञ के लिए बनाए गए पशुओं से यदि क्रय-विक्रय आदि कार्य किया जाता है तो वह महान् दोष उत्पन्न करने वाला होना चाहिए। तू वाद करना चाहता है, परंतु दुर्बल है- युक्ति बल से रहित है, अतः तेरे पास आकर हम कहते हैं कि जिस प्रकार शस्त्र आदि के द्वारा प्राणियों का विघात करने वाला मनुष्य पाप से बद्ध होता है, उसी प्रकार मन्त्रों के द्वारा प्राणियों का विघात करने वाला भी बिना किसी विशेषता के पाप से बद्ध होता है।

पश्वादिलक्षण: सर्गो व्यज्यते क्रियतेऽथवा।
क्रियते चेत्खपुष्पादि चासन्न क्रियते कुत:॥ (410)
अथाभिव्यज्यते तस्य वाच्यं प्राक्प्रतिबन्धकम्।
प्रदीपज्वलनात्पूर्वं घटादेरन्धकारवत्॥ (411)
अस्तु वा नाहतव्यक्तिसृष्टिवादो विधीयते।
इति श्रुत्वा वचस्तस्य सर्वे ते तं समस्तुवन्॥ (412)
वसुना चेद् द्वयोर्वादे विच्छेदः सोऽभिगम्यताम्।
इति ताभ्यां समं संसदगच्छत्स्वस्तिकावतीम् ॥ (413)

दूसरी बात यह है कि ब्रह्मा जो पशु बनाता है, वह प्रकट करता है अथवा नवीन बनाता है? यदि नवीन बनाता है तो आकाश, फूल आदि असत् पदार्थ क्यों नहीं बना देता? यदि यह कहो कि ब्रह्मा पशु आदि को नवीन नहीं बनाता है, किंतु प्रकट करता है तो फिर यह कहना चाहिए कि प्रकट होने के पहले उनका प्रतिबंधक क्या था? उन्हें प्रकट होने से रोकने वाला कौन था? जिस प्रकार दीपक जलने के पहले अंधकार घटादि को रोकने वाला है, उसी प्रकार प्रकट होने के पहले पशु आदि को रोकने वाला भी कोई होना चाहिए। इस प्रकार आपके सृष्टिवाद में यह व्यक्तिवाद आदर करने के योग्य नहीं है। इस तरह नारद के वचन सुन कर सब लोग उसकी प्रशंसा करने लगे। सब कहने लगे कि यदि राजा वसु के द्वारा तुम दोनों का विवाद विश्रान्त होता है तो उनके पास चला जाए। ऐसा कह सभा के सब लोग नारद और पर्वत के साथ स्वस्तिकावती नगर गए।

तत्सर्वं पर्वतेनोक्तं ज्ञात्वा तज्जननी तदा।
सह तेन वसुं दृष्ट्वा पर्वतस्त्वपरिग्रहः॥ (414)
तपोवनोन्मुखेनायं गुरुणापि तवार्पितः।
नारदेन सहास्येह तवाध्यक्षे भविष्यति॥ (415)
विवादो यदि भङ्गोऽत्र भावी भावियमाननम्।
विद्ध्यस्य शरणं नान्यदित्याख्यत्सोऽपि सादरम्॥ (416)
विधित्सुर्गुरुशुश्रूषामम्ब मास्मात्र शङ्कथा:।
जयमस्य विधास्यामीत्यस्या भयमपाकरोत्॥ (417)

पर्वत के द्वारा कही हुई यह सब बातें जब उसकी माता ने जानी तब वह पर्वत को साथ लेकर राजा वसु के पास गई और राजा वसु के दर्शन कर कहने लगी कि यह निर्धन पर्वत को तपोवन के लिए जाते समय तुम्हारे गुरु ने तुम्हारे लिए सौंपा था। आज तुम्हारी अध्यक्षता में यहां नारद के साथ विवाद होगा। यदि कदाचित् उस वाद में उसकी पराजय हो गई तो फिर यमराज का मुख ही इसका शरण होगा अन्य कुछ नहीं, यह तुम निश्चित समझ लो, इस प्रकार पर्वत की माता ने राजा वसु से कहा। राजा वसु गुरु की सेवा करना चाहता था, अत: बड़े आदर से बोला कि हे मां! इस विषय में तुम कुछ भी शंका न करो। मैं पर्वत की ही विजय कराऊंगा। इस तरह कह कर, उसने पर्वत की मां का भय दूर कर दिया।

अन्येद्युर्वसुमाकाशस्फटिकांघ्र्युद्धृतासनम् ।
सिंहाङ्कितं समारुह्य स्थितं समुपगम्यते ॥ (418)
संपृच्छन्ति स्म सर्वेऽपि विश्वभूसचिवादयः।
त्वत्तः प्रागप्यहिंसादिधर्मरक्षणतत्पराः ॥ (419)
चत्वारोऽत्र महीपाला भूता हिममहासम।
वस्वादिगिरिपर्यन्तनामानो हरिवंशजाः ॥ (420)
पुरा चैषु व्यतीतेषु विश्वावसुमहामहीट्।
अभूत् ततो भवांश्चासीदहिंसाधर्मरक्षकः ॥ (421)

दूसरे दिन राजा वसु आकाश-स्फटिक के पायों से खड़े हुए, सिंहासन पर आरूढ़ होकर राजसभा में विराजमान था। उसी समय वे सब विश्वभू मंत्री आदि राजसभा में पहुंच कर पूछने लगे कि आपसे पहले भी अहिंसा आदि धर्म की रक्षा करने में तत्पर रहने वाले हिमगिरि, महागिरि, समगिरि और वसुगिरि नाम के चार हरिवंशी राजा हो गए हैं। इन सबके अतीत होने पर, महाराज विश्वावसु हुए और उनके बाद अहिंसा धर्म की रक्षा करने वाले आप हुए हैं।

त्वमेव सत्यवादीति प्रघोषो भुवनत्रये।
विषवह्नितुलादेश्यो वस्तुसंदेहसंनिधौ ॥ (422)
त्वमेव प्रत्ययोत्पादी छिन्धि नः संशयं विभो।
अहिंसालक्षणं धर्मं नारदः प्रत्यपद्यत ॥ (423)
पर्वतस्तद्विपर्यासमुपाध्यायोपदेशनम् ।
यादृक् तादृक् त्वया वाच्यमित्यसौ चार्थितः पुरा ॥ (424)
गुरुपत्न्याऽऽप्तनिर्दिष्टं बुध्यमानोऽपि भूपतिः।
महाकालमहामोहेनाहितो दुःषमावधेः ॥ (425)
सामीप्याद्रक्षणानन्दरौद्रध्यानपरायणः ।
पर्वताभिहितं तत्त्वं दृष्टे काऽनुपपन्नता ॥ (426)
स्वर्गमस्यैव यागेन सजानिः सगरोऽप्यगात्।
ज्वलत्प्रदीपमन्येन को दीपेन प्रकाशयेत् ॥ (427)

आप ही सत्यवादी हैं, इस प्रकार तीनों लोकों में प्रसिद्ध हैं। किसी भी दशा में संदेह होने पर आप विष, अग्नि और तुला के समान हैं। हे स्वामिन्! आप ही विश्वास उत्पन्न करने वाले हैं, अतः हम लोगों का संशय दूर कीजिए। नारद ने 'अहिंसा लक्षण धर्म' बतलाया है और पर्वत इससे विपरीत कहता है, अर्थात् हिंसा को धर्म बतलाता है। अब उपाध्याय-गुरुमहाराज का जैसा उपदेश हो, वैसा कहिये। इस प्रकार सब लोगों ने राजा वसु से कहा। राजा वसु यद्यपि आप्त भगवान् के द्वारा कहे हुए धर्मतत्त्व को जानता था, तथापि गुरुपत्नी उससे पहले ही प्रार्थना कर चुकी थी, इसके सिवाय वह महाकाल के द्वारा उत्पादित महामोह से युक्त था, दुःषमा नाम पंचम काल की सीमा निकट थी, और वह स्वयं परिग्रहानंद रूप रौद्र ध्यान में तत्पर था, अतः कहने लगा कि जो तत्त्व पर्वत ने कहा है, वह ठीक है। जो वस्तु प्रत्यक्ष दीख रही है, उसमें बाधा हो ही कैसे सकती है? इस पर्वत के बताए यज्ञ से ही राजा सगर अपनी रानी सहित स्वर्ग गया है। जो दीपक स्वयं जल रहा है-स्वयं प्रकाशमान है, भला उसे दूसरे दीपक के द्वारा कौन प्रकाशित करेगा?

पर्वतोक्तं भयं हित्वा कुरुध्वं स्वर्गसाधनम्।
इति हिंसानृतानन्दाद् बध्वाऽऽयुर्नारकं प्रति ॥ (428)
मिथ्यापापापवादाभ्यामभीरुरभणीदिदम् ।
अहो महीपतेर्वक्त्रादपूर्वं घोरमीदृशम्॥ (429)
निर्यातमिति वैषम्यादुक्ते नारदतापसैः।
आक्रोशदम्बरं नद्यः प्रतिकूलजलस्रवाः॥ (430)
सद्यः सरांसि शुष्काणि रक्तवृष्टिरनारता।
तीव्रांशोरंशवो मंदा विश्वाशाश्च मलीमसाः॥ (431)
बभूवुः प्राणिनः कम्पमादंधुर्भयविह्वलाः।
तदा महाध्वनिर्धात्री द्विधा भेदमुपागता॥ (432)
वसोस्तस्मिन् महारन्ध्रे न्यमज्जत्सिंहविष्टरम्।
तद्दृष्ट्वा देवविद्याधरेशा घनपथे स्थिताः॥ (433)
अतिक्रम्यादिमं मार्गं वसुराजमहामते।
धर्मविध्वंसनं मार्गं माभिधा इत्यघोषयन् ॥ (434)

इसलिए तुम लोग भय छोड़ कर जो पर्वत कह रहा है वही करो, वही स्वर्ग का साधन है। इस प्रकार हिंसानन्दी और मृषानन्दी रौद्रध्यान के द्वारा राजा वसु ने नरकायु का बंध कर लिया तथा असत्य-भाषण के पाप और लोकनिंदा से नहीं डरने वाले राजा वसु ने उक्त वचन कहे। राजा वसु की यह बात सुन कर नारद और तपस्वी कहने लगे कि आश्चर्य है कि राजा के मुख से ऐसे भयंकर शब्द निकल रहे हैं, इसका कोई विषम कारण अवश्य है। उसी समय आकाश गरजने लगा, नदियों का प्रवाह उलटा बहने लगा, तालाब शीघ्र ही सूख गए, लगातार रक्त की वर्षा होने लगी, सूर्य की किरणें फीकी पड़ गईं, समस्त दिशाएं मलिन हो गईं। प्राणी भय से विह्वल होकर कांपने लगे, बड़े जोर का शब्द करती हुई पृथिवी फट कर दो टूक हो गई और राजा वसु का सिंहासन उस महागर्त में निमग्न हो गया। यह देख आकाश-मार्ग में खड़े हुए देव और विद्याधर कहने लगे कि बुद्धिमान् राजा वसु! सनातन मार्ग का उल्लंघन कर धर्म का विध्वंस करने वाले मार्ग का निरूपण मत करो।

पर्वतं वसुराजं च सिंहासन-निमज्जनात्।
परिग्लानमुखौ दृष्ट्वा महाकालस्य किंकराः॥ (435)
तापसाकारमादाय भयं मात्र स्म गच्छतम्।
इत्यात्मोत्थापितं चास्या दर्शयन् हरिविष्टरम्॥ (436)
नृपोऽप्यहं कथं तत्त्वविद् बिभेम्यमृषं वचः।
पर्वतस्यैव निश्चिन्वन्नित्याकंठं निमग्नवान्॥ (437)
अनेनेयमवस्थाऽभून्मिथ्यावादेन भूपते।
त्यजेममिति संप्रार्थितोऽपि यत्नेन साधुभिः॥ (438)
तथापि यज्ञमेवाज्ञः सन्मार्गं प्रतिपादयन्।
भुवा कुपित एवासौ निगीर्णोऽन्त्यामगात्क्षितिम्॥ (439)

पृथिवी में सिंहासन घुसने से पर्वत और राजा वसु का मुख फीका पड़ गया। यह देख महाकाल के

किंकर तपस्वियों का वेष रख कर कहने लगे कि आप लोग भय को प्राप्त न हों। यह कह कर उन्होंने वसु का सिंहासन स्वयं उठा कर लोगों को दिखला दिया। राजा वसु यद्यपि सिंहासन के साथ नीचे धंस गया था, तथापि जोर देकर कहने लगा कि मैं तत्त्वों का जानकार हूं, अतः इस उपद्रव से कैसे डर सकता हूं? मैं फिर भी कहता हूं कि पर्वत के वचन सत्य हैं। इतना कहते ही वह कंठपर्यंत पृथिवी में धंस गया। उस समय साधुओं व तपस्वियों ने बड़े यत्न से यद्यपि प्रार्थना की थी कि हे राजन्! तेरी यह अवस्था असत्य-भाषण से ही हुई, इसलिए इसे छोड़ दे, तथापि वह अज्ञानी (हिंसक) यज्ञ को ही सन्मार्ग बतलाता रहा। अंत में पृथिवी ने उसे कुपित होकर ही मानो निगल लिया और वह मर कर सातवें नरक गया।

अथासुरो जगत्प्रत्यययादाय नरेन्द्रयोः।
दिव्यं रूपमवाप्नुवावां यागश्रद्धया दिवम्॥ (440)
नारदोक्तमपाकर्ण्यमित्युक्त्वाऽऽपददृश्यताम् ।
शोकाश्चर्यवतागात्स्वर्वसुर्न हि महीमिति॥ (441)
संविसंवदमानेन जनेन महता सह ।
प्रयागे विश्वभूर्गत्वा राजसूयविधिं व्यधात्॥ (442)
महापुराधिपाद्याश्च निन्दन्तो जनमूढताम्।
परमब्रह्मनिर्दिष्टमार्गरक्ता मनाक् स्थिताः॥ (443)
नारदेनैव धर्मस्य मर्यादेत्यभिनन्द्य तम्।
अधिष्ठानमदुस्तस्मै पुरं गिरितटाभिधम्॥ (444)
तापसाश्च दयाधर्मविध्वंसविधुराशयाः।
कलयन्तः कलिं कालं विचेलुः स्वं स्वमाश्रमम्॥ (445)

तदनन्तर वह असुर जगत् को विश्वास दिलाने के लिए राजा सगर और वसु का सुंदर रूप धारण कर कहने लगा कि हम दोनों नारद का कहा न सुन कर यज्ञ की श्रद्धा से ही स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार कह कर वह अदृश्य हो गया। इस घटना से लोगों को बहुत शोक और आश्चर्य हुआ। उनमें कोई कहता था कि राजा सगर स्वर्ग गया है और कोई कहता था कि नहीं, नरक गया है। इस तरह विवाद करते हुए विश्वभू मंत्री अपने घर चला गया। तदनन्तर प्रयाग में उसने राजसूय यज्ञ किया। इस पर महापुर आदि नगरों के राजा मनुष्यों की मूढ़ता की निंदा करने लगे और परम ब्रह्म-परमात्मा के द्वारा बतलाए मार्ग में तल्लीन होते हुए थोड़े दिन तक यों ही ठहरे रहे। इस समय नारद के द्वारा ही धर्म की मर्यादा स्थिर रह सकी है, इसलिए सब लोगों ने उसकी बहुत प्रशंसा की और उसके लिए गिरितट नाम का नगर प्रदान किया। तापस लोग भी दया-धर्म का विध्वंस देख बहुत दुःखी हुए और कलिकाल की महिमा समझते हुए अपने-अपने आश्रमों में चले गए।

ततोऽन्येद्युः खगो नाम्ना देवो दिनकरादिमः।
पर्वतस्याखिलप्राणिविरुद्धाचरितं त्वया॥ (446)
निरुध्यतामिति प्रीत्या निर्दिष्टो नारदेन सः।
करिष्यामि तथेतीत्वा नागान् गंधारपन्नगान्॥ (447)
स विद्यया समाहूतांस्तत्प्रपञ्चं यथास्थितम्।
अवोचत्तेऽपि संग्रामे भङ्क्त्वा दैत्यमकुर्वत॥ (448)
यज्ञविघ्नं समालोक्य विश्वभूपर्वताह्वयौ।
शरणान्वेषणोद्युक्तौ महाकालं यदृच्छया॥ (449)
पुरः संनिहितं दृष्ट्वा यागविघ्नं तमूचतुः।
नागैर्द्वेषिभिरस्माकं विहितोऽयमुपद्रवः॥ (450)
नागविद्याश्च विद्यानुप्रवादे परिभाषिताः।
निषिद्धं जिनबिम्बानामुपर्यासां विजृम्भणम्॥ (451)

तदनन्तर किसी दिन, दिनकर देव नाम का विद्याधर आया। नारद ने उससे बड़े प्रेम से कहा कि इस समय पर्वत समस्त प्राणियों के विरुद्ध आचरण कर रहा है, इसे आपको रोकना चाहिए। उत्तर में विद्याधर ने कहा कि अवश्य रोकूंगा। ऐसा कह कर उने अपनी विद्या से गंधारपन्नग नामक नागकुमार देवों को बुलाया और विघ्न करने का सब प्रपंच उन्हें यथायोग्य बतला दिया। नागकुमार देवों ने भी संग्राम में दैत्यों को मार भगाया और यज्ञ में विघ्न मचा दिया। विश्वभू मंत्री और पर्वत यज्ञ में होने वाला विघ्न देख कर शरण की खोज करने लगे। अनायास ही उन्हें सामने खड़ा हुआ महाकाल असुर दिखाई पड़ा। दिखते ही उन्होंने उससे यज्ञ में विघ्न आने का सब समाचार कह सुनाया, उसे सुनते ही महाकाल ने कहा कि हम लोगों के साथ द्वेष रखने वाले नागकुमार देवों ने यह उपद्रव किया है। नागविद्याओं का निरूपण विद्यानुवाद में हुआ है। जिनबिम्बों के ऊपर इनके विस्तार का निषेध बतलाया है, अर्थात् जहां जिनबिम्ब होते हैं, वहां इनकी शक्ति क्षीण हो जाती है।

ततो युवां जिनाकारान् सुरूपान् दिक्चतुष्टये।
निवेश्याभ्यर्च्य यज्ञस्य प्रक्रमेथामिमं विधिम्॥ (452)
इत्युपायमसावाह तौ च तच्चक्रतुस्तथा।
पुनः खगाधिपोऽभ्येत्य यज्ञविघ्नविधित्सया॥ (453)
दृष्ट्वा जैनेन्द्रबिम्बानि विद्याः क्रामन्ति नात्र मे।
नारदाय निवेद्येति स्वस्वधाम समाश्रयन्॥ (454)

इसलिए तुम दोनों चारों दिशाओं में जिनेन्द्र के आकार की सुंदर प्रतिमाएं रख कर उनकी पूजा करो और तदनन्तर यज्ञ की विधि प्रारम्भ करो। इस प्रकार महाकाल ने यह उपाय बताया और उन दोनों ने उसे यथाविधि किया। तदनन्तर विद्याधरों का राजा दिनकर देव यज्ञ में विघ्न करने की इच्छा से आया और जिन-प्रतिमाएं देख कर नारद से कहने लगा कि यहां मेरी विद्याएं नहीं चल सकतीं। ऐसा कह कर वह अपने स्थान पर चला गया।

निर्विघ्नं यज्ञनिर्वृत्तौ विश्वभूः पर्वतश्च तौ।
जीवितान्ते चिरं दुःखं नरकेऽनुबभूवतुः॥ (455)
महाकालोऽप्यभिप्रेतं साधयित्वा स्वरूपधृत्।
प्राग्भवे पोदनाधीशो नृपोऽहं मधुपिङ्गलः॥ (456)
मयैवं सुलसाहेतोर्महत्पापमनुष्ठितम्।
अहिंसालक्षणो धर्मो जिनेन्द्रैरभिभाषितः॥ (457)
अनुष्ठेयः स धर्मिष्ठैरित्युक्त्वाऽसौ तिरोदधत्।
स्वयं चादात्स्वदुश्चेष्टाप्रायश्चित्तं दयार्द्रधीः॥ (458)

इस तरह व यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ और विश्वभू मंत्री तथा पर्वत दोनों ही आयु के अंत में मर कर चिरकाल के लिए नरक में दुःख भोगने लगे। अंत में महाकाल असुर अपना अभिप्राय पूरा कर अपने असली रूप में प्रकट हुआ और कहने लगा कि मैं पूर्व भव में पोदनपुर का राजा मधुपिंगल था। मैंने ही इस तरह सुलसा के निमित्त यह बड़ा भारी पाप किया है। जिनेन्द्र भगवान् ने जिस अहिंसालक्षण धर्म का निरूपण किया है, धर्मात्माओं को उसी का पालन करना चाहिए। इतना कह कर वह अन्तर्हित हो गया और दया से आर्द्र बुद्धि होकर उसने अपनी दुष्ट चेष्टाओं का प्रायश्चित्त स्वयं ग्रहण किया।

निवृत्तिमेव संमोहाद्विहितात्पापकर्मणः।
विश्वभूप्रमुखाः सर्वे हिंसाधर्मप्रवर्तकाः॥ (459)
प्रययुस्ते गतिं पापान्नारकीमिति केचन।
दिव्यबोधैः समाकर्ण्य मुनिभिः समुदाहृताम्॥ (460)
पर्वतोद्दिष्टदुर्मार्गं नोपेयुः पापभीरवः।
केचित्तु दीर्घसंसारास्तस्मिन्नेव व्यवस्थिताः॥ (461)

मोहवश किए हुए पाप-कर्म से निवृत्ति होना ही प्रायश्चित्त कहलाता है। हिंसा धर्म में प्रवृत्त रहने वाले विश्वभू आदि समस्त लोग पाप के कारण नरक गति में गए और पाप से डरने वाले कितने ही लोगों ने सम्यग्ज्ञान के धारक मुनियों के द्वारा कहा धर्म सुन कर पर्वत के द्वारा कहे मिथ्यामार्ग को स्वीकृत नहीं किया और जिनका संसार दीर्घ था ऐसे कितने ही लोग उसी मिथ्या मार्ग में स्थित हो गए।

इत्यनेन स मंत्री च राजा चागममार्हतम्।
समासीनाश्च सर्वेऽपि मंत्रिणं तुष्टुवुस्तराम्॥ (462)
तदा सेनापतिर्नाम्ना महीशस्य महाबलः।
पुण्यं भवतु पापं वा यागे नस्तेन किं फलम्॥ (463)
प्रभावदर्शनं श्रेयो भूभृन्मध्ये कुमारयोः।
इत्युक्तवांस्ततो राजा पुनश्चैतत् विचारवत्॥ (464)
इति मत्वा विसृज्यैतान् मन्त्रिसेनापतीन् पुनः।
हितोपदेशिनं प्रश्नं तमपृच्छत्पुरोहितम्॥ (465)

गतयोर्जनकागारं स्यान्न वेष्टं कुमारयो:।
इति सोऽपि पुराणेषु निमित्तेषु च लक्षितम्॥ (466)
अस्मत्कुमारयोस्तत्र यागे भावी महोदय: ।
संशयोऽत्र न कर्तव्यस्त्वयाऽन्यच्चेदमुच्यते॥ (467)

इस प्रकार अतिशयमति मंत्री के द्वारा कहा हुआ आगम सुन कर प्रथम मंत्री, राजा तथा अन्य सभासद लोगों ने उस द्वितीय मंत्री की बहुत भारी स्तुति की। उस समय राजा दशरथ का महाबल नाम का सेनापति बोला कि यज्ञ में पुण्य हो चाहे पाप, हम लोगों को इससे क्या प्रयोजन है? हम लोगों को तो राजाओं के बीच दोनों कुमारों का प्रभाव दिखलाना श्रेयस्कर है। सेनापति की यह बात सुन कर राजा दशरथ ने कहा कि अभी इस बात पर विचार करना है। यह कह कर उन्होंने मंत्री और सेनापति को बिदा किया और तदनन्तर हित का उपदेश देने वाले पुरोहित से यह प्रश्न पूछा कि राजा जनक के घर जाने पर दोनों कुमारों का इष्ट सिद्ध होगा या नहीं? उत्तर में पुरोहित भी पुराणों और निमित्तशास्त्रों के कहे अनुसार कहने लगा कि हमारे इन दोनों कुमारों का राजा जनक के उस यज्ञ में महान् ऐश्वर्य प्रकट होगा, इसमें आपको थोड़ा भी संशय नहीं करना चाहिए। इसके सिवाय एक बात और कहता हूं।

अथास्मिन् भारते क्षेत्र मनवस्तीर्थनायका:।
चक्रेशास्त्रिविधा रामा भविष्यन्ति महौजस:॥ (468)
इत्याख्याता: पुराणज्ञैर्मुनीशै: प्राग्मया श्रुता:।
तेष्वष्टमाविमौ रामकेशवौ न: कुमारकौ॥ (469)
भाविनौ रावणं हत्वेत्यवादीद्भाविविद्गिर:।
तत्तदुक्तं तदाकर्ण्य परितोषमगान्नृप:॥ (470)

वह यह कि इस भरत क्षत्र में मनु-कुलकर, तीर्थंकर, तीन प्रकार के चक्रवर्ती (चक्रवर्ती, नारायण और प्रतिनारायण) और महाप्रतापी बलभद्र होते हैं। ऐसा पुराणों के जानने वाले मुनियों ने कहा है तथा मैंने भी पहले सुना है। हमारे ये दोनों कुमार उन महापुरुषों में भावी आठवें बलभद्र और नारायण हैं, रावण को मारेंगे इस प्रकार भविष्य को जानने वाले पुरोहित के वचन सुन कर राजा संतोष को प्राप्त हुए।

कृत्वा पापमद: क्रुधा पशुवधस्योत्सूत्रमाभूतलं,
हिंसायज्ञमवर्तयत् कपटधी: क्रूरो महाकालक:।
तेनागात्स वसु: सपर्वतखलो घोरां धरां नारकीं,
दुर्मार्गान् दुरितावहान्विदधतां नैतन्महत्पापिनाम्॥ (471)

कपट रूप बुद्धि को धारण करने वाले क्रूरपरिणामी महाकाल ने क्रोधवश समस्त संसार में शास्त्रों के विरुद्ध और अत्यन्त पाप रूप पशुओं की हिंसा से भरे हिंसामय यज्ञ की प्रवृत्ति चलाई, इसी कारण से वह राजा वसु, दुष्ट पर्वत के साथ घोर नरक में गया, सो ठीक ही है, क्योंकि जो पाप उत्पन्न करने वाले मिथ्यामार्ग चलाते हैं, उन पापियों के लिए नरक जाना कोई बड़ी बात नहीं है।

व्यामोहात्सुलसाप्रियस्स सुलसः सार्द्धं स्वयं मन्त्रिणाम्,
शत्रुच्छद्मविवेकशून्यहृदयः संपाद्य हिंसाक्रियाम्।
नष्टो गन्तुमधः क्षितिं दुरितिनामक्रूरनाशं मुधा,
दुष्कर्माभिरतस्य किं हि न भवेदन्यस्य चेदृग्विधम्॥ (472)

मोहनीय कर्म के उदय से जिसका हृदय शत्रुओं का छल समझने वाले विवेक से शून्य था, ऐसा राजा सगर रानी सुलसा और विश्वभू मंत्री के साथ स्वयं हिंसामय क्रियाएं कर अधोगति में जाने के लिए नष्ट हुआ। जब राजा की यह दशा हुई तब जो अन्य साधारण मनुष्य अपने क्रूर परिणामों को नष्ट न कर व्यर्थ ही दुष्कर्म में तल्लीन रहते हैं, उनकी क्या ऐसी दशा नहीं होगी? अवश्य होगी।

स्वाचार्यवर्यमनुसृत्य हितानुशासी,
वादे समेत्य बुधसंसदि साधुवादम्।
श्रीनारदो विहितभूरितपाः कृतार्थः,
सर्वार्थसिद्धिमगमत् सुधियामधीशः॥ (473)

जिसने अपने श्रेष्ठ आचार्य गुरु का अनुसरण कर हित का उपदेश दिया, विद्वानों की सभा में शास्त्रार्थ कर जिसने साधुवाद-उत्तम प्रशंसा प्राप्त की, जिसने बहुत भारी तप किया और जो विद्वानों में श्रेष्ठ था, ऐसा श्रीमान् नारद कृतकृत्य होकर सर्वार्थ-सिद्धि (देवलोक) गया।

आधार-स्रोत ग्रन्थों/प्रकाशनों का विवरण

1. अनुयोगद्वार सूत्र, अनुवादक-विवेचक: उपाध्याय श्री केवलमुनिजी, प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर-305901 (राज.)1987 ई.

2. आचारांग सूत्र (आयारो) (भाग I व II), सम्पादक-विवेचक: श्री श्रीचन्द सुराणा 'सरस', प्रका.श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर-305901 (राज.), ई. 1980

3. उत्तराध्ययन सूत्र, संपा. साध्वी चन्दना, दर्शनाचार्य, प्रका. सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-2 (उ. प्र.), 1972 ई.

4. ज्ञानार्णव (आ. शुभचन्द्र-रचित), अनुवादक पं. बालचन्द्र शास्त्री, प्रका. जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर (महाराष्ट्र), 1977 ई.

5. तत्त्वार्थसूत्र (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र), हिन्दी अनु. पं. खूबचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री, प्रका. श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, झवेरी बाजार, मुम्बई-2, 1932 ई.

6. दशवैकालिक सूत्र, अनुवादक-विवेचक: सिद्धान्ताचार्य महासती पुष्पवती जी, प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर. 305901 (राज.) 1985 ई.

7. पद्मनन्दिपंचविंशति (आ. पद्मनन्दि-रचित), (गुजराती भाषानुवाद-सहित), प्रका. श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर- 364002 (गुजरात), वि. सं. 2035,

8. पद्मपुराण (आ. रविषेण), भाग I व III, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली-वाराणसी, द्वि. संस्क. 1977-78 ई.

9. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (अमृतचन्द्राचार्य-रचित), व्याख्याकार-क्षुल्लक धर्मानन्द, प्रका. श्री सुरेश सी. जैन, नई दिल्ली, 1989 ई.

10. प्रशमरतिप्रकरण (उमास्वाति-रचित), भावानुवाद- मुनिश्री पद्मविजय जी, प्रका. श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली, 1969 ई.

11. प्रश्नव्याकरण सूत्र, अनुवादक: मुनिश्री प्रवीण ऋषि जी महा., सम्पा. पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल, प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर- 305901 (राज.) 1983 ई.

12. योगशास्त्र (आ. हेमचन्द्र-रचित), हिन्दी अनु. मुनिश्री पद्मविजय, संपा. मुनिश्री नेमिचन्द्र जी, प्रका. श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली-110006, 1975 ई.

13. (तत्त्वार्थ) राजवार्तिक (आ. अकलंक कृत), भाग I व II, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली- वाराणसी, 1957 ई.

14. श्रावक प्रज्ञप्ति (आ. हरिभद्र), हिन्दी अनु. व संपा. पं. बालचन्द्र शास्त्री, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1981 ई.

15. श्रावकाचार संग्रह (भाग I व IV), संपा. अनुवादक: पं. हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ, प्रका. आ. शान्तिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था, श्रुतभंडार और ग्रन्थप्रकाशन समिति, फलटण-415523 (महा.)1976-1979 ई.

16. **सूत्रकृतांग सूत्र (सूयगडो)- प्रथम भाग (प्रथमश्रुतस्कन्ध)** संपा. विवेचक: युवाचार्य महाप्रज्ञ, अनु. मुनि दुलहराज, प्रका. जैन विश्व भारती, लाडनूं- 341306 (राज.) 1984 ई.

17. सूत्रकृतांग सूत्र (भाग I व II, प्रथम व द्वितीय श्रुतस्कन्ध), अनु. संपा. विवेचक: श्रीचन्द सुराणा सरस, प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर-305901 (राज.) 1982 ई.

18. स्थानांग सूत्र (ठाणांग सूत्र-) हिन्दी अनु. पं. हीरालाल शास्त्री, प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर- 305901 (राज.) ई 1981

19. स्याद्वादमंजरी तथा अयोगव्यवच्छेदिका, हिन्दी अनु. डा. जगदीशचन्द्र जैन, प्रका. परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रय, अगास (वाया-आणंद, पो. बोरिया-388130), गुजरात, 1992 ई.

20. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामिकुमार-रचित), संपा. डा. ए. एन. उपाध्ये, हिन्दी अनु. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल- श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (वाया-आणंद), पो. बोरिया-388130, (गुजरात) 1960 ई.

21. हरिवंश पुराण (आ. जिनसेन रचित), अनुवादक व सम्पादक: डा. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली-वाराणसी, 1978 ई. (द्वि. संस्करण).

22. कुन्दकुन्दभारती, (आ. कुन्दकुन्द के समस्त ग्रन्थों का संग्रह), संपा. डा. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रका. श्रुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटन, ई. 1970.

23. जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय (आ. हरिभद्र के योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक व योगविंशिका-इन चार ग्रन्थों का संग्रह), संपा. डा. छगनलाल शास्त्री, प्रका. मुनिश्री हजारीलाल स्मृति प्रकाशन, पीपलिया बाजार, व्यावर- 305901, (राज.), ई. 1982 (अगस्त) संस्करण.

24. आदिपुराण (आ. जिनसेन), (भाग I व II) सम्पा. डा. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, प्रका.भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी- दिल्ली, ई. 1988 (तृतीय संस्करण),

[illegible] ([illegible]), अनु[illegible]: डा. [illegible] शास्त्री, [illegible]का. [illegible] आगम[illegible] समिति, व्यावर (राज.), 1980 ई.

26. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग (णायाधम्मकहाओ), अनुवादक-विवेचकः पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल, प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राज.) 1981 ई.

27. उत्तरपुराण (आ. गुणभद्ररचित), सम्पादक-अनुवादकः डा. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली-वाराणसी, 1968 ई. (द्वितीय संस्करण).

28. सूक्ति त्रिवेणी (I खण्ड-जैन धारा), उपा. अमर-मुनि, प्रका. सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-2, ई. 1967 (अगस्त).

29. प्राकृत सूक्तिकोश, मुनि चन्द्रप्रभसागर, प्रका. जयश्री प्रकाशन, 22 ए, बुध ओस्तागर लेन, कलकत्ता-9, ई. 1985 (दिसंबर).

30. औपपातिक सूत्र, अनु. पं. छगनलाल शास्त्री, प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राजस्थान), ई.1982

31. कल्पसूत्र, संपा. विवेचकः श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, प्रका. श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर (राजस्थान), चतुर्थ संस्करण, 1985 ई.

32. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र). (1-4 खण्ड) संपा. विवेचकः श्री अमर मुनि, प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर (राजस्थान), ई. 1982-86

33. रत्नकरंड श्रावकाचार (आ. समन्तभद्र), अनु. पं. मोहनलाल शास्त्री, प्रका. सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, जवाहरगंज, जबलपुर-2, ई. 1980 संस्करण

34. मूलाचार (आ. वट्टकेर रचित), (पूर्वार्द्ध व उत्तरार्ध) वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा विरचित संस्कृत टीका सहित, हिन्दी टीकानुवाद- आर्यिकारत्न ज्ञानमती माता जी, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी- दिल्ली, 1984-1986 ई. संस्करण,

35. भगवती आराधना (भाग-1 व 2), आचार्य शिवार्य- रचित, आचार्य अपराजित सूरिकृत विजयोदया टीका व हिन्दी टीका सहित, संपा. व अनु. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रका. जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, ई. 1978.

36. उपासकाध्ययन (आ. सोमदेव सूरि.) संपा. अनु. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी- दिल्ली, 1964 ई.

37. सागार धर्मामृत (पं. आशाधर), स्वोपज्ञ टीका सहित, हिन्दी अनु. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी- दिल्ली, 1978 ई.

॥ विषय-सूची ॥

(अकारादि-क्रम से संयोजित)

● प्रस्तुत अहिंसा-विश्वकोश (के जैन संस्कृति खण्ड) में प्रतिपादित समस्त विषयों को अकारादि-क्रम से संयोजित कर, एक तालिका बनाई गई है जो नीचे प्रस्तुत है। तालिका में चयनित प्रत्येक विषय के सामने उससे सम्बद्ध श्लोकों/उद्धरणों की अनुक्रम-संख्या दर्शाई गई है। प्रस्तुत विश्वकोश में (अन्दर) प्रत्येक उद्धरण/श्लोक से पूर्व उसकी अनुक्रम-संख्या अंकित है। नीचे की तालिका में चयनित विषय के सामने सम्बद्ध श्लोक/उद्धरण की संख्या के अतिरिक्त, सम्बद्ध पृष्ठ की संख्या भी, उद्धरण-संख्या के सामने अंकित की गई है। इसके आधार पर पाठक चयनित विषय पर उद्धरण आदि खोजना चाहें, तो वे निर्दिष्ट अनुक्रम-संख्या व पृष्ठ-संख्या पर उसे खोज सकते हैं।

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ अणुव्रत और अहिंसा	662-699	276-292
❑ *अतिथि-हेतु हिंसा=अधर्म*	157-158	69-70
❑ अधर्म वहां: हिंसा जहां *[ज्ञानी की मान्यता]*	150-153	67
❑ अनर्थदण्ड और हिंसा	731-759	307-317
❑ अनासक्ति: अहिंसा व मुक्ति का मार्ग	480	209
❑ अनिवार्य हिंसा-दोष के निवारक: मैत्री, करुणा आदि भाव...	710	298
	1086	441

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ अनुकम्पा, करुणा आदि और अहिंसा	565-590	247-254
❑ अनुकम्पा व दया का स्वरूप, और उसके प्रेरक उपदेश...	577-590	250-254
❑ अन्यतीर्थिकों की हिंसा के सम्बन्ध में मान्यता	127-129	58-60
❑ अब्रह्मचर्य आदिः हिंसा के ही रूप	52-55	15-16
❑ अब्रह्मचर्य और हिंसा	475-479 52-55	207-209 15-16
❑ अभयदान और अहिंसा	591-599	255-257
❑ अर्हंत की पहचानः अहिंसा	861	348
❑ अशुभ परिणाम= हिंसा	16	6
❑ असत्य आदिः हिंसाके ही रूप	52-55	15-16
❑ असत्य और हिंसा	394-434	176-190
❑ असंयम-द्वारः हिंसा	301-308	141-144
❑ अहिंसक आचार-विचारः साधु-चर्या का अभिन्न अंग...	814-839	333-340
❑ अहिंसक चर्याः श्रावक जीवन का अंग	705-710	295-297

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ अहिंसक पशुओं का पालकः श्रावक-वर्ग	711	299
❑ अहिंसक भावना अपेक्षित, राजकीय कोष-संग्रह में...	458-59	199
❑ अहिंसक भावना की अखण्डता के साथः साधु का समाधि-मरण...	865	351-352
❑ अहिंसक यज्ञ की श्रेष्ठता और उसका आध्यात्मिक स्वरूप...	154-156	68-69
❑ अहिंसक वातावरण का कारणः अब्रह्मसेवन...	478	208
❑ अहिंसक वातावरण का निर्माताः ध्यानयोगी श्रमण...	1130-1144	457-462
❑ अहिंसक वृत्तिः कुशल शिक्षक व योग्य शिष्य की पहचान...	380-87	171-174
❑ अहिंसक वेश-भूषा व स्वभाव वाले ही देव व गुरु मान्य...	612-618	261-263
❑ अहिंसक साधुः आत्मवत् दृष्टि से सम्पन्न...	841-854	341-345
❑ अहिंसा अणुव्रत	675-684	280-284

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ अहिंसा अणुव्रत का उपदेशः महाव्रती द्वारा *[शास्त्रीय आलोक में शंका-समाधान]*	*97-100*	*40-42*
❑ अहिंसा अणुव्रत की सार्थकता *(शंका-समाधान)...*	*101-102*	*43-45*
❑ अहिंसा अणुव्रत के अतिचार	*689-694*	*286-288*
❑ अहिंसा आदि अणुव्रतों का पालनः श्रावकोचित आचार...	*662-696*	*276-289*
❑ अहिंसा आदि अणुव्रतों के सहयोगी कुछ विशिष्ट नियम...	*728-813*	*305-332*
❑ अहिंसा आदि महाव्रत...	*877-880*	*356*
❑ अहिंसा आदि व्रतों का मूलःब्रह्मचर्य	*479*	*208-209*
❑ अहिंसा आदि से मोक्ष-प्राप्ति	*5*	*2*
❑ अहिंसा-आराधक के लिए अपेक्षितः अनुकम्पा/करुणा...	*570-576*	*249-250*
❑ अहिंसा और श्रावक-चर्या	*619-813*	*264-332*
❑ अहिंसा का आधारः सर्वत्र समत्वपूर्ण आत्मवत् दृष्टि	*3-4*	*1-2*
	840-860	*341-347*

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ अहिंसा का जयघोषः रामराज्य में	379	171
❑ अहिंसा का पोषकः अब्रह्मचर्य...	475-476	207
❑ अहिंसा का विशिष्ट साधकः प्रतिमाधारी श्रावक...	800-805	328-330
❑ अहिंसा का साकार रूपः अर्हंत अवस्था		861 348
❑ अहिंसा की अभिव्यक्तिः वाणी से...	947-1014	380-409
❑ अहिंसा की दुष्कर चर्या के आदर्श साधकः भगवान् महावीर...	862-864	348-350
❑ अहिंसा की यथाशक्य साधनाः श्रावक-चर्या...	619-727	264-305
❑ अहिंसा के प्रशस्त व शुभ नाम...	194	88-91
❑ अहिंसा के प्रेरक उपदेश	195-251	91-99
	1081-1100	440-445
❑ अहिंसाः परम ब्रह्म	355	164
❑ अहिंसा का प्रतिकूल आचरणः हिंसा	13-14	5
❑ अहिंसा का व्यावहारिक रूपः प्राणी-हित में प्रवृत्ति	6	2
❑ अहिंसाः आन्तरिक विशुद्धि की साधन	7-10	3-4

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ अहिंसा की कसौटी परः देव, गुरु, शास्त्र व धर्म का चयन...	600-618	258-263
❑ अहिंसा की परिणतिः जीव-दया/ प्राणी-रक्षा	17-21	6-7
❑ अहिंसा की श्रेष्ठता का अवरोधक/ विनाशकः असत्य-भाषण...	395-396	176-177
❑ अहिंसा की सहचारिणीः क्षमा, दया, अनुकम्पा, करुणा आदि...	565-569	247-248
❑ अहिंसात्मक प्रशम भाव या क्षमाः क्रोध की एकमात्र चिकित्सा...	542-552	240-243
❑ अहिंसात्मक प्रशस्त चिन्तनः क्षमा भाव का परिणाम...	553-564	243-247
❑ अहिंसात्मक मैत्री आदि भावनाएंः ध्यानयोग की अंग...	1145-1166	462-470
❑ अहिंसात्मक वचनः सत्य	405-408	180-181
❑ अहिंसात्मक वीतरागताः योग-साधक का परम लक्ष्य...	1122-1125	454-455
❑ अहिंसात्मक हितकारी वचन का उपदेश	424-425	186

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ अहिंसा-धर्माराधकः प्राणियों के लिए अभयदाता...	591-599	255-257
❑ अहिंसाः निरन्तर-सेवनीय धर्म	318-320	148-150
❑ अहिंसाः परम/उत्कृष्ट धर्म...	23-30	8-10
	326	152
	329-330	153
	270	168
❑ अहिंसा-पोषकः अनर्थदण्ड-विरति	731-759	307-317
❑ अहिंसा-पोषकः गुणव्रत व शिक्षाव्रत	728-730	305-307
❑ अहिंसा-पोषक दिग्व्रत	760-761	317-318
❑ अहिंसा-प्रधान महाव्रतों का अनुष्ठाताः साधु-वर्ग...	866-893	353-360
❑ अहिंसाः प्रशस्त गति व दीर्घ जीवन की हेतु...	331-339	153-156
❑ अहिंसा भगवती की महिमाः विविध दृष्टियों से...	362-378	166-170
❑ अहिंसा महाव्रत...	881-889	357-359

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ अहिंसा-महिमा व हिंसा-निन्दा	187-393	81-176
❑ अहिंसा-यम आदि का अनुष्ठानः ध्यान-योग का अंग...	1126-1129	455-457
❑ अहिंसा-रहस्य का व्याख्याताः योग्य गुरु...	94-96	39-40
❑ अहिंसा व मुक्ति का मार्गः अनासक्ति	480	209
❑ अहिंसाः विद्वान् ज्ञानी की पहचान...	388-393	174-175
❑ अहिंसाः वीतरागता का दूसरा नाम	11-12	5
❑ अहिंसा व्रत का पूरकः उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत	762-766	318-319
❑ अहिंसा व्रत का रक्षकः रात्रिभोजन-त्याग...	786-799	324-328
	1015	407-408
	866-867	353
	916-922	367-370
❑ अहिंसा व्रत की पूरक और पोषकः समिति व गुप्ति...	894-946	361-379
❑ अहिंसा व्रत की पूर्णताः प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत से...	773-775	321-322
❑ अहिंसा व्रत की भावनाएं	911-922	365-370

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ अहिंसाः सनातन धर्म	22	8
❑ अहिंसाः सभी प्राणियों को प्रिय	1-2	1
❑ अहिंसाः सभी व्रतों की आधार-भूमि	356-361	165-166
❑ अहिंसा/समता/क्षमा से समन्वितः साधु-चर्या...	840-860	341-347
❑ अहिंसाः सर्वज्ञ तीर्थंकर-उपदिष्ट प्रमुख धर्म...	309-317	144-147
❑ अहिंसाः संयम-द्वार	348-354	162-164
❑ अहिंसाः संवर-द्वार	346-47	161-162
❑ अहिंसा-साधक का प्रशस्त मरणः सल्लेखना का आश्रयण...	806-813	330-332
❑ अहिंसा-साधना और ध्यान-योग	1101-1166	446-470
❑ अहिंसा-साधना के सम्बलः विशिष्ट शास्त्रीय उपदेश...	1081-1100	440-445
❑ अहिंसाः सुख-शान्ति एवं कल्याण-मंगल का द्वार...	321-330	150-153
❑ अहिंसा से सातावेदनीय (सुखदायी) कर्म का बन्ध...	340-345	156-161

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ अहिंसा/हिंसा का स्वरूप	1-186	1-80
❑ अहिंसा/हिंसा के कुछ ज्ञातव्य रहस्य	94-186	39-47
❑ आग जलाना व बुझानाः जीव-हिंसात्मक कार्य	76-77	30-32
	1033-34	415
	1042-43	420
	1067-1070	435-36
❑ आत्मघात= मूढ़तापूर्ण/अधार्मिक क्रिया	110-113	50-51
❑ आत्मवत् प्रिय अहिंसा	1-2	1
❑ आत्मघाती कदम= हिंसक भाव	56-59	17-18
❑ आत्मौपम्य दृष्टि और अहिंसक चर्या	840-860	341-347
	1090-1092	442
❑ आदान निक्षेपण व उत्सर्ग समिति	992-1001	399-402
❑ आन्तरिक दुर्भावों के अनुरूपः हिंसा-दोष	173-182	75-78
❑ आन्तरिक विशुद्धि की साधनः अहिंसा	7-10	3-4
❑ आलोकित पान-भोजन (रात्रिभोजन-त्याग)	916-922	367-370
	786-799	324-328
	866-867	353
	1015	407-408

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ आहार और अहिंसा	628-661	267-276
	786-799	324-328
	975-991	392-399
❑ उत्सर्गसमिति	992-1001	399-402
❑ उपदेशक और अहिंसा	426-431	186-188
	97-100	40-42
	190-191	82-83
❑ उपेक्षा/माध्यस्थ्य भावना...	1165-1166	472
❑ करण (हिंसा की क्रमिक परिणतियां)	89-93	38-39
❑ करुणा भावना	1161-1162	468-469
❑ कषाय और हिंसा	526-599	236-257
	15	6
	31-51	10-15
	173-182	75-78
❑ काम-क्रोध आदि= हिंसा के रूप	15	6
❑ काम-भोग-आसक्ति और हिंसा	481-496	209-215
❑ किसी की भूख मिटाने के लिए भी आत्मवध अनुचित...	113	51
❑ क्रियाएं: हिंसा से सम्बद्ध	60-67	18-23

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ क्षमा और अहिंसा	542-564	240-247
	855-860	345-347
❑ खारपटिकों की हिंसा-सम्बन्धी मान्यता	118	54
❑ गुणव्रत व शिक्षाव्रत	728-730	305-307
❑ गुरु, देव व शास्त्र का चयनः *अहिंसा की कसौटी पर*	600-618	258-263
	190-191	82-83
	752-755	314-315
❑ गुरुः हिंसा/अहिंसा-रहस्य का व्याख्याता	94-96	39-40
❑ चोरी आदिः हिंसा के ही रूप	52-55	15-16
❑ चोरी और हिंसा	460-474	200-206
❑ जन-संहारकारी युद्ध की निन्दा	287	129
❑ जहां हिंसाः वहां अधर्म (ज्ञानी की मान्यता)	150-153	67
❑ जीव के शरीर-घात से उसकी आत्मा का वध कैसे? (समाधान)...	703-704	294
❑ जीवघातक व आत्मघातकः विषयभोग में आसक्त प्राणी...	497-503	216-218

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ जीव-दया/प्राणि-रक्षा= अहिंसा की परिणति	17-21	6-7
❑ जीव-मात्र के रक्षकः जैन श्रमण	1016-1080	408-439
❑ जीव-रक्षा का ध्यानः आदान-निक्षेपण व उत्सर्ग समिति	992-1001	399-402
❑ जीव-रक्षा में सावधानीः ईर्या समिति	923-946	370-379
❑ जीव-हिंसा का दोषीः मांससेवी	628-641	267-270
❑ जीव-हिंसात्मक कार्यः आग जलाना व बुझाना	76-77	30-32
	1033-34	415
	1042-43	420
	1067-1070	435-436
❑ जीव-हिंसाः देव-बलि के रूप में निन्दनीय	161-162	71
❑ जीव-हिंसापूर्ण रात्रिभोजन से विरति	1015	407-408
	916-922	367-370
	786-799	324-328
	866-867	353
❑ जीव-हिंसा व मांस-भोजनः श्राद्ध में अमान्य	163-164	71-72

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ जीव-हिंसा से जुड़े कर्म-बन्ध पर प्रकाशः आगम के आलोक में	68-75	23-30
❑ जुआ खेलना और हिंसा	756-757	316
❑ ज्ञानी/विद्वान् और अहिंसा	840	341
	388-393	174-175
❑ तन्दुलमत्स्य को हिंसात्मक रौद्रध्यान	1109	451
	181	78
❑ तापसों की हिंसा-सम्बन्धी मान्यता	126	57-58
❑ तीर्थंकर-उपदिष्ट धर्म-अहिंसा	309-317	144-147
❑ दया, करुणा आदि और अहिंसा	565-590	247-254
❑ दया रूपी दक्षिणा द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान	156	69
❑ दुष्परिणाम (हिंसा के)	220-286	100-129
❑ देव, गुरु व शास्त्र का चयनः अहिंसा की कसौटी पर	600-618	258-263
	190-191	82-83
	752-755	314-315
❑ देव-बलि के रूप में हिंसा निन्दनीय	161-162	71
❑ दैनिक जीवन में सम्भवित हिंसा और अपेक्षित सावधानी...	394-618	176-263

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ द्रव्य व भाव (मिश्रित) हिंसा	87	37
❑ द्रव्य हिंसा (प्रमाद रहित)	82-83	35
❑ द्रव्य-हिंसा, भाव हिंसा आदि चार भेद	82-88	35-37
❑ धर्म के नाम पर हिंसा	136-146	63-66
❑ ध्यान योग और अहिंसा-साधना	1101-1166	446-470
❑ परम ब्रह्मः अहिंसा	355	164
❑ परिग्रह आदिः हिंसा के ही रूप	52-55	15-16
❑ परिग्रह और हिंसा	435-459	190-199
❑ परिग्रह की परिणतिः कलह-विरोध	452-455	196-198
❑ पशु-पालन और अहिंसा	700-702	292-294
	711	299
	689-694	286-288
❑ प्रमाद व कषाय की अशुभ उपज=हिंसा	31-51	10-15
❑ प्राणि-हित में प्रवृत्तिः अहिंसा का व्यावहारिक रूप	6	2
❑ बौद्धों की हिंसा-सम्बन्धी मान्यता	199-125	54-57
❑ ब्रह्मचर्य और अहिंसा	479	208-209

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ ब्रह्मचारी के लिए अणुव्रत पालनीय...	695-696	289
❑ भगवती अहिंसा की महिमा	362-378	166-170
❑ भगवान् महावीर की अहिंसक दुष्कर चर्या	862-864	348-350
❑ भाव हिंसा	84-86	36
❑ भूख की पीड़ाः हिंसक वृत्ति का कारण	504-505	218-219
❑ भ्रान्तियांः हिंसा के समर्थन में, और उनका निराकरण	105-186	48-80
❑ भ्रूण-हत्या वर्जित	288	129
❑ मद्यपान और हिंसा	619-627	264-266
❑ महाव्रत और अहिंसा	871-893	354-360
❑ मांस-भोजनः श्राद्ध आदि में अमान्य	163-164	71-72
❑ मांस-सेवन और हिंसा	628-641	267-270
❑ मुदिता भावना...	1163-1164	471
❑ मैत्री आदि भाव	710	298
	1157-1162	467-469
	1086	441

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ मौनः वाणीकृत हिंसा से बचने का उपाय...	1010-1014	405-407
❑ यज्ञ (अहिंसक)	154-156	68-69
❑ यज्ञ आदि में हिंसा	147-149	66
	161-164	71-72
	187-189	81-82
❑ यज्ञ-हिंसा का समर्थन करने से दुर्गति *(राजा वसु की पौराणिक कथा)...*	187	81
❑ युद्ध-निन्दा	287	129
❑ रात्रिभोजन और हिंसा	786-799	324-328
	866-867	353
	1015	407-408
	916-922	367-370
❑ रात्रि-भ्रमण से (साधु को हिंसा-दोष)	1079	441
❑ रामराज्य में अहिंसा का जयघोष	379	171
❑ वाग्गुप्ति व भाषा समिति में अन्तर...	1008-1009	404-405
❑ वाणीकृत हिंसा से बचने का प्रमुख उपायः मौन...	1010-1014	405-407
❑ विशिष्ट अहिंसा-आराधक श्रावक	687-88	285-288

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ वीतरागता= अहिंसा	11-12	5
❑ वीतरागता और ध्यानयोग	1122-1125	454-455
❑ वैयावृत्त्य= उपकार कार्य	783-785	324
❑ वैयावृत्त्य और अहिंसा	776-785	322-324
❑ व्रतों की आधार-भूमिः अहिंसा	356-361	165-166
❑ शब्दात्मक निर्विकार हिंसा	88	37
❑ शास्त्र, गुरु व देव का चयनः अहिंसा की कसौटी पर	600-618	258-263
	190-191	82-83
	752-755	314-315
❑ शिक्षक व शिष्य के लिए अहिंसक वृत्ति अपेक्षित	380-387	171-174
❑ श्रावक-चर्या और अहिंसा	619-813	264-332
❑ श्रेष्ठ/उत्कृष्ट धर्म= अहिंसा	23-30	8-10
	326	152
	329-330	153
	362-370	166-170
❑ सत्य अणुव्रत	685-686	285
❑ सत्य आदि महाव्रत...	890-893	360
❑ सत्य और अहिंसा	405-408	180-181
	424-425	186

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ सत्य महाव्रत/भाषा समिति	947-1014	380-409
❑ सत्य व भाषा समिति में अन्तर...	974	391
❑ सनातन धर्म= अहिंसा	22	8
❑ सन्तान/भ्रूण-हत्या वर्जित...	288	129
❑ सभी को प्रिय अहिंसा	1-2	1
❑ समता= अहिंसा	840	341
❑ समत्व-दृष्टि से मोक्ष-प्राप्ति	5	2
❑ समत्वपूर्ण आत्मवत् दृष्टिः अहिंसा का आधार	3-5	1-2
	840-860	341-347
❑ समिति व गुप्तिः अहिंसाव्रत की पूरक	894-946	361-379
❑ सम्यक् ज्ञान से हिंसा-प्रत्याख्यान की सार्थकता	103-104	45-47
❑ सल्लेखनाः आत्महत्या नहीं	812-813	332
❑ सल्लेखनाधारी वैर आदि कलुषित भावों का त्यागी एवं क्षमा भाव का धारक...	810-811	331
❑ सल्लेखना/समाधिमरण	806-813	330-332
	865	351-352

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ संयम-द्वारः अहिंसा	348-54	162-164
❑ संयमहीन जीवन और हिंसा	521-525	228-235
❑ संवर-द्वारः अहिंसा	346-347	161-162
❑ संसारमोचकों के कुतर्कः हिंसा के समर्थन में, और उनका निराकरण	130-135	60-63
❑ साधु-चर्या और अहिंसा	814-1100	333-447
❑ सामायिक और अहिंसा	767-772	319-321
	865	351-352
❑ सावद्य वचनः हिंसा का साधन	394-434	176-190
	947-1014	380-409
❑ सुख-शान्ति व कल्याण का द्वारः अहिंसा...	321-330	150-153
❑ सुपरिणाम (अहिंसा के)	321-345	150-161
❑ स्थावर-हिंसा से अहिंसा अणुव्रत भंग नहींः (शास्त्रीय शंका समाधान)...	697-699	289-292
❑ स्नान-त्याग और अहिंसा	834	339
	1045	423
	1051	426-427
	1054	429
❑ हितकारी भाषणः तपस्वी सन्त का स्वभाव...	428-429	187

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ हिंसक आचार-विचार के दुष्परिणाम	220-251	100-111
❑ हिंसक आजीविका वाली म्लेच्छ जातियां...	506-508	219-221
❑ हिंसक उपकरणों का वितरण त्याज्य	746-751	313-314
❑ हिंसक कार्यः जुआ खेलना	756-757	316
❑ हिंसक पशुओं के साथ श्रावक का अहिंसक व्यवहार *(औचित्य-सम्बन्धी शंका-समाधान)* ...	700-702	292-294
❑ हिंसक प्रमादचर्या त्याज्य	743-745	312
❑ हिंसक भाव= आत्मघाती कदम	56-59	17-18
❑ हिंसक भावना के प्रेरक तत्त्व	481-525	209-235
❑ हिंसक मनोभाव और उनके निवारक अहिंसात्मक भाव...	526-599	236-257
❑ हिंसक यज्ञ की परम्परा का प्रवर्त्तकः महाकाल असुर *(पौराणिक आख्यान)*	188-189	81-82
❑ हिंसक व क्रूर कर्मों का मूलः कामभोग-आसक्ति...	481-496	209-215
❑ हिंसक वृत्ति का कारणः भूख की पीड़ा	504-505	218-219

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ हिंसक वृत्ति का पोषकः संयमहीन/अप्रत्याख्यानी जीवन...	521-525	228-235
❑ हिंसाः अतिथि हेतु भी अधर्म	157-158	69-70
❑ हिंसा= अशुभ परिणाम	16	6
❑ हिंसाः असंयम-द्वार	301-308	141-144
❑ हिंसा/अहिंसा का स्वरूप	1-186	1-80
❑ हिंसा= अहिंसा का प्रतिकूल आचरण	13-14	5
❑ हिंसा-अहिंसा के कुछ ज्ञातव्य रहस्य	94-186	39-47
❑ हिंसा/अहिंसा-रहस्य का व्याख्याताः योग्य गुरु...	94-96	39-40
❑ हिंसा आदि पापों का नियतकालिक त्याग (सामायिक अनुष्ठान)...	767-772	319-321
	865	351-352
❑ हिंसा और अदत्तादान	460-474	200-206
❑ हिंसा और अब्रह्मचर्य	475-479	207-209
❑ हिंसा और परिग्रह	435-459	190-199
❑ हिंसा और परिग्रहः परस्पर-सम्बद्ध	435-449	190-195

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ हिंसा का कुफलः नरक आदि दुर्गति एवं अशुभ दीर्घायु की प्राप्ति...	259-286	118-129
❑ हिंसा का दुष्परिणामः अल्पायुता...	257-258	117
❑ हिंसा का सशक्त साधनः सावद्य वचन	394-434	176-190
❑ हिंसा का संस्कारः चोर के अगले भव में भी...	474	206
❑ हिंसा की क्रमिक परिणतियां *(करण)*...	89-93	38-39
❑ हिंसा की प्रवृत्तिः प्रायः स्वार्थी व अज्ञानियों में...	509-520	221-227
❑ हिंसक की लोक-निन्दा व अपकीर्ति...	252-254	111-115
❑ हिंसा की शाब्दिक अभिव्यक्तिः असत्य भाषण...	395-396	176-177
❑ हिंसा की ही एक विधिः स्तेय/चोरी/अदत्तादान/...	460-469	200-202
❑ हिंसा के इक्कीस भेदों का परिचय	79-81	32
❑ हिंसा के दोष-सूचक विविध नाम	192-193	83-88
❑ हिंसा के प्रेरकः अप्रशस्त कषाय भाव	526-532	236-237

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ हिंसा के रूपः काम-क्रोध आदि	15	6
❑ हिंसा के विविध भेद	78-88	32-37
❑ हिंसा के समर्थन में भ्रान्तियां और उनका निराकरण...	105-186	48-80
❑ हिंसा के सम्बन्ध में अन्यतीर्थिकों का अज्ञान...	127-129	58-60
❑ हिंसा के सम्बन्ध में खारपटिकों की अज्ञानपूर्ण मान्यता...	118	54
❑ हिंसा के सम्बन्ध में तापसों की अविवेकपूर्ण मान्यता...	126	57-58
❑ हिंसा के सम्बन्ध में बौद्धों की अविवेकपूर्ण मान्यता...	119-125	54-57
❑ हिंसा के सम्बन्ध में सापेक्ष सिद्धान्त (आगमिक दृष्टि)...	165-172	72-75
❑ हिंसा के ही विविध रूपः असत्य, चोरी, परिग्रह व अब्रह्मचर्य...	52-55	15-16
❑ हिंसाः कोई कुलाचार नहीं	159-160	70
❑ हिंसा जहां, अधर्म वहां *(ज्ञानी की मान्यता)*	150-153	67

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ हिंसात्मक अपध्यान रूप अनर्थदण्ड	737-738	310-311
❑ हिंसात्मक अप्रशस्त ध्यानः योगी/साधक के लिए हेय...	1101-1121	446-453
❑ हिंसात्मक आजीविका का त्यागः श्रावक के लिए अपेक्षित...	712-727	299-305
❑ हिंसात्मक कार्यः अब्रह्मसेवन....	477	207
❑ हिंसात्मक क्रोध आदि कषाय= परिग्रह	451	196
❑ हिंसात्मक परिग्रह त्याज्य	456-457	198-199
❑ हिंसात्मक पापोपदेश त्याज्य	739-742	311-312
❑ हिंसात्मक पीड़ाकारी वचन त्याज्य	409-423	181-185
❑ हिंसात्मक प्राणी-पीड़ाकारी वचनः असत्य...	397-404	177-180
❑ हिंसात्मक भावों में प्रमुखः क्रोध	533-541	238-240
❑ हिंसात्मक लोभ-त्यागः अतिथि-संविभाग व्रत/वैयावृत्त्य...	776-785	322-324
❑ हिंसात्मक वातावरण का ध्यानः उपदेशक के लिए अपेक्षित...	426-427	186-187

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ हिंसात्मक विशिष्ट क्रियास्थानों का आगमिक वर्णन....	289-300	130-141
❑ हिंसा-त्याग व समत्व-दृष्टि से मोक्ष-प्राप्ति	5	2
❑ हिंसादि की निवृत्ति हेतु महाव्रतों का धारण...	871-876	354-355
❑ हिंसा-दोषः कुछ शंकाएं और समाधान	114-117	52-53
❑ हिंसा-दोषः दुःखी जीवों के वध में भी	107	48-49
❑ हिंसा-दोष से मुक्त आहार का ग्रहण *(एषणा समिति)...*	975-991	392-401
❑ हिंसा-दोष वध्य जीव की आयु के अनुरुप नहीं...	183-186	79-80
❑ हिंसा-दोष से अस्पृष्टः गुरु का अप्रिय उपदेश-वचन....	430-431	187-188
❑ हिंसा-दोष से मुक्त ही शास्त्र व धर्म सेवनीय...	600-611	258-261
❑ हिंसा-दोष से सम्पृक्तः अनेक अभक्ष्य पदार्थ...	642-661	271-276
❑ हिंसादि दोषों से सुरक्षाः समिति व गुप्ति द्वारा...	894-910	361-365

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ हिंसा-दोषः हिंसक जीवों के वध में भी...	105-106	48
❑ हिंसा-निन्दा एवं अहिंसा-महिमा	187-393	81-176
❑ हिंसा-निन्दा, हिंसा-त्याग एवं अहिंसा-अनुष्ठान के प्रतिपादक उपदेश...	195-251	91-99
❑ हिंसादि-निवर्तिकाः मन-वचन-काय गुप्तियां....	1002-1007	405-406
❑ हिंसाः धर्म के नाम पर पूर्णतः अनुचित	136-146	63-66
❑ हिंसा-निवृत्ति रूप अनर्थदण्ड व्रत का लाभ...	758	316
❑ हिंसानिवृत्ति रूप अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार...	759	317
❑ हिंसा- प्रत्याख्यान की सार्थकताः सम्यक् ज्ञान से....	103-104	45-47
❑ हिंसाः प्रमाद व कषाय की अशुभ उपज...	31-51	10-15
❑ हिंसाप्रियता व दूषित मनोवृत्तिः चोरी और लूट की प्रेरक...	470-473	203-206
❑ हिंसा-प्रेरक व मिथ्या आचारः असावधान/अविवेकी जनों का वाणी-व्यवहार...	432-434	188-190

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ हिंसाः यज्ञ आदि में धर्म-सम्मत नहीं	147-149	66
❑ हिंसा व परिग्रहः सुखासक्ति की उपज	450	195
❑ हिंसावर्धक क्रोध का विजेताः क्षमाशील साधु...	855-860	345-347
❑ हिंसा व हिंसक वृत्तियों का संवर्धकः मद्यपान....	619-627	264-266
❑ हिंसा= समर्थक दूषित शास्त्रों/कथाओं/दृश्यों के सुनने-देखने का त्याग...	752-755	314-315
❑ हिंसा-समर्थक शास्त्रों के उपदेशक निन्दनीय...	190-191	82-83
❑ हिंसा-समर्थक संसारमोचकों के कुतर्क का निराकरण	130-135	60-63
❑ हिंसाः समाधिस्थ की धर्म-संगत नहीं	109	49
❑ हिंसा-सम्बन्धी दोषः आन्तरिक दुर्भावों के अनुरूप...	173-182	75-78
❑ हिंसाः सुखी जीव की भी अमान्य...	108	49
❑ हिंसा से असातावेदनीय (दुःखदायी) कर्म का बन्ध...	255-256	116

विषय-शीर्षक	श्लोक/उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
❑ हिंसा से जुड़ी क्रियाएंः आगम के आलोक में...	60-67	18-23
❑ हिंसा स्वयं की (आत्मवध): एक मूढतापूर्ण अधार्मिक क्रिया...	110-112	50-51

अहिंसा विश्वकोश (जैन संस्कृति खण्ड)

उद्धरणों की अकारादिक्रम-सूची

पाठकों की सुविधा को दृष्टि में रख कर, प्रस्तुत अहिंसा-विश्वकोश में (पद्यात्मक व गद्यात्मक) उद्धरणों के प्रारम्भिक अंशों को अकारादि-क्रम से संयोजित कर निम्नलिखित सूची तैयार की गई है:-

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
अंगारवनशकट...	716	302
अंतरंगारिषड्वर्ग...	707	296
अइवह्रबालमूयंध...	583	253
अकारणरणेनाल्...	287	129
अकित्तणिज्ञे परिग्गहे...	445	193
अक्कोसेज्ञ परो भिक्खुं...	857	346
अगारधम्मं दुवालसविहं...	729	306
अगार-परियार-भक्ख...	519	226
अगारिणां विरतिपरिणाम...	683	283
अघ्नत्रपि भवेत्पापी...	173	75
अजयं आसमाणो उ...	931	373
अजयं चरमाणो उ...	931	373
अजयं चिट्ठमाणो उ...	931	373
अजयं भासमाणो उ...	931	373
अजयं भुंजमाणो उ...	931	373
अजयं सयमाणो उ...	931	373
अजीर्णे भोजनत्यागी...	707	295
अजैर्यष्टव्यमित्यत्र...	187	81
अजोगरुवं इह...	120	55
अज्झत्थं सव्वओ...	1096	444
अट्टे से बहुदुक्खे...	496	215
अट्ठ सुहुमाइं पेहाए...	941	376
अडईगिरिदरिसागर...	484	210
अणावायमसंलोए...	999	402
अणाहारो तुवट्टेज्ञा...	865	351
अणुगुच्छमाणे वितहं...	427	186
अणुबद्धवेररोई...	260	118
अणुवीइ भिक्खू...	1093	443
अणेगचित्ते खलु अयं...	521	228
अण्णेहिं य एवमाएहिं...	511	222
अण्णो ण हवदि धम्मो...	151	67
अत्युक्तिमन्यदोषोक्तिम्...	422	185
अत्थम्मि हिदे पुरिसो...	469	202
अत्थस्स जीवियस्स...	486	211
अत्थि सत्थं परेण...	378	170
अथ निश्चित्तसचित्तौ...	436	191
अदत्तादाने कृते...	466	201
अदयैः संप्रयुक्तानि...	404	180
अदिण्णादानं हर-दह...	473	205
अधिगरणिया णं भंते...	65	22

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
अधीतैर्वा श्रुतैर्ज्ञातैः...	606	259
अनतिव्यक्तगुप्ते च...	707	295
अनन्तकायाः सूत्रोक्ताः...	655	274
अनवरतमहिंसायां...	318	148
अनानृशंस्यं हिंसोप...	1117	452
अनारतं निष्करुणस्वभावः...	1118	452
अनिलस्स समारंभं...	1058	430
अनुमतिरारम्भे वा...	803	329
अनृतपरुषकर्कश...	1009	405
अनेकजन्तुसंघात...	642	271
अनेकजन्मजक्लेश...	428	187
अन्नं पानं खाद्यं...	801	329
अन्नपाननिरोधस्तु...	689	286
अन्नाणकारणं जइ...	131	61
अन्नुन्नाणुगमाओ...	703	294
अन्ने उ दुहियसत्ता...	130	60
अन्ने भणंति कम्मं...	114	52
अन्ययोगव्यवच्छेदाद्...	365	167
अपध्यानं जयः स्वस्य	735	309
अपयत्ता वा चरिया...	51	15
,,	936	375
अपरिमियणाणदंसण...	990	398
अपास्ताशेषदोषाणं...	1164	469
अपि चैषां विशुद्ध्यङ्गम्	710	298
अपि वंशक्रमायातां...	160	70
अप्पणट्ठा परट्ठा वा...	969	390
अप्पत्तियं जेण सिया...	957	383
अप्पाउडगरोगिदया...	248	110
अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति...	512	223
अप्पे जणे णिवारेत्ति...	863	349
अप्यौषधकृते जग्धं...	644	271
अप्रादुर्भावः खलु...	13	5
अप्राप्नुवन् अन्यभक्ष्यम्...	653	274

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
अभओ पत्थिवा! तुब्भं...	591	255
अभयं यच्छ भूतेषु...	594	255
अभयं सर्वसत्त्वानाम्...	596	256
अभिक्खणं कोही हवइ...	385	173
अभिमानभय...	15	6
,,	619	264
अयकक्करभोई य...	261	118
अयत्नेनापि सैवेयं...	556	244
अयदाचारो समणो...	50	15
अर्कालोकेन विना...	792	326
अर्था नाम य एते...	464	201
अर्हता भगवता प्रोक्ते...	315	146
अलियवयणं लहुसग...	401	178
अवण्णवायं च परम्मुहस्स...	959	384
अवधत्यागतः सार्व...	955	382
अवबुध्य हिंस्यहिंसक...	215	98
अवर्णवादी न क्वापि...	707	295
अवितीर्णस्य ग्रहणं...	463	201
अविद्याक्रान्तचित्तेण...	277	126
अविधायापि हि हिंसां...	175	76
अवि पावपरिक्खेवी...	385	173
अविरमणं हिंसादी...	217	99
अविरूद्धा अपि भोगाः...	765	319
अविहिंसामेव पव्वए...	314	146
अविहीए होइ च्चिय...	98	41
अश्नीयन् सदा मांसं...	630	267
असंगिहीयपरिजणस्स...	586	254
असच्चमोसं सच्चं च...	966	388
असत्यमपि तत्सत्यं...	406	180
असत्युपकारे पापादान...	736	309
असद्वदनवल्मीके...	400	178
असिधेनुविषहुताशन...	747	313
असुभो जो परिणामो...	16	6

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
अस्तन्द्रैरतः पुम्भिः...	1122	454
अस्य घातो जयोऽन्यस्य...	1116	452
अस्य हानिर्ममात्मार्थ...	557	245
अस्सायावेयाणिज्ज पुच्छा...	256	116
अह चउदसहिं ठाणेहि...	384	172
अहं पंचहिं ठाणेहिं...	383	172
अहवा वि विल्हूण...	119	54
अह सगयं वहणं चिय...	133	62
अहावरे अट्ठमे किरियाठाणे...	296	136
अहावरे एक्कारसमे किरियाठाणे	299	138
अहावरा चउत्था भावणा...	921	369
अहावरे चउत्थे दंड...	289	130
अहावरे छट्ठे किरियाठाणे...	294	135
अहावरे णवमे किरियाठाणे...	297	136
अहावरा तच्चा भावणा...	920	369
अहावरे तच्चे दंड...	292	134
अहावरे तसा पाणा...	1020	409
अहावरे दसमे किरियाठाणे...	298	137
अहावरा दोच्चा भावणा	919	368
अहावरे दोच्चे दंड...	291	132
अहावरा पंचमा भावना...	922	370
अहावरे पंचमे दंड...	293	134
अहावरे बारसमे किरियाठाणे...	300	140
अहावरे सत्तमे किरियाठाणे...	295	135
अहिंसा सच्चं च अतेणगं...	870	354
अहिंसा= जीवदया...	20	7
अहिंसादयो गुणा...	475	207
अहिंसादिगुणा यस्मिन्...	476	207
अहिंसा दुःखदावाग्नि...	371	169
अहिंसा निउणं दिट्ठा...	354	164
अहिंसा परमो धर्मः...	23	8
अहिंसाऽपि भावरूपैव...	18	7
अहिंसा प्रत्यपि दृढं...	323	151
अहिंसा भूतानां जगति...	355	164
अहिंसालक्षणस्तदागम...	309	144
अहिंसालक्षणो धर्मो...	616	262
अहिंसालक्षणो भावः...	405	180
अहिंसाव्रतरक्षार्थं...	395	176
”	788	325
”	789	325
अहिंसाशुद्धिरेषां स्याद्...	611	261
अहिंसा सत्यमस्तेयं...	867	353
अहिंसा सत्यवादित्व...	22	8
अहिंसा समयं चेव...	392	175
अहिंसैकाऽपि जगत्सौख्यं...	374	170
अहिंसैकाऽपि यत्सौख्यं...	326	152
अहिंसैव जगन्माता...	368	168
अहिंसैव शिवं सूते...	375	170
अहिगरणकरस्स...	967	389
अहे णं से उसू अप्पणो...	75	29
अहो निच्चं तवोकम्मं...	1015	407
अहो य राओ य...	494	214
अहो व्यसनविध्वस्तै...	603	259
आउकायं न हिंसंति...	1044	421
आउकायं विहिंसंतो...	1044	421
आकारः सर्वदोषाणां...	531	237
आकृष्टोहं हतो नैव...	553	243
आचार्य आह-जहा से वहए...	523	229
आतुरा परितावेंति...	487	211
आत्मनः प्रतिकूलानि...	196	92
आत्मपरिणामहिंसन...	55	16
आत्मवत् सर्वभूतेषु...	4	2
आत्मानं भावयन्नाभिः...	1154	466
आत्मैवोत्क्षिप्य तेनाशु...	605	259
आदाणे णिक्खेवे...	447	194
”	930	372

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
आदेशाकालयोश्चर्यां...	707	295
आपगा-सागरस्नानम्...	112	51
आमां वा पक्वां वा...	637	269
आमास्वपि पक्कास्वपि...	637	269
आया अपच्चक्खाणी यावि...	522	228
आया चेव अहिंसा...	36	11
आयुष्मान्सुभगः श्रीमान्...	324	151
आरम्भपूर्वकः परिग्रहः...	443	192
आरम्भः प्राणिपीडाहेतु...	456	198
आरम्भसङ्गसाहस...	754	315
आरंभे जीववहो...	983	395
आरंभे पाणिवहो...	1091	442
आरम्भो जन्तुघातश्च...	439	191
आर्द्रकन्दः समग्रोऽपि...	654	274
आवंती केआवंती लोयंसि...	222	100
,,	825	335
आवत्तीए जहा अप्पं...	585	253
आसणं सयणं जाणं...	951	381
आसनादीनि संवीक्ष्य...	994	400
आसमयमुक्तिमुक्तं...	768	320
आस्तां स्तेयमभिध्यापि...	462	200
आहत्तहीयं समुपेहमाणे...	1082	440
आहारत्थं मज्जारि...	504	218
आहारत्थं हिंसई...	505	219
आहिच्च हिंसा समितस्स...	85	36
इंगालं अगणिं अच्चिं...	1069	436
इंगाली-वण-साडी...	712	299
इओ आउक्खए...	268	121
इच्चत्थं गढिए लोए...	488	211
इच्चेते कलहासंगकरा...	491	213
इच्चेयाहिं दिट्ठीहिं...	991	399
इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं...	1075	438
इति कम्मं परिण्णाय...	826	336

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
इति नियमितदिग्भागे...	761	318
इति यः परिमितभोगैः...	766	319
इति यः षोडशयामान्...	775	322
इति विविधभङ्गगहने...	95	40
इति शुद्धं मतं यस्य...	611	261
इति से गुणट्ठी महत्त...	488	211
इति स्मृत्यनुसारे...	163	71
इतीमामार्षभीमिष्टि...	156	69
इत्थं प्रयतमानस्य...	1146	463
इत्थीविसयगिद्धे य...	261	118
इत्यत्र ब्रूमहे सत्यम्...	710	298
इत्यनारम्भजां जह्याद्...	673	279
इत्यादिविक्रियाकर्म...	225	101
इन्द्रियसुखं वाऽत्र...	450	195
इन्द्रियाद्या दश प्राणा...	31	10
इमं च णं सव्वजगजीव...	978	394
इमं च पुढविदग-अगणि...	979	394
इमं [सच्चवयणं] च अलियपिसुण	423	185
इमस्स चेव जीवियस्स...	513	224
इमाइं छ अवयणाइं...	420	185
इमे य बहवे मिलुक्खा...	507	220
इमेहिं विविहेहिं कारणेहिं...	510	222
इयं निकषभूरद्य...	559	245
इय अवि सेसा...	697	289
इय तस्स तयं कम्मं...	117	53
इय परिणामा बंधे...	185	80
इह खलु पाईणं वा...	343	158
,,	345	160
इहपरलोइयदुक्खाणि...	504	218
इहलोइय परलोइय...	403	179
इहाहिंसादयः पञ्च...	1126	455
ईर्याभाषैषणादान...	901	363
,,	903	363

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
उग्गमुप्पायणं पढमे...	982	395
उच्चारं पस्सवणं...	993	400
,,	999	402
उच्चालइय णिहणिंसु...	864	350
उच्चालियंमि पाए...	82	35
उज्झालओ पाणातिवातएज्झा...	1042	420
उठढं अहं तिरियं दिसासु...	1027	413
उड्ढं अहे तिरियं च जे...	1018	408
उड्ढं अहे य तिरियं...	120	55
उडढं अहे यं तिरियं दिसासु...	1019	409
उड्ढमहे तिरिये दिसासु...	1016	408
उत्पद्यमानः प्रथमं...	537	239
उदओल्लं अप्पणो कायं...	1055	429
उदओल्लं बीअसंसत्तं...	1015	407
उदुम्बरवट-प्लक्ष...	651	273
उपलब्धिसुगतिसाधन...	109	49
उपसर्गे दुर्भिक्षे...	808	330
उपांघ्रि भोगिनां भोगैः...	1140	460
उभयपरिग्रहवर्जन...	437	191
उभयाभावे हिंसा...	88	37
उवकुणदि जोवि णिच्चं...	576	250
उवसंतवयणमगिहत्थ...	686	285
उवेहेणं बहिया य लोकं...	393	175
एइंदियादिपाणा...	214	98
एएणऽन्नेण अट्ठेण...	948	380
एकमपि प्रविजिघांसु...	763	318
एकस्य सैव तीव्रं...	182	78
एकस्याल्पा हिंसा...	175	76
एकस्यैकं क्षणं दुःखं...	461	200
एकः करोति हिंसां...	176	76
एक्को वापि तयो वा...	989	398
एगया गुणसमितस्स...	943	377
एगिंदिया णं जीवा...	303	142
एकैककरणपरवशमपि...	501	217
एकैककुसुमक्रोडाद्...	643	271
एतत्समयसर्वस्वम्...	358	165
एताइं संति पडिलेहे...	862	348
एता मुनिजनानन्द...	1155	466
एताश्चारित्रकायस्य...	910	365
एतेसु बाले य पकुव्वमाणे...	221	100
एतेहिं छहिं काएहिं...	1030	414
एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स...	1047	423
,,	1049	425
,,	1050	426
,,	1070	436
एदाहिं सया जुत्तो...	897	362
एनः केन धनप्रसक्त...	449	195
एयं खु णाणिणो सारं...	390	174
,,	1089	444
एयं च अट्ठमन्नं वा...	966	388
एयं च दोसं दट्ठूणं...	1015	407
एयं पि न जुत्तिखमं...	184	79
एयाइं अट्ठ ठाणाइं...	954	382
एयाओ पंच समिईओ...	909	365
एयाणि सोच्चा णरगाणि...	272	124
एयावंति सव्वावंति...	513	224
एलिक्खए जणे भुज्जो...	863	349
एवं खलु चउहिं ठाणेहिं...	284	128
एवं खु जंतपीलन...	712	299
एवं खु णाणिणो सारं...	840	341
एवं णरगं तिरिक्खजोणिं...	271	123
एवं धणुपुट्ठे पंचहिं...	74	28
एवं पि तत्थ विहरंता...	863	349
एवंप्रायेण लिङ्गेन...	696	289
एवंविधमपरमपि...	758	316
एवं व्रतस्थितो भक्त्या...	777	322

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या	उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
एवं समितयः पञ्च...	906	364	कहिंचि विहरमाणं...	986	397
एवामेव सुदंसणा...	8	3	”	1097	444
एसणणिक्खेवादाणिरिया...	916	367	कहं णं भंते! जीवा अप्पा...	258	117
”	917	368	कहं णं भंते! जीवा असुभ...	285	128
एस धम्मे णितिए सासए...	311	145	कहं णं भंते! जीवाणं अस्साया...	255	116
एस मग्गे आरिएहिं...	829	337	कहं णं भंते! जीवाणं कल्लाणा...	344	159
एसा भगवई अहिंसा...	320	148	कहं णं भंते! जीवाणं पावा...	237	106
”	327	152	कहं णं भंते! जीवाणं साता...	341	156
एसो सो पाणिवहो...	230	103	कहं णं भंते! जीवा दीहा...	332	153
ओहोवहोग्गहियं...	995	400	कहं णं भंते! जीवा सुभ...	333	154
कइया णं भंते! किरिया...	66	22	काएसु णिरारंभे...	899	362
कक्कस्सवयणं णिट्ठुरवयणं...	416	183	कामं परपरितावो...	431	188
कण्टको दारुखण्डं च...	791	326	कामगिद्धे जहा बाले...	481	209
कति णं भंते! किरियाओ...	60	18	कामशुद्धिर्मता तेषां...	611	261
कंथं तर्ह्यगारी विरति...	683	283	कायेंदियगुणमग्गण...	881	357
कनकच्छेदसंकाश...	503	218	कायेन मनसा वाचा...	1146	463
कप्पइ णे, कप्पइ णे पातुं...	1051	426	कायेन्द्रियगुणस्थान...	884	357
कफमूत्रमलप्रायं...	998	401	कासंकरे खलु अयं पुरिसे...	490	212
कम्मं परिण्णाय दगंसि...	1072	437	किं इय न तित्थहाणी...	702	293
कयरे ते! जे ते सोयरिया...	506	219	किं जीवदया धम्मो...	150	67
करिणो हरिणारातीन्...	1139	460	किं ते? करिसण-पोक्खरिणी...	515	225
करिण्यो बिसिनीपत्र...	1139	460	किं न तप्तं तपस्तेन...	593	255
करुणार्द्रं च विज्ञान...	373	169	किन्त्वहिंसैव भूतानां...	376	170
कर्मतः खरकर्म...	716	302	किं वा तेणावहिओ...	701	293
कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो...	1026	412	किंवा बहुप्रलपितैः...	790	325
कलभान् कलभाङ्कार...	1139	460	कुणिर्वरं वरं पंगुः	245	109
कलैरलिरुतोद्गानै...	1142	461	कुतूहलाद् गीतनृत्य...	755	315
कषायवशगः प्राणी...	56	17	कुद्दाल-कुलिय-दालण...	235	104
कषायास्तु क्रोधादयः...	526	236	कुलक्रमागता हिंसा...	139	64
कषायोन्मत्तो यथा पापं...	527	236	कुलघाताय पाताय...	502	217
कसाए पयणुए किच्चा...	865	351	कुव्वंतस्स वि जत्तं...	27	9
कस्यापि दिशति हिंसां...	177	77	कुसं च जूवं तणकट्ठ...	147	66
कहं चरे? कहं चिट्ठे?...	927	372	कूराणि कम्माणि बाले...	223	101

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
कृच्छ्रेण सुखावाप्तिः...	108	49
कृतकारितानुमननै...	81	34
कृतमात्मार्थं मुनये...	779	323
कृतसंगः सदाचारैः...	707	295
कृतः पराभवो येषां...	277	126
कृत्वा पापमदः क्रुधा...	188	81
केइ वालाइवहे...	183	79
केचिन्मांसं महामोहाद्...	164	72
के ते जोई के व ते...	154	68
केनोपायेन घातो भवति...	1111	450
केसिंचि तक्काए अबुज्झ...	426	186
कोदण्डदण्डचक्रासि...	614	262
को नाम विशति मोहं...	94	39
कोवाकुलचित्तो जं...	399	177
कोवेण रक्खसो वा...	534	238
कोहं खमया माणं...	552	243
कोहविजयेणं भंते...	547	241
कोहे माणे य मायाए...	954	382
कोहो माणो लोहो...	529	237
क्रियासु स्थानपूर्वासु...	884	357
क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य...	164	72
कुद्धो वि अप्पसत्थं...	541	240
क्रूरकर्मसु निःशंकं...	1166	470
क्रूरता दण्डपारुष्यं...	1120	453
क्रोधवन्हेः क्षमैकेयं...	544	241
क्रोधवन्हेस्तदन्हाय...	560	246
क्रोधविद्धेषु सत्त्वेषु...	1165	470
क्रोधाद् बन्धछविच्छेदो...	692	287
क्षमया मृदुभावेन...	549	242
क्षमादिपरमोदारै...	228	102
क्षान्त्या क्रोधो मृदुत्वेन...	551	242
क्षितिसलिलदहन...	740	311
क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु...	1161	468
क्षुद्रेतरविकल्पेषु...	1157	467
खमावणयाए णं भंते...	562	246
खामेमि सव्वे जीवा...	564	247
गगनवनधरित्रीचारिणां...	1108	449
गतिरोधकरो बन्धो...	689	286
गब्भाइ मिज्जंति...	1080	439
गवेसणाए गहणे य...	981	395
गंथं परिण्णाय इहज्ज...	887	358
गंथेहिं विवित्तेहिं...	865	351
गामे अदुवा रण्णे...	865	351
गिलाणस्स अगिलाए...	587	254
गुणव्रतान्यपि त्रीणि...	730	307
गृहमागताय गुणिने...	778	322
गृहवासो विनारम्भात्...	674	279
घृततैलादिभिरभ्यंजनमपि...	833	338
घोरान्धकाररुद्धाक्षैः...	797	328
चउण्हं खलु भासाणं...	966	388
चउत्थभत्तिएहिं एवं जाव...	320	148
चउहिं ठाणेहिं जीवा...	286	129
,,	334	154
चक्खुसा पडिलेहित्ता...	996	400
चतस्रो भावना धन्या...	1148	464
चक्षुर्गोचरजीवौघान्...	923	370
चराचराणां जीवानां...	760	317
चरुमन्त्रौषधानां वा...	144	65
चर्या तु देवतार्थं वा...	710	298
चारित्तं खलु धम्मो...	1125	455
चारियकहिए वज्झा...	99	41
चिखादिषति यो मांसं...	629	267
चिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं...	213	96
चिट्ठउ ता इह अन्नं...	132	61
चित्तकालुष्यकृत्काम...	753	315
छज्जीवकाए असमारभन्ता...	1040	419

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
छज्जीव सडायतणं...	1031	414
छिन्नाछिन्नवनपत्र...	713	300
छिन्नान् बद्धान् रुद्धान्...	580	251
छेदनताडनबन्धा...	691	287
छेदनबन्धनपीडन...	690	286
छेदनभेदनमारण...	398	177
छेदणबंधणवेढण...	447	194
जं इच्छसि अप्पणतो...	1090	442
जं एवं तेलोक्कं...	200	93
जं किंचुवक्कमं जाणे...	865	351
जं कीरइ परिरक्खा...	597	257
जं जीवनिकायवहेणं...	483	210
जंताइं मूलकम्मं...	402	179
जंपणपरिभवणियडि...	492	213
जं पि वत्थं वा पायं...	1058	430
जंबू!अपरिग्गहसंवुडे...	838	340
जइ मज्झ कारणा...	224	101
जगत्-त्रयचमत्कारि...	1163	469
जगदाक्रममाणस्य...	760	317
जगनिस्सिएहिं भूएहिं...	1057	430
जत्तो पाणवधादी...	417	184
जत्थेव चरइ बालो...	96	40
जदं चरे जदं चिट्ठे...	928	372
जदं तु चरमाणस्स...	929	372
जदि कुणदि कायखेदं...	1074	438
जन्तुकृपार्दितमनसः...	895	361
जन्मानुबन्धवैरो य...	1136	459
जन्मोग्रभयभीतानाम्...	369	168
जम्हा असच्चवयणा...	52	15
जयं चरे जयं चिट्ठे...	927	372
जयं विहारी चित्तणिवाती...	935	375
जरज्जम्बूकमाघ्राय...	1139	460
जलक्रीडाऽन्दोलनादि...	755	315
जलं च मज्जण-पाण...	516	225
जलचर-थलचर...	508	221
जलधन्ननिस्सिया...	1067	435
जस्स इमाओ जातीओ...	380	171
जस्सेते छज्जीवणिकाय...	1023	410
जस्सेते लोगंसि कम्म...	513	224
जस्सेते वणस्सतिसत्थ...	1047	425
जह कोइ तत्तलोहं...	539	239
जह परमण्णस्स विसं...	396	177
जह पव्वदेसु मेरू...	28	9
जह भमर-महुयरगणा...	590	254
जह मम न पियं दुक्खं...	847	343
जह मे इट्ठाणिट्ठे...	843	342
जाइं च बुड्ढिं च विणासयंते...	1078	439
जा जयमाणस्स भवे...	45	54
जाणं करेति एक्को...	174	76
जायतेयं न इच्छंति...	1043	420
जायन्ते भूतयः पुंसां...	574	250
जा य सच्चा अवत्तव्वा...	966	388
जा रागादिनियत्ती...	1007	404
जावंति लोए पाणा...	1094	443
जावइयाइं दुक्खाइं होंति...	249	110
जितात्मानो जयन्ति...	545	241
जियदु व मरदु व जीवो...	934	374
जीवघ्नजीवान्...	749	313
जीवन्तु वा म्रियन्तां...	46	14
जीवन्तु जन्तवः सर्वे...	1158	467
जीववहो अप्पवहो...	204	94
”	1092	442
जीवहिंसादिसंकल्पैः...	180	78
जीवाणमभयदाणं...	595	256
जीविते इह जे पमत्ता...	489	212
जीवियं णाभिकंखेज्जा...	865	351

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
जीवेसु मित्तचिंता...	1149	464
जीवो कसायबहुलो...	37	11
जे इमे सण्णिपंचिंदिया...	524	231
जे इह आरंभणिस्सिया...	282	127
जे गुणे से मूलट्ठाणे...	488	211
जे जहाणामए केइ पुरिसे...	289	130
जेण रागा विरज्जेज्ज...	1159	468
जे ते अप्पमत्तस्स...	817	333
जे पमत्ते गुणट्ठिए...	49	15
जे मायरं च पियरं च...	835	339
जे य अतीता जे य...	313	146
जे यावि भुंजंति...	122	56
जेवऽन्ने एएहिं काएहिं...	145	65
जे वि न वावज्जंती...	41	12
जे वि य इह माणुसत्तणं...	270	123
जेसिं पि य णं...	73	28
जो आरंभं ण कुणदि...	688	286
जो उपरं कंपंतं...	579	251
जो जीवरक्खणपरो...	350	163
जो धम्मत्थो जीवो...	563	247
जो भुंजदि आधाकम्मं...	988	398
जो य पमत्तो पुरिसो...	41	12
जो वावरेइ सदओ...	678	281
जो सहइ उ गामकंटए...	854	345
ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रो...	359	165
ठाणे निसीयणे चेव...	932	374
ण तेसु कुज्झे ण य...	859	347
णत्थि अणूदो अप्पं...	26	9
ण सिण्हायंति तम्हा ते...	1054	429
णिक्खित्तसत्थदंडा...	841	341
णिंदाए य पसंसाए...	845	342
णिरणुकंपा णिरवयक्खा...	471	203
णिसम्मभासी य विणीय...	851	344

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
णिहाय दंडं पाणेहिं...	863	349
तं च इमं-पंच महव्वय...	479	208
तं च भिक्खू जाणेज्जा...	1097	444
तं णो करिस्सामि...	828	337
तं परिगिज्झ दुपयं...	455	197
तं परिण्णाय मेहावी...	829	337
तं पुण करेंति केइ...	509	221
तं भुंजमाणा पिसितं...	121	55
तइयं च वईए पावियाए...	968	389
तए णं ते अन्नउत्थिया...	127	58
”	128	59
तए णं ते थेरा...	129	60
तए णं थावच्चापुत्ते...	7	3
तओ आउपरिक्खीणे...	262	119
तओ से दण्डं समा...	482	210
तक्रय सहकारित्तं...	114	52
तच्चं चेतं तहा चेतं...	316	147
तच्चिन्त्यं तद्‌भाष्यं...	815	333
तणरुक्खं न छिंदेज्जा...	1063	433
तणरुक्खहरिदछेदण...	830	337
ततः प्रादुर्भवत्युच्चैः...	278	126
ततो मनसा वचसा...	682	282
ततो मनोवाग्भ्यां...	683	283
ततो विदुर्विभङ्गात् स्वं...	278	126
ततो से एगदा बिप्परि...	455	197
ततोऽस्याधीतविश्वस्य...	695	289
तत्तु च्चिय मरियव्वं...	116	53
तत्तु च्चिय सो भावो...	116	53
तत्तो तित्थुच्छेओ...	700	292
तत्थ खलु भगवता...	513	224
”	523	229
”	1066	435
तत्थ खलु भगवता छज्जीव...	1024	411

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
तत्थ खलु भगवता परिण्णा...	1036	417
तत्थ णं जे ते समणा...	241	107
,,	342	157
तत्थ पढमं अहिंसा...	328	152
तत्थ पढमं अहिंसा जा...	194	88
तत्थिमं पढमं ठाणं...	317	147
,,	1088	441
तत्पदोपान्तविश्रान्ता...	1138	459
तत्र अहिंसाव्रतमादौ...	356	165
तत्र पक्षो हि जैनानां...	710	298
तत्र प्राणवियोगकरणं...	886	358
तत्राकामकृते शुद्धिः...	710	298
तत्राहिंसा कुतो यत्र...	438	191
तत्रोपतापकः क्रोध...	536	238
तत्सत्यमपि नो वाच्यं...	410	181
तद्वत्कथाप्रीतियुता...	1127	458
तद्वच्च न सरेद्व्यर्थं...	749	313
तध रोसेण सयं...	539	239
तनुरपि यदि लग्ना...	212	96
तत्रास्ति जीवलोके...	366	168
तपःश्रुतयमज्ञान...	360	166
तपःश्रुतयमोद्युक्त...	1163	469
तपोगुणाधिके पुंसि...	1146	463
तपोनुभावादस्यैवं...	1144	462
तपोमयः प्रणीतोऽग्नि...	156	69
तपोयमसमाधीनां...	226	102
तप्पज्ञायविणासो...	704	294
तमाइक्खइ एवं खलु चउहिं...	274	125
तमेव धम्मं दुविहं...	866	353
तम्हा एयं वियाणित्ता...	1025	412
,,	1043	420
,,	1044	421
,,	1058	430
,,	1060	432
,,	1071	437
तम्हा तेण न गच्छेज्जा...	938	375
तम्हा ते न सिणायंति...	1045	421
तम्हा नेव निवित्ती...	700	292
तम्हा विसेसिऊणं...	697	290
तम्हा सव्वेसिं चिय...	186	80
तवो जोई जीवो जीव...	154	68
तसकायं न हिंसंति...	1071	437
तसकायं विहिंसंतो...	1071	437
तसघादं जो ण करेदि...	678	281
तसपाणघायविरई...	697	289
तसपाणे वियाणित्ता...	388	174
तसभूयपाणविरई...	697	290
तसाणं थावराणं च...	1099	445
तसे पाणे न हिंसेज्जा...	1095	443
तस्स इमा पंच भावणाओ...	945	378
तस्स भंते! पडिक्कमामि...	888	359
तस्स य णामाणि इमाणि...	193	86
तस्स य पावस्स...	266	120
तस्सिमाओ पंच भावणाओ...	918	368
तह जाण अहिंसाए...	27	9
तहप्पगारेहिं जणेहिं...	860	347
तहागयं भिक्खुमणंत...	860	347
तहेव काणं काणेत्ति...	948	380
तहेव फरुसा भासा...	948	380
तहेव भत्तपाणेसु...	1041	419
तहेव सावज्जणुमोयणी...	958	383
तहेव हिंसं अलियं...	869	354
ताणि ठाणाणि गच्छंति...	331	153
तालियंटेण पत्तेण...	1058	430
,,	1077	439
तितीर्षति ध्रुवं मूढ...	143	65

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या	उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
तिर्यक्लेशवणिज्या...	739	311	थूलगपाणाइवायं...	97	40
तिलेक्षुसर्षपैरण्ड...	724	304	थूलगस्स पाणाइवाय...	694	287
तिविहे करणे पण्णत्ते...	89	38	थूलपाणिवहस्स...	664	277
तिविहेण वि पाप मा...	1087	441	दंतकेशनखास्थि...	720	303
तिव्वं तसे पाणिणो...	281	127	दट्ठूण पाणिनिवहं...	571	249
तिसिदं बुभुक्खिदं वा...	578	251	दमो देवगुरुपास्ति...	391	175
तिहिं चदुहिं पंचहिं वा...	63	20	दय-भावो विय धम्मो...	150	67
तिहिं ठाणेहिं जीवा...	257	117	दयामूलो भवेद्...	19	7
तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभ...	275	125	दयायाः परिरक्षार्थं...	566	248
तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहा...	338	155	दयावरं धम्म दुगुंछमाणे...	125	57
तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभ...	337	155	दव्वओ खेत्तओ चेव...	926	371
तुंगं न मंदराओ...	30	10	दव्वओ चक्खुसा-पेहे...	926	371
तुमं सि नाम तं चेव...	59	18	दव्वेण भावेण वा...	783	324
तुमं सि णाम तं चेव...	3	1	दसविहपाणाहारो...	595	256
ते अणवकंखमाणा...	827	336	दाणट्ठयाय जे पाणा...	157	69
तेइंदिया णं जीवा...	307	143	दावं चतुर्विधाहारपात्रा...	780	323
ते णं आमोसगा...	1011	406	दानमन्यद् भवेन्मा वा	596	256
तेणिक्कमोससारक्खणेसु...	1115	451	दिवा सूर्यकरैः स्पृष्टं...	924	371
ते नरा पापभारेण...	267	120	दीनान्धकृपणा...	785	324
तेनाधीतं श्रुतं सर्वं...	596	256	दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः...	1146	463
ते पुण करेंति चोरियं...	472	204	दीनेष्वार्तेषु भीतेषु...	1162	469
तेलोक्कजीविदादो...	200	93	दीर्घदर्शी विशेषज्ञः...	707	295
ते वि य दीसंति पायसो...	236	105	दीर्घमायुः परं रूपम्...	372	169
तेषां व्यधिपरिषहमिथ्यात्व...	784	324	दीर्यमाणः कुशेनापि...	208	95
तेसिं अच्छणजोएण...	1021	409	दुःखमुत्पद्यते जन्तो...	216	99
तेसिं चेव वदाणं...	787	325	दुःखमेवेति चाभेदाद्...	914	367
तो समणो जइ सुमणो...	847	343	दुक्खस्स पडिगरेंतो...	485	210
त्यक्तार्तरौद्रध्यानः...	771	320	दुदिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं...	412	182
त्यक्त्वा कार्कश्यपारुष्यं...	953	382	दुर्मन्त्रास्तेऽत्र विज्ञेया...	615	262
त्रसस्थावरकायेषु...	675	280	दुविहं पि विदित्ता...	865	351
त्रसहतिपरिहणार्थं...	656	275	दूयते यस्तृणेनापि...	209	95
थणंति लुप्पति तसंति...	937	375	दृष्ट्वाऽपरं पुरस्ताद्...	113	51
थूलं उरब्भं इह मारियाणं...	121	55	देवगुरूण णिमित्तं...	152	67

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
देवतातिथिपित्रर्थं...	141	64
देवागमयतिव्रातनिन्दके...	1165	470
देवीतुट्ठो राया...	99	41
देवोपहारव्याजेन...	161	71
दैत्यशोकसमुत्रास...	1161	468
दो भंते! पुरिसा सरिसया...	77	31
दोसेहिं तेहिं बहुगं...	485	210
द्यूते हिंसानृतस्तेय...	756	316
द्विचत्वारिंशद्भिक्षा...	975	392
धनलवपिपासितानां...	118	54
धम्मकहाकहणेण...	570	249
धम्मरयणस्स जोगो...	708	297
धम्मस्स य पारगे...	1085	441
धम्मो मंगलमुक्किट्ठं...	330	153
धर्मः प्राणिदया...	17	6
,,	21	7
धर्मद्रुहश्च ये नित्यम्...	267	120
धर्मबुद्ध्याऽधमैः पापं...	146	66
धर्ममहिंसारूपं...	679	281
धर्मस्य तस्य लिङ्गानि...	19	7
धर्मस्य दया मूलं...	565	247
धर्मो मंगलमुत्कृष्टं...	329	153
धर्मो हि देवताभ्यः...	136	63
नक्खत्तं सुमिणं जोगं...	957	383
न चेदयं मां दुरितैः...	555	244
न धर्मो निर्दयस्यास्ति...	636	269
न बाहिरं परिभवे...	1100	445
न यत् प्रमादयोगेन...	883	357
न य तस्स तन्निमित्तो...	82	35
न य सइ तसभावंमि...	699	292
न य हिंसामेत्तेणं...	83	35
नवनीतवसाक्षौद्र...	722	303
न विना प्राणिविघातात्...	638	270
न वीतरागात् परमस्ति...	613	262
न सत्यमपि भाषेत...	409	181
न सयं गिहाइं कुज्जा...	1098	445
न हि महिषास्रपान...	162	71
न हु पाणवहं...	819	334
नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां...	635	269
नागरगंमि वि गामाइ...	698	291
नानायोनिगतेष्वेषु...	1157	467
नाप्रेक्ष्य सूक्ष्मजन्तूनि...	796	327
नारंभेण दयालुता...	568	248
नासावेधोंकनं मुष्क...	725	304
निक्षेपणं यदादानम्...	1000	402
निपतन् मत्तमातंग...	503	218
नियकयकम्मुवभोगे वि...	115	52
निरर्थिकां न कुर्वीत...	680	281
निर्दयेन हि किं तेन...	602	258
निर्मातुं क्रूरकर्माणः...	208	95
निर्वाणसाधनं यत्...	615	262
निव्वेएणं दिव्वमाणुस...	480	209
निव्वेएणं भन्ते जीवे...	480	209
निस्त्रिंश एव निस्त्रिंशं...	229	102
निःस्पृहत्वं महत्त्वं च...	227	102
नीयन्तेऽत्र कषायाः...	812	332
नैवं वासरभुक्तेः...	794	327
न्यायसम्पन्नविभवः...	707	295
पंगु-कुष्टि-कुणित्वादि...	244	109
पंच अणुव्वयाइं, तं जहा...	669	278
पंच उ अणुव्वयाइं...	664	277
पंच दंडा पण्णत्ता...	93	39
पंचमं आयाणणिक्खेव...	997	401
पंच महव्वया पण्णत्ता...	875	355
पंचमहव्वयसुव्वयमूलं...	479	208
पंचविहो पण्णत्तो, जिणेहि...	246	110

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
पंचहि ठाणेहिं जीवा...	276	125
,,	339	156
,,	499	216
पंचाणुव्वया पण्णत्ता...	666	277
पंचिंदिया णं जीवा...	305	142
,,	306	143
पंचिन्दिया णं जीवा असमारभ...	351	163
,,	352	164
पंचेव अणुव्वयाइं...	663	276
पइण्णवाई दुहिले...	385	173
पच्चक्खायंमि इहं...	697	289
पञ्चानां पापानाम्...	774	321
,,	874	355
पडिलेहणं कुणन्तो...	1032	415
पढमे दंडसमादाणे...	290	131
पढमं भंते महव्वयं...	889	359
पढमं होइ अहिंसा...	346	161
पढमे भंते! महव्वए...	888	358
पन्ने अभिभूय सव्व...	850	344
पभू दोसे णिराकिच्चा...	1081	440
पयई व कम्माणं...	542	240
पयण-पयावण-जलावण...	518	226
पयस्यगाधे विचरन्...	503	218
पयस्विन्या यथा क्षीरम्...	459	199
परं हन्मीति संध्यातं...	56	17
परदव्वहरणमेदं...	468	202
परद्रव्यग्रहार्तस्य...	467	202
परपरितावपवादो...	233	103
परपीडेह सूक्ष्माऽपि...	820	334
परमाणोः परं नाल्पं...	370	169
परशुकृपाणखनित्र...	750	314
परसंतावयकारण...	950	381
परस्स दाराओ जे...	478	208
परार्थसाधकं त्वेतत्...	1130	457
परिग्गहस्सेव य अट्ठाए...	445	193
परिग्गहो अपरिमिय...	453	196
परिग्रहः षड्जीवनिकाय...	893	360
परिग्रहस्य च त्यागे...	444	193
परिधय इव नगराणि...	728	305
परिसुद्धजलग्गहणं...	706	295
परुसं कडुयं वयणं...	418	184
पवडंते व से तत्थ...	940	376
पशुपाल्यं ततः प्रोक्तं...	711	299
पशुहत्यासमारम्भात्...	190	82
पाईणं पडिणं वा वि...	1043	420
पागब्भि पाणे बहुणं...	283	128
पाणवधमुसावादा...	672	279
पाणवहो णाम एसो...	192	83
पाणाइवायवेरमण...	945	378
पाणातिवातकिरिया...	61	19
पाणा देहं विहिंसंति...	865	351
पाणिवह=प्राणिवधः...	79	33
पाणिवह मुसावादं...	78	32
,,	879	356
पाणिवहेहि महाजस...	595	256
पाणे य नाइवाएज्जा...	839	340
,,	1029	414
पाणो वि पाडिहेरं...	684	284
पादोसिय अधिकरणिय...	62	19
पादोसिया णं भंते...	64	21
पापवत्स्वपि चात्यन्तं...	547	248
पापविसोत्तिग परिणामवज्जणं...	709	297
पापोपदेश आदिष्टो...	735	309
पापोपदेशहिंसादान...	733	308
पारितावणिया णं भंते...	67	22
पार्थिवैर्दण्डनीयाश्च...	190	82

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
पावं खमइ असेसं...	546	241
पासम्मि बहिणिमायं...	533	238
पिण्डशुद्धिविधानेन...	980	395
पिण्णागपिंडीमवि...	119	54
पिप्पलोदुम्बरप्लक्ष...	661	276
पीड़ा पापोपदेशाद्यैः...	734	309
पीते यत्र रसाङ्गजीव...	627	266
पुट्ठा वा अपुट्ठा वा...	432	188
पुढविं च आउकायं...	862	348
पुढविं न खणे, न...	1033	415
पुढविं भित्तिं सिलं...	1021	409
पुढविदगअगणिमारुय...	1021	409
पुढविदगागणिपवणे...	1065	434
पुढवी आऊ अगणी...	1030	414
पुढवी-आउक्काए...	1028	413
,,	1032	415
पुढविकायं न हिंसंति...	1025	412
पुढविकायं विहिंसंतो...	1025	412
पुढवीजीवा पुढो सत्ता...	1020	409
पुढवी व आऊ अगणी य...	1022	410
पुढवीय समारंभं...	831	338
पुढवी वि जीवा आऊ वि...	1034	415
पुण्यास्रवं सा त्रिविधा...	580	252
पुत्तं पि ता समारंभ...	991	399
पुराणं धर्मशास्त्रं च...	600	258
पुरिसं व विद्धूण...	119	54
पुरिसे णं भंते! अन्नयरं...	169	74
पुरिसे णं भंते! आसं...	167	73
पुरिसे णं भंते! इसिं...	171	74
पुरिसेणं णं भंते कच्छंसि...	69	24
,,	70	25
,,	71	26
पुरिसे णं भंते धणुं...	72	27
पुरिसे णं भंते पुरिसं...	68	23
,,	165	72
पुरिसे त्ति विण्णत्ति...	120	55
पुष्करैः पुष्करोदस्तैः...	1140	460
पुंस्कोकिलकलालाप...	1143	462
पूज्यनिमित्तं घाते...	158	70
पेसुण्णहासकक्कस...	949	381
पेस्सपसुणिमित्तं...	269	122
प्रकृत्या मधुमांसादि...	235	154
प्रकृष्टतरदुर्लेश्या...	1103	447
प्रमत्तयोगात् प्राण...	40	12
प्रमत्तो हिंसको हिंस्या...	42	13
प्रमादः सकषायत्वं...	33	9
प्रविधाय सुप्रसिद्धै...	761	318
प्रागेव फलति हिंसा...	179	77
प्राणव्यपरोपणादौ...	90	38
प्राणातिपातवितथ...	668	278
प्राणात्ययेऽपि संपन्ने...	558	245
प्राणिहिंसार्पितं दर्पम्...	641	270
प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः...	1102	447
प्राणिनो दुःखहेतुत्वाद्...	38	12
प्राणिपीड़ापरिहारार्थं...	894	361
प्राणी प्राणातिलोभेन...	203	94
प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं...	964	386
फणमात्रोद्गता रन्ध्रात्...	1141	461
फासाणुगासाणुगए...	498	216
बंधवहछविच्छेए...	693	287
बलिभिर्दुर्बलस्यात्र...	239	107
बहुं सुणेइ कण्णेहिं...	961	384
बहुतस-समण्णिदं जं...	648	272
बहुदुःखासंज्ञपिताः...	107	48
बहुदुक्खा हु जंतवो...	496	215
बहुसत्त्वघातजनिताद्...	105	48

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या	उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
बह्वारम्भपरिग्रहत्वं...	456	198	मज्जार-पहुदि-धरणं...	746	313
बाला य बुड्ढा य...	588	254	मज्झत्थो णिज्जरापेही...	865	351
बाह्येषु दशसु वस्तुषु...	805	330	मणवयणकायमंगुल...	78	32
[बिइयं] कोहो ण सेवियव्वो...	855	345	मणसा जे पउस्संति...	991	399
बिइयं च मणेण...	946	379	मणसा वयसा चेव...	234	104
बेइंदिया णं जीवा...	301	141	मणुस्सेसु पगइभद्दयाए...	236	155
,,	304	142	मदेर्ष्यासूयनादि स्यात्...	54	16
भक्षयन् माक्षिकं क्षुद्र...	621	265	मद्यं मांसं क्षौद्रं...	623	265
भगवं च णं उदाहु...	100	42	मद्यं मोहयति मनो...	624	265
भजन्ति जन्तवो मैत्र्यम्...	1132	458	मद्यैकबिन्दुसम्पन्ना...	622	265
भयलज्जालाहादो...	153	67	मधुकृद्व्रातघातोत्थं...	649	273
भयवेपितसर्वाङ्गान्...	211	96	मधुनोऽपि हि माधुर्यं...	645	272
भरहेरवएसु णं वासेसु...	310	144	मधुमांसपरित्याग...	695	289
भवन्त्यतिप्रसन्नानि...	1134	458	मधुशकलमपि प्रायो...	646	272
भावंमि उ पव्वज्जा...	836	339	मनःशुद्ध्यैव कर्तव्यो...	1122	454
भावे अ असंजमो...	302	141	मनोगुप्त्येषणादानेर्या...	900	362
भाषेत वचनं नित्यम्	424	186	ममेदमितिसंकल्पोपनीत...	891	360
भासमाणो ण भासेज्जा...	971	390	ममेदमितिहि सति संकल्पे...	441	192
भासाए दोसे य गुणे...	960	384	मया संता पुणो...	474	206
भिक्खुं च खलु अपुट्ठा...	856	346	मरणान्तेऽवश्यमहं...	807	330
भिक्षौषधोपकरण...	781	323	मरणार्तेषु भूतेषु...	1161	468
भूखननवृक्षमोट्टन...	743	312	मरणेऽवश्यंभाविनि...	813.	332
भूतहितं ति...	6	2	मरदु व जियदु व जीवो...	933	374
भूताभिसंकाए दुगुंछमाणा...	124	56	मर्मच्छेदि मनःशल्यं...	421	185
भूतेसु ण विरुज्झेज्जा...	1083	440	मलबीजं मलयोनिं...	802	329
भूदेसु दयावण्णे...	575	250	महप्पसाया इसिणो...	824	335
भूयाइं समारंभ साधू...	985	396	महाणुव्रतयुक्तानां...	911	365
भूयाणमेसमाघाओ...	1043	420	महाध्वरपतिर्देवो...	156	69
भोगोपभोगमूला...	762	318	महामतिभिर्निष्ठ्यूतं...	434	190
भोगोपभोगहेतोः...	764	319	महाव्रतं भवेत् कृत्स्न...	670	278
मंदपगारे देसे...	84	36	महाव्रतानि साधूनाम्...	877	356
मंसाणि छिण्णपुव्वाइं...	864	350	महिम्ना शमिनः शान्त...	1143	462
मक्षिकामुखनिष्ठ्यूतं...	650	273	मुहुत्तदुक्खा हु हवंति...	962	385

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
मांसमद्यमधुद्यूतक्षीरि...	660	276
मांसमद्यमधुद्यूतवेश्या...	659	275
मांसादिषु दया नास्ति...	633	268
मांसास्वादनलुब्धस्य...	632	268
माइणो कट्टु मायाओ...	234	104
मा कडुयं भणह जणे...	413	183
मा कार्षीत् कोऽपि पापानि...	1160	468
मातेव सर्वभूतानाम्...	371	169
माध्यस्थ्यलक्षणं प्राहु...	846	342
मारणसीलो कुणदि हु...	250	111
मारेदि एयमवि जो...	205	94
मिगवहपरिणामगओ...	87	37
मिच्छादंसणरत्ता...	238	107
मिथ्यात्ववेदरागाः	451	196
मिथ्यादर्शनमात्मस्थं...	218	99
मिथ्यादृष्टिभिराम्नातो...	607	260
मीना मृत्युं प्रयाता...	500	217
मुत्ताण कम्मबंधो...	134	62
मुसावाओ अ लोगम्मि...	969	390
मूलफलशाकशाखा...	800	328
मृते वा जीविते वा...	39	12
मेधां पिपीलिकां हन्ति...	791	326
मेहावी णेव सयं छज्जीव...	1023	410
मेहुणमूलं य सुव्वए...	477	207
मेहुणसण्णासंपगिद्धा...	478	208
मैत्रीप्रमोदकारुण्य...	1145	462
,,	1147	463
,,	1150	465
,,	1156	467
मैत्र्यादिवासितं चेतः...	1153	466
मौनमेव हितं पुंसां...	1015	407
म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि...	207	95
यंत्रपीडा-निर्लांछन...	716	302

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
यंत्रलांगल-शस्त्राग्नि...	748	313
यतीनां श्रावकाणां च...	357	165
यत्किंचित्संसारे...	319	148
यत्खलु कषाययोगात्...	34	11
यज्जन्तुवधसंजात...	240	107
यत्परदारार्थादिषु...	9	4
यत्स्यात्प्रमादयोगेन...	32	10
यथा यथा हृदि स्थैर्यं...	364	167
यथावदतिथौ साधौ...	707	296
यदपि किल भवति मांसं...	639	270
यदि प्रशमसीमानं...	556	244
यदि वाक्कण्टकैर्विद्धो...	554	243
यदेकबिन्दोः प्रचरन्ति...	626	266
यद्यत्स्वस्यानिष्टं...	705	295
यद्येवं तर्हि दिशा...	794	327
यद्रागद्वेषमोहेभ्यः...	947	380
यन्मया वंचितो लोको...	277	126
यस्मात् सकषायः सन्...	58	17
यानि तु पुनर्भवेयु...	658	275
युक्ताचरणस्य सतो...	44	13
ये च मिथ्यादृशः क्रूरा...	267	120
येषां जिनोपदेशेन...	572	249
ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्रादि...	612	261
योनिरुदुम्बरयुग्मं...	657	275
यो हि कषायाविष्टः...	812	332
रक्षा भवति बहूनाम्...	106	48
रसजानां च बहूनां...	625	266
रागद्वेषत्यागात्...	770	320
रागद्वेषनिवृत्ते...	12	5
रागद्वेषमोहाविष्टस्य...	813	332
रागादिवर्द्धनानां...	752	314
रागादीनामनुत्पत्तौ...	809	331
रागदोसाभिभूयप्पा...	387	174

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या	उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
रागादीण...	11	5	वधकान् पोषयित्वाऽन्य..	267	120
रागाद्युदयपरत्वाद्...	793	326	बधवन्धच्छेदादेः...	738	311
रागो दोसो मोहो...	492	213	वधबंधरोधधणहरण...	247	110
रात्रौ भुञ्जानानां...	786	324	वधबन्धाभिसंधान...	1103	447
रात्रौ भ्रमणे षड्जीव...	1079	439	वने निरपराधानां...	206	94
रात्रौ यदि भिक्षार्थं...	795	327	वयगुत्ती मणगुत्ती...	915	367
राया सड्ढो वाणिया...	99	41	वरमेकाक्षरं ग्राह्यं...	601	258
रुट्ठो परं वधित्ता...	199	92	वशात् स्पर्शसुखास्वाद...	503	218
रुद्दस्स णं झाणस्स...	1107	449	वश्याकर्षणविद्वेषं...	225	101
रुवाणुगासाणुगए...	497	216	वसुधम्मि य विहरंता...	822	335
रेजुर्वनलता नम्रैः...	1141	461	वहणं तस-थावराण होइ...	1073	437
रोइय नायपुत्तवयणं...	849	343	वहमाणो ते नियमा...	135	62
रोगमार्गश्रमौ मुक्त्वा...	755	315	वाक्कायचित्तजानेक...	905	364
रोगेण वा छुधाए...	581	252	वाक्चित्ततनुभिर्यत्र...	885	358
रोद्दे झाणे चउव्विहे...	1101	446	वासावासं पज्जोसवियाणं...	956	382
,,	1104	448,	वाहिओ वा अरोगी वा...	1045	421
रौरवादिषु घोरेषु...	279	127	विअट्ठितेणं समयाणु...	859	347
लज्जमाणा पुढो पास...	1035	416	विउलबलपरिग्गहा व...	470	203
,,	1037	417	विकथाक्षकषायाणां...	32	10
,,	1046	422	वित्तमेव मतं सूत्रे...	460	200
,,	1048	426	वितहं पि तहामुत्तिं...	966	388
,,	1059	431	विद्यावाणिज्यमषी...	741	311
,,	1064	434	विद्वत्त्वं सच्चरित्रत्वं...	382	172
लज्जालुओ दयालू...	708	297	विधिना दातृगुणवता...	782	323
लाक्षामनःशिलानीली...	721	303	विपक्षचिन्तारहितं...	1129	459
लाढेहिं तस्सुवसग्गा...	863	349	विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्...	1004	403
लोकद्वयहितं मत्वा...	379	171	विमुक्तकल्पनाजालं...	1006	404
लोकातिवाहिते मार्गे...	925	371	विरई अणत्थदंडे...	731	307
लोगं च आणाए...	592	255	विरतिः स्थूलवधादे...	671	279
वइज्ज बुद्धे हिय...	425	186	विरतिः स्थूलहिंसादे...	665	277
वणस्सइं न हिंसंति...	1060	432	विरतो पुण जो णाणं...	47	14
वणस्सइं विहिंसंतो...	1060	432	विरया वीरा समुट्ठिया...	363	167
वदसमिदिपालणाए...	896	361	विरोधिनोऽप्यमी मुक्त...	1138	459

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
विलग्नश्च गले बालः...	791	326
विवत्ती बंभचेरस्स...	987	398
विवेकः संयमो ज्ञानं...	620	264
विषकण्टकशस्त्राग्नि...	732	308
विषास्त्रहलयन्त्रायो...	723	304
विश्वरतो मुग्धधीर्लोक...	608	260
विश्वेश्वरादयो ज्ञेया...	615	262
विसप्पे सव्वओ धारे...	1068	435
विसयविसउदीरएसु...	478	208
विहरन्तो अहीं कृत्स्नां...	823	335
विहलो जो वावारो...	744	312
विहाय धर्मं शमशील...	140	64
वीतरागो विमुच्येत...	1123	454
वुड्ढाणुरागो विणीओ...	708	297
वृक्षादिच्छेदनं भूमि...	735	309
वृषभान् दमय, क्षेत्रं...	742	312
वेज्जावच्चणिमित्तं...	582	253
वेराइं कुव्वती वेरी...	234	104
वैरिघातो नरेन्द्रत्वं...	737	310
व्ययमायोचितं कुर्वन्	707	295
व्यलीकभाषणेन दुःखं...	890	360
व्यलीकात् परुषादात्म...	1008	404
व्यसनात् पुण्यबुद्ध्या वा...	727	305
व्यापारवैमनस्याद्...	769	320
व्यामोहात्सुलसाप्रियस्स...	189	82
व्युत्थानावस्थायां...	58	17
व्रतानां प्रत्यनीका ये...	871	354
शकटानां तदंगानां...	714	300
शकटोक्षलुलायोष्ट्र...	718	302
शतावरीविरूढानि...	654	274
शमशीलदयामूलं...	610	260
शमाम्बुभिः क्रोधशिखी...	550	242
शयनासन-निक्षेपादान...	1003	403
शरीरान्तर्मलत्यागः...	1001	402
शरीरेण सुगुप्तेन...	243	109
शश्वद्विकासिकुसुमै...	1142	461
शान्तस्वनैर्नदन्ति स्म...	1144	462
शान्त्यर्थं देवपूजार्थं...	142	65
शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा...	1131	457
शाम्यन्ति योगिभिः कूरा...	1133	458
शीलं वदं गुणो वा...	232	103
शुद्धमार्गमतोद्योगः...	46	14
शुभपरिणामसमन्वितस्यापि...	86	36
शूलचक्रासिकोदण्डैः...	617	263
शोकं भयमवसादं...	810	331
श्रुतं सुविहितं वेदो...	600	258
श्रुते दृष्टे स्मृते...	1119	453
श्रूयते प्रणिघातेन...	273	124
श्रूयते सर्वशास्त्रेषु...	367	168
संकल्पाच्छालिमत्स्यो...	181	78
संकल्पात् कृतकारित...	676	280
संगणिमित्तं कुद्धो...	454	197
संगणिमित्तं मारेइ...	446	194
संगात् कामस्ततः क्रोधः...	440	192
,,	535	238
संज्ञादिपरिहारेण...	1005	404
संतानघातिनः पुंसः...	288	129
संतिमा तहिया भासा...	972	391
संतिमे सुहुमा पाणा...	1015	407
,,	1045	421
संतिविरतिं उवसमं...	381	171
संधिं लोगस्स जाणित्ता...	842	341
संबुज्झमाणे उ णरे...	1017	408
संयुक्ताधिकरणत्वम्...	759	317
संरम्भ-समारम्भे...	907	364
,,	908	365

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
”	932	374
संरम्भादित्रिकं योगैः	80	34
संरम्भो संकप्पो...	91	38
संवच्छरेणावि य एग...	126	57
संसज्जीवसंघातं...	799	328
संसप्पगा य जे पाणा...	865	351
संसारमूलमारम्भा...	457	199
स एव प्रशमः श्लाघ्य...	543	240
सकलजलधिवेला...	201	93
सग्रन्थारम्भहिंसानां...	618	263
सच्चं अराच्चमोसं...	952	381
सच्चं वि य संजमस्स...	411	181
सच्चवयणं अहिंसा...	878	356
सचित्ता पुण गंथा...	448	194
सज्झणपरियणस्स य...	433	189
सण्णागारवपेसुण्ण...	452	196
सततारम्भयौगैश्च...	231	103
सति पाणातिवाए...	43	13
सत्तविहे आरंभे...	92	38
सत्तहिं ठाणेहिं केवली...	861	348
सत्ते सत्तपरिवज्जिया...	520	227
सत्तेसु ताव मेत्तिं...	1151	465
सत्यं शौचं क्षमा...	569	248
सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु...	974	391
सत्थग्गहणं विसभक्खणं...	111	51
सत्थमेगे सुसिक्खंति...	234	104
सदर्थमसदर्थं च...	397	177
सदा सच्चेण संपण्णे...	1086	441
सदेव मणुयासरम्मि...	445	193
सद्यः सम्मूर्च्छिम...	628	267
सन्तोषपोषतो यः स्याद्...	677	280
सन्तो हि हित...	429	187
सत्यादयुत्तरनिःशेष...	361	166
सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य...	577	250
समञ्जसत्वमस्येष्टं...	458	199
समया सवभूएसु...	848	343
समावयंता वयणाभिघाया...	853	344
समिदिदिढणावमारुहिय...	898	362
समुत्पद्य विपद्येह...	622	265
सप्तद्वीपवतीं धात्रीं...	202	93
सप्पवहाभावंमि वि...	84	36
सम्मं मे सव्वभूदेसु...	844	342
सम्मद्दमाणे पाणाणि...	832	338
सम्यक्कायकषायाणां...	809	331
सम्यग्गमनागमनं...	902	363
सम्यग्दण्डो वपुषः...	904	364
सयं तिवाए पाणे...	442	192
सरःकूपादिखनन...	719	303
सरागोऽपि हि देवश्चेत्...	609	260
सर्वजीवदया हि यतेः...	816	333
सर्वत्र शमसारं तु...	1128	456
सर्वमेधमये धर्मे...	191	83
सर्वलोकप्रिये तथ्ये...	419	184
सर्ववस्तुषु समतापरिणाम...	1152	466
सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्...	394	176
सर्वानर्थप्रथमं मथनं...	757	316
सर्वानुपदिदेशासौ...	711	299
सर्वे जीवदयाधारा...	362	166
सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैः...	599	257
सर्षपपूर्णायां नाल्यां...	892	360
सवसा हणंति, अवसा...	520	227
सवायं उदए पेढालपुत्ते...	101	43
सवायं भगवं गोयमे...	102	43
सव्वजोणिया वि खलु...	525	234
सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं...	308	144
”	353	164

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
सव्ववहसमत्थेणं...	700	292
सव्वसत्ताण अहिंसादि...	377	170
सव्वाओ वि नईओ...	24	8
सव्वांरभणियता जुत्ता...	837	340
सव्वारंभ-परिग्गह...	5	2
सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं...	1020	409
सव्वे जीवा वि इच्छंति...	814	333
,,	2	1
सव्वे पाणा पियाउया...	1	1
सव्वे वि कोहदोसा माणा...	528	236
सव्वे वि गंथदोषा...	532	237
सव्वे वि य संबंधा...	198	92
सव्वेसि जीवाण दयट्ठयाए...	123	56
सव्वेसिमासमाणं...	29	9
सव्वेसु णं महाविदेहेसु...	312	145
सव्वो वि जहायारे...	25	8
स संयमस्य वृद्ध्यर्थम्...	781	323
स सुखं सेवमानोऽपि...	321	150
साइयं न मुसं बूया...	415	183
सा क्रिया कापि नास्तीह...	173	75
सागारश्चानगारश्च...	868	353
सामयिकं प्रतिदिवसं...	767	319
सामयिके सारम्भा...	772	321
सामायिकसंस्कारं...	773	321
सा मिथ्याऽपि न...	408	181
साम्यमेव परं ध्यानं...	1124	455
सायं गवेसमाणा...	493	213
सायावेयणिज्जकम्मा...	340	156
सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति...	1137	459
सारिकाशुकमार्जार...	726	305
सिक्थमत्स्यः किलैकोऽसौ...	1109	449
सिया तत्थ एकयरं...	495	214
सीओदगं न सेवेज्जा...	1055	429

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
सीओदगसमारंभे...	1056	429
सीहवहरक्खिओ सो...	702	293
सुदुर्लभं मानुषजन्म...	580	251
सुद्धपुढवीए न निसिए...	1021	409
सुप्प-वियण-तालयंट...	514	224
सुयं वा जइ वा दिट्ठं...	961	384
सुयणो न कुप्पइ च्चिय...	561	246
सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं...	155	68
सुहुमा संति पाणा...	1054	429
सुहुमाहु संति पाणा...	992	399
सूक्ष्मापि न खलु हिंसा...	10	4
सूक्ष्मो भगवद्धर्मो...	138	63
सूनृतं करुणाक्रान्तम्...	407	180
सूरो संगामसीसे वा...	864	350
से अणासादए...	1093	443
से अण्णवहाए अण्ण...	521	228
से आतबले से णातबले...	494	214
से उद्दिएसु वा अणुद्दिएसु...	386	173
से एगतिओ आयहेउं वा...	252	111
से एगतिओ उरब्भियभावं...	253	113
से एगतिओ गोपालगभावं...	254	115
से किं ते बालमरणे...	110	50
से केणट्ठेणं? अट्ठो...	168	73
से केणट्ठेणं भंते! एवं...	76	30
,,	104	46
,,	166	73
,,	170	74
,,	172	75
से गिहेसु वा गिहंतरेसु...	852	344
से गामे वा नगरे...	939	376
से जहाणामए केइ पुरिसे...	291	132
से जहा वा केइ पुरिसे...	293	134
से ण छणे, न छणावए...	821	334

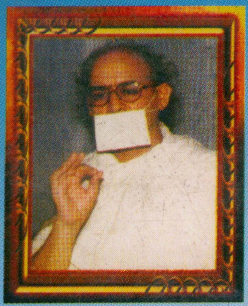
उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या	उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
से तं जाणहि जमहं...	517	225	स्निह्यन्ति जन्तवो नित्यं...	1135	458
से त्तं संबुज्झमाणे...	1053	428	स्नेहं वैरं सङ्गं...	811	331
से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं...	1039	419	स्यादारेका च षट्कर्म...	710	298
से नूणं भंते सव्वपाणेहिं...	103	45	स्यान्निरामिषभोजित्वं...	611	261
से बेमि-अप्पेगे अंधमब्भे...	1038	418	स्वकीयं जीवितं यद्वत्...	195	91
से बेमि- अप्पेगे अच्चाए...	512	223	स्वपरहितमेष मुनिभिः...	1012	406
से बेमि- इमं पि जाति...	1052	427	स्वपुत्रपौत्रसन्तानं...	210	95
से बेमि- जे य अतीता...	311	145	स्वभावादार्जवोपेता...	235	154
से भिक्खू जं पुण...	984	396	स्वभावाशुचि दुर्गन्ध...	634	269
से भिक्खू जे इमे तस...	1084	440	स्वयं परेण वा ज्ञातं...	652	273
से भिक्खू वा इत्थी...	965	387	स्वयमेव विगलितं यो...	647	272
से भिक्खू वा इमाइं...	963	385	स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं...	57	17
से भिक्खू वा गामाणुगामं...	942	376	स्वर्गायाव्रतिनोऽपि...	584	253
,,	944	378	स्वान्यायोरप्यनालोक्य...	219	99
,,	1010	405	स्वामिगुरुबन्धुवृद्धान्...	530	237
,,	1061	432	हंता पलस्य विक्रेता...	631	268
से भिक्खू वा जाय भासा...	965	386	हंतूण जीवरासिं महु...	251	111
से भिक्खू वा जाव समाणे...	976	392	हंतूण य बहुयाणं...	818	334
,,	977	393	हओ न संजले भिक्खू...	548	242
से भिक्खू वा पुमं...	965	386	हतपुव्वो तत्थ डंडेणं...	864	350
से वेमि... संति मे तसा...	1062	433	हते निष्पीपिडते ध्वस्ते...	1106	448
सेवाकृषिवाणिज्य...	804	329	हम्ममाणो ण कुप्पेज्ञा...	858	346
से हु पन्नाणमंते...	389	174	हरिणो हरिणीं गीति...	503	218
सोऊण वा गिलाणं...	589	254	हरियाणि भूयाणि...	1076	438
सोच्चाणं फरुसा भासा...	1014	407	हासभयलोहकोह...	418	184
सोऽथावश्यकयोगानां...	806	330	हासेण वि मा भण्ण...	414	183
सौख्यार्थे दुःखसन्तानं...	137	63	हास्यलोभभयक्रोध	970	390
सौजन्यस्य परा कोटि...	573	249	हिदमिदवयणं...	685	285
सौमुख्यं लोकविज्ञानं...	382	172	हिंसं अलियं चोज्ज...	540	240
स्तोकैकेन्द्रियघाताद्...	681	281	हिंसंति व भमर-महुकरि...	510	222
स्थूलहिंसानृतस्तेय...	687	285	हिंसनं साहसं द्रोहः...	538	239
स्नानमनेकप्रकारम्...	834	339	हिंसनाब्रह्मचौर्यादि...	53	16
स्नानेन उष्णोदकेन...	1054	429	हिंसाए पडिवक्खो...	14	5

उद्धरण का प्रारम्भिक अंश	उद्धरण संख्या	पृष्ठ संख्या
हिंसाकर्मणि कौशलं...	1110	450
हिंसाणंदेण जुदो...	1113	451
हिंसादयो दुःखमेवेति...	913	366
हिंसादानं विषास्त्रादि...	751	314
हिंसादिएहिं पंचहि...	220	100
हिंसादिदुवाराणि वि...	872	354
हिंसादिष्विह चामुष्मिन्...	912	366
हिंसादिदोरामगरादि...	197	92
हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीर...	1002	403
हिंसादिभ्यो यथाशक्ति...	325	151
हिंसादीन्युक्तलक्षणानि...	1114	451
हिंसादेर्देशतो मुक्ति...	662	276
हिंसादो अविरमणं...	33	10
हिंसानन्दं समाधाय...	1112	451
हिंसानन्दमृषानन्द...	1102	447
हिंसानन्दान्मृषानन्दात्...	1105	448
हिंसानृतचौर्येभ्यो...	667	278
हिंसानृतपरादत्त...	322	151
हिंसानृतवचश्चौर्या...	876	355
हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा...	435	190
हिंसा पावं ति मदो...	149	66
हिंसाप्रधानशास्त्राद् वा...	604	259
हिंसा प्राणिषु कल्मषं...	242	109
हिंसाफलमपरस्य तु...	178	77
हिंसा विघ्नाय जायेत...	159	70
हिंसायां निरता ये...	267	120
हिंसायामनृते चौर्याम्...	259	118
हिंसायामनृते स्तेये...	873	354
हिंसाया अविरमणं...	35	11
हिंसायाः पर्यायो लोभो...	776	322
हिंसायाः स्तेयस्य च...	465	201
हिंसारम्भो ण सुहो...	148	66
हिंसारागादिसंवर्धि...	732	308
हिंसावयणं ण वयदि...	685	285
हिंसाविरइ अहिंसा...	882	357
हिंसाविरदी सच्चं...	880	356
हिंसास्तेयानृताब्रह्म...	280	127
हिंसे बाले मुसावाई...	261	118
हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं...	265	119
हिंसैव नरकं घोरं...	264	119
हिंसैव नरकागार...	263	119
हिंसोपकरणादानं...	1121	453
हिंस्रः स्वयं मृतस्यापि...	640	270
हेतौ प्रमत्तयोगे...	430	187
होलावायं सहीवायं...	973	391
हृन्नाभिपद्मसंकोचः...	798	328

शब्दों और अंकों में : लेखक

शुभ नाम	: गुरुदेव श्री सुभद्र मुनि जी महाराज
जन्म	: 12 अगस्त 1951
स्थान	: ग्राम रिण्ढाणा (हरियाणा)
पिता	: धर्मनिष्ठ श्री रामस्वरूप जैन वर्मा
माता	: श्रीमती महादेवी जैन वर्मा
वैराग्य	: 9 वर्ष की वय में
बाबा गुरुदेव	: योगराज श्री रामजी लाल जी महाराज
पूज्य गुरुदेव	: संघशास्ता श्री रामकृष्ण जी महाराज
मुनि-दीक्षा	: 16 फ़रवरी 1964
दीक्षा-स्थान	: विविध भाषाविद्, आगम, निगम, पुराण, व्याकरण, काव्य, ज्योतिष, मन्त्र एवं विविध धर्म दर्शनों का गहन अध्ययन।
सृजन	: विविध विषयों पर शताविक पुस्तकें
पत्रिका	: श्री सम्बोधि।
शिष्य	: श्री रमेश मुनि, श्री अरुण मुनि, श्री नरेन्द्र मुनि, श्री अमित मुनि, श्री हरि मुनि, श्री प्रेम मुनि।
प्रशिष्य	: श्री अरविन्द मुनि
पद एवं बहुमान	: संघशास्ता, विद्यावाचस्पति, विद्या-सागर (डी.लिट्), जैन रत्न, युवा मनीषी।
विचरण	: पंजाब, हिमाचल, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश।
सम्प्रति	: साहित्य सृजन, बाल संस्कार निर्माण, जन-जागरण एवं जीवन-मूल्यों की स्थापना।
व्यक्तित्व	: आत्म-साधना, व्याख्याता, लेखन।

Rs. 1800.00



विद्यावाचस्पति गुरुदेव
श्री सुभद्रमुनि जी म०

कृति और कृतिकार

'दर्शन और जीवन' परिचय-पंक्ति में अंकित नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार कृति के सर्जक भी परिचय-पंक्ति की रेखाओं से ऊपर हैं। उनके द्वारा रचित अनेक ठोस व चिंतन-प्रधान ग्रन्थ देख कर यह स्वतः प्रामाणित होता है कि वे दार्शनिक मुनि हैं। जीवन के व्याख्याता हैं। मुनित्व उनकी सांसे हैं। दर्शन, जीवन और मुनित्व की सम्पूर्ण व्याख्या का जो स्वरूप बनता है तो यह है–श्री सुभद्र मुनि।

इनकी दृष्टि परम उदार है, साथ ही सत्यान्वेषक भी। सत्यान्वेषण करते हुए इनकी दृष्टि में पर, पर नहीं होता। स्व, स्व नहीं होता। स्व-पर का परिबोध नष्ट हो जाना ही मुनित्व का मूलमंत्र है। स्व और पर युगपद हैं। 'पर' रहा तो 'स्व' अस्त्वि में रहता है। 'स्व' रहेगा, तब तक 'पर' मिट नहीं सकता। दर्शन जितना गूढ, जीवन-सा सरस और मुनित्व के आनन्द में रचा है, इनका व्यक्तित्व। यह व्यक्तित्व जितना आकर्षक है उतना ही स्नेहसिक्त भी है।

व्यवहार में परम मृदु। आचार में परम निष्ठावान्। विचार में परम उदार। कटुता ने इनकी हृदय-वसुधा पर कभी जन्म नहीं लिया है। इनका सम्पूर्ण जीवन-आचार, दर्शन का व्याख्याता है।

प्रस्तुत कृति 'अहिंसा विश्वकोष' इनके विराट् चिंतन एवम् उदात्त भावों की संसूचक तो है ही, विश्व-संस्कृति को इनके मुनित्व का सार्थक योगदान भी है। हिंसा-ग्रस्त वर्तमान वातावरण में यह अहिंसा का प्रासंगिक हस्तक्षेप है। विश्व-शांति एवम् विश्व-मंगल की भविष्य-रेखाएं काल के भाल पर अंकित करने वाला सद्पुरुषार्थ है यह निश्चित है कि इसका सर्वत्र स्वागत मनुष्यत्व के सार की वर्तमान में उपस्थिति प्रमाणित करेगा।

–संपादक

यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन
7/31, अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली - 110002

ISBN 81-7555-090-2
9788175550902